

श्रीमद्वहसूत्राणुभाष्यम्



प्रकाशक : श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी-कच्छ

प्रकाशक : श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी-कच्छ

कंसारा बजार, मांडवी-कच्छ,

गुजरात-३७०४६५

Tel. 02834-231463

Email:gosharad@rediffmail.com

www.vallabhacharyaavidyapeeth.org

www.pushtimarg.net

सम्पादक :

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला)

गोस्वामी श्रीशरदकुमार (मांडवी-कच्छ)

प्रकाशन वर्ष :

वल्लभाब्द ५३८,

वि.सं.२०७२, सन.२०१५

प्रति : ५००

मुद्रक :

पूर्वी प्रेस्, राजकोट

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी-कच्छ

ग्रन्थप्रकाशन :

साम्प्रदायिक परीक्षाकी पाठ्यपुस्तकें:

प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (गुजराती)	१०	प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (हिन्दी)	निःशुल्क
प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (अंग्रेजी)	निःशुल्क	पुष्टिप्रवेश-१, ले. : गो.शरद् (गुज)	१०
पुष्टिप्रवेश-२, ले. : गो.शरद् (गुज)	१०	पुष्टिप्रवेश-१-२, ले. : गो.शरद् (हिन्दी)	१०
पुष्टिपथ, ले. : गो.शरद् (गुजराती)	२०	पुष्टिपथ, ले. : गो.शरद् (हिन्दी)	२०
प्रमेयरत्नसंग्रह, ले. : गो.शरद् (गुजराती)	२०		
Manual of the Devotional Path of Pushti, गो.शरद्			६५

साम्प्रदायिक विचारगोष्ठी

वार्तापरिचर्चा	१५	साधनाप्रणाली संगोष्ठी	५०
अधिकारपरिचर्चा	१००	पुष्टिभक्तिमृ कथासाधना संगोष्ठी	५०
शरणागति विचारगोष्ठी	५०	सेवा-समर्पण विचारगोष्ठी	५०
पुष्टिभक्तितथा-प्रपत्तिमृ प्रतिबन्ध	१००	जघन्याधिकार	८०
पुष्टिफलमीमांसा	१००	पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (विस्तृत-संक्षिप्तविवरण)*	

तत्त्वदर्शन विषयक राष्ट्रीय सेमिनार

शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा	२००	अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी	१५०
कार्यकारणभावविद्वत्सङ्गोष्ठी	२००	प्रत्यक्षप्रमाण विद्वत्सङ्गोष्ठी	१५०
अन्धकारवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी	२००		
वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह, लेखक : गो. श्रीश्याम मनोहरजी			निःशुल्क

नित्यस्तोत्रपाठः

पुष्टिपाठावली (हिन्दी)	१०	पुष्टिपाठावली (गुजराती)	१०
पुरुषोत्तमसहस्रनाम-त्रिविधलीलानामावली(गुर्जरभाषानुवाद)			२०

सन्दर्भग्रन्थः

पुष्टिविधानम् पादानुक्रमणिका			१०
पुष्टिअस्मिता संवर्धन शिविर, राष्ट्रीय संमेलन, भरूच			२५
Summary of Shuddhadvaita Vangmaya, लेखक: गो.शरद्			१५
अमृत वचनावली (गुजराती)	निःशुल्क	अमृत वचनावली (हिन्दी)	निःशुल्क

अध्ययनोपयोगी ग्रन्थः

पुष्टिविधानम्-२(व्याकरणम्)श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथजी-श्रीगुसांईजी विरचित २६ ग्रन्थट्टिका			
पदच्छेद-अन्वय- शब्दपरिचय-वृत्तिपरिचय			१००
पुष्टिविधानम्-३ (ब्रजभाषा)श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथजी-श्रीगुसांईजी विरचित २६ ग्रन्थट्टिका			
शब्दार्थ-श्लोकार्थ-विवेचन-पादानुक्रमणिका			१५०
तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणम्, (ब्रजभाषाटीका)	साधारण/राजसंस्करण		५०/७०
तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत सर्वनिर्णयप्रकरणम् (ब्रजभाषाटीका)	साधारण/राजसंस्करण		८०/१००
श्रीभागवतमहापुराण, चार खण्डमृ (गुर्जरभाषानुवाद)			४००
विवेकत्रयम्, प्रपञ्च-जीव-मूलरूप (संस्कृत)			१०
गृहसेवा और ब्रजलीला(ब्रजभाषा)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी			निःशुल्क
गृहसेवा अने ब्रजलीला(गुजराती)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी			अप्राप्य
पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद, व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी(गुजराती)			अप्राप्य
श्रीगोपीनाथप्रभुचरण, जीवनचरित्र-ग्रन्थ-हस्ताक्षर (गुज.-हिन्दी)			२५

श्रीकृष्णचरित्र(दशमस्कन्ध गुर्जरभाषा-भावानुवाद) अनुवादक: गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी	८०
श्रीमद्भगवद्गीता, गुर्जरभाषानुवाद, अनुवादक : पूर्ववत्.	
श्लोकार्थ-विवेचन-पादानुक्रमणिका. गीतातात्पर्य-न्यासादेशविवरण गुजराती अनुवाद सहित	५०
रसदृष्टिनी तरफेणमां(गुजराती), लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी	निःशुल्क
सिद्धान्तनुं आचमन, प्रश्नोत्तर (गुज.) उत्तरदाता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी	निःशुल्क
जिन श्रीवल्लभरूप न जान्यो (गुजराती) गो.श्रीश्याम मनोहरजी लिखित श्रीवल्लभ	
महाप्रभुस्तोत्राणि ग्रन्थकी विस्तृत हिन्दी भूमिकाका गुर्जरभाषानुवाद तथा सौंदर्यपद्य,	
सर्वोत्तमस्तोत्र, वल्लभाष्टक, स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत, श्रीहरिरायचरण रचित श्रीवल्लभस्तोत्र,	
पंचश्लोकी, शिक्षाश्लोकी आदि ग्रन्थकी टीकाअष्टका गुजराती अनुवाद.	७०
सेवाकौमुदी ^(हिन्दी) , विषय : नवधाभक्ति, लेखक : श्रीलालूभट्टजी, व्याख्याता : गो.श्रीश्याम	अप्राप्य
ब्रह्मवाद (हिन्दी) लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी	निःशुल्क
भक्तिवर्धिनी(गुज.), व्याख्याता : गो.श्रीश्याम मनोहरजी	निःशुल्क
सेवा ^{हिन्दी} (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) व्याख्याता : गो.श्रीश्याम मनोहरजी	निःशुल्क
सेवा ^{गुज.} (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) व्याख्याता : गो.श्रीश्याम मनोहरजी	निःशुल्क
षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी २८ वार्ताओ, लेखक : श्रीभूपेन्द्र भाटीया	४०
षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी ६४ वार्ताओ, लेखक : श्रीभूपेन्द्र भाटीया	४०
कृष्णाश्रय, श्रीकल्याणरायजी विरचित संस्कृत टीकानो गुजराती अनुवाद	०७
पुरुषोत्तमग्रन्थावली-५(संस्कृत-गुज.-हिन्दी, द्रव्यशुद्धि-व्रतोत्सवनिर्णय-अपराधनिरूपण)	१००
पुरुषोत्तमग्रन्थावली ६(संस्कृत, उपनिषद्-गीताविवृति)	२००

*पुष्टिसिद्धान्त चर्चासभा, विस्तृतविवरण

*ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्^{संस्कृत} : प्रदीप एवं विवरण संस्कृत टीकाएं; भगवदीयश्रीनिर्भयराम भट्ट लिखित
अधिकरणसंग्रह तथा श्रीब्रजनाथभट्ट लिखित 'मरीचिका' सूत्रवृत्ति सहित, तीन खंडोमृ.

इतिहास

आधुनिकन्यायप्रणाली अने पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीनो आपसी टकराव^{गुज.}, लेखक: गो.श्रीश्याम निःशुल्क
आधुनिकन्यायप्रणाली और पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीका आपसी टकराव^{हिन्दी.}, लेखक: गो.श्रीश्याम निःशुल्क

श्रीभागवतसुबोधिनीका गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी कृत गुर्जरभाषानुवाद

प्रथमस्कन्ध*

द्वितीयस्कन्ध*

चित्र

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य निःशुल्क श्रीगोपीनाथप्रभुचरण निःशुल्क
महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथप्रभुचरण-श्रीविठ्ठलनाथप्रभुचरण निःशुल्क

गोशाला

जीर्णोद्धार : तृतीय लालजी श्रीबालकृष्णजीके बैठकजी, गाम : विंजाण-कच्छ

श्रीवल्लभाचार्य विद्यापीठ: अध्ययनोपयोगी ग्रन्थालय, अध्ययनकक्ष, निवास, भोजन, अध्यापक
आदि अत्यावश्यक सुविधाओंसे सुसज्ज. २६, श्रीवल्लभाचार्य नगर, रेफरल् होस्पिटलके पीछे,

हालोल, जि.पंचमहाल, गुजरात-३८९३५० <http://www.vallabhacharyavidyapeeth.org/>

पुष्टिस्वाध्याय : सप्ताहके प्रायः सभी दिन आबाल-वृद्ध सभी पुष्टिमार्गीओंकेलिये सम्प्रदायके मूल ग्रन्थोंका

अध्यापन विद्वान् आचार्यवंशजृ द्वारा टेलिफोनिक कोन्फरन्स् से : विशेष जानकारीकेलिये
फोनसम्पर्क योगेन्द्रभाई: (+91) 9323733796 नीरजभाई(यु.एस्.ए.): +7325424165
ईमेलसम्पर्क: gosharad@rediffmail.com

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीद्वारा सम्पादित-पुनर्मुद्रित
शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्ति सम्प्रदायके मूल संस्कृत ग्रन्थ

१. सव्याख्यषोडशग्रन्थ

संयुक्तप्रकाशन, दुर्लभ

- खंड १. श्रीयमुनाष्टकम् से सिद्धान्तरहस्यम्
- खंड २. नवरत्नम् से भक्तिवर्धिनी
- खंड ३. जलभेदः से सेवाफलम्

२. प्रकाश-रश्मि सहित ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्

- खंड १. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ
- खंड २. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ
- खंड ३. द्वितीयाध्याय
- खंड ४. तृतीयाध्याय
- खंड ५. चतुर्थाध्याय

३. श्रीमद्भागवतसुबोधिनी

- खंड १. प्रथम-द्वितीयस्कन्ध
- खंड ४. जन्मप्रकरण
- खंड ५. तामसप्रमाणप्रकरण
- खंड ६. तामसप्रमेय-साधनप्रकरण
- खंड ७. तामसफलप्रकरण
- खंड ८. राजसप्रमाण-प्रमेयप्रकरण
- खंड ९. राजससाधन-फलप्रकरण
- खंड १०. सात्त्विकप्रमेयसाधनफलप्रकरण

४. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध

- खंड १. शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण
- खंड २. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध १-५
- खंड ३. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध ६-१२

५. सव्याख्यषड्ग्रन्थाः

संयुक्तप्रकाशन, दुर्लभ

- ६. वेदान्ताधिकरणमाला-भावप्रकाशिका
- ७. विविधविवरणोपेत पत्रावलम्बनम्
- ८. प्रस्थानरत्नाकर
- ९. विद्वन्मण्डनम्
- १०. श्रीबालकृष्णग्रन्थावली
- ११. श्रीवल्लभमहाप्रभुस्तोत्राणि
- १२. श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकारः
- १३. वल्लभाख्यान (सप्तटीकोपेत)

१५. वादावली : ब्रह्मवाद, वादकथा, विग्रहवाद, प्रपंचवाद, प्रपंचसंसारभेदवाद,
ब्रह्मजीवतदैक्य-स्वरूपनिरूपणम्, विरुद्धधर्माश्रयत्वविवेचनम्, आत्मवादः,
प्रश्नोत्तरसाहस्री-पर्यालोचनम्, प्रश्नोत्तरसाहस्रीचर्चितप्रकृत्यधिकरणसमालोचनम्,
केवलाद्वैत-वादाभिमतविद्यास्वरूपविमर्शः, अक्षरपुरुषोत्तम-द्वैतनिरासवादः

१६. अवतारवादावली

खंड २. भेदाभेदवाद, सृष्टिभेदवाद, आविर्भावतिरोभाववाद, ख्यातिवाद, प्रतिबिम्बवाद,
अन्धकारवाद.

खंड ३. ब्राह्मणत्वादिदेवतावादः, जीवव्यापकत्वखण्डनवाद, जीवप्रतिबिम्बत्वखण्डनवादः,
भागवतस्वरूपविषयकशंकानिरासवादः, उपदेशादिविषयकशंकानिरासवादः, भगवत्प्रति-
कृतिपूजनवादः, ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवादः, तुलसीमालाधारणवादः, शंखचक्र-धारणवादः,
भक्तिरसत्ववादः, भक्त्युत्कर्षवादः, नामफलादिप्रकारवादः, जयश्रीकृष्णो-च्चारणवादः,
स्ववृत्तिवादः, वस्त्रादिसेवावादः, मूर्तिपूजनवादः, भागवतपाठादेः शंकानिरासवादः.

४ क्र.१, २ तथा ४/१, ४/२ को छोड़ कर सभी ग्रन्थ श्रीवल्लविद्यापीठ-श्रीविठ्ठलेश्वर-प्रभुचरण
आ.हो.ट्रस्ट (कोल्हापुर) द्वारा प्रकाशित.

१७. श्रीमत्प्रभुचरणकृतग्रन्थाः (विविधटीकोपेत)

१८. श्रीमत्प्रभुचरणकृतग्रन्थाः (विविधटीकोपेत)

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीकी हिन्दी-गुजराती पुस्तकें

- | | |
|---|---|
| - वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह (हिन्दी) | - पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद (गुजराती) |
| - विवेक (हिन्दी) | - विशोधनिका (४खंड) (गुजराती-हिन्दी) |
| - पुरुषोत्तमयोग (गुजराती-हिन्दी) | - नवरत्नम् (गुजराती-हिन्दी) |
| - श्रीयमुनाष्टकम् (हिन्दी) | - सिद्धान्तनुं आचमन (गुजराती) |
| - सिद्धान्तसूक्ति (गुजराती) | - भगवद्गीतासु भक्तियोग |
| - वार्तानुकी सैद्धान्तिक संगति | - पुरुषार्थव्यवस्था (हिन्दी-गुजराती) |
| - चतुःश्लोकी (हिन्दी) | - रसदृष्टिनी तरफेणमां (हिन्दी-गुजराती) |
| - गृहसेवा और ब्रजलीला (गुजराती-हिन्दी) | - ब्रह्मवाद (वादावली सम्पादकीय) |
| - सेवाकौमुदी/नवधाभक्ति (हिन्दी) | - चिरकुट चर्चा समीक्षा (हिन्दी-गुजराती) |
| - पुष्टिमार्गीय पीठाधीश्वर स्वरूप और कर्तव्य | - अणुभाष्य(साधनफलाध्याय)भूमिका |
| - नवरत्नोपदेशका मानसविश्लेषण(गुज-हिंदी) | - श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप |
| - शरणागतिविचारगोष्ठी एक पूरक प्रश्नोत्तरी (गुजराती) | |
| - धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी पुष्टिमार्गीय विवेचना(हिन्दी-गुजराती) | |
| - भगवत्सेवानो सिद्धान्तशुद्ध प्रकारः एक प्रश्नोत्तरी (गुजराती) | |
| - साकारब्रह्मवाद (तत्त्वचिन्तन भक्ति और संस्कृति विमर्श) (हिन्दी) | |
| - तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणोपक्रम(गुज.) | |
| - तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत संक्षिप्त शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण तथा विवेकधैर्याश्रय, नवरत्न,
सिद्धान्तमुक्तावली एवं भक्तिवर्धिनी का गुजराती अनुवाद-विवेचन(गुज.) | |

-श्रीवल्लभाख्यान : श्रीमद्भागवतको प्रारूप और श्रीवल्लभाख्यान

सम्पर्क : गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी, ब्रजकमल, ६३ स्वस्तिक सोसायटी, ४ था रास्ता, जुहु स्कीम, विलेपार्ले, मुम्बई

॥ प्रकाशकीय ॥

सप्रदीपविवरण श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यके प्रथम तथा द्वितीय-तृतीय अध्यायका प्रकाशन क्रमशः प्रथम और द्वितीय खण्डमृ एतत्पूर्व हो चुका है. इस तृतीय खण्डमृ श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यके चतुर्थाध्यायका प्रदीप तथा विवरण टीकाआ सहित पुनःप्रकाशन किया गया है.

विशेषमृ, द्वितीय-तृतीयाध्याय भाष्य एवं प्रदीप तथा विवरण टीकाआ मृ उद्धृत वचनमृकी और इस खण्डमृ प्रकाशित किये गये चतुर्थाध्यायमृ उद्धृत वचनमृकी भी सूचिआको आकारादिक्रमसे इस खण्डमृ प्रकाशित किया गया है.

परिशिष्टमृ ब्रह्मसूत्राणुभाष्यके अध्ययनमृ सुगम प्रवेशार्थ सर्वथा उपकारक दो ग्रन्थ— १.अधिकरणसङ्ग्रह, भगवदीय श्रीनिर्भयराम भट्ट विरचित; तथा २.मरीचिका श्रीब्रजनाथ भट्ट विरचित ब्रह्मसूत्रकी वृत्ति —का भी पुनः प्रकाशन, पूर्वप्रकाशकमृका उपकार स्मरण करते हुवे, इस खण्डके प्ररिशिष्टमृ किया जा रहा है.

अधिकरणसङ्ग्रह का सन् १९४२ मृ शेठ नारायणदास आसनमल ट्रस्ट द्वारा श्रीहरिशङ्कर शास्त्रीजीके सम्पादकत्वमृ निर्णयसागर प्रेसमृ प्रकाशन किया गया था. इसका यथावत् प्रकाशन यहां किया जा रहा है.

मरीचिका का प्रकाशन श्रीरत्नगोपाल भट्टके सम्पादकत्वमृ चौखम्बा संस्कृत बुक् डिपो, बनारस द्वारा सन् १९०५ मृ किया गया था.

ग्रन्थका अवलोक करने पर कई स्थानमृ अर्थावबोध दुर्गम प्रतीत होने पर उपर्युक्त मुद्रित ग्रन्थका अन्य हस्तलिखित प्रतिके साथ मिलान करना आवश्यक लगा. २२-२५ वर्ष पूर्व गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमलालजी महाराज, जूनागढके हस्तलिखित ग्रन्थका अवलोकन तथा केट्लोगिंग् करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था. उस समय 'मरीचिका'की एक प्रति वहां देखी होनेकी प्रबल स्मृति थी. गो.चि.श्रीपीयूषबावा को संदेश भेजने पर उन्हूने तत्परतासे खोज कर उसकी प्रतिलिपि उपलब्ध करायी. इसी प्रतिकी सहायतासे मुद्रित पाठका शोधन किया गया है. एतदर्थ गो.चि.श्रीपीयूषबावा धन्यवादार्ह हैं.

श्रीनिर्भयराम भट्ट :

अधिकरणसंग्रहके लेखक भगवदीय श्रीनिर्भयराम भट्ट ज्ञातिसे गुर्जर नागर ब्राह्मण थे. वि.सं.१८३५ मृ ये तृतीय घर (कांकरोली)मृ सम्प्रदायके प्रमुख प्रचारक थे. इनके गुरु वल्लभवेदान्तके सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीलालूभट्टोपनाम श्रीबालकृष्ण भट्ट थे. इससे अधिक इनके विषयमृ जानकारी उपलब्ध नहीं है. इनकी अन्य कृतिआका विवरण इस प्रकारसे है:

सुबोधिनी कारिकार्थ “श्रीभागवत- दशमस्कन्ध-सुबोधिन्याः विवरणत्रयम्” नामसे
पुस्तकमृ प्रकाशित (वि.सं.१९९३)
आशौचनिर्णय : प्रकाशक : नाथद्वारा विद्याविभाग, प्रकाशनकाल : वि.सं.१९८१
व्रतोत्सवपर्वादिनिर्णय : प्रकाशक : श्रीबालकृष्ण शुद्धाद्वैत महासभा, सूरत.
वल्लभवंशावली : संशोधक : श्रीरणछोडदास पेटलादी तथा शास्त्री कल्याणजी
कानजी, प्रकाशक: शेठ नारायणदास आसनमल ट्रस्ट, प्रकाशनकाल : संन् १९४३
आचार्यवंश-कल्पवृक्ष : अप्रकाशित.

श्रीव्रजनाथ भट्ट :

श्रीव्रजनाथ भट्ट जयपुर महाराजा श्रीजयसिंहके दरबारमृ आस्थान पण्डित थे.
ब्रह्मसूत्रवृत्ति ‘मरीचिका’ का लेखन इन्होंने सम्राट् श्रीजयसिंह की आज्ञासे किया था यह
उनके ग्रन्थकी समाप्तिमृ लिखे श्लोकसे ज्ञात होता है :

“सम्राट् श्रीजयसिंहाज्ञां प्राप्य व्रजनाथभट्टेन
अणुभाष्यभास्करस्य मरीचिकेयं कृता जयतात्”

ब्रह्मसूत्राणुभाष्यकी ‘रश्मि’ टीकाके लेखक योगी श्रीगोपेश्वरजी (प्राकट्य
संवत् १८३५) ‘रश्मि’ टीका (१।४।१७)मृ ‘मरीचिका’का उल्लेख इस तरह करते हैं :
“प्राणादिति वृत्तौ मरीचिकाख्यायां लालुभट्टकृतायां वृत्तावपि एवम्”. इससे ज्ञात
होता है कि श्रीव्रजनाथ भट्ट योगी श्रीगोपेश्वरजीके पूर्वकालिक थे. इससे अधिक
जानकारी इनके विषयमृ भी उपलब्ध नहीं है.

श्रीकंठमणि शास्त्रीने “शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्गीय संस्कृत वाङ्मय”के प्रथम खण्ड
(पृ.११३) पर ‘अणुभाष्याधिकरणार्थकारिका’को श्रीजेठालाल शाहके हवालेसे
श्रीव्रजनाथ भट्टकी कृति माना है, जो कि अप्रकाशित है. श्रीजेठालाल शाह
ब्रह्मसूत्राणुभाष्यके अनुवादकी भूमिकामृ लिखते हैं : “श्रीचन्द्रमाजीनी गादीना
श्रीवल्लभजीना सेवक अने श्रीरघुनाथजीना आत्मज श्रीव्रजनाथजीए अणुभाष्यना
अधिकरणोना अर्थो कारिकामां आपेला छे” (उपोद्घात पृ.२६).

अन्तमृ, इस ग्रन्थमाला के सम्पादन-प्रकाशनमृ सहयोग देनेवाले श्रीपंकज दूबे
तथा चि.निकिता ठक्कर(मांडवी) एवं श्रीप्रवीणभाई डढाणीया तथा श्रीपीयूष
गृदिया(राजकोट) का स्मरण करते हुए इस ग्रन्थमालाको, इसके प्रकाशनकी प्रेरणा
देनेवाले, पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी(किशनगढ-पार्ला) के करकमलामृ अर्पित
करते हैं.

वसन्तपञ्चमी,

वि.सं.२०७२

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी द्वारा

शरद् गोस्वामी

॥ अनुक्रमणिका ॥

चतुर्थो अध्यायः

प्रथमः चरणः	(१-४१)
आवृत्यधिकरणम्	०१
आत्माधिकरणम्	१४
आदित्याद्यधिकरणम्	२२
आप्रायणाधिकरणम्	२७
तदधिगमाधिकरणम्	२८
अतोऽन्याधिकरणम्	३७
द्वितीयः चरणः	(३६-७०)
वाङ्मनो अधिकरणम्	४२
भूताधिकरणम्	४९
अविभागाधिकरणम्	५४
तदोकोधिकरणम्	६४
रश्म्यधिकरणम्	६६
अतोऽन्याधिकरणम्	६७
तृतीयः चरणः	(७१-११२)
अर्चिराद्यधिकरणम्	७१
आतिवाहिकाधिकरणम्	८५
बादरिः इति अधिकरणम्	९१
अप्रतीकालम्बनाधिकरणम्	१००
विशेषाधिकरणम्	१०९
चतुर्थः चरणः	(११३-१५१)
सम्पद्याविर्भावाधिकरणम्	११२
ब्राह्मेण इति अधिकरणम्	११६
तत्त्वभावाधिकरणम्	१२८
जगद्व्यापाराधिकरणम्	१३१
अधिकरणसङ्ग्रहः	(१५२-२०४)
पादार्थसङ्ग्रहः	१५२
प्रथमो अध्यायः	१५३
द्वितीयो अध्यायः	१६५

तृतीयो अध्यायः

१७४

चतुर्थो अध्यायः

१९५

‘मरीचिका’ ब्रह्मसूत्रवृत्ति

(२०५-३८५)

प्रथमो अध्यायः

२०५

द्वितीयो अध्यायः

२५७

तृतीयो अध्यायः

२९२

चतुर्थो अध्यायः

३४८

उद्धृतवचनानुक्रमणिका

(३८६-४२२)

द्वितीय-तृतीयाध्यायौ

चतुर्थाध्यायः

श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचितं
श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्
चतुर्थोऽध्यायः

प्रथमः पादः

समन्वयेनाविरोधात् साधनैर्ब्रह्मविद् यदि ।
तस्याग्रिमव्यवस्था या सा चतुर्थे विविच्यते ॥१॥
जीवतो म्रियमाणस्य गच्छतः सफलस्य च ।

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अथ चतुर्थाध्यायार्थं विवरिषवो अध्यायार्थं पादार्थाश्च निरूपयन्तः
पूर्वाध्यायसङ्गतिं च प्रदर्शयितुं पूर्वाध्यायार्थान् बोधयन्तः चतुर्थाध्यायार्थं सार्धश्लोकेन
आहुः समन्वयेन इत्यादि. प्रथमाध्याये विचारितो यः परस्परविरुद्धार्थतया
भासमानार्थकश्रुतीनां ब्रह्मणि समन्वयः सन्दिग्धः समन्वयः तेन कृत्वा द्वितीयाध्याये
स्मृतीनां श्रुतीनां च यो विरोधः तद्धेतुकानि यानि तृतीयाध्यायोक्तानि अनुष्ठितानि
साधनानि तैः यदि ब्रह्मज्ञानवान् जातः स्यात् तस्य पूर्वोक्तक्रमेण सिद्धब्रह्मज्ञानस्य
अग्रिमव्यवस्था साक्षात्परम्पराभेदेन फलभोगव्यवस्था इति अर्थः ॥१॥

तथाच पूर्वोक्तक्रमेण साधनवतो जीवतो मरणावस्थस्य गच्छतः सफलस्य च
अभीष्टलाभपर्यन्तं सम्यक्साधनसम्पत्तिमता स्थेयम् इत्येतस्मिन् अध्याये निरूप्यते इति
गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इदानीं पूर्वाध्यायसङ्गतिं बोधयितुम् अध्यायत्रयार्थस्मरणपूर्वकं चतुर्थाध्यायार्थं
सार्धश्लोकेन आहुः समन्वयेन इत्यादिना. ब्रह्मविद् यदि इति. अध्यायत्रयार्थैः विरुद्ध-
धर्माश्रयब्रह्मविषयकशाब्दज्ञानवान् यदि भवति इति अर्थः. तस्य इति. जीवतः इत्यादि-
विशेषणविशिष्टस्य तस्य इति अर्थः. अग्रिमेति. ज्ञानानुकूलप्रकारेण फलपर्यन्ता स्थितिः.
चतुर्थे फलाध्याये. विविच्यते इति. प्रकाशयते इति अर्थः. तथाच एतादृशसाधनवतो
ब्रह्मविदः प्राप्यस्य ब्रह्मणः फलत्वनिरूपणेन कार्यकारणभावसङ्गतिः सूचिता इति भावः ।१

ननु पूर्वाध्याये जीवतो ब्रह्मविदो यावज्जीवं ज्ञानानुकूलसाधनवत्त्वेन स्थितिः
वर्णितैव, पुनः अत्र उक्तौ प्रयोजनाभावः इत्यतः आहुः अतः इति. यस्मात्. अयं पुरुषः
सिद्धसाधनः नतु तेन फलं प्राप्तम् अतः इति अर्थः. एवमेव प्रथमपादोक्तरीत्या. तथाच
“तत्त्वेव भयं विदुषो अमन्वानस्य” (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुत्या प्रतिबन्धबोधनात्

अतो ब्रह्मविदा कार्यम् एवमेव न चान्यथा ॥२॥
तामसीं बुद्धिम् आश्रित्य ये मूढाः सर्वविप्लवम् ।
वदन्ति शास्त्रनाशाय सद्भिः शोच्याश्च येन तान् ॥३॥
ब्रह्मविद्गमनाभावः शतांशेनापि चेद् भवेत् ।
शास्त्रमेतद् वृथा जातं सर्वसूत्रविनाशतः ॥४॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

फलितम्. एवमेव पूर्वाध्यायोक्तप्रकारेणैव. अन्यथा साधनशून्यतया न स्थेयम् इति अर्थः ॥२॥

सर्वविप्लवं प्रपञ्चमिथ्यात्वम्. शास्त्रनाशाय “सर्वं खलु” (छान्दो.उप. ३।१४।१) इत्यादि वेदविनाशाय इति अर्थः. येन तान् इति. तान् अनु तन्मतानुयायिनो ये ते ये विप्लवकर्तारः ते च शोच्याः इति अर्थः ॥३॥

ब्रह्मविद्गमनाभावः उपनिषत्सु यो ब्रह्मविदां गतिप्रकारो अर्चिरादिमार्गो निरूपितः तद्विरुद्धप्रकारनिरूपणम् ‘अभाव’पदवाच्यम् इति बोद्धव्यम्. एतद् वेदान्तात्मकं व्याससूत्रम् अर्चिरादिगतिप्रतिपादकम् इति अर्थः. सर्वसूत्रेति.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

तूष्णीं न स्थेयम् इति एतत्कर्तव्यताबोधनमेव प्रयोजनम् इति भावः ॥२॥

ननु ब्रह्मविदः कार्यकारणशिक्षणं किमर्थम्, “आत्मन्येव च सन्तुष्टः तस्य कार्यं न विद्यते” (भग.गीता ३।१७) इति गीतावाक्यात् तस्य कर्तव्याभावाद् इति केषाञ्चिन्मतं दूषयितुम् आहुः तामसीम् इति. “अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता, सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसीम्” (भग.गीता १८।२२) इति गीतोक्ताम् इति अर्थः. वैयासिकशास्त्रनाशाय सर्वविप्लवम् इति. सर्वं मायिकं वदन्ति इति अर्थः. ये च तान् अनुसारिणः तेऽपि सद्भिः एते बोधशून्या इति शोकविषयीकार्या इति अर्थः. नच “आत्मन्येव” इति वाक्यस्य का गतिः ? इति वाच्यम्. एतद्वाक्यानन्तरं “तस्माद् असक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर, असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः” (भग.गीता ३।१९) इति वाक्यपठनेन कर्मकरणे शिक्षाकथनं युक्तम् इति मन्तव्यम् ॥३॥

ननु ब्रह्मज्ञानोत्तरं सद्यो मुक्तिरेव, “तस्य तावदेव चिरम्” (छान्दो.उप. ६।१४।२) इति श्रुतेः इत्यतः आहुः ब्रह्मविद् इति. ब्रह्मज्ञानिनो अर्चिरादिमार्गेण गमनाभावः. शतांशेन केनापि प्रकारेण भवेत् चेत् तदा सर्वेषाम् “अर्चिरादिसूत्राद्” इत्यारभ्य “विशेषं च दर्शयति” इत्यन्तानां सूत्राणां विनाशाद् वैयर्थ्याद् एतत् तृतीयपादरूपं शास्त्रं वृथा जातम् इति अर्थः ॥४॥

स्वाप्ययस्य च सम्पत्तेरत्र ब्रह्मगतिश्रुती।

अन्यथा न श्रुतेरर्थः स्याच्चेद् व्यासो वदेन्न किम्॥५॥

तामसीं बुद्धिम् आश्रित्य या मुक्तिः कैश्चिद् उच्यते।

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ब्रह्मगतिसर्वसूत्राणाम् इति अर्थः॥४॥

ननु सगुणब्रह्मोपासनं तेन च सगुणब्रह्मप्राप्तिः इति इदम् उपेक्ष्य परब्रह्मप्राप्तिरेव अत्र सूत्रकाराभिप्रेता इत्यत्र किं गमकम् आहुः. स्वाप्ययस्य सुषुप्तेः सम्पत्तेः मोक्षस्य च सम्बन्धिन्यौ. अत्र ब्रह्मविदां गतिनिरूपणप्रकरणे. ब्रह्मगतिश्रुती ब्रह्मप्राप्तिबोधिके श्रुती तिष्ठतः इति अर्थः. अथवा “एता हृदयस्य नाड्यः” (छान्दो. उप.८।६१) इत्यारभ्य “तेजसा तदा सम्पन्नो भवति” (तत्रैव ८।६।३) इति सुषुप्ति-बोधिका अथ “यत्र एतद् अस्मात् शरीराद् उत्क्रामति” (तत्रैव ८।६।५) इत्यादि मुक्तिबोधिका एते श्रुती. तत्र मुक्तिश्रुतिः ब्रह्मगतिं परब्रह्मगतिं बोधयति. अन्यथा इत्यादि. उपासनाश्रुतिभिः सगुणब्रह्मविद्याबोधनं तादृशविद्यया च सगुणं ब्रह्म प्राप्यम् इति न श्रुतेः अर्थः. स्यात् चेद् इत्यादि. यदि उक्तः श्रुत्यर्थः स्यात् तदा व्यासः सूत्रेषु क्वापि कुतो न वदेद् इति अर्थः॥५॥

तामसीम् इत्यादि. तथाच अधर्मे धर्ममतिः तामसी बुद्धिः भ्रमात्मिका इति अर्थः. ताम् आश्रित्य ताम् उपजीव्यीकृत्य. या मुक्तिः सगुणब्रह्मप्राप्तिरूपा मुक्तिः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

ननु एतेषां सूत्राणां परब्रह्मपरत्वं किमर्थं, सगुणब्रह्मपरत्वमेव अस्तु इत्यतः आहुः स्वाप्ययस्य इति. अत्र दहरविद्यारूपे ब्रह्मविद्गतिप्रकरणे स्वाप्ययस्य सुषुप्तेः सम्पत्तेः ब्रह्मप्राप्तेश्च, षष्ठ्यर्थः सम्बन्धः, तदुभयसम्बन्धिन्यौ ब्रह्मगतिश्रुती ब्रह्मणि गमनबोधिके श्रुती प्रजापतिवाक्यात् पूर्वं वर्तेते, अतः प्रजापतिवाक्ये आदर्तव्ये इति शेषः. ज्ञेयस्य ब्रह्मणः उभयत्र ऐक्यात्. श्रुतिद्वयं च “अथ या एता हृदयस्य नाड्यः” (छान्दो. उप.८।५।१) “अथ यत्र एतद् अस्मात् शरीराद् उत्क्रामति” (तत्रैव ८।६।५) इत्यादिरूपम्. श्रुतेः प्रजापतिवाक्यरूपश्रुतेः अर्थः. अन्यथा न पूर्वश्रुतिद्वयविरुद्धो न. यदि स्यात् तदा व्यासः किं न वदेद्. अपितु वदेदेव. अतः तेषां परब्रह्मपरत्वमेव इति भावः॥५॥

ननु “नहि द्रष्टुः दृष्टेः विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वाद् नतु द्वितीयम् अस्ति ततो अन्यद् विभक्तं यत् पश्येद्” (बृहदा.उप.४।३।२३) इत्यादिना मुक्तौ भेददर्शनाभावः श्रूयते इत्यतः आहुः तामसीम् इति. या मुक्तिः निसम्बोधा साङ्ख्यमतवद् इष्यते सा सुषुप्तिश्रुतेः अर्थः, शारीरब्राह्मणे तत्समानवाक्य-

सा सुषुप्तिश्रुतेरर्थो मोहादेवान्यथामतिः॥६॥

अतो ब्रह्मविदः कार्यं जीवतः पूर्वम् उच्यते।

आवृत्तिः श्रवणादीनां नवकृत्वोपदेशतः॥७॥

दर्शनार्थत्वतो लिङ्गादपि ब्रीह्यावघातवत्।

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

कैश्चित् कल्पितगुरु-तदुपासनाप्राप्येश्वरादीनां मायिकत्ववादिभिः इति अर्थः. सा सगुणा मुक्तिः. सुषुप्तिश्रुतेः अर्थः “तदा तेजसा सम्पन्नो भवति”(छान्दो.उप. ८।६। ३) इति सुषुप्तिश्रुतेः अर्थः इति अर्थः. मोहाद् “मायां मदीयाम् आश्रित्य वदतां किं नु दुर्घटम्” (भाग.पुरा.११।२२।४) इत्युक्तभगवन्मायाकृतमोहाद् इति अर्थः. अन्यथा-मतिः सुषुप्तिश्रुतिव्यतिरिक्तश्रुतिप्रतिपादितमुक्तिषु मायिकत्वमतिः. इत्थं च प्रथमपादे ब्रह्मविदः शिक्षार्थमेव साधनादि निरूपितं नतु साधनोपदेशोऽपि इति फलितम्॥६॥

पादप्रयोजनं निर्णयि पादार्थम् आहुः अतः इत्यादिना. अतः पूर्वाध्यायोक्त-प्रकारेण साधनेन ब्रह्मविदः फललाभपर्यन्तं फलविरोधिनः त्यागः फलोपयोगिनश्च सङ्ग्रहः आवश्यको यतो अतः इति अर्थः. पूर्व प्रथमपादे. तत्कार्यमेव आहुः आवृत्तिः इत्यादिना. श्रवणादीति ‘आदि’पदेन मनननिदिध्यासनसङ्ग्रहः. श्रवणाद्यावृत्तौ हेतून् आहुः नवकृत्व इत्यादि. नवकृत्वो वेदे ब्रह्मोपदेशतात्पर्येण इति अर्थः॥७॥

दर्शनार्थत्वतो ब्रह्मसाक्षात्कारकारणत्वतः इति अर्थः. लिङ्गाद् “आवृत्तिरसकृदुपदेशाद्” (ब्रह्मसू.४।१।१) इति व्यासस्मृतिसामर्थ्याद् इति अर्थः. ब्रीहिः अवघातवद् इति फलपर्यन्तावृत्तौ दृष्टान्तः आत्मा इत्यादि. ब्रह्मभिन्नतया स्वात्मनो दृढामतिः स्याद् इति अर्थः. तथाच आवृत्तिः श्रवणादीनां प्रथमाधिकरण-प्रतिपाद्या. दृढात्ममतिस्तु द्वितीयेन इत्यादि बोध्यम्. तथाच द्वितीयाधिकरणप्रतिपाद्या

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

प्रतिपादितत्वात्. तथाच प्रजापतिवाक्यप्रतिपादितम् उक्तौ तथाबुद्धिः न कार्या इति भावः. एवञ्च “तत्त्वेव भयं विदुषो अमन्वानस्य” (तैत्ति.उप.२।७) इतिवाक्याद् ज्ञानोत्तरं मननस्य कर्तव्यत्वात् प्रथमे पादे ब्रह्मविदः शिक्षार्थमेव उक्तं, नतु साधनाङ्गत्वेन इति दिक् ॥६॥

पादप्रयोजनानन्तरम् अर्थम् आहुः अतः इति. कार्यम् इति. परप्राप्तिरूप-फलानुरूपं कार्यम् इति अर्थः. आवश्यकम् इति शेषः. जीवतः इति. प्राणधारणवतः इति अर्थः. पूर्वम् इति. अतः एतदध्यायस्य प्रथमे पादे इति अर्थः. तत् कार्यम् आहुः आवृत्तिः इति. अत्र हेतुत्रयम् आहुः नवकृत्वः इति. इदं प्रथमाधिकरणे उच्यते ॥७॥

आवृत्तौ श्रवणादीनाम् आत्मेति स्याद् दृढा मतिः॥८॥

आपाततो दर्शनं तद् अभेदेनापि बोध्यते।

प्रतीकोपासनादीनां नैवं भावो हि जायते॥९॥

आलम्बनार्थं तत्रापि ब्रह्मदृष्टिर्विशिष्यते।

आदित्यादिब्रह्मदृष्टेरङ्गत्वं न स्वतन्त्रता॥१०॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

दृढा मतिः अवान्तरफलं पुरुषोत्तमलाभः परमं फलम्॥८॥

मुख्यावयविभिन्नावयवेषु उपासनया भेदबुद्धेः मुख्यफलाजनकत्वम् उपन्यस्यन्ति आपाततः इत्यादिना. आपाततो दर्शनम् अवयवेषु अवयविनो दर्शनम् तद् आपाततो दर्शनम्. अभेदेन सर्वस्य वस्तुमात्रस्य ब्रह्मत्वाद् ब्रह्माभेदेन. बोध्यते उपनिषद्वाक्यैः बोध्यते उपपाद्यते इति अर्थः. प्रतीकेत्यादि. धर्मित्वशून्ये धर्मित्वेन उपासना प्रतीकोपासना. आदिपदेन कर्ममार्गीया उपासनाः. एवम्भावो भगवत्साक्षात्कार-भक्त्यन्यतररूपो भावः॥९॥

आलम्बनार्थं ब्रह्मत्वेन ध्यानस्य विषयलाभार्थम्. तत्रापि धर्मिशून्येऽपि. ब्रह्मदृष्टिः अभेदेन ब्रह्मज्ञानम् उपदेशो वा. विशिष्यते अवान्तरफलविशेष-सम्पादकत्वेन उपयुज्यते. तच्च फलम् इन्द्रियादीनां तावत्कालं संसारव्यावृत्तिरूपम्. आदित्यादिब्रह्मदृष्टेः आदित्यादेः ब्रह्मत्वेन उपासनस्य. अङ्गत्वं मुख्यफलब्रह्म-साक्षात्कारभक्त्योः उपकारितया अङ्गत्वम्. न स्वतन्त्रता स्वातन्त्र्येण न मुख्यफलसाधकता. आदित्येत्यादि तृतीयाधिकरणविषयो बोध्यः॥१०॥

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

द्वितीये तत्फलम् आहुः आवृत्तौ इति. सत्याम् इति शेषः. आत्मा इति. भगवान्. स्याद् इति ॥८॥

इदम् अवान्तरफलं कथम्? इत्यतः आहुः आपाततः इति. सर्वरूपत्वाद् भगवतः आत्माभेदेन यद् दर्शनं तद् आपाततो दर्शनम् इति उच्यते. 'अपि'शब्देन आत्मोपदेशोऽपि कर्तुं शक्यते इति द्वयं कार्यम्. अन्यदपि तस्य वृत्तेः कार्यम् आहुः प्रतीकेति. न एवम् इति. ज्ञानित्वं भक्तिः वा न जायते इति अर्थः ॥९॥

तर्हि किं जायते? इत्यतः आहुः आलम्बनार्थम् इति. ध्यानविषयतया ग्रहणार्थम् इति अर्थः. तत्रापि अन्यैः प्रतीकत्वेन उच्यमाने विषयेऽपि विशिष्यते विशेषबोधिका भवति. तृतीयाधिकरणार्थम् आहुः आदित्येति ॥१०॥

१. 'नैव' इति प्रकाशः.

मनने च निदिध्यासे विशेषश्चोच्यतेऽधुना।

आसनादि षडङ्गैस्तु चित्तं श्रौतार्थ एव हि॥११॥

धारयेद् आमतेरेवं ततः सिद्धिम् अवाप्स्यति।

धर्माधर्मभयं तस्य नास्त्येवेति विनिश्चयः॥१२॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

मनने इत्यादि. आदित्याद्युपासनायां मनन-निदिध्यासनैः भावनया अन्तर्बहिःप्रकटाय भगवतः आसनाद्युपचारकल्पनम्. 'आदि' पदेन लीलाविशिष्टस्य प्राकट्ये तद्योग्योपचारकरणम्. इतःपरं भगत्प्राकट्यानुकूलानि आहुः षडङ्गैः इति. षडङ्गानितु श्रवणादित्रिकस्य आवृत्तिः स्वात्मनि ब्रह्माभेददृष्टिः ब्रह्मत्वेन निखिलपदार्थानां ग्रहणं परब्रह्मत्वेन धर्मिणः उपासनं सर्वत्र धर्म्यतिरिक्तास्फूर्तिः आदित्यादिषु भगवदङ्गत्वबुद्धिश्च इति यथाकारं सम्पन्नैः एतैः चित्तं श्रौतार्थः उपनिषदेकगम्ये भगवति धारयेत् स्थापयेद् आमतेः मननकालम् आरभ्य इति अर्थः॥११॥

ततः षडङ्गनिष्पत्तेः उत्तरकालमेव. सिद्धिं भगवति निरूपधिप्रेमरूपां सिद्धिम्. एवम् "आप्रायण"सूत्रान्तं निरूपणं कृतम्. "तदधिगमा"दिसूत्रार्थम् आहुः धर्मेत्यादिना. धर्माधर्मभयं मुक्तिप्रतिबन्धकीभूतं स्वर्गनरकादिप्राप्तिरूपं भयम् इति अर्थः. तस्य निरूपधिप्रेमवतः॥१२॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

श्रवणादीनां कार्यम् उक्त्वा आपाततः फलस्य अनुभवप्रकारं मनननिदिध्यास-कार्यं च आहुः मननेति. विशेषः इति. भगवते अन्तर्बहिःप्राकट्यरूपः. अधुना भक्तिद्वारा मनने निदिध्यासने च विशेषम् आहुः इति अन्वयः. तथाच आदित्याद्युपासनया प्रतीकोपासनया वा भक्तौ सत्यां मननादिना प्राकट्ये सति यत् फलं तद् आहुः आसनादीति. आसनादीनां यानि षडङ्गानि. आसनं बहिःप्रकटस्य उपवेशनम्. अतः प्रकटस्य उपवेशनं लीलाप्राकट्यं च 'आदि'पदार्थः. षडङ्गानि च 'वारं वारं श्रवणं' आत्मभेदज्ञानं तथा ग्राहणं अप्रतीकोपासनं सर्वत्र ब्रह्मभावः आदित्यादिषु षडङ्गबुद्धिः इति. एतैः श्रौतार्थे भगवति आमतेः मननाद् आरभ्य एवं चित्तं धारयेत्. सिद्धिं भगवदासनादि-सम्पादकोत्कट-स्नेहोत्पत्तिरूपाम्. एतेन आप्रायणसूत्रान्तार्थः उक्तः॥११ १/२॥

तदधिगमादिसूत्रार्थम् आहुः धर्मेति ॥१२॥

अग्निहोत्रादिकं कार्यं सन्यासः फलएव हि।

षोढा चेत् पुरुषो व्यक्तः प्रारब्धान्ते फलं भवेत्॥१३॥

एतावान् प्रथमे पादे निर्णयः सूत्रकृतकृतः।

द्वितीये म्रियमाणस्य सर्वेन्द्रियलयः पुरा॥१४॥

लिङ्गस्यापि शरीरस्य नाड्योत्क्रान्तिरिहोच्यते।

दिनायनकृतो नास्य विशेषोऽस्तीति चोच्यते॥१५॥

तृतीये क्रममुक्तौ यो मार्गो यस्य श्रुतेर्मतः।

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

“अग्निहोत्रा”दिसूत्रार्थम् आहुः अग्निहोत्रेत्यादिना. सन्यास इत्यादिना. सन्यासफलं मोक्षः तन्निमित्तम् अग्निहोत्रादिकं कार्यम्. तथाच मोक्षोपयोगिज्ञानस्य सिद्धत्वेऽपि अग्निहोत्रादिसम्पादकप्रारब्धस्य भोगानाशयस्य अग्निहोत्रादि-नाशयत्वाद् अग्निहोत्रादि आवश्यकम् इति अर्थः. षोढा अग्निहोत्रादि-सोमान्तानि पञ्च कर्माणि ज्ञानं च इति षड्भिः प्रकारैः इति अर्थः. प्रारब्धान्ते व्यक्तः इति योजना. फलं मोक्षरूपम्॥१३॥

प्रथमपादे जीवतः कृत्यम् उक्त्वा द्वितीयपादेन म्रियमाणस्य कृत्यम् आहुः द्वितीय इत्यादिना. सर्वेन्द्रियेत्यादि. पुष्टिमार्गीयस्य इन्द्रियलिङ्गशरीराणां पुरुषोत्तमे लयो, मर्यादामार्गीयस्य उक्तानां लयो भूततन्मात्रादिषु॥१४॥

इह हीनाधिकारिणी उक्तानां नाड्योत्क्रमणम् इति अर्थः. दिनायनेत्यादि. अस्य पूर्वोक्तसाधनवतो अधिकारिणः. शुभदिनायनादि मुक्तौ सहकारि न भवति इति अर्थः॥१५॥

तृतीयपादार्थम् आहुः तृतीये इत्यादिना. यस्य इत्यादि. यस्य अधिकारिणः. श्रुतेः मतः श्रुतिम् उपजीव्यकृत्य अङ्गीकृतः. तन्निर्धारो मर्यादामार्गनिर्धारः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

प्रारब्धान्ते प्रारब्धकर्माणां भोगादेव क्षयः इति श्रुत्या तदन्तः इति अर्थः॥१३॥

प्रथमपादार्थम् उपसंहरन्ति एतावान् इति. द्वितीयपादार्थं वदन्ति सर्वेति. पुरा मरणात् पूर्वम्. मर्यादामार्गीयस्य भूतेषु लयः पुष्टिमार्गीयस्य भगवति इति विशेषः॥१४॥

इह जघन्याधिकारिणि उत्क्रान्तिः. दिनेति. दिनं दिवसः नतु रात्रिः अयनं उत्तरायणम्॥१५॥

तृतीयार्थम् आहुः तृतीयेति. यस्य अधिकारिणः. अन्ये मार्गाः उपायाः येषाम्॥१६॥

तन्निर्धारोऽन्यमार्गीयाणाम् अप्राप्यत्वं च वर्ण्यते ॥१६॥

गन्तव्यं च परं ब्रह्म कार्यो लोकस्तु नेति च ।

तुरीये पुष्टिमर्यादा-भेदेन फलमुच्यते ॥१७॥

प्रभोरेव फलत्वं तन्निर्दोषत्वं च वर्ण्यते ।

लीलानित्यत्वतः पूर्णगुणत्वं च ततोऽखिलम् ॥१८॥

अस्य फलप्रकरणत्वेऽपि साधनरूपस्यापि श्रवणस्य अन्तरङ्गत्वं ज्ञापयितुं तन्निर्धारमपि आह.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अन्यमार्गीयाणां भक्तिज्ञानमार्गातिरिक्त-मार्गीयाणाम् इति अर्थः. अप्राप्यत्वं ब्रह्मणि अप्राप्यत्वं तत्सम्बन्धिप्राप्यत्वाभावः इति अर्थः ॥१६॥

लोकप्राप्तिः या क्रममुक्तौ सातु उत्कृष्टं गन्तव्यं फलं न भवति इत्यादिना. कार्यो लोकः साधनैः सम्पाद्यो लोकः. न इति न मुक्तिः. चस्त्वर्थे. तुरीयपादार्थम् आहुः तुरीयेत्यादिग्रन्थेन ॥१७॥

प्रभोरेव फलत्वम् इति. “आत्मा प्रकरणाद्” (ब्रह्मसू.४।४।३) इत्यादि-सूत्रद्वये निरूप्यते. तन्निर्दोषत्वं प्रभोः निर्दोषत्वम्. तच्च “तत्त्वभावे सन्ध्यवद्” (तत्रैव ४।४।१३) इति सूत्रद्वये निरूप्यते इति अर्थः. अन्यद् निरूपणीयं सर्वं “जगद्व्यापार-वर्जम्” (तत्रैव ४।४।१७) इत्यादिसूत्रप्रपञ्चो अवसेयः. विशिष्टभगवत्स्वरूपस्य फलत्वम् उपपादयन्ति लीला इत्यादिना. ततः उपनिषत्सु तथानिरूपणतः. अखिलं श्रुत्युक्तयावद्धर्मविशिष्टं पुरुषोत्तमस्वरूपं फलम् इति अर्थः ॥१८॥

अत्र पादार्थनिरूपणमुखेन अध्यायार्थं निरूप्य एतदध्याये फलस्य प्रकरणात् साधननिरूपणम् अर्थान्तरम् इत्येतद्दोषनिराकरणाय प्रयोजनान्तरं च प्रतिपादयितुं सूत्रम्

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

लोकस्तु न कार्यः गन्तव्यत्वेन न परिकल्प्य इति अर्थः. चतुर्थपादार्थम् आहुः तुरीयः इति ॥१७॥

विशेषम् आहुः प्रभोः इति. आत्मा प्रकरणाद् इति सूत्रद्वये प्रभोः फलत्वं, तन्निर्दोषत्वं तत्त्वभावे सन्ध्यवद् इति सूत्रद्वये, अधिकं जगद्व्यापारसूत्रेषु. लीलेति. लीलायाः नित्यत्वात् तद्विशिष्टं स्वरूपं फलम् इति अर्थः ॥१८॥

एवम् आपाततो अध्यायार्थं निरूप्य इदानीं फलप्रकरणे साधननिरूपणम् अयुक्तम् इति शङ्कां निवारयितुम् आवृत्यधिकरणं वक्तुं सूत्रम् अवतारयन्ति अस्य इति. अन्तरङ्गत्वं फलोपकारकत्वम्.

“आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः” (बृहदा. उप.४।५।६) इत्यादिवाक्यैः विहितं श्रवणादिकं किं सकृदेव कर्तव्यम्, उत असकृद्? इति भवति संशयः. किं तावत् प्राप्तं? सकृदेव इति, तावतैव शास्त्रार्थस्य सम्पत्तेः. नच तण्डुलनिष्पत्तिफलकावघातस्येव दर्शनफलकानां श्रवणादीनां तत्सिद्धिपर्यन्तम् आवृत्तिः न्यायप्राप्ता इति वाच्यम्. अवघातस्य वितुषीकरणात्मकदृष्टद्वारकत्वेन तथात्वम् अस्तु नाम, प्रकृतेतु अदृष्टद्वारकत्वात् सकृत्कृतेनैव अदृष्टद्वारा फलसम्पादनसम्भवाद् आवृत्तिः अप्रयोजिका इति प्राप्ते, उच्यते. आवृत्तिरेव श्रवणादीनां श्रुत्यभिमता. कुतः? असकृद् उपदेशात्. छान्दोग्ये श्वेतकेतूपाख्याने “ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं, तत् सत्यं, स आत्मा तत् त्वमसि श्वेतकेतो” (छान्दो.उप.६।८।७) इतिवाक्येन जड-जीवयोः ब्रह्मात्मत्वं नवकृत्व उपदिष्टवान्. तथाच सकृदुपदेशेनैव चेद् अर्थसिद्धिः स्यात्, तदा एकमेव अर्थम् एकस्मा एकदैव असकृद् न उपदिशेत्, प्रयोजनाभावात्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अवतारयन्ति अस्य इत्यादिना. अन्तरङ्गत्वं फलपूर्वाङ्गत्वेन फलमध्यपातित्वम्. तथाच मनन-निदिध्यासनयोः श्रवणाङ्गत्वं फलितम्. तत्-श्रवणम् ‘अपि’शब्दो अन्तरङ्गत्व-निर्णयसमुच्चयार्थः.

अधिकरणम् अवतारयन्ति आत्मा इत्यादिना. शास्त्रार्थस्य “श्रोतव्यः” इत्यादिशास्त्रार्थस्य. तथात्वम् आवृत्तिः. प्रकृते श्रवणादिस्थले फलसम्पादन-सम्भवाद्. इति प्राप्ते श्रवणाद्यावृत्तेः अप्रयोजकत्वे प्राप्ते. असकृद् उपदेशम् आहुः “ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत् त्वमसि श्वेतकेतो” (छान्दो. उप.६।८।७) इति वाक्येन जड-जीवयोः ब्रह्मत्वबोधनार्थम्. नवकृत्वः उपदिष्टवान् इति. अर्थभेदे तद्बोधनार्थमेव आवृत्तिः स्यात् “सकृद् उच्चरितः शब्दः सकृद् अर्थं गमयति” इति न्यायाद्. अतः एकमेव अर्थम् इति उक्तम्. पुरुषोद्देशभेदेऽपि आवृत्तिः स्याद् अतः एकस्मा इति उक्तम्. कालभेदेन एकस्मापि उपदेशावृत्तिसम्भवाद् एकदा इति उक्तम्.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

विषयम् आहुः आत्मा इति. संशयम् आहुः किं सकृद् इति. पूर्वपक्षम् आहुः सकृदेव इति. सिद्धान्तम् आहुः उच्यते इति. कुत्र उपदेशः? इत्यतः आहुः छान्दोग्ये इति. सकृद् उपदेशेन कार्यं न जायते इति आहुः तथाच इति. नवकृत्वोपदेशानां मध्ये

एतेन अवघातवद् अन्तःकरणदोषनिवर्तनं दृष्टं द्वारम् अन्येषाम् उपदेशानां,
चरमस्य तस्य ज्ञानसाधकत्वम् इति मन्तव्यम् ॥१॥

अत्रैव हेत्वन्तरम् आह

लिङ्गाच्च ॥२॥

श्रुत्यनुमापकत्वेन स्मृतिः लिङ्गम् इति उच्यते. साच, “यथा-यथात्मा
परिमृज्यते असौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः, तथा-तथा पश्यति तत्त्वसूक्ष्मं चक्षुः
यथैव अञ्जनसम्प्रयुक्तम्” (भाग.पुरा.११।१४।२६) इत्यादिरूपा, तदावृत्तिमेव
फलसाधकत्वेन आह. अत्र दृष्टान्तेनापि दृष्टद्वारकत्वं श्रवणादीनां सूच्यते.
“आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः” (बृहदा.उप.४।५।६) इति पदेन श्रवणादीनां फलात्मकं
दर्शनं पूर्वम् उक्त्वा, “श्रोतव्यो मन्तव्यः” (पूर्ववद्) इत्यादिना तत्साधनानि
पश्चाद् यद् आह तेन आत्मनः परोक्षमपि ज्ञानम् अवान्तरफलरूपम् इति भक्तिमार्गे

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

प्रयोजनाभावात् शक्रे उपदेशः चेत् फलसाधकः तदा प्रयोजनाभावाद् इति अर्थः.
अन्येषां चरमभिन्नानाम् ॥१॥

अत्रैव उपदेशावृत्तावेव. साच उपदेशावृत्तिबोधिका स्मृतिश्च. आत्मा
अन्तःकरणम्. सम्प्रयुक्तं सम्यक् सम्पादितम्. तदावृत्तिम् श्रवणावृत्तिम्. अत्र
दृष्टान्तेन स्मृतौ “चक्षुर् यथा” इति दृष्टान्तेन. दृष्टद्वारकत्वम् अष्टम् अद्वारीकृत्य
फलसाधकत्वम्. पूर्वम् उक्त्वा इति. भगवच्चाक्षुषस्य इतरफलापेक्षया उत्कृष्टत्वेन
प्राधान्यात् प्रथममुक्तिः इति अर्थः. तेन पूर्वस्य प्राधान्यद्योतने कृते प्रधानस्यापि लाभेन.
परमफलरूपेत्यादि. भगवन्मानससाक्षात्कारस्यापि साक्षात्कारत्वेन रूपेण भगवच्चा-

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

चरमस्यैव अपरोक्षज्ञानसाधकत्वम् इति आहुः एतेन इति. दृष्टद्वारम् इति. अन्तःकरण-
दोषस्य मानसिकप्रत्यक्षविषयत्वात् तथाबोध्यम् ॥१॥

सूत्रम् अवतारयन्ति अत्रैव इति. लिङ्गम् इति. यथा वह्न्यनुमापकत्वाद्
धूमस्य ‘लिङ्गम्’ इति सज्ज्ञा तथा लिङ्ग्यते अनुमीयते श्रुतिः अनया स्मृत्या इति स्मृतेः
लिङ्गत्वम् इति अर्थः. रूपेत्यन्ता स्मृतिः. तस्यां यद् ‘आत्म’पदं तद् अन्तःकरणपरम्.
तदावृत्तिमेव श्रवणावृत्तिमेव. दृष्टान्तेन इति. अञ्जनदृष्टान्तेन इति अर्थः. मुख्यं फलं
दर्शनम्, अवान्तरफलत्वं श्रवणादीनां यद् उक्तं तत्र कारणम् आहुः आत्मा वारे इति.
परमफलरूपे इति. परमफलं साक्षात्कारः. तत्सजातीयत्वेन तद्विषयविषयत्वेन इति

परमफलरूप-तत्सजातीयत्वेन च फलमध्यपात्येव इति श्रुत्यभिमतम् इति ज्ञायते.
तेन सूत्रकृदपि फलप्रकरणेऽपि साधनविचारं चकार इति निगूढाशयः.

तथापि “शाब्दक्रमाद् अर्थक्रमो बलीयान्” इति न्यायाद् ‘द्रष्टव्यः’
इति पदस्य पश्चात्सम्बन्धेतु उक्तरीतिः न अवसरं प्राप्नोतीति प्रकृतविचारस्य
फलप्रकरणासङ्गतत्वम् आपततीति प्रकारान्तरेण सूत्रार्थः उच्यते. आवृत्तिः
असकृदुपदेशात्. श्रुतिः हि कर्मज्ञानभक्तीः साक्षात्परम्पराभेदेन पुरुषार्थ-
साधनत्वेन हीनमध्यमोत्तमाधिकारिणः प्रति कर्तव्यत्वेन प्रतिपादयति. तत्र तेषां
स्वरूपं तृतीये अध्याये बादरायणेन प्रतिपादितम्. अथ तुरीये अध्याये तेषां फलं
चिन्त्यते. तत्र आदौ कर्ममार्गस्य फलम् उच्यते.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

क्षुषसाजात्यसत्त्वेन इति अर्थः. तेन अवान्तरफलस्यापि फलमध्यपातेन.

बलीयान् इति “अग्निहोत्रं जुहोति यवागूं पचति” (तैत्ति.सं.१।५।९।१)
इत्यत्र बलिष्ठत्वस्थापनाद् इति अर्थः. पश्चात् सम्बन्धे निदिध्यासनोत्तरयोजने.
उक्तरीतिः दर्शनस्य चाक्षुषस्य मुख्येन उक्तौ अमुख्यस्य मानवस्य अवान्तरफलस्य लाभः
इति रीतिः. प्रकृतिविचारस्य साधनावृत्तिविचारस्य. फलप्रकरणासङ्गतत्वं फलप्रकरणे
साधननिरूपणस्य असङ्गतत्वम्. पूर्वाध्यायेन एतदध्यायस्य उपजीवक-भावरूपां सङ्गतिं
प्रदर्शयन्ति श्रुतिः हि इत्यादिना. हीनेत्यादि. हीनाधिकारिणं कर्म प्रदर्शयति. एवं
मध्यमाधिकारिणं ज्ञानं प्रदर्शयति. उत्तमाधिकारिणं प्रति भक्तिं प्रदर्शयति इति अर्थः. तत्र
साधननिरूपणप्रस्तावे. तेषां कर्मज्ञानभक्तीनाम्. स्वरूपं स्वकीयस्वकीयकार्य-
करणसामर्थ्यम्. बादरायणेन व्यासेन. तेषां तृतीयाध्यायोक्तसाधनानाम्. अथ

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अर्थः. अत्र अर्थे सूत्रकारसम्मतिम् आहुः तेन इति.

सूत्रस्य प्रकारान्तरेण अर्थकथने बीजम् आहुः तथापि इति. “आत्मा वाऽरे”
(बृहदा.उप.४।५।६) इत्यत्र निदिध्यासानान्तरमेव साक्षात्कारो जायते इति आर्थक्रमस्य
बलवत्त्वं बोध्यम्. नो चेद् दर्शनानन्तरं मोक्षे जाते श्रवणस्य आनर्थक्याद् इति भावः.
पूर्वमीमांसायां “शाब्दक्रमाद् अर्थक्रमो बलीयान्” इति उक्तम्. उदाहरणन्तु “अग्निहोत्रं
जुहोति यवागूं पचति” (तैत्ति.सं.१।५।९।१) इत्यत्र बोध्यम् इति विस्तरभयाद् विरम्यते.
प्रकारान्तरेण कर्मज्ञानभक्तिक्रमेण आवृत्तिः इति पूर्वाध्याय-निरूपितां सङ्गतिं वदन्ति
श्रुतिः हि इति. तत्र साधनविचारे तेषां कर्मादीनाम्. चिन्त्यते इति. एतेन तुरीयाध्यायस्य
अर्थः उक्तः. इदानीं सूत्रम् अवतारयन्ति तत्र आदौ इत्यादिना. तत्साधनत्वेन इति.

ज्ञानभक्त्योरेव क्रमेण उत्तमात्युत्तमफलकत्वम्, अतः तत्साधनत्वेनैव तत्कर्तव्यं, नतु स्वातन्त्र्येण इति ज्ञापयितुम् आवृत्तिः इति. कर्ममार्गस्य आवृत्तिः पुनर्जन्मफलं तदपि असकृत्. इदं पदम् आवृत्या उभयत्रापि सम्बध्यते. तथाच अत्र प्रमाणापेक्षायां तद् आह हेतुत्वेन असकृद् उपदेशाद् इति. श्रुतौ कर्ममार्गे पुनर्जन्म असकृद् उपदिश्यते यतः. अन्यथा सकृदुपदेशेनैव तदवगमेऽपि असकृदुपदेशो व्यर्थः स्यात्. अतः तथा इति अर्थः. वाजसनेयिशाखायां पठ्यते,

“एवमेव अयं शरीर आत्मैभ्यो अङ्गेभ्यः सम्प्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियो-
न्याद्रवति प्राणायैव” (बृहदा.उप.४।३।३६) इति.

तत्रैव पुनः

“तेनैव प्रद्योतेन एष आत्मा निष्क्रामति” (बृहदा.उप.४।४।२) इत्युपक्रम्य पठ्यते

“तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च” (पूर्ववद्) इति.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

साधननिरूपणानन्तरम्. तत्र कर्मज्ञानभक्तिफलानां मध्ये. उत्तमात्युत्तमेति. ज्ञानस्य उत्तमं फलं भक्तेः उत्तमोत्तमं फलम् इति अर्थः. तत्साधनत्वेनैव परम्परया ज्ञानभक्तिफल-साधनत्वेनैव. स्वातन्त्र्येण कर्मज्ञानफलातिरिक्तफलोद्देशेन. ‘इदं’ पदम् ‘असकृद्’ इति पदम्. उभयत्र आवृत्तौ उपदेशे च इति अर्थः. अत्र कर्ममार्गस्य असकृद् जन्मावृत्तिफले. तद् आह सूत्रकारो हेतुम् आह इति अर्थः. अन्यथा जन्मावृत्तेः असकृत्त्वाभावे. तदवगमे एकावृत्तेः अवगमे. अतो असकृदावृत्तेः हेतोः श्रुतौ वैयर्थ्यापाताद्. तथा श्रुतौ उपदेशात् कर्ममार्गे जन्मावृत्तिः असकृद् अङ्गीकार्या इति अर्थः. उपदेशिकां श्रुतिम् आहुः वाजसनेयीत्यादिना. प्रतिन्यायं गर्भोत्पत्तिरीत्या. प्राणाय पुनः जीवनाय. तेनैव प्रद्योतेन पूर्ववद् भगवतः स्तुत्या. तं जीवम्. विद्येति.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

ज्ञानभक्तिसाधनत्वेन कर्म कर्तव्यम् इति अर्थः. एवञ्च स्वतः कर्मकरणे पुनः-पुनः जन्मादिरूपं जघन्यं फलम् इति भावः. सूत्रं व्याकुर्वन्ति कर्ममार्गस्य इति. इदं पदम् इति. ‘असकृद्’ इति पदम्. आवृत्तौ उपदेश(?)पि देहलीदीपन्यायेन सम्बध्यते. एतादृशसम्बन्धप्रयोजनम् आहुः तथाच इत्यादिना तथा इति अर्थः इति अन्तेन. तथाच स्वर्गादिरूपं यत् फलं श्रुतौ उक्तं तत् तस्य प्रतिपत्तिः फलन्तु जन्मैव इति असकृत्पदेन ज्ञायते इति भावः. वाजसनेयीति. बृहदारण्यके शारीरब्राह्मणे.

तत्रैव एतद् अनुपदमेव “तद् यथा तृणजलायुका” (बृहदा.उप.४।४।३) इत्युपक्रम्य पठ्यते

“एवमेव अयं पुरुष इदं शरीरं निहत्य अविद्यां गमयित्वा अन्यन् नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुते पितृं वा गान्धर्वं वा ब्राह्मं वा प्राजापत्यं वा दैवं वा मानुषं वा अन्येभ्यो वा भूतेभ्यः” (बृहदा.उप.४।४।४) इति. तत्रैव अग्रे पठ्यते,

“प्राप्यान्तं कर्मणः तस्य यत्किञ्च इह करोति अयं, तस्माद् लोकात् पुनरेति अस्मै लोकाय कर्मणः” (बृहदा.उप.४।४।६) इति.

अत्र हेत्वन्तरम् आह लिङ्गाच्च. वेदानुमापकत्वेन स्मृतिः लिङ्गम् इति उच्यते. साच भगवद्गीतासु “त्रैविद्या माम्” (भग.गीता ९।२०) इत्युपक्रम्य पठ्यते “एवं त्रयीधर्मम् अनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते” (भग.गीता ९।२१) इति. “आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन” (भग.गीता ८।१६) इति च.

अथवा “यथाकारी यथाचारी तथा भवति. साधुकारी साधुः भवति. पापकारी पापो भवति. पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति. पापः पापेन” (बृहदा.उप. ४।४।५) इति श्रुतिः वर्तमानजन्मकर्मणोः पूर्वजन्मसम्बन्धिकर्मानुमापकत्वं वदतीति कर्मिणः पुनर्जन्म आवश्यकम् इति ज्ञायते. एवं सति लिङ्गत्वेन निरूपणाद् इति अर्थः सम्पद्यते. निवृत्तिमार्गीयस्यापि तस्य ज्ञानोपकर्तृत्वमात्रं,

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तत्रैव तत्प्रकरणेव. अत्र असकृद् जन्मावृत्तौ. हेत्वन्तरम् उक्तश्रुतिः अपेक्षया अन्यं हेतुम्.

इति अर्थो जन्मावृत्तिरूपो अर्थः. तस्य कर्मणः. ज्ञानोपकर्तृत्वमात्रम्

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

तत्रैव इति शारीरब्राह्मणे. अस्य अर्थस्तु उत्तानेव तथापि तद्भाष्याद् अनुसन्धेयः.

लिङ्गाच्च. वेदानुमापकत्वम् इति. स्मृतेः वेदानुमापकत्वाद् लिङ्गत्वम् इति अर्थः. साच इति. स्मृतिश्च इति अर्थः.

‘लिङ्ग’पदस्य अर्थान्तरम् आहुः अथवा इति. अनुमापकत्वं वदति इति. “यथाचारी” इति उक्तमेव, पुनः “पुण्यः पुण्येन” इति उक्त्या एतद् जन्मसम्बन्धिकर्मानुमापकत्वम्. तथाच लिङ्गपदेन कर्मापि बोध्यते इति भावः. सूत्रार्थम् आहुः एवं सति इति. ननु निवृत्तिमार्गीयेनापि कर्म कर्तव्यम् इति उक्तम्. तथाच तस्य पुनर्जन्माभावाद् कर्म

नतु जन्मनिवर्तकत्वं, मानाभावात्॥२॥

इति चतुर्थाध्याये प्रथमपादे प्रथमम् आवृत्यधिकरणम्॥१॥

एवं कर्मफलं विचार्य ज्ञानफलं विचारयति.

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राह्यन्ति च॥३॥ (४।१।२)

पूर्वार्थनिरूपणव्यवच्छेदाय ‘तु’शब्दः. ज्ञानिनो हि* भगवन्तम् आत्मत्वेनैव उपासते. तस्याः नैरन्तर्ये अनेकजन्मभिः तथैव तेषां हृदि भगवान् स्फुरति तदा स्वानन्दांशस्यापि आविर्भावाद् ब्रह्मभूतः सन् आत्मत्वेनैव ब्रह्म स्फुरितमिति तदानन्दात्मकः सन् तम् अनुभवति. एवं स्थितः प्रारब्धसमाप्तौ देहापगमे तत्रैव प्रविष्टो भवति. एतादृशः सर्वोपकारीति परार्थमपि तस्मै

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अन्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानोपकारित्वमात्रम्. ‘मात्र’पदेन जन्मावृत्तेः अनिवृत्तिः. अत्र द्वितीयपक्षव्याख्याने सूत्रद्वयमात्रं संशयादेः अलाभात्. प्रथमव्याख्यानेतु अधिकरणमेव॥२॥१॥

सूत्रम् अवतारयन्ति पूर्वार्थेत्यादिना. पूर्वार्थनिरूपणं कर्मनिरूपणम्. तथैव ब्रह्मत्वेनैव. स्वानन्दांशस्य इत्यादि. भगवदानन्दस्यापि ज्ञानिहृदये आविर्भावाद् इति अर्थः. तम् अनुभवति भगवदानन्दम् अनुभवति इति अर्थः. ग्राह्यन्ति इति सूत्रभागं व्याख्यातुम् आहुः एतादृशः इति.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

व्यर्थं स्याद् इत्यतः आहुः निवृत्तीति. तस्य ज्ञानभक्त्युपकारकत्वाद् नैव व्यर्थम् इति अर्थः. अस्मिन् पक्षे संशयाद्यभावाद् न अधिकरणरूपम् इति ज्ञेयम्॥२॥१॥

सूत्रं व्याकुर्वन्ति पूर्व्वेति. सूत्रे उपगच्छन्ति इत्यस्य ज्ञानार्थकत्वम्. तथाच आत्मज्ञानं मोक्षस्य साधनम् इति अर्थे साधनविचारएव प्रतीयते नतु फलविचारः इत्यतः आहुः ज्ञानिनः इति. उपासते इति. “आत्मा इत्येव उपासीत” (बृहदा.उप.१।४।७) इति श्रुतेः भगवन्तम् आत्मत्वेनैव उपासते, उपासनां कुर्वन्ति इति अर्थः. तस्याः उपासनायाः. स्फुरति इति. “बहूनां जन्मनाम् अन्ते” (भग.गीता७।१९) इति गीतावाक्याद् इति अर्थः. आनन्दांशस्यापि इति. जीवानन्दस्यापि इति अर्थः. ब्रह्मभूतः सन् इति. त्रयाणां प्राकट्ये “ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति” (बृहदा.उप.४।४।६) इति श्रुत्या ब्रह्मभूतः इति अर्थः. प्रविष्टो भवति इति. ज्ञानिनो यद् मुख्यं फलं तद् उपगच्छन्ति इति अर्थः. एवञ्च

* ‘अपि’ इति पुरु.पाठः.

भगवता ज्ञानं दत्तम् इति प्रवचनमपि तस्य फलान्तःपातीति अधिकारिणि उपस्थिते तथैव उपदिशति च. एतदेव आह आत्मा इत्यादिना. उप समीपे गमनं प्रवेशः इति यावत्.

अथवा. ननु ज्ञान-भक्त्योः अनावृत्तिः फलम्, अतः उत्तमे ते, नतु कर्म इति आशयेन कर्मणः फलम् आवृत्तिः इति यद् निरूपितं, तत्र इदं चिन्त्यते : “न स पुनरावर्तते” (छान्दो.उप.८।१५।१) इति श्रुतिः सर्वथा अनावृत्तिम् आह, उत सावधिकीं ताम् ‘अमर’शब्देन तन्निवृत्तिमिव? किम् अत्र युक्तम्? सावधिकीमेव इति. तथाहि. पूर्वं कर्मनैयत्यस्य त्वयापि अङ्गीकार्यत्वात् तस्य

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

एतदेव आत्मग्रहणमेव. क्रियासङ्गतः एवकारो अत्यन्तायोगव्यवच्छेदार्थः. उपगच्छन्ति इति सूत्रभागस्य अर्थम् आहुः उप समीपे इत्यादि.

पूर्वं सूत्रार्थमात्रम् उक्तं नतु अधिकरणम् अतो अधिकरणरचनार्थम् आहुः अथवा इत्यादि. ते ज्ञानभक्ती. नतु कर्म इति अस्य उत्तमम् इति अन्वयः. ताम् अनावृत्तिम्. तन्निवृत्तिमिव सावधिकमरणनिवृत्तिमिव. अनावृत्तिरपि सावधिकी इति अर्थः. सावधिकीम् अनावृत्तिं सावधिकीम् इति अर्थः. पूर्वं ज्ञानात् पूर्वम्. कर्मनैयत्यस्य चित्तशुद्ध्यर्थं वाचनिककर्मनैयत्यस्य इति अर्थः. त्वयापि ज्ञानस्य

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

फलप्रकरणमेव एतद् इति सूचयितुम् आहुः तस्य फलान्तःपाति इति. भगवत्कृपया इति शेषः. ननु आत्मत्वेन ग्रहणम् आत्मज्ञानानन्तरमेव जायते इति उपगच्छन्ति इत्यस्य ज्ञानार्थकत्वमेव नतु प्रवेशार्थकत्वम् अतः आहुः उपेति. एवञ्च ज्ञानिनः उपगच्छन्ति ग्राहयन्ति इति अर्थद्वयसंग्राहकत्वं सूत्रे ज्ञानिनाम् उक्तम्. तेन च पुनरावृत्त्यभावएव फलम् इति फलप्रकरणाद् बोध्यम् इति भावः.

पूर्वसूत्रयोः वर्णकान्तरे कर्मणएव विचारः कृतः. सएव अधुना कर्तुं पक्षान्तरम् आहुः अथवा इति. उत्तमे ते. ज्ञानभक्ती इति अर्थः. तत्र इदम् इति. अनावृत्तिविचारः. क्रियते इति अर्थः. एतेन विषयः उक्तो भवति. संशयम् आहुः न सः पुनः इति. सन्देहबीजन्तु ज्ञानिभिरपि कर्म कर्तव्यम् इति व्यवस्थापितं तेन च अनावृत्तिः फलं कर्मणः सावधिकामरभावपर्यन्तम् इति कथनाद् बोध्यम्. पूर्वपक्षम् आहुः किम् अत्र इति. पूर्वम् इति. अनावृत्तेः पूर्वं जीवदशायाम् इति अर्थः. त्वया सिद्धान्तिना “यावद् आयुषमेवं वर्तयन्” (छान्दो.उप.८।१५।१) इति श्रुत्या अङ्गीकार्यत्वाद् इति अर्थः.

प्ररोहैकस्वभावत्वात् तस्य दुरतिक्रमत्वात् तत्फलानुभवस्य आवश्यकत्वात्. अपिच, “य एनं विदुः” (बृहदा.उप.४।४।२२) इति श्रुतेः सति ज्ञाने हि सा. “यतो वाचः” (तैत्ति.उप.२।९), “अगृहो न हि गृह्यते” (बृहदा.उप.४।४।२२) इत्यादिश्रुतिभ्यो ब्रह्मज्ञानासम्भवात्. इतएव भक्तिरपि प्रत्युक्ता वेदितव्या. ज्ञानाविषये स्नेहासम्भवात्. किञ्च “सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः” (बृहदा.उप. ४।४।२२) इत्यादिश्रुतिभ्यो “यस्य अवतारकर्माणि गायन्ति हि अस्मदादयः, न यं विदन्ति तत्त्वेन” (भाग.पुरा.२।६।३७) इत्यादिस्मृतिभ्यश्च का प्रत्याशा जीवस्य अतिहीनस्य तत्प्राप्तौ ? अतएव उपदेशासम्भवोऽपि इति प्राप्ते प्रत्याह आत्मेति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

मुक्तिसाधकता-वादिनापि. तस्य कर्मणः. तस्य पुनरावृत्तिलक्षणप्ररोहस्य. तत्फलानुभवस्य कर्मणो जन्मावृत्तिलक्षणफलानुभवस्य. सा “य एनं विदुः अमृताः ते भवन्ति” (बृहदा.उप. ४।४।१४) इति श्रुतिबोधिता मुक्तिः. “यतो वाचः” इति. “यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह” (तैत्ति.उप.२।९) इति ज्ञाननिषेधकश्रुत्या इति अर्थः. ज्ञानासम्भवाद् इत्यनेन कारणबाधाद् ज्ञानजन्या मुक्तिः असम्भवदुक्तिका इति अर्थः. इतएव ज्ञानस्य असम्भवादेव. प्रत्युक्ता माहात्म्यज्ञानरूपपूर्वाङ्गस्य असम्भवाद् भक्तिः प्रत्युक्ता इति अर्थः. तत्प्राप्तौ ब्रह्मज्ञानप्राप्तौ. अतएव उपदेशकस्य गुरोः ज्ञानासम्भवादेव. इति प्राप्ते अनावृत्तौ साधकाभावेन बाधकसत्त्वेन च सावधिक्याएव अनावृत्तेः लाभः कर्मस्थलइव सर्वत्र इति पूर्वपक्षे प्राप्ते. प्रत्याह सूत्रकारः समाधानं प्रति आह इति अर्थः. तु’शब्दः सौत्रः ‘तु’शब्दः. ‘तु’शब्दो अनावृत्तौ

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

तस्य कर्मणः प्ररोहैकस्वभावत्वाद् जन्मैकस्वभावत्वात् तस्य स्वभावस्य दुरतिक्र-
मत्वाद् दुर्लङ्घ्यत्वात्. तत्फलेति. जन्मान्तरीणकर्मफलेति अर्थः. एवञ्च आवृत्तौ साधकमेव इति भावः. बाधकम् आहुः अपिच इति. सा अनावृत्तिः. ननु कुतो ज्ञानं न जायते ? इति आहुः यतः इति. “यतो वाचो निवर्तन्ते” (तैत्ति.उप.२।४) इत्यादिश्रुत्या ज्ञानाभावाद् इति अर्थः. ननु भक्तौ वा अनावृत्तिः भविष्यति इत्यतः आहुः इतएव इति. प्रमेयबलेन बाधकम् आहुः किञ्च इति. अत्र श्रुत्या प्राप्तिः नास्ति स्मृत्या च ज्ञानं नास्ति इति बोध्यते. अतएव इति. गुरोरेव ज्ञानाभावाद् इति भावः.

सिद्धान्तं विशदयन्ति अत्र अयम् इति. आत्मानं प्रापयति. एवञ्च सर्वात्म-
नियामकत्वाद् भगवत्स्वभावस्यापि कर्मस्वभाववद् दुरतिक्रमत्वाद् ज्ञानाश्रयं भक्त्याश्रयं

इत्यादिना. ‘तु’शब्दः पूर्वपक्षनिरासकः.

अत्र अयम् आशयः : सत्यम् उक्तं भवता. तत्र उच्यते. यथा अगृह्यत्वातिमहत्त्वादिधर्माः भगवति सन्ति, तथा सर्वात्मत्वमपि. “यः आत्मनि तिष्ठन्” (बृहदा.उप.३।७।...) इत्यादिश्रुतिषु आत्मत्वेनैव उक्तेः. सर्वधर्मा-श्रयत्वेऽपि यदा यं धर्मं पुरस्कृत्य लीलां करोति, तत्कार्यमेव तदा सम्पद्यते, हितकारीत्वस्वभावत्वात् तस्य. एवं सति यस्मिन् पुरुषे यदा आत्मत्वेन लीलां करोति, तदा स्वप्राप्त्यनुकूलप्रयत्नवन्तं विधाय आत्मानं प्रापयति. ननु उक्तं दुरतिक्रमः कर्मस्वभावः इति. न एषः दोषः. न हि अन्नरसपाकाय जग्धम् औषधमपि गौरवाय भवति, तेन न तन्निवृत्तिः वा. व्यापादनैकस्वभावमपि

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सावधिकत्वरूपपूर्वपक्षनिराकरणे इति अर्थः.

अगृह्यत्वेत्यादि “अगृह्यो न हि गृह्यते” (तत्रैव ४।४।२२), “अणोः अणीयान् महतो महीयान्” (कठोप.१।२।२०) इत्यादिधर्माः. तत्कार्यं धर्मकार्यम्. तदा अवतारदशायाम्. हितकारित्वं स्वनिष्ठानां हितकारित्वम्. तस्य भगवतः. विधाय भक्तं तादृशप्रयत्नवन्तं विधाय इति अर्थः. कर्मस्वभावः स्वजन्यफलस्य सावधिकत्व-सम्पादकत्वलक्षणः. न एषः दोषः इति. एषः आवृत्तिविशिष्टफलसम्पादकत्वलक्षणः. न निष्कामतया करणेन भगवदर्पणेन वा कर्मणां सावधिकफलजनकत्वलक्षणस्वभावस्य निवृत्तत्वाद् न इति अर्थः. तेन औषधभक्षणेन. न तन्निवृत्तिः न अजीर्णनिवृत्तिः इति

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

वा पुरुषं विधाय सर्वं करोतीति न दौर्घट्यम् इति भावः. उभयोः आत्म-कर्मणोः स्वभावस्य दुरतिक्रमात् सावधिकत्वसंशयः इति आशयेन आशङ्कते नच इति. निराकुर्वन्ति न एषः दोषः इति. भवति इति. न हि इति पूर्वेण अन्वयः. तन्निवृत्तिः इति. अन्नरसपाकनिवृत्तिः न इति न हि इति अर्थः, किन्तु अन्नरसपाको भवति इति अर्थः. एवं “विषस्य विषम् औषधम्” इति उक्त्वा विषस्य व्यापादनं दूरीकरणं, तत्र पटुः यद् विषं तत् किम् आशीविषं न अपगमयति न दूरीकरोति, अपितु दूरीकरोत्येव. एवं विषापगमे समर्थः यः आगमोऽपि मन्त्रोऽपि तथा. दार्ष्टान्तिके योजयन्ति तथा इति. वाक्याद् इति. एकादशस्कन्धीय-योगेश्वरवाक्याद् इति अर्थः.

एवंरीत्या कर्मस्वभावनाशो यथा तथा विरुद्धधर्मस्यापि आत्मस्वभाव-नाशकत्वम् इति आशङ्क्य परिहरन्ति अगृह्यत्वेति.

विषम् आशीविषं तदपगमपटुतरनिगमसङ्गमो न अपगमयति वा. तथा भगवदर्पितं तदर्थं च कृतं कर्म न कर्मनाशाय भवतीति न वक्तुं शक्यम्. “कर्म-मोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा” (भाग.पुरा.११।३।४४) इति वाक्यात्. अगृह्यत्व-गृह्यत्व-विरोधापहारस्तु जीवसामर्थ्येश्वरेच्छाभ्यां पुरैव कृतइति न अधिकम् अत्र निरूप्यम्. ‘इति’ शब्दो हेत्वर्थे. तथाच भगवान् आत्मा भवति सर्वेषां जीवानाम् अतो हेतोः उक्तरीत्या तदनुग्रहेण तम् उपगच्छन्ति. ज्ञानमार्गे अङ्गीकृतास्तु आत्मत्वेनैव ज्ञानाद् ‘उप’समीपएव गच्छन्ति, उक्तरीत्या अक्षरात्मके तत्रैव प्रविष्टाः भवन्ति इति अर्थः. भक्तिमार्गे अङ्गीकृतास्तु साक्षात् प्रकटे पुरुषोत्तमे सति तद्भजनार्थम् ‘उप’ समीपं गच्छन्ति इति अर्थः. एवं

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अर्थः. तदपगमो विषनिराकरणम्. निगमसङ्गमो विषोद्धारकमन्त्रप्रयोगः. न अपगमयति वा किन्तु अपगमयत्येव इति अर्थः. भगवदर्पितभगवदर्थकृतकर्मणां पूर्वोपार्जितनिखिलधर्मनाशकत्वमेव नतु प्ररोहैकस्वभावत्वम् इति आहुः तथा इत्यादिना. कर्मणां कर्मनाशकत्वे प्रमाणम् आहुः “कर्मनाशाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा” (भाग.पुरा.११।३।४४) इति. एतत्पूर्वार्धम् एकादशस्कन्धे “परोक्षवादो वेदोऽयं बालानाम् अनुशासनम्” (तत्रैव) इति. जीवसामर्थ्यम् ईश्वरदत्तजीवसामर्थ्यम्. ईश्वरेच्छा अवतारादिविषयीणि “सर्वे मां पश्यन्तु” इति वा ईश्वरेच्छा इति अर्थः. पुरा “मनसैवानुद्रष्टव्यं” (बृहदा.उप.४।४।१९), “कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानम्” (कठोप.२।१।१), “आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन” (तैत्ति.उप.२।४) इति. पूर्वनिरूपणेन “अगृह्यो न हि गृह्यते” (बृहदा.उप.४।४।२२) इति गृह्यत्वागृह्यत्वयोः विरुद्धधर्मयोः भगवति स्वीकारेण इति अर्थः. ‘इति’शब्दः आत्मे अयं सौत्रः ‘इति’शब्दः. उक्तरीत्या अनुग्रहेण जीवे सामर्थ्यं दत्वा लीलां करोति इत्यादि उक्तरीत्या. तं भगवन्तं उपगच्छन्ति अनुग्रहानुसारेण सायुज्यं प्राप्नुवन्ति इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

एवं बाधकपरिहारोत्तरं सूत्रार्थम् आहुः इति शब्दः इति. तम् उपगच्छन्ति इति. ज्ञानिनस्तु प्रत्यग्रसत्त्वेन भक्तास्तु सर्वात्मत्वाद्यानन्दप्राधान्येन उपगच्छन्ति इति अर्थः. उपगमनस्य विभागम् आहुः ज्ञानमार्गे इति. अयमेव सूत्राशयः इति आहुः एवम् इति. उपगच्छन्ति इति उक्तं गृह्णन्ति इति न उक्तं, तेन कृत्वा विभागः सूत्रकृद् अभिप्रेतः इति ज्ञायते इति अर्थः. एतावता मार्गद्वयस्य मुख्यं फलम् उक्तम्. इदानीम् अवान्तरफलं वक्तुं

श्लेषोक्तिः इयम् इति ज्ञायते. सम्प्रदायानुवृत्तिरपि भगवदिङ्गितेति एतादृशाः स्वयं येन मार्गेण फलं प्राप्ताः, तं मार्गम् अन्यानपि ग्राह्यन्ति उपदेशैः. अत्र उभयत्रापि आत्मत्वमेव हेतुः, अन्यथा आत्मारामस्य सर्वनिरपेक्षस्य एवंकरणासम्भवेन मोक्षमार्गप्रसिद्धिरेव स्यात्. तस्मात् सर्वथा अनावृत्तिरेव श्रुत्यभिमतता इति ज्ञेयम्॥३॥

ननु आत्मत्वेन उक्तिः उपासनार्था इति न उक्तं साधीयः इत्यतः उत्तरं पठति.

न प्रतीकेन हि सः॥४॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

एवं श्लेषोक्तिः इयम् इति उपगच्छन्ति इति पदे श्लेषोक्तिः. साच ज्ञानमार्गीयाणां ज्ञानप्राधान्याद् अक्षरप्राप्तिः भक्तानां च आनन्दप्राधान्येन “सो अश्नुते सर्वान् कामान्” (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुत्युक्तरीत्या भक्तिमार्गसम्प्रदायानुरोधेन भगवत्समीपगमनम् इत्येवंरूपा. ज्ञानभक्तिमार्गीयोभयेष्वपि आत्मत्वरूपहेतोः भगवत्सम्बन्धसम्पादकस्य सत्त्वात् साक्षात् परम्परया वा यः उक्तो उभयमार्गीयाः तेषां तत्तन्मार्गीयां भगवत्प्राप्तिम् आहुः सम्प्रदायेत्यादिना. सम्प्रदायानुवृत्तिः ज्ञानिनां भक्तानां च अनुवृत्तिश्च. अनुवृत्तिः इतरेषां ज्ञानभक्तीच्छूनां भगवत्प्राप्तिकामना इति अर्थः. एतादृशाः ज्ञानभक्तिमन्तः. उपदेशैः ज्ञान-भक्त्योः उपदेशैः. उभयत्र ज्ञानभक्तिमार्गीयोभयेषु. आत्मत्वमेव हेतुः भगवत्सम्बन्धसम्पत्तौ आत्मत्वमेव हेतुः इति अर्थः. एवम्प्रकरणासम्भवेन इतरेषां स्वस्वरूपप्रापणे प्रयोजनाभावेन इति अर्थः. तस्माद् आत्मत्वेन हेतुना ज्ञान-भक्तिभ्यां पुनरावृत्तिरहितात्मलाभाद्. श्रुत्यभिप्रेता ब्रह्मणि प्रवेशबोधकोक्तश्रुतेः अभिप्रेता॥३॥

ननु ब्रह्मांशे ब्रह्मत्वेन उपासनार्थमेव आत्मत्वोक्तिः नतु मुख्ये ब्रह्मणि इति कथं पुनरावृत्तिरहितभगवत्लाभः? इत्यतः आहुः ननु इत्यादि सूत्रावतरणम्. सूत्रार्थम्

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रैकदेशार्थम् आहुः सम्प्रदायेति. ज्ञानभक्तिसम्प्रदायेति अर्थः. उभयत्र इति. मार्गद्वयोपदेशः इति अर्थः. उपसंहरन्ति तस्माद् इति. कर्मणो अङ्गत्वेन अनावृत्ति-फलकत्वं ज्ञानभक्त्योस्तु स्वतएवेति तयोः उत्तमत्वम् इति अलं विस्तरेण ॥३॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. उपासनार्थेति. “आत्मेत्येव उपासीत” (बृहदा.उप.१।४।७) इति श्रुत्या स्वात्मा परमात्मत्वेन उपासनार्थं स्तूयते इति अर्थः.

अतद्रूपे तत्त्वेन उपासनं हि प्रतीकम् इति उच्यते. तथाच तादृशेन तेन सः मोक्षो न भवति इति अर्थः. श्रुतिसिद्धत्वाद् नास्ति मोक्षः इति न वक्तुं शक्यम् इति भावः.

अथवा आत्मत्वेन उक्तिः उपासनार्था इति वदन् वादी वक्तव्यः. फलार्थमेव तत्. फलञ्च श्रुत्युक्तः तत्प्रवेशएव इति त्वयापि वाच्यम्. एवं सति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

आहुः अतद्रूपे इत्यादिना. तादृशेन प्रतीकेन आरोपविषयीभूतोपास्येन. सः भक्ति-ज्ञानाभ्यां प्राप्यः. ननु आत्मत्वेन धर्मिणो ब्रह्मणः उपासने प्रतीकोपासनएव मुख्यं फलं भवति इत्यत्र किं गमकम्? अतः आहुः श्रुतिसिद्धत्वाद् इत्यादि. “य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति”(कठोप.६।९) “तमेवं विद्वानमृत इह भवति”(तैत्ति.आर.३।१।३) इत्यादि-श्रुतिसिद्धत्वाद् इति अर्थः.

एतद्व्याख्याने प्रतीकोपासनया मोक्षरूपफलस्य उपपादनेऽपि न भक्तेः फलम् उपपादितम् अतः आहुः अथवा इत्यादि. तद् उपासनम्. तत्प्रवेशो यथायोग्यं ब्रह्मणि

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

तथाच जीवस्य अंशत्वात् तदभेदेन उपासने अनावृत्तिः फलं न भवति इति भावः. सूत्रार्थम् आहुः अतद्रूपेति. कृत्स्नरूपस्य एकदेशरूपेण उपासनं प्रतीकोपासनम्. “प्राणन्नेव प्राणो भवति”(बृहदा.उप.१।४।७) इति श्रुत्या सर्वरूपस्य आत्मनः एकदेशप्राणादिरूपेण उपासनायाएव प्रतीकत्वेन प्रतिपादनात्. तादृशेन मोक्षो न भवति इति अर्थः. श्रुतिसिद्धत्वाद् इति. परमात्मत्वेन उपासनन्तु अकृत्स्नत्ववारणार्थम् “आत्मेत्येव उपासीत” इति श्रुत्या प्रतिपादितम्. तथाच आत्मत्वेन उपासनायाः फलं कृत्स्नभावः, तस्य फलं सर्वात्मभावः, तस्य फलं मोक्षः इति श्रुतिसिद्धत्वाद् इति अर्थः. तथाच इयं न प्रतीकोपासना इति वा भावः. अथवा श्रुतिसिद्धत्वाद् इति. “आत्मेत्येव उपासीत” इत्यनेन उपासना विधीयते, नतु पूर्वोक्तम् आत्मज्ञानस्य फलं निषिध्यते. “य एनं विदुः अमृताः ते भवन्ति”(कठोप.६।९) इति श्रुत्या आत्मज्ञानेन मोक्षस्य श्रुतिसिद्धत्वाद् इति सूत्रभावः इति अर्थः.

ननु एतादृशप्रतीकोपासनस्य ज्ञानं फलं तेन मोक्षः इति उक्तं नतु भक्त्या इति अर्थतः प्रकारान्तरम् आहुः अथवा इति. अस्मिन् पक्षे सूत्रस्य भागद्वयं “न प्रतीके न हि सः” इति. पूर्वभागे शेषपूरणेन ज्ञानपरत्वेन व्याख्यानम् उत्तरभागे भक्तिपरत्वेन इति. प्रष्टव्यः इत्यनेन फलार्थमेव उपासने प्रतीकत्वे स्वीकृते दोषः इति ध्वनितम्. तद् उपासनम् इति अर्थः. श्रुत्युक्तः इति प्रवेशस्य विशेषणम्. “ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति”

आदौ ज्ञानमार्गे अनुपपत्तिम् आह. न प्रतीकेन आत्मभूते ज्ञानिनः उपगमः पूर्वोक्तः प्रवेशः सम्भवति इति शेषः. भक्तिमार्गेऽपि ताम् आह न हि सः इति. न हि प्रतीकोपासने सः लोकवेद-प्रसिद्धः पुरुषोत्तमो अस्ति उपास्यत्वेन, येन तत्प्राकट्यं स्यात्, तद् उपगमनं च इति अर्थः. एवं ज्ञान-भक्तयोः फलसत्ता साधिता॥४॥

ननु “सर्वं खलु इदं ब्रह्म” (छान्दो.उप.३।१४।१), “आत्मैव इदं सर्वम्” (छान्दो.उप.७।२५।२) इत्यादिश्रुतयः सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिं मुक्तिसाधनत्वेन

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

प्रवेशः. प्रतीकेन आत्मभूते प्रतीकोपासनाविषये अवयविभिन्नः इति अर्थः. पूर्वोक्तो ब्रह्मसायुज्यरूपः. न प्रतीकः इतिसूत्रभागं व्याख्याय सूत्रशेषं व्याख्यातुम् आहुः न हि सः इति. व्याख्यानम् आहुः न हि प्रतीकेत्यादि. तत्प्राकट्यं पुरुषोत्तमप्राकट्यम्. तदुपगमनं पुरुषोत्तमप्राप्तिः॥४॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादि. एतच्छ्रुतिद्वयं छान्दोग्यस्थम्. प्रथमं छान्दोग्य-शाण्डिल्यविद्यास्थं तद् अग्रे “यस्य स्याद् अद्धा” (छान्दो.उप.३।१४।४) इत्यनेन पुरुषोत्तमप्राप्तिफलम् उक्तं भक्तेः, द्वितीयं सनत्कुमारनारदसंवादस्थं

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

(बृहदा.उप.४।४।६) इति श्रुत्युक्तो ब्रह्मणि लयः इति अर्थः. एवं सति अस्याः उपासनायाः एतादृश-फलवत्त्वे सिद्धे प्रतीकत्वे स्वीक्रियमाणे सति इति अर्थः. अनुपपत्तिम्. यत्र प्रतीकत्वं तत्र एतादृशफलवत्त्वं नास्ति इति अनुपपत्तिम् इति अर्थः. प्रतीकः इत्यस्य विशेषणम् आहुः अनात्मभूत इति. “मनो ब्रह्म इति उपासीत” (छान्दो.उप.३।१८।१) इति श्रुतिप्रतिपाद्ये ब्रह्मत्वेन मनोपासनाविषय आत्मभिन्ने मनसि इति अर्थः. तथाच परमात्मत्वेन आत्मोपासने ज्ञानिनः तत्र पुरुषोत्तमे प्रवेशाद् न इयं प्रतीकोपासना इति भावः. एवञ्च आत्मत्वेन ज्ञानं मया उच्यते त्वया उपासना इति फलम् एकमेव इति हृदयम्. सूत्रोत्तरभागम् अवतारयन्ति भक्तिमार्गेऽपि इति. ताम् अनुपपत्तिम्. न हि सः प्रतीके इत्यस्य अन्वयः. तथाच प्रतीकोपासने पुरुषोत्तमः उपास्यएव न भवति इति आत्मत्वेन पुरुषोत्तमोपासनायाः प्रतीकत्वं नास्ति इति भावः. एतावान् विशेषः. ज्ञानिनाम् आत्मत्वेन उपासनायाः अकृत्स्नत्ववारणार्थत्वाद् भक्तानान्तु आत्मत्वेन उपासनायाः पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वात् च न प्रतीकत्वम् उभयोः इति हृदयम्॥४॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु सर्वम् इति. इदं वाक्यद्वयं छान्दोग्ये क्रमेण

उपदिशन्ति. साच प्रतीकात्मिकैवेति कथं प्रतीकोपासनस्य न मोक्षसाधकत्वम्
इति प्राप्ते उत्तरम् आह

ब्रह्मदृष्टिः उत्कर्षात् ॥५॥

सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिः न प्रतीकात्मिका, सर्वस्य वस्तुतो ब्रह्मात्मकत्वात्.
सा च न उपदेशसाध्या, अतो न उपदिश्यते, किन्तु अनूद्यते. सातु
अधिकारोत्कर्षात् स्वतएव भवतीति प्रतीकोपासनस्य न मुक्तिसाधनत्वम् इति
साधूक्तम्. एतदेव उक्तम् अनेन सूत्रेण ॥५॥

॥इति चतुर्थाध्याये प्रथमपादे द्वितीयम् आत्माधिकरणम् ॥२॥

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥६॥ (४।१।३)

छान्दोग्ये “अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिं प्राचीनयोग्यं कं त्वम् आत्मानम्
उपास्स इति, आदित्यमेव भगवो राजन् इति होवाच” (छान्दो.उप.५।१३।१)
इति. “अथ होवाच इन्द्रद्युम्नम्” (छान्दो.उप.५।१४।१) इत्युपक्रम्य, “कं त्वम्
आत्मानम् उपास्स इति, वायुमेव भगवो राजन् इति होवाच” (तत्रैव) इति.

एवमेव अग्रे प्रश्नभेदेन वक्तृभेदेन आकाशापःप्रभृतयः आत्मत्वेन

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

मुक्तिप्रतिपादकम्. सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिं कार्यरूपे प्रपञ्चे ब्रह्मदृष्टिम्. मुक्तीत्यादि.
छान्दोग्येव मधुविद्यायां ॥५॥२॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

शाण्डिल्यविद्यायां सनत्कुमार-नारदसंवादे च बोध्यम्. साच इति. सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिश्च
इति अर्थः. तथाच आत्मनि प्राणाद्येकदेशदृष्टिवद् ब्रह्मकार्ये जगति ब्रह्मदृष्टिः
प्रतीकात्मिकैव इति भावः. सूत्रं व्याकुर्वन्ति सर्वत्र इति. वस्तुतः इति. “सर्वं
खल्विदम्” (छान्दो.उप.३।१४।१) इति वाक्येन कार्यस्य कारणात्मकत्वम् उक्तम्.
तथाच इयं मननात्मिका उपासना. “स क्रतुं कुर्वीत” (छान्दो.उप.३।१४।१) इति
मननोपदेशात्. तेन च अभेदज्ञाने जाते भेदजनितभयाभावरूपमोक्षोपपत्तिः इति भावः.
साच इति. मननात्मिका उपासना च इति अर्थः. किन्तु इति. सनत्कुमारनारदविद्यासु
अनूद्यते इति अर्थः ॥५॥२॥

इदानीं ज्ञानभक्त्यङ्गभूतानाम् उपासनानां फलं विचारयितुम् आदित्याधिकरणम्
आहुः आदित्यादिमतयः इति. विषयवाक्यम् आहुः छान्दोग्ये इति. भक्तिमार्गीयस्य
अन्यदेव विषयवाक्यम् आहुः तत्रैव इति. छान्दोग्ये.

उपासनाविषया उक्ताः. तत्रैव “असौ वा आदित्यो देवमधु” (छान्दो.उप. ३।१।१) इत्युपक्रम्य अन्ते पठ्यते “य एतमेवं विद्वान् आदित्यं ब्रह्म इति उपास्ते” (छान्दा.उप.५।१९।४) इति.

अत्र इदं चिन्त्यते : अत्र प्रतीकोपासनत्वम् अस्ति, न वा ? इति. अस्ति इति पूर्वः पक्षः. तथाहि. “सर्वं खलु इदं ब्रह्म” (छान्द.उप.३।१४।१) इति श्रुतौ सर्वम् अनूद्य ब्रह्मत्वं तत्र बोध्यतइति न क्वचित् प्रतीकोपासनम् अस्ति इति हि पूर्व निरूपितम्. तच्च उक्तश्रुतिभिः प्रत्येकं तत्त्वेन उपास्यत्वेन उक्त्या न उपपद्यते. ब्रह्मणः एकत्वाद् एकप्रकारकेणैव उपासनेन सर्वेषां फलसिद्धेः, पृथक्-पृथग् उक्तौ गौरवात्, प्रयोजनविशेषाभावाच्च. तादृशाधिकाराभावात् पृथक् तदुक्तिः इति चेद्, न, सर्वत्र सदा तद्भावनायां तथानुभवस्यापि सम्भवात्. एवं सति वस्तुतः सर्वस्य ब्रह्मत्वं न अभिमतं, किन्तु यथा

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

प्रतीकोपासनात्वम् इति. ब्रह्मावयवे ब्रह्मत्वोक्तेः संशयबीजत्वं हस्ताद्य-वयवे पुरुषत्वोक्तेरिव इति अर्थः. सर्वम् अनूद्य सर्वत्वम् उद्देश्यतावच्छेदकीकृत्य इति अर्थः. पूर्व पूर्वसूत्रे “सर्वं खलु” इत्यादिश्रुतिषु इति अर्थः. तत्र सर्वस्मिन्. इदमेव सर्वं तच्च इत्यनेन बोध्यम्. उक्तश्रुतिभिः प्रत्येकम् अङ्गोपासनाबोधकश्रुतिभिः. न उपपद्यते इत्युक्तं तत्र हेतून् आहुः ब्रह्मणः इत्यादिना. एकप्रकारकेणैव सर्वत्वावच्छिन्नो-द्देश्यताकब्रह्मत्वप्रकारेणैव इति अर्थः. सर्वेषां नानातत्तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यक-ब्रह्मत्वप्रकारकत्वेन बोधितनानोपासनानाम्. पृथक्पृथगुक्तौ सूर्यवाय्वादिप्रत्येक-धर्मिकनानोपासनोक्तौ. तादृशाधिकारः ‘सर्वं ब्रह्म’ इत्याकारोपासनाधिकारः. इति चेद् न पृथगुपासनोक्तिः न उचिता इति अर्थः. सर्वत्र इत्यादि. सर्वस्मिन् पदार्थे ‘सर्वं ब्रह्मे’ति भावनायां क्रियमाणायां ‘सर्वं ब्रह्मे’ति उपनीतनानात्मकज्ञानस्य सम्भवाद् उत्तमाधिकारो न अपेक्षितएव. इत्थं च सर्वस्य ब्रह्मत्वाभावेऽपि उक्तरीत्या ‘सर्वं ब्रह्मे’ति ज्ञानसम्भवात्. फलितम् आह एवं सति इत्यादि. एवं सति उत्कृष्टाधिकाराभावेऽपि

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

संशयम् आहुः अत्र इति. पूर्वपक्षं विशदयन्ति तथाहि इति. पूर्वम् इति. पूर्वाधिकरणे. तत्त्वेन इति. ब्रह्मत्वेन इति अर्थः. उपासनेन इति. “सर्वं खल्विदम्” इति श्रुत्युक्तेन इति अर्थः. अस्ति प्रयोजनम् इति शङ्कते तादृशेति. एवञ्च सर्वत्र ब्रह्मानुसन्धानरूपोत्कृष्टाधिकारो येषां नास्ति तान् प्रति आदित्याद्युपासनम् इति भावः. समाधानम् आहुः सर्वत्र इति. सदा सर्वदा मननेन. तथानुभवस्य सर्वत्र ब्रह्मानुभवस्य.

आदित्यादीनां तत् तथा, तथा सर्वस्यापीति प्रतीकोपासनत्वमेव सर्वत्र. तेनैव फलम् इति प्राप्ते प्रतिवदति.

आदित्यादौ या ब्रह्मत्वमतयः उच्यन्ते, तास्तु साकारस्यैव ब्रह्मणो व्यापकत्वात् तस्य प्रत्येकमपि अङ्गम् उपासितं फलदमिति एकैकाङ्गविषयिण्यः ताः विधीयन्ते. उपपन्नं च एतत्. न हि साकार-व्यापकब्रह्मणो अङ्गं न ब्रह्म, अतो न प्रतीकोपासनत्वं तत्र.

अपरञ्च. “असौ वा आदित्यो देवमधु” (छान्दो.उप.३।१।१) इति उक्त्वा तस्य प्रतिदिक्करश्मीनां कृपावलोकनरूपाणां मधुत्वं निरूप्य,

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उक्तरीत्या ‘सर्वं ब्रह्मे’ति ज्ञानसम्भवे सति. तद् ब्रह्मत्वेन उपासनम्. तथा फलोपयोगि. सर्वस्यापि ब्रह्मत्वेन सर्वस्यापि उपासनं फलाय इति अर्थः. प्रतिवदति सूत्रकारः समाधत्ते. ताः अङ्गेषु ब्रह्मत्वेन उपासनाः. उपपन्नं युक्तिसिद्धम्. एतद् अङ्गेषु ब्रह्मोपासनम्. तत्र ब्रह्माङ्गेषु.

पूर्वोक्तम् ऋगर्थं स्फुटीकुर्वन्ति अपरञ्च इत्यादिना. देवमधु इति. आदित्यो भगवच्चक्षुः. मधुत्वं तस्य मधुनाडीत्वेन “प्राच्यो मधुनाड्यः” इति श्रुतेः. अन्यधर्म-

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

एवं सति उक्तप्रकारेण सर्वत्र ब्रह्मदर्शनसत्त्वेऽपि पुनः पृथग् उपदेशे सति इति अर्थः. तद् ब्रह्मत्वेन उपासनं तथा प्रतीकम्. तथा तथा रीत्या. तेनैव इति. प्रतीकोपासनेनैव इति अर्थः. फलम् इति. चित्तशुद्धिद्वारा मुक्तिरूपं फलम् इति अर्थः. सिद्धान्तम् आहुः प्रतिवदति इति.

सूत्रार्थम् आहुः आदित्यादौ इति. साकारस्यैव इति. अङ्गोपासनैव प्रतीकोपासना. “अङ्गं प्रतीको अवयवः” इति कोषात्. तथाच अस्मदुक्तप्रतीकोपासनैव फलदा इति भावः. हेत्वर्थम् आहुः उपपन्नम् इति.

परोक्षवादेन द्वितीयवाक्यस्य अर्थम् आहुः अपरञ्च इति. प्रतिदिक्करश्मीनाम् इति. प्राचां मधुप्रधानत्वाद् मधुत्वं मधुनाडीत्वम्. “प्राच्यो मधुनाड्यः” (छान्दो.उप.३।१।२) इति श्रुतेः. ऋचां मधुकृत्त्वं, ऋग्वेदस्य पुष्पत्वं तासामेव ऋचाम् अमृतता ब्रह्मरूपत्वं ताभिः ऋग्वेदतापं ताभिः तप्तस्य ऋग्वेदस्य यशआदिरसजननं तस्य रसस्य आदित्यम् अभितः श्रयणं तस्य आदित्यरोहितरूपत्वम्. एवंरीत्या प्रतिदिक्करश्मीनां मधुत्वं निरूप्य इति अर्थः. इदं छान्दोग्ये स्पष्टम्. अत्र कल्पनायाः

“तद् यत् प्रथम् अमृतं तद् वसव उपजीवन्ति अग्निना मुखेन, न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति एतदेव अमृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति, त एतदेव रूपम् अभिसंविशन्ति एतस्माद् रूपाद् उद्यन्ति” (छान्दो.उप. ३।१०।२)

इति पठ्यते. तथाच दर्शनमात्रेण अन्यधर्मनिवृत्तिः, तस्यैव स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वेन ज्ञानम् अतिशयितस्नेहज-विगाढभावेन तत्रैव लयः, पुनः तद्दर्शनानन्दानुभवार्थं भगवानेव कृपया पुनः पूर्वभावं सम्पादयतीति तस्माद् रूपाद् उदयश्च. एतत् सर्वं भगवदङ्गत्वएव उपपद्यते इत्यपि हेत्वभिप्रेतो अर्थो ज्ञेयः. न हि प्रतीकत्वे इदं सर्वं सम्भवति, भक्तिमार्गीयत्वाद् अस्य अर्थस्य इति भावः. अङ्गानां भगवत्स्वरूपात्मकत्वेन ऐक्यम् इति ज्ञापनाय एकवचनम्. एतेन स्वरूपस्यैव फलत्वम् उक्तं भवति इति मुख्यः सिद्धान्तः सूचितो भवति॥६॥

आसीनः सम्भवात्॥७॥

पूर्वसूत्रेण धर्ममात्रस्य फलत्वम् उक्त्वा, अधुना धर्मिणः फलत्वं

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

निवृत्तिः क्षुधारूपप्राणधर्मनिवृत्तिः. तस्यैव भगवच्चक्षूरूपादित्यस्यैव. तत्रैव तद् आदित्यएव इति अर्थः. तद्दर्शनम् आदित्यदर्शनम्. पूर्वभावम् आदित्यसायुज्यम्. तस्माद् इत्यादि. आदित्यरूपाद् इति अर्थः. उदयः उपासकस्य वाञ्छितलाभः. इत्यपि पूर्वोक्तसर्वोपपत्तिरूपोऽपि. हेत्वभिप्रेतः उपपत्तेः इति सौत्रहेतुबोधकपदस्य तात्पर्य-विषयीभूतो भगवदङ्गत्वस्य आदित्यादौ साधकः. प्रतीकत्वे आदित्यादेः प्रतीकोपास-नाविषयत्वे. इदं पूर्वोक्तं फलदानादि. अस्य अर्थस्य स्नेहजविगाढभावेन तत्र लयादिरूपार्थस्य. एकवचनं सौत्राङ्गपदे एकवचनम्. एतेन स्वरूपैक्यस्य अङ्गे सत्वेन ॥६॥

सूत्रावतरणम् आहुः पूर्वसूत्रेण इत्यादिना. धर्ममात्रस्य इत्यादि. तथाच पूर्वसूत्रेण अङ्गोपासकस्य अङ्गफलम् उक्तम् एतत्सूत्रेण तु अङ्गोपासकस्य अङ्गिरूपफलं

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

सत्त्वात् परोक्षत्वम्. सिद्धम् आहुः तथाच इति. अन्यधर्मेति. प्राणधर्मस्य क्षुदादेः निवृत्तिः. ज्ञेयः इति. हेतुबोधकं यद् उपपत्तिपदं तस्य अर्थः इति अर्थः. एतेन अन्तःतस्तद्धर्मादिसूत्रेषु उक्तोपासना वेदितव्या. अग्रे स्पष्टम् ॥६॥

सूत्रम् अवतारयन्ति पूर्वेति. धर्मेति. आदित्यादेः. धर्मिणः इति. भगवतः इति अर्थः ॥७॥

तत्साधनं च आह सम्भवात्. उत्कटस्नेहात्मकसाधनस्य सम्भवात् तदधीनः सन् तदग्रम् आसीनो भगवान् भवति. एतेन भक्तवश्यता उक्ता॥७॥

एवं बहिःप्राकट्यम् उक्त्वा आन्तरं तद् आह

ध्यानाच्च॥८॥

भावनौत्कट्यदशायां व्यभिचारिभावात्मक-सततस्मृतिरूप-ध्यानादपि हृदि प्रकटः सन् आसीनो भवति इति अर्थः. तेन स्थैर्यम् उक्तं भवति॥८॥

एवं भक्तेच्छयैव स्वरूपप्राकट्यम् इति उक्त्वा लीलानाविष्करणम् आविष्करणं चापि तदिच्छयैव इति आह

अचलत्वं चापेक्ष्य॥९॥

भक्तेच्छाम् अपेक्ष्य अचलत्वं, ‘च’कारात् चलत्वमपि इति अर्थः॥९॥

स्मरन्ति च॥१०॥

केचन भक्ताः स्वरूपनिरपेक्षाः तत्स्मरणजनितानन्देनैव विस्मृतापव-गन्तिफला भवन्ति. ‘च’कारात् श्रवणकीर्तनादयोऽपि समुच्चीयन्ते. तदुक्तम्

“अथ ह वाव तव महिमामृतसमुद्र-विप्रुषा-सकृल्लीढया स्वमनसि निष्यन्दमानानवरतसुखेन विस्मारित-दृष्टश्रुत-सुखलेशाभासाः परमभागवता”

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

फलसाधनं च आह सूत्रकारः इति अर्थः. तदग्रे अङ्गोपासकस्य अग्रे॥७॥

सूत्रम् अवतारयन्ति एवं बहिः इत्यादिना. उक्त्वा “आसीनः” इत्यनेन उक्त्वा. तेन स्थैर्यं हृदि आसीनः इतिनिर्वचनेन॥८॥

सूत्रम् अवतारयन्ति एवं भक्तेच्छया इत्यादि॥९॥

सूत्रार्थम् आहुः केचन इत्यादिना. स्फुटम् अन्यद्॥१०॥३॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रम् अवतारयन्ति एवम् इति. सूत्रार्थम् आहुः भावेति. व्यभिचारिभावेति. भगवदभेदाभावाद् व्यभिचारिभावात्. हृदि प्रकटः इति. “रसो वै सः”(तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुत्या “व्यभिचारिभावाद् रसनिष्पत्तिः” इति भरतसूत्रेण च हृदि प्रकटः इति अर्थः॥८॥

सूत्रम् अवतारयन्ति एवम् इति. तदिच्छयैव इति. भक्तेच्छयैव इति अर्थः. अत्र अपेक्ष्येति उक्तम्. तेन ज्ञानमार्गीयाणामपि भक्त्यैव अथवा उपासनया चलत्वं बोध्यते॥९॥

अत्र भाष्यं स्पष्टम्॥१०॥३॥

(भाग.पुरा.६।९।३९) इति. अथवा “अहं भक्तपराधीनः”(भाग.पुरा.९।४।६३) इत्यादिस्मृतिः पूर्वोक्ते प्रमाणत्वेन उक्ता॥१०॥

इति चतुर्थाध्याये प्रथमपादे तृतीयम् आदित्याद्यधिकरणम्॥३॥

यत्रैकाग्रता तत्र अविशेषात्॥११॥ (४।१।४)

अथ इदं विचार्यते : बहिः आविर्भावो येभ्यो, येभ्यः च अन्तः तेषां तेषां च मिथः तारतम्यम् अस्ति न वा? इति. तत्र निर्णयम् आह. **यत्र** भक्तेषु **एकाग्रता** भगवत्स्वरूपे प्रकटएव एकस्मिन् ग्राहकचित्तधारा, नतु अन्तर्बहिः विज्ञानं, **तत्र** उभयोः अन्तःपश्यतो बहिःपश्यतः च भावे भगवत्स्वरूपे च विशेषाभावाद् न तारतम्यम् अस्ति इति अर्थः॥११॥

इति चतुर्थाध्याये प्रथमपादे चतुर्थं यत्रैकाग्रताधिकरणम्॥४॥

आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्॥१२॥ (४।१।५)

उक्ते अर्थे एव अयं संशयः : अन्तःप्राकट्यवतो यदा बहिःसंवेदने सत्यपि

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अधिकरणम् अवतारयन्ति **अथ** इत्यादिना. **अथ** पूर्वाधिकरणीयादित्या-
द्यङ्गोपासनाप्रयुक्त-साधनभक्त्युत्कर्षजनितान्तर्बहिः-पुरुषोत्तमप्राकट्यविचारानन्तरम्.
इदं वक्ष्यमाणम्. **येभ्यो येभ्यः** इति. यद्यद्भक्तार्थम्. **मिथः** तारतम्यं तेषां भक्तानाम्
अन्तर्बहिःप्राकट्ये च तारतम्यम्. **एकाग्रता** चेतसो भगवन्मात्रविषयता. **एकस्मिन्**
भगवत्येव. **ग्राहकचित्तधारा** भगवद्ग्राहकस्य चित्तस्य वृत्तिरूपा धारा. **नतु** इत्यादि. नतु
धाराभिन्नविज्ञानमात्रम् इति अर्थः. **न तारतम्यम्** इत्यादि. तथाच पूर्वोक्तरीत्या यत्र
उभयोः भावसाम्यं तत्र **अविशेष** एव. यत्रतु भावे न्यूनाधिकभावः तत्र भक्तानाम्
अन्तर्बहिःप्राकट्ये च तरतमभावो नतु पूर्वोक्तयोः इति अर्थः॥११॥४॥

अधिकरणान्तरम् अवतारयन्ति **उक्ते अर्थे** इत्यादिना. **उक्ते अर्थे**

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अधिकरणम् अवतारयन्ति **अथ** इति. अङ्गोपासनया भक्तौ सत्यां भगवतो
अन्तर्बहिः प्राकट्यविचारानन्तरम्. **येभ्यः** इति तादर्थ्ये चतुर्थी. तारतम्यविषयक-
संशयानन्तरं पूर्वपक्षो अयम्. प्राकट्ये प्रकारभेदः. तेन च भक्त्योः तारतम्यम्.
सिद्धान्तम् आहुः **यत्र भक्तेषु** इति. एवञ्च यत्र एकाग्रता नास्ति तत्र तारतम्यं नतु
अन्तर्बहिःप्रकारकृततारतम्यम् इति बोध्यम् ॥११॥४॥

अधिकरणान्तरं बोधयितुं संशयादिकम् आहुः **उक्ते अर्थः** इति.

पूर्वानुभूतभगवत्स्वरूपानुभवः तदा “पूर्वम् अन्तरम् अन्वभूवम्, अधुना बहिः अनुभवामि” इति अनुव्यवसायो भवति न वा? इति. तत्र वैलक्षण्याद् भवितुम् अर्हति इति पूर्वः पक्षः. तत्र सिद्धान्तम् आह आप्रायणाद् इति. श्रीभागवते, “प्रायणं हि सताम् अहम्” (भाग.पुरा.११।११।४८) इति भगवद्वाक्यात् ‘प्रायण’शब्देन स्वतःपुरुषार्थत्वेन प्राप्यं परमं पारलौकिकं फलम् उच्यते. तथाच तन्मर्यादीकृत्य तस्य सैव अवस्था सार्वदिकी, नतु बहिःप्राकट्येऽपि बहिष्ट्वानुसन्धानम् इति अर्थः. ततः तस्य तत्र सायुज्यं भवति न वा? इति संशये निर्णयम् आह. तत्रापि प्रायणेऽपि प्राप्ते तस्य पूर्ववत् प्रभुणा समम् आलापावलोकन-श्रीचरणनलिन-स्पर्शादिकं दृष्टमेव फलं नतु अदृष्टं सायुज्यम् इति अर्थः. यतः शब्दपुष्टिमार्गे अङ्गीकृतः, अन्यथा पूर्वोक्तभावसम्पत्तिः कथं स्यात्? इति उपपत्तिः ‘हि’शब्देन सूच्यते. एतच्च “तद्भूतस्य तु नातद्भावः” (ब्रह्मसू.३।४।४०) इति अत्र निरूपितम्॥१२॥५॥

इति चतुर्थाध्याये प्रथमपादे पञ्चमम् आप्रायणाधिकरणम्॥५॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

बहिःप्राकट्यरूपे अर्थे. अन्तःप्राकट्यवतो अन्तःभगवत्प्राकट्यवतो भक्तस्य. बहिःसंवेदने बहिःप्रकटस्य भगवतो भक्तानुभवे. पूर्वानुभूतेति. तदा बहिःप्रकटानुभवकालेऽपि. संशयम् उक्त्वा पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इत्यादिना. तत्र बहिःप्रकटे. वैलक्षण्याद् पूर्वोत्तरकालसम्बन्धकृतवैलक्षण्यात्. तन्मर्यादीकृत्य अन्तःप्रकटभगवदनुभवं मर्यादीकृत्य. सैव अवस्था अन्तःप्रकटानुभवरूपावस्था. ततः सर्वदा अनुभवतः. तत्र अन्तःप्रकटे. अन्यथा पुष्ट्यङ्गीकाराभावे. पूर्वोक्तभावसम्पत्तिः अन्तर्बहिःप्रकटानुभवरूपा. एतच्च सर्वदा भगवदनुभववत्त्वं च. ‘तद्भूतस्य’ भगवन्तं प्राप्तस्य. ‘नातद्भावो’ न तत्प्राप्तिविच्छेदः॥१२॥५॥

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

अन्तःप्राकट्यकाले बहिः प्राकट्यं तदानुभवविषयकसंशयम् आहुः तदा पूर्वम् इति. पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इति. भवितुम् इति. भूतवर्तमानकालवैलक्षण्याद् इति शेषः. सिद्धान्तम् आहुः आप्रायणाद् इति. भागवते इति. एकादशस्कन्धे एकादशाध्यायोपान्ते. फलम् उच्यते इति. प्रकृष्टम् अयनं प्रायणम् इति योगेन प्रकृष्टं फलम् उच्यते इति अर्थः. “नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय” (चित्यु.१३।११) इति श्रुतेः. भवतु, तर्हि फले वैलक्षण्यं स्याद् इत्यतः आहुः ततः इति. अग्रे स्पष्टम्॥१२॥५॥

पुष्टिमार्गीयभक्तस्य फलं निरूप्य मर्यादामार्गीयस्य तस्य फलं चिन्त्यते. तत्रतु ज्ञानपूर्वकत्वं भक्तेः आवश्यकम्. कर्ममर्यादायापि स्वकृतत्वात् ताम् अनुल्लङ्घ्यैव भगवता फलं दीयते. तच्च, “नाभुक्तं क्षीयते” (ब्रह्मवै.पुरा.प्र. खण्ड.२६।७०) तद्भोगानुकूलकर्मणा स्वसजातीयतत्सन्तानजननाद् अनिमोक्ष- एव सर्वस्य सम्पद्यते. नच प्रायश्चित्तवद् ज्ञानस्य कर्मनाशकत्वं वक्तुं शक्यम्. तद्वत् तस्य तदुद्देशेन अविहितत्वात्. तथा कथने च अन्योन्याश्रयः. दुरितस्य चित्ताशुद्धिहेतुत्वेन तन्नाशे ज्ञानोदयो यतः. अतो मर्यादामार्गे मुक्तिः अनुक्तिविषया इति प्राप्ते, उच्यते. **तदधिगमे** ब्रह्मज्ञाने सति तज्ज्ञानस्वभावादेव

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अधिकरणम् अवतारयन्ति पुष्टीत्यादिना. तस्य भक्तस्य. तत्रतु मर्यादाभक्तिमार्गेतु. मोक्षो भवति “ज्ञानादेव” (.....) इति वाक्याद् न भवति दुरितस्य प्रतिबन्धकत्वेन ज्ञानानुदयाद् इति संशयम् उद्घाटयन्ति तच्च इत्यारभ्य यतः इत्यन्तेन. तत्सन्तानो भोगानुकूलकर्मसन्तानः. सर्वस्य मर्यादामार्गीयस्य. तद्वत् तस्य प्रायश्चित्तवद् ज्ञानस्य. तदुद्देशेन पापनाशोद्देशेन. अन्योन्याश्रयम् उपपादयन्ति दुरितस्य इत्यादिना. तथाच दुरितनाशे सति ज्ञानोदयो ज्ञानसत्त्वे च दुरितनाशः इतिस्थितौ अन्योन्याश्रयः इति भावः. पूर्वपक्षम् आहुः अतो मर्यादा इत्यादिना. अनुक्तिविषया

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अधिकरणकारणम् आहुः पुष्टिः इति. तस्य भक्तस्य. फलम् इति अलौकिकदेहेन सेवारूपं फलम् इति अर्थः. संशयस्तु स्फुटएव इति. पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इति. तत्रतु मर्यादामार्गेतु. ज्ञानापूर्वकम् इति. “तस्माज् ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानम् उद्धव, ज्ञानविज्ञानसहितो भज मां भक्तिभावतः” (भाग.पुरा.११।१९।५) इति एकादशस्कन्धे ज्ञानपूर्वकत्वोक्तेः. दीयते मर्यादायाम् इति शेषः. तच्च इति. कर्मेति अर्थः. तद्भोगः इति. पूर्वकर्मभोगकाले अवश्यं कर्मान्तरं कर्तव्यमेव इति इत्येव सन्तानः इति अर्थः. ज्ञानाग्निः भस्मसात्कुरुते इति आशयेन सिद्धान्ती शङ्कते नच इति. समादधते तद्वद् इति. पापनाशोद्देशेन यथा प्रायश्चित्तविधानं तथा ज्ञानविधानाभावाद् इति अर्थः. विधानाभावेऽपि ज्ञानस्वाभाव्यादेव पापनाशः इत्यतो दूषणान्तरम् आह तथा इति. पापनाशानन्तरं ज्ञानोदयः, तदनन्तरं पापनाशः इति अन्योन्याश्रयः.

उत्तराघस्य अश्लेषो असम्बन्धः, पूर्वस्य तस्य विनाशो भवति इति अर्थः. अत्र उत्तरस्य उत्पन्नस्य अश्लेषः इति न अर्थः, तस्य आत्मन्येव उत्पत्तेः तदतिरिक्तस्य श्लेषस्य अभावात्. अतो अनुत्पत्तिरेव अर्थः. नच एवं मर्यादा-मार्गीयत्वभङ्गः. साधनं विना स्वस्वरूपबलेनैव कार्यकारणे हि पुष्टिः. इह तु नियतकर्मविरोधित्वस्वभावेन ज्ञानेनैव तथासम्पत्तेः. अतएव, “तद्यथेपी-कातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते” (छान्दो.उप.५।२४।३) इति श्रुतिः अग्निदृष्टान्तम् आह. स्मृतिरपि

“यथैधांसि समिद्धो अग्निः भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन,

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा” (भग.गीता४।३७) इति.

“सर्वं पाप्मानं तरति” (बृहदा.उप.४।४।२३),

“तरति ब्रह्महत्यां यो अश्वमेधेन यजते” (तैत्ति.संहि. ५।३।१२)

इत्यादिश्रुतिभ्यः त्वायापि न तद्भोगनियमो वक्तुं शक्यः. एतेन

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

वक्तुम् अयोग्या इति अर्थः. सिद्धान्तम् आहुः सूत्रेण तदधिगमे इत्यादिना. आत्मन्येव उत्पत्तेः इति. तथा च अश्लेषो बाधितः स्याद् इति भावः. तदतिरिक्तस्य आत्मनि उत्पत्त्यतिरिक्तस्य. एवं ज्ञानेन भोगातिरिक्तप्रारब्धनाशाङ्गीकारे. इहतु ज्ञानेन प्रारब्धनाशाङ्गीकारेतु. तथासम्पत्तेः पूर्वोत्तराघयोः असम्बन्धसम्पत्तेः. अतएव ज्ञानस्य उक्तसामर्थ्यवत्त्वादेव. एतेन श्रुति-स्मृतिभ्यां ज्ञानस्य प्रारब्धनिवर्तकनिर्वचनेन.

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

सिद्धान्तम् आहुः उच्यते इति. सूत्रार्थम् आहुः तदधिगमे इति. अत्र ‘अश्लेष’पदस्य असम्बन्धार्थकत्वे कारणम् आहुः अत्र इति. अनुत्पत्तिरेव इति. ‘श्लेष’पदस्य संयोगार्थकत्वं पापस्यतु आत्मनि समवेतत्वं नतु संयुक्तत्वमिति प्रतियोग्यभावाद् उत्पन्नस्य पापस्य असम्भोगः इति न अर्थः, किन्तु पापस्य अनुत्पत्तिरेव इति अर्थः. अत्र मर्यादाभङ्गः इति शङ्कते नच एवम् इति. पापजनकं कर्म कृतं तदनन्तरं भगवत्कृपया ज्ञानम् उत्पन्नं, तदनन्तरं पापजनककर्मणा पापं न उत्पन्नम् इति मर्यादाभङ्गः इति अर्थः. समाधानम् आहुः साधनं विना इति. इहतु इति. मर्यादायान्तु ज्ञानेन कर्मासम्बन्धे तद्भङ्गो न भवति इति अर्थः. अत्र अर्थे प्रमाणम् आहुः अतएव इति. श्रुतिः इति. छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यायाम्. भोगं विना कर्मक्षयो न भवति इति अत्र श्रुतिविरोधम् आहुः सर्वपाप्मेति. अन्योन्याश्रयं परिहरन्ति नच इति. सा चिताशुद्धिः.

अभुक्तस्य अक्षयाद् भोगे च कर्मान्तरजननाद् मोक्षासम्भवः इति निरस्तं वेदितव्यम्. न च अन्योन्याश्रयः. अनाद्यविद्याजनितसंसारवासनात्मिका हि सा. साच गुरूपसत्तिश्रवणमननविष्णूपासनादिरूपया ज्ञानसामग्र्यैव नाश्यते. अविद्या परं ज्ञानेन नाश्यतइति क्व तत्प्रसङ्गः? ज्ञानसामग्र्या बलिष्ठत्वात् कर्मणो दुर्बलत्वाद् न तत्प्रतिबन्धकत्वमिति ज्ञाननाश्यत्वबोधकश्रुतिस्मृतिमता त्वयापि उरीकार्यम्. इममेव हेतुम् आह आचार्यः तद्व्यपदेशाद् इति॥१३॥

इतरस्यापि एवमसंश्लेषः पाते तु॥१४॥

पापस्य शास्त्रविरोधित्वेन शास्त्रीयज्ञानेन समं विरोधो भवतु नाम. धर्मस्य अतथात्वेन अविरोधएव इति आशङ्कानिरासाय पूर्वन्यायातिदेशम् आह. **इतरस्य** पुण्यस्यापि एवं, पूर्वस्य नाशः उत्तरस्य अश्लेषः इति अर्थः. अतिदेशाद्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

साच दुरितसन्ततिश्च. तस्याः कारणीभूतवासनात्मता कार्य-कारणयोः अभेदेन उक्ता. तत्प्रसङ्गो अन्योन्याश्रयप्रसङ्गः॥१३॥

सूत्रम् अवतारयन्ति पापस्य इत्यादिना. शास्त्रविरोधित्वेन शास्त्रनिषिद्धतया निर्वचनेन. शास्त्रीयज्ञानेन पापनाशकतया शास्त्रोक्तं यद् ज्ञानं तेन. विरोधो नाश्य-नाशकभावेन सहानवस्थानलक्षणो विरोधः. अतथात्वेन ज्ञाननाश्यतया शास्त्रे अनुक्तत्वेन अनिषिद्धत्वेन च ज्ञानेन सह सहानवस्थानलक्षणविरोधासम्भवेन. अविरोधएव धर्मे ज्ञाननाश्यत्वासम्भवएव. इति आशङ्का इति. पूर्वधर्मस्य अनाशो

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अविद्या परम् इति. परस्पराधीनोत्पत्तिकत्वेन अन्योन्याश्रयो जायते, इहतु श्रवणेन ज्ञानोत्पत्तिः. तथाच चित्ताशुद्धिनाशः इति क्व तस्य अवकाशः इति. ननु भोगं विना कर्मक्षयाभावे ज्ञानोत्पादकसामग्र्यभावः इत्यतः आहुः ज्ञानसामग्र्या इति. श्रुतिः इति. वेदश्रवणम् इति अर्थः. भोगं विना कर्मणो नाशो न स्यात् तदा प्रायश्चित्त-विधायकश्रुतिविरोधः. कर्मैव धारावाहिकं स्यात् तदा ज्ञानानुत्पत्त्या तद्बोधक-श्रुतिविरोधः. तस्मात् प्रारब्धस्य भोगः, क्रियमाणसज्जितयोः प्रायश्चित्तादिना क्षयः इति स्वीकर्तव्यम् इति ॥१३॥

सूत्रम् अवतारयन्ति पापस्य इति. अतथात्वेन इति. शास्त्रविरोधित्वेन इति अर्थः. तथाच पूर्वपुण्यस्य अनाशः उत्तरस्य असंश्लेषः इति शङ्कानिरासाय इति भावः. अत्र अर्थे हेतुम् आहुः अतिदेशाद् इति. सएव पूर्वसूत्रोक्तएव. उभे उ एव इति

हेतुरपि सएव ज्ञेयः. तथाहि. “उभे उ हैवैष एते तरति” (बृहदा.उप.४।४।२२)
“क्षीयन्ते च अस्य कर्माणि” (मुण्ड.उप.२।२।८) इति सामान्यवचनाद्
“ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि” (भग.गीता ४।३७) इति स्मृतौ ‘सर्व’शब्दात् च तथा.

अथ इदं शङ्क्यते : मर्यादामार्गीयत्वाद् ज्ञानानन्तरं भरतवत् सङ्गदोषेण
भगवद्भावात् च्युतौ सङ्गजदोषोत्पत्तिवद् अग्रे विहित-निषिद्धकर्मणोरपि
उत्पत्तिः वक्तुं शक्येति ज्ञानस्य न सर्वात्मना कर्मविरोधित्वम् इति. तत्र निर्णयम्
आह पाते. भक्तिमार्गे भगवद्भावात् च्युतिः पातः इति उच्यते. तुः अप्यर्थे.
‘अपि’शब्दे वाच्ये व्यवच्छेदार्थक‘तु’शब्दोक्त्या अस्मिन् मार्गे पातस्य
व्यवच्छेदएव. “न कर्हिचिन् मत्परा” (भाग.पुरा.३।२५।३८) इति वाक्यात्.
परन्तु मर्यादामार्गीयत्वात् प्रारब्धभोगार्थं प्रभुश्चेत् तथा करोति, तद्भावे पूर्णे

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ज्ञाने उत्तरधर्मस्य च संश्लेषः इत्याकारिका शङ्का इति अर्थः. पूर्वन्यायातिदेशं ज्ञानेन
पूर्वधर्मस्य नाशः उत्तरस्य च असंश्लेषः एवंविधाघस्थानीयातिदेशम् इति अर्थः. हेतुरपि
पूर्वं धर्मनाश उत्तरस्य असंश्लेषे हेतुरपि. सएव ज्ञानमेव. उभे इत्यादि. उभे एते
पुण्यपापे. एषः ब्रह्मज्ञानी. तरति नाशयति. व इति निश्चयेन. ह इति प्रसिद्धौ इति अर्थः.
सामान्यवचनात् सुकृतदुष्कृतसाधारणकर्मपदोपादानात्. तथा पुण्ये ज्ञाननाशयत्वम्.

पातेतु इतिसूत्रभागम् अवतारयन्ति अथ इत्यादिना. मर्यादा इत्यादि. ज्ञानस्य
मर्यादामार्गीयत्वाद् इति अर्थः. अस्मिन् मार्गे “न कर्हिचिद्” इति वाक्यं तृतीयस्कन्धे
कापिलं “न कर्हिचिद् मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नो मेनिमिषो लेढि हेतिः येषाम् अहं
प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवम् इष्टम्” (भाग.पुरा.३।२५।३८) इति
भक्तानां पाताभावबोधकम्. तथा करोति भक्तिफले किञ्चित् प्रतिबन्धं करोति. कुतः?

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

शारीरब्राह्मणे. द्वितीयं मुण्डके.

सूत्रांशम् अवतारयितुम् आहुः अथ इदम् इति. वक्तुं शक्येति इति. भरते
सङ्गजदोषोत्पत्तिवद् उभयविधकर्मणोरपि उत्पत्तिः इति अर्थः. सूत्रशेषं व्याकुर्वन्ति
भक्तिमार्गे इति. वाक्याद् इति. “न कर्हिचिद् मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नो मे
अनिमिषो लेढि हेतिः, येषाम् अहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवम् इष्टम्”
(भाग.पुरा.३।२५।३८) इति तृतीयस्कन्धोक्तकपिलवाक्याद् इति अर्थः. मर्यादामार्गे
विशेषम् आहुः परन्तु इति. तथा करोति इति. भक्तिभावापूर्तिं करोति इति अर्थः. एतेन

सति तद्भोगो सम्भावितइति तदा एवं भवति इति व्यासाभिप्रायो ज्ञायते.

तथाच तस्मिन् सत्यपि उत्तरस्य कर्मणो असंश्लेषएव इति अर्थः, पूर्वसूत्रे एवमेव 'अश्लेष'शब्दस्य व्युत्पत्तेः. अतिदेशस्य एवंपदेनैव प्राप्तेः सर्वं सूत्रं तत्परत्वेन न व्याख्येयम्. 'पात'शब्दस्य देहपातं 'तु'शब्दस्य अवधारणम् अर्थम् उक्त्वा देहपाते मुक्तेः आवश्यकत्वावधारणं वाक्यार्थः इति च उक्तिः न साधीयसी. मुक्तिप्रापकपदाभावाद् "भोगेन तु इतरे क्षपयित्वा अथ सम्पद्यते" (ब्रह्मसू.४।१।१९) इति अग्रे वक्तव्यत्वात् च॥१४॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इति आकांक्षायाम् आहुः तद्भावे इत्यादि. यतो भक्तिभावे पूर्णे सम्पन्ने सति प्रारब्धभोगो बाधितः स्याद् अतः इति अर्थः. एवं भवति मध्ये अन्यासकत्या भरतवद् जन्मादिव्यवधानं भवति नतु पातः इति अर्थः. व्यासाभिप्रायो ज्ञायते भरतादिषु महत्सु तथादर्शनाद् ज्ञायते इति अर्थः. तस्मिन् सत्यपि भरते पूर्वप्रारब्धभोगे सत्यपि. असंश्लेषएव जीवन्मुक्तावस्थायाः ब्राह्मणशरीरदशायां विद्यमानत्वाद् असंश्लेषएव इति अर्थः. एवमेव अनुत्पत्तिरूपार्थकत्वेनैव. एवम्पदेन सूत्रस्थैवम्पदेन. तत्परत्वेन अतिदेशपरत्वेन. तथाच पातेतु एतदर्थेन अतिदेशः इति अर्थः. दूषयितुं कस्यचिद् मतम् उपन्यस्यन्ति 'पात'शब्दस्य इत्यादिना. मुक्तीत्यादि. सूत्रे मुक्तिबोधकपदाभावाद् इति अर्थः. अग्रे इत्यादि. तथाच एतत्सूत्रे एवंव्याख्याने अग्रिमसूत्रवैयर्थ्यम् इति अर्थः॥१४॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

पुष्टिमार्गे तथा न जायते इति सूचितम्. ननु प्रभुणा किमर्थं च्युतिः कर्तव्या? इत्यतः आहुः तद्भावे इति. भगवद्भावः इति अर्थः. तद्भोगः प्रारब्धकर्मभोगः इति अर्थः. इति इति. इति हेतोः इति अर्थः. एवं भवति इति. भक्तिभावाद् यदा च्युतिः भवति तदा भरतवद् अन्यासक्तिः भवति इति भावः असंश्लेषः इति. अनुत्पत्तिः इति अर्थः. ननु सर्वं सूत्रम् अतिदेशपरत्वेनैव कुतो न उच्यते? इत्यतः आहुः अतिदेशश्च इति. तत्परत्वेन अतिदेशपरत्वेन. एवं सति शेषवैयर्थ्यं स्याद् इति भावः. अन्येषां व्याख्यानम् आहुः पातशब्दस्य इति. दूषयन्ति उक्तेः न इति. ननु फलप्रकरणे तादृशपदकल्पने दोषाभावः इत्यतः आहुः भोगेन इति. एवं चैव तादृशमुक्तेः अत्र सिद्धौ भोगेन इति व्याख्यानं व्यर्थं स्याद् इति भावः ॥१४॥

अनारब्धकार्येऽपि तु पूर्वं तदवधेः॥१५॥

ननु देहस्य कर्मजन्यत्वात् तन्नाशे तन्नाशस्य आवश्यकत्वाद् ब्रह्मविदः प्रवचनानुपपत्तिः. एवं सति ब्रह्मजिज्ञासोः गुरूपसत्यादिसाधनासम्भवः. “आचार्यवान् पुरुषो वेद” (छान्दो.उप.६।१४।२) इति श्रुतेः तदभावेन ज्ञान-मार्गोच्छेदेन मुक्त्युच्छेदप्रसङ्गः इति आशङ्क्य समाधत्ते. पूर्वं पूर्वसूत्राभ्यां ज्ञान-नाशयत्वेन ये प्रोक्ते पापपुण्ये ते न अशेषे किन्तु अनारब्धं भोगायतनलक्षणं कार्यं याभ्यां तेऽपि इति अर्थः.

ननु इतरनिरपेक्षं हि ज्ञानं स्वशक्त्यैव अग्निः एधश्च कर्माणि दहति इति पूर्वम् उक्तं, तथा सति अशेषमेव तद् दहति इति वक्तुं युक्तं, नतु सशेषम्. शक्तेः अविशिष्टत्वात्. नच कर्मनाशेऽपि संस्कारवशात् कुलालचक्रभ्रमिवत् तद्वासनावशाद् देहादिसत्तया प्रवचनाद्युपपत्तिः इति वाच्यम्. ज्ञानस्य सर्वतो बलवत्त्वात् सवासनस्य तस्य नाशनात्. नहि महाशिलानिपाते चक्रभ्रमिः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. तन्नाशे तन्नाशस्य ज्ञानेन कर्मनाशे देहनाशस्य. प्रवचनानुपपत्तिः ब्रह्मोपदेशानुपपत्तिः. तथाच ब्रह्मज्ञानात् पूर्वं तस्य उपदेशे योग्यतैव न स्थिता ज्ञाने जातेतु तस्य सद्योदेहपातात् प्रवचनानुपपत्तिः इति अर्थः. ब्रह्मजिज्ञासोः शिष्यस्य. तदभावेन आचार्याभावेन. सूत्रेण समाधानम् आहुः पूर्वं इत्यादिना. कार्यं शरीररूपम्. तथाच प्रारब्धकार्ये ये पुण्यपापे सकार्ये तदतिरिक्तयोः सञ्चित-क्रियमाणयोरेव पुण्यपापयोः ज्ञानेन नाश इति न उक्तानुपपत्तिगन्धोऽपि ब्रह्मविद्योप-देशकस्य सत्त्वात्. प्रारब्ध-कार्ययोः अदहन उक्तस्य तदवधेः इति हेतोः उपपादनं कर्तुं पूर्वपक्षम् आहुः ननु इत्यादि. पूर्वम् उक्तं “ज्ञानाग्निः” (भग.गीता ४।३७) इत्यादिना. सामान्यग्रहणेन उक्तम् इति अर्थः. तथा सति सामान्योपादाने कृते सति. सशेषं प्रारब्धं परिरक्ष्य. अविशिष्टत्वाद् ज्ञानशक्तेः अशेषनाशसामर्थ्याद्. देहादिसत्तया ब्रह्मविदो देहादिसत्तया. तस्य सकार्यप्रारब्धस्य.

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. तन्नाशे कर्मनाशे. तदभावेन गुर्वभावेन. भक्त्युच्छेदः इति वा पाठः. ज्ञानाभावेन भक्त्यभावाद् इति भावः. सूत्रं व्याकुर्वन्ति पूर्वं इति. तएव इति. नश्येते इति शेषः. शरीरं येन कर्मणा सम्पद्यते तत्सत्त्वेन प्रवचनं भविष्यति इति भावः. हेतुम् अवतारयन्ति ननु इति.

अनुवर्तितुं शक्नोति इति आशङ्क्य आरब्धकार्यादहने हेतुम् आह. तदवधेः. तज्ज्ञानेन आरब्धकार्यादहनं यत् तद् अखिलकारणकारणत्वेन अखिलस्य पूर्वावधिरूपभगवदिच्छालक्षणाद् हेतोः इति अर्थः. यत्र तस्यापि दहनेच्छा तत्र तथैव इति निगूढाशयः. अतएव अग्रे तथा वक्ष्यते. अतएव श्रीभागवते “मृगदारकाभासेन स्वारब्धकर्मणा योगारम्भणतो विभ्रंशितः” (भाग.पुरा.५।८।२६) इति, उपभोगेन “कर्मारब्धं व्यपनयन्” (भाग.पुरा. ५।१०।१४) इति च भरतं प्रति वचनं गीयते. एवं सति मणिमन्त्रादिप्रतिबद्धशक्तेः अग्नेरिव ज्ञानस्यापि अदाहकत्वे न काचिद् हानिः इति सर्वम् अनवद्यम्. इच्छाप्रतिबद्धता-दशायां न प्राचीना दशा अस्तीति तद्व्यवच्छेदज्ञापनाय ‘तु’शब्दः. एतेन भगवद्भावस्य सर्वतो बलवत्त्वात् कथं तस्य पातः ? इति शङ्का निरस्ता. भगवदिच्छायाः मूलकारणत्वेन उक्तेः तस्याः सर्वतो बलिष्ठत्वात्. तथा इच्छा च स्वकृतमर्यादापालनाय पुष्टौ अङ्गीकृते न तथा इति सर्वम् अनवद्यम्॥१५॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

यत्र तस्यापि भक्तविशेषे कार्यप्रारब्धस्यापि. अग्रे “अतोऽन्यापि” इति सूत्रे अतएव ज्ञानेन प्रारब्धान्यस्य नाशादेव. इच्छाप्रतिबद्धता इच्छया प्रारब्धनाशे प्रतिबद्धता. प्राचीना प्रारब्धस्य सञ्चिततुल्यतया नाशप्रतियोगित्वरूपा. तद्व्यवच्छेदः प्रारब्धव्यवच्छेदः इति अर्थः. एतेन प्रारब्धनाशे भगवदिच्छया प्रतिबन्धकत्वनिर्वचनेन. तस्य भक्तस्य. पातः प्रारब्धानाशेन फलविलम्बरूपो यथा भरतादेः. स्वकृतमर्यादा प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः इत्येवंरूपा. पुष्टौ अङ्गीकृते अजामिलादौ. न तथा न प्रारब्धभोगनाशत्वम्॥१५॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

तदवधेः इति. हेत्वर्थम् आहुः तद् इति. निगूढाशयः इति. यत्र भगवदिच्छा तत्र प्रारब्धकर्मणोऽपि दाहएव इति गूढाभिप्रायः इति अर्थः. अत्र प्रमाणम् आहुः अतएव इति. अग्रे “अतोऽन्यापि” (ब्रह्मसू.४।१।१७) इति सूत्रे. मर्यादायां प्रारब्धसत्त्वे मानम् आहुः अतएव इति. भरतं प्रति इति. भरतं लक्ष्मीकृत्य इति अर्थः. न काचिद् हानिः इति. न काचिद् अनुपपत्तिः इति अर्थः. तथा इच्छा इति. मर्यादायां भगवदिच्छा. न तथा इति. पुष्टौ भगवदिच्छा न इति अर्थः॥१५॥

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्॥१६॥

ननु प्रारब्धं हि प्राचीनं तन्नाशाय तद्भोगएव कर्तव्यो ब्रह्मविदा, नतु विहितम् अन्यदपि अग्निहोत्रादि, प्रयोजनाभावात्. दृश्यते च तादृशानां तत्करणम्, अतः उत्तरस्य कर्मणः संश्लेषः आवश्यकः इति आशङ्क्य तत्प्रयोजनम् आह. ‘तु’शब्दः शङ्काव्युदासकः. अग्निहोत्रादि विहितकर्मकरणं तत्कार्यायैव, भोगकार्याय प्रारब्धनाशायैव इति अर्थः. येषाम् अग्निहोत्रादिकारकं प्रारब्धम् अस्ति तैरेव तन्नाशाय भोगवत् तदपि क्रियते, नतु अतादृशैः, अतएव न सनकादीनां तथात्वम्. कुतः एतत्? तद्दर्शनात्. “यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुः भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन” (बृहदा.उप.४।४।५) इति श्रुतिः पूर्वकर्मणो अग्रिमकर्महेतुत्वं दर्शयतीति न अनुपपत्तिः काचित्.

केचित्तु “ज्ञानस्य यत् कार्यं तदेव अग्निहोत्रादेः” इति ‘तत्कार्याय’ इति पदस्य अर्थं वदन्ति. स न साधुः. “तदधिगमः” (ब्रह्मसू.४।१।१३) इति उपक्रमाद् ब्रह्मविदः प्रारब्धात्मकप्रतिबन्धनाशे मोक्षस्य पूर्वज्ञानेनैव सम्पत्तेः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादिना. प्रयोजनाभावाद् अग्निहोत्रादीनाम् अभोगरूपत्वेन प्रारब्धनाशकत्वासम्भवात्. तादृशानां ब्रह्मविदां जनकवसिष्ठादीनाम्. तद् अग्निहोत्रादि. कर्मणः सकार्यस्य अग्निहोत्रादेः. सूत्रं विवृण्वन्ति ‘तु’शब्दः इत्यादिना. शङ्का अग्निहोत्रादेः प्रारब्धभोगातिरिक्तत्वशङ्का. तैरेव इत्यादि. अग्निहोत्रादिभिरेव प्रारब्धनाशाय इति अर्थः. अतादृशैः अग्निहोत्रजनकप्रारब्धशून्यैः. पूर्वकर्मणः प्रारब्धरूपस्य. मतान्तरम् उद्घाट्य दूषयन्ति केचित्तु इति. कार्यं मोक्षरूपम्. सः केनचिद् उक्तो अर्थः. तदधिगमे इत्यादि. “तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशाद्” (ब्रह्मसू.४।१।१३) इति सूत्रम् उपक्रम्य इति अर्थः. दर्शनपदार्थः सूत्रे तद्दर्शनाद् इत्यस्य एतच्छ्रुत्युक्ताग्निहोत्रादिकम् अर्थः.

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. सूत्रार्थम् आहुः अग्निहोत्रादीति. हेतुं व्याकुर्वन्ति यथाकारीति. परमतम् आहुः केचिद् इति. दूषयन्ति न सः साधुः इति. प्रतिबन्धनाशः इति. “तस्य तावदेव चिरम्” (छान्दो.उप.६।१४।२) इति श्रुत्या तस्य

कर्मणो वैयर्थ्यापातात्. “तमेतं वेदानुवचनेन” (बृहदा.उप.४।४।२२)
इत्यादि-श्रुतिदर्शनं ‘दर्शन’पदार्थः इत्यपि पूर्वविरोधाद् उपेक्ष्यः॥१६॥

॥इति षष्ठं चतुर्थाध्याये प्रथमपादे तदधिगमाधिकरणम्॥६॥

अतो अन्यापि ह्येकेषाम् उभयोः॥१७॥ (४।१।७)

तद् एवं पूर्वसूत्रचतुष्टयेन मर्यादामार्गीयभक्तस्य मर्यादयैव मुक्तिप्रतिबन्धसम्भवः तयैव तन्नाशश्च इति निरूपितम्. अथ पुष्टिमार्गीयस्य विनैव भोगं प्रारब्धं नश्यति न वा? इति विचार्यते. तत्र भोगैकनाशस्वभावत्वात् तस्य न तं विना अस्यापि तत् नश्यति इति प्राप्ते निर्णयम् आह. **एकेषां** पुष्टिमार्गीयाणां भक्तानाम् **उभयोः** प्रारब्धाप्रारब्धयोः भोगं विनैव नाशो भवति. कुतः एतत्? तत्र आह **अतः**. श्रुतेः कर्मणो ज्ञाननाशत्वनिरूपिकायाः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पूर्वविरोधात् तदधिगमसूत्र-विरोधात्. कर्मणो विविदिषायाम् उपक्षीणत्वेन ज्ञानफलकत्वासम्भवाद् इत्यपि दूषणम्॥१६॥६॥

अधिकरणम् अवतारयन्ति **तदेवम्** इत्यादिना. **मर्यादयैव** भोगरूपयैव. पूर्वपक्षम् आहुः **तत्र** इत्यादिना. **तस्य** प्रारब्धरूपप्रतिबन्धस्य. **तं विना** भोगं विना. **अस्यापि** पुष्टिभक्तस्यापि. **तत्** प्रारब्धम्.

सूत्रेण सिद्धान्तम् आहुः **एकेषाम्** इत्यादिना. **प्रवचनादिनिरूपणेन**

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

नाशे. अत्र आशङ्काम् आहुः **तमेतम्** इति. निराकुर्वन्ति **पूर्वेति**. एतस्याः श्रुतेः पूर्व “**मनसैवानुद्रष्टव्यम्**” (बृहदा.उप.४।४।१९) इति अस्ति. **व्यासचरणैस्तु** तदधिगमसूत्रे ज्ञानादेव कर्मनिवृत्तिः उक्ता इति पूर्वविरोधाद् इति अर्थः. उक्तश्रुतौ ज्ञानपर्यन्तत्वबोधनेनापि विरोधोऽपि इति द्रष्टव्यम्. प्रारब्धनाशकत्वेन सहकारिसूत्रविरोधः निराकर्तव्यः इति सर्वम् अनवद्यम् ॥१६॥६॥

अस्मिन् अधिकरणे पुष्टिमार्गीयं विचार्यते **तदेवम्** इति. संशयम् आहुः **अथ** इति. पूर्वपक्षम् आहुः **तत्र** इति. **तस्य** प्रारब्धस्य. **न तं विना** इति. भोगं विना पुष्टिमार्गीयस्यापि प्रारब्धं न नश्यति इति अर्थः. स्वभावस्य दुरतिक्रमत्वाद् इति भावः. **निर्णयं** सिद्धान्तम्. सूत्रार्थम् आहुः **एकेषाम्** इति. **अतः** इत्यस्य अर्थम् आहुः श्रुतेः इति. कीदृशश्रुतेः? **अतः** आहुः **कर्मणः** इति. **निरूपिकायाः** इत्यस्य श्रुतेः इत्यत्र

ब्रह्मविदएव प्रवचनादिनिरूपणेन तदनाश्यप्रारब्धाख्यकर्माक्षेपकश्रुतेश्च.
अन्यापि श्रुतिः पठ्यते “तस्य पुत्रा दायम् उपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां, द्विषन्तः
पापकृत्याम्” (शाट्या) इति. ज्ञान-भोगाभ्यां कर्मनाशनिरूपकश्रुत्या अस्याः
श्रुतेः विरोधपरिहाराय अवश्यं विषयभेदो वाच्यः.

नच काम्यकर्मविषया इयं श्रुतिः इति वाच्यम्. “तदधिगम उत्तर-
पूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ” (ब्रह्मसू. ४।१। १३) इति सूत्रेण इतरस्यापि एवम् इति
सूत्रावयवेन च अविशेषेण आरब्धातिरिक्तकर्मणोः अखिलयोः नाशनिरूपणात्,
पापकृत्यायां काम्यत्वासम्भवाच्च. तस्माद् अत्यनुग्रहभाजनस्य भक्तस्य
स्वप्राप्तिविलम्बम् असहिष्णुः भगवान् अस्य प्रारब्धम् एतत्सम्बन्धिगतं कृत्वा
तस्य तेन भोगं कारयति. “प्रारब्धं भोगैकनाश्यम्” इति स्वकृतमर्यादापालनाय
न नाशयति. नच तयोः अमूर्तत्वेन अकृताभ्यागमप्रसङ्गेन च न एवं वक्तुम्
उचितम् इति वाच्यम्. ईश्वरत्वेन अन्यथापि करणसम्भवात्. मर्यादा-
विपरीतस्वरूपत्वात् पुष्टिमार्गस्य न काचन अत्र अनुपपत्तिः भावनीया, तस्याः
अत्र भूषणत्वात्. अतएव एकेषाम् इति दुर्लभाधिकारः सूचितः॥१७॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

प्रवचनान्यथानुपपत्त्या इति अर्थः. तदनाश्यं ब्रह्मज्ञानानाश्यम्. कर्माक्षेपकश्रुतेः भोगेन
प्रारब्धनाशबोधकश्रुतेः. श्रुतिः शाट्यायनिनां श्रुतिः. विषयभेदः पुष्टिमर्यादाभक्त-
भेदरूपः. नाशनिरूपणाद् ज्ञानेन नाशनिरूपणात्. एतत्सम्बन्धिगतं पुष्टिभक्त-
सम्बन्धिपुत्रमित्रारिगतम्. तस्य प्रारब्धस्य. तेन भक्तिसम्बन्धिना. तयोः पुण्यपाप-
रूपप्रारब्धयोः. तस्याः अमर्यादायाः. अत्र पुष्टिमार्गे. सर्वमोचकस्य ब्रह्मणो विभक्तैः
बन्धनकरणाद् इति भावः॥१७॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अन्वयः. आक्षेपलभ्यश्रुत्यन्तरम् आहुः ब्रह्मविदः इति. तदनाशयेति. ज्ञानानाशयेति
अर्थः. शाट्यायनशाखिनां श्रुतिम् आहुः तस्य पुत्राः इति. अन्यथानुपपत्तिम् ‘एकेषाम्’
इतिपदेन पुष्टिमार्गीयाणां ग्रहणे प्रमाणत्वेन आहुः ज्ञानभोगाभ्याम् इत्यादिना. शङ्कते
नच इति. उतरयन्ति तदधिगमः इति. काम्यत्वासम्भवाच्च इति. तथाच विषयश्रुति-
विरोधपरिहारस्य आवश्यकत्वम् इति भावः. प्रकृते यत् सिद्धं तद् आहुः तस्माद् इति.
अस्य पुष्टिभक्तस्य. एतत्सम्बन्धीति. भगवत्सेवासम्बन्धी इति अर्थः. इदं च सर्वं
चतुर्थस्कन्धे तत्त्वदीपप्रकाशे स्पष्टमेव उक्तम् इति विस्तरभयाद् न उक्तम् अत्र ॥१७॥

यदेव विद्ययेति हि॥१८॥

ननु “यदेव विद्यया करोति” (छान्दो.उप.१।१।१०) इति श्रुत्या विद्यापूर्वकं कर्मकरणे वीर्यातिशयः फलं श्रूयते. अतो ब्रह्मविद्यावतोऽपि तथात्वस्य उचितत्वाद् “उत्तरस्य अश्लेषः” इति यद् उक्तं तद् न उपपद्यते इति प्राप्ते, आह यदेव इति. हि यस्माद् हेतोः त्वया “यदेव विद्यया करोति श्रद्धया उपनिषदा” (पूर्ववद्) इति श्रुतिरेव ब्रह्मविदोऽपि कर्मोत्पत्तिप्रसज्जिकात्वेन उदाहृता. सा तु न तत्समर्थाः. तथाहि. “ॐ इत्येतद् अक्षरम् उद्गीथम् उपासीत” (छान्दो.उप. १।१।१) इत्युपक्रम्य तस्य रसतमत्वं मिथुनरूपत्वम् अनुज्ञाक्षरत्वं त्रयीप्रवृत्तिहेतुत्वं च निरूप्य, एतद् अग्रे “यदेव विद्यया” इत्यादि उक्त्वा, “इति खलु एतस्यैव अक्षरस्य उपव्याख्यानं भवति” इति उपसंहाराद् उद्गीथोपासनाविषयमेव ‘यदेव विद्यया’ इति वाक्यम् इति ज्ञायते. तेन उक्तरसतमत्वादिप्रकारकोपासनानां मध्ये “यदेव विद्यया करोति, तदेव वीर्यवत्तरं भवति” इति तदर्थः इति न ब्रह्मविद्या-गन्धोऽपीति न सा शङ्का अत्र सम्भवति इति अर्थः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादिना. तथात्वस्य उत्तरकर्मश्लेषस्य. न उपपद्यते इति. तथाच अश्लेषप्रतिपादकानि वाक्यानि विद्यास्तावकानि न तु स्वार्थे प्रमाणभूतानि इति अर्थः. न तत्समर्थाः ब्रह्मविदो नोत्तरकर्मसंश्लेषसम्पादिका. इति ज्ञायते वाक्यप्रमाणाभ्यां ज्ञायते इति अर्थः. तेन न विद्यास्तुत्यर्थत्वम् अस्य इति भावः.

श्रद्धोपनिषद्भ्यां समानत्वाद् विद्यायां सङ्कोचे मानाभावः इति अरुच्या

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. वीर्यातिशयः इति. “तदेव वीर्यवत्तरं भवति” (छान्दो.उप.१।१।१०) इति श्रुतौ श्रूयते इति अर्थः. उचितत्वाद् इति. कर्मणो अतिशयितवीर्यवत्त्वस्य उचितत्वाद् इति अर्थः. तद् न उपपद्यते इति. कर्मणो वीर्यवत्त्वम् अश्लेषश्च उभयम् एकत्र न उपपद्यते इति अर्थः. तथाच अश्लेषश्रुतेः विद्यास्तावकत्वमेव वक्तव्यम् इति भावः. परिहरन्ति यदेव इति. सूत्रार्थम् आहुः हि इति. न तत्समर्थेति. कर्मोत्पत्तौ समर्था न इति अर्थः. इदमेव विशदयन्ति तथाहि इति. तस्य उद्गीथस्य. ज्ञायते इति. उपसंहारेण ज्ञायते इति अर्थः. तेन इति. प्रकरणार्थकरणेन. तथाच अनुपपत्तिः नास्ति इति भावः.

ननु “श्रद्धया करोति उपनिषदा करोति” इति उक्तं तत्समभिव्याहारेण

यद्वा. उक्ताशङ्कानिरासायैव आह यदेव इति. ब्रह्मविद् हि प्रारब्धक्षयायैव कर्म कुरुते, तत्तु अन्यकृतात् कर्मणः सकाशात् सवासनतन्नाशनाद् वीर्यवत्तरं भवत्येवेति न अनुपपत्तिः काचिद् इति अर्थः.

यद्वा. ननु पुष्टिमार्गीयस्य प्रारब्धस्यापि भोगं विनैव नाशः इति श्रुत्वा असम्भावनां कुर्वाणं प्रति कैमुतिकन्यायेन तत्परिहारम् आह यदेव इत्यादि. जीवनिष्ठा विद्या हि भगवज्ज्ञानशक्तेः अंशभूता. एवं सति यत्र धर्मसम्बन्धिसम्बन्धाद् अन्येभ्यो अतिशयं कर्मणि वदति श्रुतिः, तत्र साक्षाद् धर्मिसम्बन्धे अतिशयितकार्यसम्पत्तौ कथम् असम्भावना कर्तुम् उचिता इति निगूढाशयः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पक्षान्तरम् आहुः यद्वा इत्यादि. उक्ताशङ्का इति. ब्रह्मविदि उत्तराघसंश्लेषस्य शङ्का इति अर्थः. सवासनतन्नाशनात् सवासनप्रारब्धनाशकत्वात्. न अननुपपत्तिः इति. तथाच यथाश्रुतार्थतयैव विद्यास्तावकत्वं कल्पनीयम् इति अर्थः. एतत्सूत्रस्य प्रयोजनान्तरमपि आहुः यद्वा इत्यादि. एवं सति जीवनिष्ठविद्यायाः भगवज्ज्ञानशक्त्यंशत्वे सति. धर्मसम्बन्धिसम्बन्धाद् धर्मो भगवज्ज्ञानशक्तिरूपः तत्सम्बन्धिजीवनिष्ठा विद्या तत्सम्बन्धाद् इति अर्थः. अन्येभ्यः कर्मभ्यः इति अर्थः. कर्मणि ब्रह्मविदः कर्मणि तत्र साक्षाद्भर्मिसम्बन्धे भगवति॥१८॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

“विद्यया करोति” इत्यपि अस्ति. तथाच उभयोः साधारणत्वाद् एतस्यापि साधारणत्वं वक्तव्यं नतु उद्गीथादिपरत्वेन सङ्कोचः इत्यतः प्रकारान्तरम् आहुः यद्वा इति. उक्ताशङ्का इति. तद् न उपपद्यते इति आशङ्कानिरासाय इति अर्थः. तन्नाशनाद् इति. प्रारब्धनाशनाद् इति अर्थः. तथाच न उक्तदोषः इति भावः.

एतत्सूत्रस्य पुष्टिमार्गे तात्पर्येण प्रकारान्तरम् आहुः यद्वा इति. सूत्रावतरणम् आहुः ननु इति. तत्परिहारम् इति. असम्भावनापरिहारम् इति अर्थः. असम्भावना-परिहारं विशदयन्ति एवं सति इति. यत्र तत्त्वज्ञानिजीवे. धर्मसम्बन्धीति. धर्मः भगवद्धर्मः ज्ञानशक्तिः, तस्याः सम्बन्धिनी विद्या तत्सम्बन्धाद् इति अर्थः. अन्येभ्यः इति. तत्त्वज्ञानरहितजीवकृतकर्मभ्यः इति अर्थः. कर्मणि विद्याविशिष्टजीवकृतकर्मणि इति अर्थः. श्रुतिः “यदेव विद्यया” इति श्रुतिः. कैमुतिकन्यायम् आहुः तत्र इति. पुष्टिमार्गीयजीवे. धर्मिसम्बन्धे धर्मी भगवान् तत्सम्बन्धो पुष्टिमार्गीये जीवे अस्ति इति तत्र अतिशयो अस्ति इति किं वाच्यम् इति अर्थः. हेतुवाची इति. पुष्टिमार्गीयस्य भोगं

अतएव हेतुवाची 'हि' शब्दः॥१८॥

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा अथ सम्पद्यते॥१९॥

पुष्टिमार्गीयफलप्राप्तौ प्रतिबन्धाभावं सोपपत्तिकम् उक्त्वा तत्प्राप्तिप्रकारम् आह. इतरे अग्रे प्राप्यालौकिकदेहाद् भिन्ने स्थूल-लिङ्गशरीरे क्षपयित्वा दूरीकृत्य, अथ भगवल्लीलोपयोगिदेहप्राप्त्यनन्तरं भोगेन सम्पद्यते. “सो अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता” (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुत्या उक्तेन भोगेन सम्पद्यते इति अर्थः. श्रुत्यर्थस्तु आनन्दमयाधिकरणे निरूपितः. अलौकिकत्वं विना उक्तदेहं विना च उक्तफलप्राप्तेः व्यवच्छेदकः ‘तु’ शब्दः॥१९॥७॥

॥इति श्रीवेदव्यासमतवर्ति-श्रीवल्लभाचार्यविरचिते श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्ये
चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रम् अवतारयन्ति पुष्टिइत्यादिना. उक्तदेहं लीलोपयोगिदेहम्॥१९॥७॥
॥इति श्रीमद्वल्लभजीसुत-गोस्वामि-श्रीगोपलजीकृते अणुभाष्यपदप्रदीपे
चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः॥१॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

विनैव प्रारब्धनाशे कैमुतिकन्यायएव हेतुः इति बोधयितुं हेतुवाची हिशब्दः इति अर्थः
॥१८॥

सूत्रं व्याकुर्वन्ति पुष्टीति. तत्प्राप्तीति. फलप्राप्तीति अर्थः. सूत्रान्तर्गतं इतरे इत्यस्य अर्थम् आहुः अग्रे इति शरीरे इत्यन्तम्. अग्रे सूत्रार्थः स्पष्टएव. श्रीप्रकाशकृतस्तु “अत्र क्षपणं च कुरुक्षेत्रप्रसङ्गे ब्रजभक्तानां जीवकोशध्वंसरूपम्. भोगश्च तदनन्तरदर्शनादिरूपो जीवदूदशायामेव भवति इति अवान्तरफलपरिसमाप्तिः इति मम प्रतिभाति. अत्यन्तानुग्रहेतु स्थलस्य लोकवत् क्षपणं सूक्ष्मस्य वाङ्मनसीति वक्ष्यमाणरीत्या, ततः तदव्यवहितमेव अलौकिकदेहप्राप्त्या भोगसम्पत्तिः इति ज्ञेयम्” इति आहुः ॥१९॥७॥

इतिश्रीमन्मुकुन्दराय-सहजमाधुरी-परमानिर्वचनीय-सरसवदन-तामरस-
सुधाहृदावगाहि श्रीमदाचार्यपदाब्ज-कृपापारसार-श्रीमत्प्रभुचरणात्मज-
महाराजयदुनाथकुलोद्भव-गोस्वामि-श्रीगोपालात्मजगिरिधरविरचिते
अणुभाष्यविवरणे चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तिम् अफाणीत्

चतुर्थो अध्यायः द्वितीयः पादः

पूर्वपादे लौकिकशरीरे क्षपयित्वा अलौकिकं तत् प्राप्य फलेन सम्पद्यते इति निरूपितम्. अथ अत्र इदं चिन्त्यते : भक्तस्य सूक्ष्मशरीरस्य क्षपणं नाम किं तत्स्वरूपनाशनम्, उत मणिस्पर्शाद् अयसश्च अमीकरत्वमिव तस्यैव अलौकिकत्वसम्पादनं भगवदनुग्रहाद् इति. तत्र उत्तरएव पक्षः साधीयान् इति भाति. तथाहि. यथा पूर्वं संसारिणएव जीवस्य तदनुग्रहात् पूर्वावस्थापगमो मुक्त्यवस्था च उच्यते, तथा अत्रापि वक्तुं उचितत्वात्. “न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवनीयन्ते” (बृहदा.उप.४।४।६) इति श्रुतिस्तु जीवस्य सायुज्यमुक्तिकाले तत्प्राणादीनामपि तथैव आह, अतएव अग्रे “ब्रह्मैव सन् ब्रह्म अप्येति” (बृहदा.उप.४।४।६) इति उच्यते. पुष्टिमार्गीयस्य उक्तमुक्त्यभावाद् न इयं तद्विषयिणी

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पूर्वपादे इत्यादिना द्वितीयपादेन सह उपोद्घातसङ्गतिं प्रदर्शयन्तो द्वितीयपादं निरूपयन्ति पूर्वोक्त्यादिना. लौकिकशरीरे स्थूललिङ्गशरीरे. तच्छरीरम्. अथ प्रथमचरणनिरूपणानन्तरम्. इदं वक्ष्यमाणम्. सूक्ष्मशरीरस्य लिङ्गशरीरस्य. पूर्वावस्था संसाररूपा. मुक्त्यवस्था विद्योत्तरावस्था. तथा अत्रापि पुष्टिमार्गीयभक्तेऽपि. वक्तुं शक्यत्वात् स्पर्शमणिन्यायेन लौकिकावस्थां त्यक्त्वा अलौकिकत्वस्य वक्तुं शक्यत्वात्. तथैव आह भगवति सायुज्यम् आह इति अर्थः.

उक्तमुक्त्यभावात् सायुज्यमुक्त्यभावात्. इति प्राप्ते संशयोत्तरम् उक्तो

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अथ इदानीं द्वितीयपादार्थम् अनुवदन्ति पूर्वपादे इति. एतेन अधिकरणसङ्गतिः सूचिता. तत् प्राप्य इति. शरीरं प्राप्य इति अर्थः. तच्च अग्रे वक्ष्यते ब्राह्मेण जैमिनिः इत्यादौ. अथ इति. चिन्त्यते प्रकृतं चिन्त्यते. विचारमेव आहुः भक्त्या इति. क्वचिद् ‘भक्तस्य’ इति पाठः. क्षपणम् इति. क्षपयित्वा इत्यनेन उक्तं क्षपणम् इति अर्थः. संशयम् आहुः किं तद् इति. मणिः इति. पार्षदमणिस्पर्शेन लोहस्य सुवर्णत्वं यथा इति अर्थः. पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इति. तथा इति. सूक्ष्मशरीरेऽपि इति अर्थः. प्राप्तेन्द्रियादिरूपस्य सूक्ष्मशरीरस्य नित्यत्वम् इति पूर्वपक्षस्य आशयः. श्रुतौ प्राणानां लयः उच्यते इति कथम् एतद्? इत्यतः आहुः न तस्माद् इति.

पुष्टिमार्गविषयो भिन्नः इति आहुः पुष्टीति. सिद्धान्तम् आहुः प्रतिवदामः

इति प्राप्ते प्रतिवदामः. ब्रह्मांशत्वेन जीवस्य आनन्दात्मकत्वाद् निर्दोष-
स्वरूपत्वाद् नित्यत्वाच्च दोषाणां च आगन्तुकत्वात् तदपगमे तस्य तथात्वम्
उचितम्. प्राणादयस्तु न तादृशा इति तद्दृष्टान्तेन अत्रापि तथात्वं न वक्तुं
शक्यम्. “देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम्” (भाग.पुरा.७।१।३४) इति
श्रीभागवतवाक्यात् च. नच लौकिकत्वविशिष्टदेहादिः अत्र निषिध्यते इति
वाच्यं, सामान्यनिषेधे बाधकाभावात्. नच तदनुभवएव बाधकः इति वाच्यम्.
भगवतइव तदीयानामपि तेषां तथात्वे बाधकाभावात्.

ननु आगन्तुकत्वमेव बाधकम् इति चेद्, मैवम्. यथा व्यापिवैकुण्ठस्य

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

“यस्तत्रोत्तरएव” इत्यादिपूर्वपक्षः तस्मिन् प्राप्ते इति अर्थः. तदपगमे दोषाणाम् अपगमे.
तस्य पुष्टिभक्तजीवस्य. तथात्वम् आनन्दात्मकत्वम्. न तादृशाः न जीववद्
ब्रह्मांशाः. तद्दृष्टान्तेन जीवदृष्टान्तेन. अत्रापि प्राणेन्द्रियादिष्वपि. तथात्वं “ब्रह्मैव
सन् ब्रह्माप्येति” (बृहदा.उप.४।४।६) इत्यादिना उक्तं प्राणादीनाम् आनन्दरूपत्वम्.
तत्र प्रमाणम् आहुः देहेन्द्रियेत्यादिना. तदनुभवो वैकुण्ठवासिनां देहेन्द्रियानुभवः.
तदीयानां भक्तसम्बन्धिनां देहेन्द्रियाणाम्. तथात्वे आनन्दरूपत्वे.

आगन्तुकत्वमेव देहेन्द्रियादीनाम् आगन्तुकत्वमेव. मार्यादिकमुक्तिदृष्टान्तेन

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इति. तस्य जीवस्य तथात्वम् आनन्दमयत्वम्. न तादृशाः इति. न ब्रह्मांशाः इति
अर्थः. एतच्च श्रीमदाचार्य‘पुष्टिप्रवाहमर्यादा’ग्रन्थे सृष्टित्रयविवेचने सूचितं तद्विवरणे
च स्पष्टमेव उक्तमिति विस्तरभयाद् विरम्यते. न तादृशाः इति. न जीववद् निर्दुष्टा इति
अर्थः. “असद्वा इदमग्र आसीद्” (तैत्ति.उप.२।७) इत्यादिश्रुतौ ‘असत्’पदेन
प्राणादीनाम् उक्तत्वाद् इति भावः. सूक्ष्मशरीरे लौकिकत्वमेव इति अत्र उपष्टम्भक-
सप्तमस्कन्धीयवाक्यम् आहुः देहेति.

अत्र आशङ्कते नच इति. अत्र श्रीभागवतवाक्ये. निषिध्यते इति. ननु
सूक्ष्मशरीरम् इति शेषः. सामान्येति. शरीरत्वेन इति अर्थः. पुनः शङ्कते नच इति.
तदनुभवः इति. देहेन्द्रियाद्यनुभवः इति अर्थः. तथात्वे ब्रह्मरूपत्वे.

पुनः शङ्कते ननु इति. परिहरन्ति मा एवम् इति. यथा इति. इदं च अग्रे
यावद् इत्यन्ते ‘तथा’ इत्यनेन अन्वेति. दृष्टान्तेन आगन्तुकत्वं निवारयन्ति यथा
व्यापिवैकुण्ठस्य इति.

अक्षरात्मकत्वेन अनागन्तुकत्वेन नैसर्गिकतद्गताखिलवस्तरूपत्वेन सामीप्यादिमुक्तिं प्राप्नुवतां भक्तानां देहेन्द्रियादिरूपमपि अनागन्तुकमेव वैकुण्ठप्राप्तिमात्रेण शुद्धजीवानां सम्पद्यते, तदीयत्वेन तत्फलति इति यावत्, तथा पुरुषोत्तमलीलायापि पुरुषोत्तमात्मकत्वात् तत्र अङ्गीकारमात्रेण प्राचीनाशेषप्रावाहिकधर्मनिवृत्तौ शुद्धजीवस्य पुरुषोत्तमलीलात्मकदेहादिरपि तदीयत्वेन सम्पद्यतइति न अनुपपन्नं किञ्चिद् इति अवहितो अवैहि.

अयमेव अर्थो वाजसनेयिशाखायाम् “अथ अकामयमानः” इत्युपक्रम्य, “आत्मकामः आप्तकामो भवति, न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति” (बृहदा.उप.६।४।६) इत्यन्तेन वाक्येन निगद्यते. अत्र ‘प्राण’शब्देन प्राणाः सर्वेन्द्रियाणि च उच्यन्ते. ‘आत्मकाम’शब्दे

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पुष्टिभक्तेः समाधानम् आहुः यथा इत्यादि. तद्गतेत्यादि. अक्षरस्वरूपदेहेन्द्रियादि-स्वरूपत्वेन इति अर्थः. भक्तानां मर्यादामार्गीयभक्तानाम्. शुद्धजीवानां सम्पद्यते पूर्वं तिरोहितशुद्धतादशायाम् आविर्भवति इति अर्थः. तदीयत्वेन भक्तसम्बन्धित्वेन. तद् देहेन्द्रियादि. तथा प्राप्ताक्षरसारूप्य-मर्यादाभक्तवत्. देहादीति ‘आदि’पदेन प्राणेन्द्रियादि. तदीयत्वेन पुष्टिमार्गीयभक्तिमत्त्वेन. सम्पद्यते आविर्भवति. आत्मकामः पुरुषोत्तमकामो नतु मुक्तिकामः इति अर्थः. आप्तकामः प्राप्तमनोरथः. तस्माद् भक्तदेहात्. अत्रैव अन्तःप्रकटे भगवत्येव. ब्रह्मैव सन् आत्मरूपः सन्. अत्र

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

शुद्धजीवानाम् इति. प्राकृतधर्मरहितानाम् इति अर्थः. अत्र अयं दृष्टान्तः. यथा मूलप्रकृतिः लौकिकदेहे कारणत्वेन अन्वेति एवं जीवे अक्षरं व्यापिवैकुण्ठरूपम् अन्वेति. अत्र प्रमाणं “यदक्षरे परमे प्रजाः” (महाना.उप.१।३) “यथा प्रदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः” (मुण्ड.उप.१।१) इति श्रुतिवाक्यद्वयम्. तथाच एतादृशम् अक्षरं सर्वात्मकं सर्वत्र अस्ति इति तदंशे जीवे तस्य अक्षरस्य आकारो नैसर्गिकएव प्रवर्तते. इदञ्च अग्रे “ब्राह्मेण जैमिनिः” इति सूत्रे स्पष्टं भविष्यति. दार्ष्टान्तिके योजयन्ति पुरुषोत्तमलीलायाः इति. प्राचीनाशेषेति. दृष्टान्ते नैसर्गिकत्वम् अत्र अङ्गीकारः इति विशेषः. अयञ्च बादरायणसूत्रोक्तः पुरुषोत्तमात्मकः इति ज्ञेयम्. अत्र श्रुतिम् आहुः अयमेव इति. एतादृशश्रुतेः तात्पर्यम् आहुः अत्र इत्यादिना ध्वन्यते इत्यन्तेन. श्रुतितात्पर्यं च विस्तरेण ‘प्रस्थानरत्नाकरे’

भगवद्वाचका 'त्म'पदग्रहणेन भक्तस्य स्नेहातिशयजनितप्रभुदिदृक्षात्यतिशयः तादृशो येन मरणमेव सम्पद्येत, यदि प्रभुप्राकट्ये क्षणमपि विलम्बः स्यात्. अतो भगवत्प्राकट्येनैव आत्मस्थितिः इति ध्वन्यते. भक्तिमार्गे प्राकट्यस्यैव परमफलत्वेन तद्दर्शनेन आप्तकामो भवति. ततः साक्षाद् आश्लेषादिकामनायां प्राचीनदेहप्राणादेः तदयोग्यत्वात् ते तत्रैव^१ लीना भवन्ति. बहिःप्रकटस्यैव अन्तरपि प्राकट्याद् उत्क्रमणाभावः उच्यते. आत्मातिरिक्तस्य गतिम् उक्त्वा तस्य ताम् आह “ब्रह्मैव सन् ब्रह्म अप्येति” इत्यनेन. उक्तरीत्या पुरुषोत्तमात्मकतल्लीलोपयोगिदेहेन्द्रियादिसम्पत्त्या ‘ब्रह्मैव सन्’, नतु ब्रह्मातिरिक्तदेहादिमानपि, तादृशः सन्, ‘ब्रह्म’ बृहत्वाद् बृंहणवत्त्वात् पुरुषोत्तमस्वरूपं प्राप्तो^३ भवति इति अर्थः. अन्यथा जीवस्य ब्रह्मांशत्वेन आन्दांशाविर्भावेन च ब्रह्मत्वे प्राणादिलयोक्त्या तदितरव्यवच्छेदे च अनुक्तसिद्धे सति ‘ब्रह्मैव सन्’ इति न वदेत्. अतएव एतदग्रे श्लोकोक्तिः “अथ मर्त्यो अमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते” (बृहदा.उप.६।४।७) इति. मृतिधर्मवच्छरीरं हि मर्त्यं, तद्वत्त्वेन

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उक्तश्रुतौ. ध्वन्यते ‘काम’पदेन ध्वन्यते. तदयोग्यत्वाद् भगवदाश्लेषायोग्यत्वात्. अत्रैव अन्तःप्रकटे पुरुषोत्तमएव. लीनाः सायुज्यं प्राप्ताः नतु लीलायाम् उपयुज्यन्ते इति अर्थः. आत्मातिरिक्तस्य प्राणेन्द्रियादेः. तस्य आत्मनः. तां गतिम्. बृहत्वाद् भक्तात्मनोऽपि महत्वाविर्भावादेः. बृंहणवत्त्वाद् अनेकभगवद्धर्मसम्बन्धेन भक्तस्य बृंहणवत्त्वाद् इति अर्थः. अन्यथा जीवस्य ब्रह्ममात्रं सिध्यति नतु लीलाप्रवेशः इति अर्थकरणे ब्रह्मत्वे सिद्धे सति इति अर्थः. तदितरः प्राणेन्द्रियातिरिक्तदेहतद्धर्मादिः. अतएव जीवस्य भगवद्भोगावश्यकत्वादेव. तथाच श्लोके “मर्त्यो अमृतो भवति” इत्येव वदेद् नतु “ब्रह्म समश्नुते” इत्यपि वदेत्. उक्तो अर्थो न अभिप्रेतः स्याद् इति

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

श्रीपुरुषोत्तमगोस्वामिभिः व्युत्पादितमिति विस्तरभयाद् विरम्यते. तदयोग्यत्वाद् इति. आश्लेषायोग्यत्वात्. तत्रैव अन्तः प्रकटे पुरुषोत्तमस्वरूपे लीनाः भवन्ति इति अर्थः. तस्य जीवस्य तां गतिम् बृहत्वाद् महत्वात्. बृंहणत्वाद् वर्धकत्वात्. लीलोपयोगिदेहप्राप्त्यनन्तरं ब्रह्मभावः इति श्रुत्यर्थे गमकम् आहुः अन्यथा इति. अन्यदपि गमकम् आहुः अतएव इति. अत्र ब्रह्म इति. चतुर्थपादोक्तो “ब्रह्मभूतः

१. ‘अत्र’ इति प्रकाशे. २. ‘बृंहणत्वाद्’ इति रश्मौ. ३. ‘प्राप्नोति’ इति.

जीवोऽपि तथा उच्यते.

तथाच अयं पूर्वं तादृशएव, अथ पुष्टिलीलाप्रवेशानन्तरम् 'अमृत' उक्तरूपशरीरवान् भवति, ततो 'अत्र' अस्मिन्नेव शरीरे 'ब्रह्म' सम्यग् 'अश्नुते'. भगवता क्रियमाणलीलारसम् अनुभवति इति अर्थः.

भगवान् बादरायणः इमामेव श्रुतिं विषयीकृत्य तत्रोक्तप्राणानां लयः एकदैव, उत क्रमनियमो अस्ति ? इति संशये निर्णयम् आह

वाङ्मनसि दर्शनात् शब्दाच्च॥१॥ (४।२।१)

वाङ्मनसि इति. तत्र हेतुः दर्शनाद् इति. एतद् उक्तं भवति. भक्तेः स्नेहात्मकत्वात् तस्य प्रभुप्राकट्यफलकत्वात् तदौत्कट्ये तस्य आवश्यकत्वाद् "अयं मां पश्यतु" इति प्रभ्विच्छया तस्मिन् सम्पन्ने, चक्षुर्भ्यां मनसा च

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अर्थः. पूर्वं पुष्टिलीलाप्रवेशात् पूर्वम्. तादृशएव मर्त्यएव. उक्तरूपानन्दरूपम्. अस्मिन्नेव प्राप्तानन्दमयशरीरएव इति अर्थः. इदमेव 'आत्मकामाप्तकाम'रूपम्. उक्तप्राणानां मुख्यप्राणसर्वेन्द्रियाणाम्. लयः पुरुषोत्तमे लयः. सूत्रेण सिद्धान्तम् आहुः 'वाङ् मनसि' इति. तथाच प्राधान्येन आदौ वाङ्मनसोः लयः पूर्वं मनसि लीनानाम् इतरेषां प्राणानां मनोद्वारको लयः इति अर्थः.

तत्र सौत्रो हेतुः दर्शनाद् इति. दर्शनस्य हेतुत्वं व्युत्पादयन्ति एतद् इत्यादिना. तस्य भगवति स्नेहस्य. तदौत्कण्ठ्ये भक्तोत्कण्ठायाम्. तस्य प्रभुप्राकट्यस्य. तस्मिन् प्राकट्ये. इच्छा तादृशभक्तस्य.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

प्रसन्नात्मा" (भग.गीता १८।५४) इत्युक्तरीतिको ब्रह्मभावो नास्ति इति अर्थः. एतदेव विशदयन्ति अथ इति. इति अर्थः इति. श्रुत्यर्थः इति अर्थः. एतेन प्राणादीनां ब्रह्मणि लयएव पुष्टिमार्गीयस्य लौकिकदेहक्षपणं बोध्यम् इति सूचितम्.

एतादृशविचारस्य प्रकृतसूत्रप्रणयने हेतुत्वम् इति सूचयितुम् अवतारयन्ति भगवान् इति. संशयः इति. एकदैव उत क्रमनियमः इति संशयः इति अर्थः. निर्णयम् इति. श्रुतौ सामान्येन लयश्रवणम् अस्ति, तेन किं ज्ञायते. युगपद् लयएव इति पूर्वपक्षे सिद्धान्तम् आह इति अर्थः. क्रमनियमे दर्शनस्य हेतुत्वं प्रतिपादयन्ति एतद् इत्यादिना. तदौत्कट्ये स्नेहौत्कट्ये. 'तदौत्कण्ठ्ये' इति वा पाठः. भक्तस्य उत्कण्ठायाम् इति तदर्थः.

तद्रूपामृतम् अनुभवतः सः कोऽपि उत्कटो भावः समजनि, येन प्रभुणा सह सर्वेन्द्रियव्यापारकृतीच्छा समभूत्. तत्र तेषाम् असामर्थ्याद् भगवदानन्द-सम्बन्धिमनःसम्बन्धेन तं प्राप्स्यामइति तत्रैव सङ्गताः तेन आनन्देन सम्पन्नाः जाताः. अयमेव अर्थो अनेन सूत्रेण अग्रिमेण च “अतएव सर्वाण्यनु” (ब्रह्मसू. ४।२।२) इतिसूत्रेण निरूप्यते. दर्शनानन्तरम् आदौ सह सम्भाषणेच्छैव जन्यत इति, “वाङ्मनसि सम्पद्यते” (छान्दो.उप.८।८।६) इति छान्दोग्ये स्फुटोक्ते सम्मत्या च आदौ सैव उक्ता. एवं सति वाङ् मनसि सङ्गता सति भगवदानन्देन सम्पद्यते इति सूत्रार्थः सम्पद्यते. दर्शनाभावेऽपि वेण्वादिशब्दाद् अपि तथा सम्पद्यते इति हेत्वन्तरम् आह शब्दाच्च इति॥१॥

अतएव सर्वाण्यनु॥२॥

अतएव दर्शनात् शब्दाच्च हेतोः. सर्वाणि इन्द्रियाणि, अनु सान्निध्याद् वाचः पश्चात्. मनसि सङ्गतानि भगवदानन्देन सम्पद्यन्ते इति अर्थः. केचित्तु अत्र छान्दोग्यस्थं “वाङ् मनसि सम्पद्यते, मनः प्राणे, प्राणः तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम्” (छान्दो.उप.८।८।६) इति वाक्यं विषयत्वेन उक्त्वा, सूत्रे ‘वाक्’-पदस्य तद्वृत्तिपरत्वं वदन्ति, सम्पत्तिं तन्नाशं च. तद् न साधीयः. तथाहि.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तेषां लौकिकेन्द्रियाणाम्. आनन्दसम्बन्ध्यादौ आनन्दे लीनत्वेन भगवत्सम्बन्धि. मनःसम्बन्धेन मनसि प्रविश्य इति अर्थः. तं भगवन्तम्. प्राप्स्यामः इति इन्द्रियाधिष्ठातृदेवेच्छा. तत्रैव पुरुषोत्तमएव मनोद्वारा इति अर्थः. अग्रिमेण च इत्यन्तस्य निरूप्यते इति अग्रिमेण अन्वयः. सम्पद्यतो भगवति आदौ लीनाः भवतः॥१॥

सान्निध्याद् वाचः इति. तथाच श्रुतौ ‘वाक्’पदम् इतरेन्द्रियान्तःकरणानाम् उपलक्षणम्. स्वोक्तार्थदृढत्वाय मतान्तरं दूषयितुम् आहुः केचिद् इत्यादि. सम्पत्तिं

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

तेषां सर्वेन्द्रियाणां प्राणानां च. तत्रैव मनस्येव. हेत्वन्तरम् अवतारयन्ति दर्शनाभावेऽपि इति. वेण्वादीति. वेणुनादाद् इति अर्थः. ‘आदि’पदात् साङ्केतिक-शब्दानां संग्रहः ॥१॥

सूत्रार्थम् आहुः अतएव इति. विषयवाक्येऽपि वाग् इति इन्द्रियान्तरोपलक्षकम्. केचिद् ‘वाग्’ इति अन्यार्थकं वदन्ति. तन्मतम् आहुः केचित्तु इति. सम्पत्तिम् इति. ‘सम्पद्यते’ इत्यत्र ‘सम्पत्ति’पदम् इदम् इति अर्थः. दूषयन्ति तत्र

‘वाक्’पदस्य वृत्तिपरत्वं चेत् श्रुत्यभिमतं स्यात् सूत्रकारः तदा तथैव वदेत्, नतु तत्स्वरूपमेव वाक्यम्, तन्निर्णयार्थमेव प्रवृत्तेः. मुख्यार्थत्यागो लक्षणापत्तिश्च. किञ्च, एवं ‘मनसि’ इति पदवैयर्थ्यं स्याद्, विषयवाक्योक्तक्रमत्यागानुपपत्तिश्च इति॥२॥

तन्मनः प्राण उत्तरात्॥३॥

पूर्वोक्तसर्वेन्द्रियवैशिष्ट्यवद् मनः प्राणे सम्पद्यते, नतु केवलम्. तत्र हेतुः उत्तराद् इति. “स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं-दिशं पतित्वा अन्यत्र आयतनम् अलब्ध्वा बन्धनमेव उपश्रयते, एवमेव खलु सौम्य तन् मनो दिशं-दिशं पतित्वा अन्यत्र आयतनम् अलब्ध्वा प्राणमेव उपश्रयते” (छान्दो.उप.८।८।२) इति उक्त्वा, तत्र हेतुम् उत्तरेण वाक्येन आह “प्राणबन्धनं हि सौम्य मनः” (पूर्ववद्) इति. तस्माद् हेतोः तथा इति अर्थः॥३॥

सो अध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः॥४॥

सर्वेन्द्रियविशिष्टमनोविशिष्टः प्राणो अध्यक्षे पुरो हृदि वा प्रकटे

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सम्पत्तिपदार्थम्. तन्नाशं वाचो वृत्तिनाशम्. तत्स्वरूपं वाक्स्वरूपम्. तद् वाक्. वैयर्थ्यम् इति. वृत्तिनाशे मनोरूपाधिकरणस्य अप्रयोजकत्वाद् मनसि इत्यस्य वैयर्थ्यम् इति अर्थः. नाशे अधिकरणानपेक्षणात् श्रुत्युक्तक्रमानुपपत्तिः इति अर्थः॥२॥

“स यथा” इति श्रुतिः छान्दोग्ये श्वेतकेतूपाख्यानस्था. तस्माद् हेतोः ‘प्राणबन्धनम्’ इति वाक्याद् हेतोः. तथा सर्वेन्द्रियवैशिष्ट्यवद् मनसः प्राणे सम्पत्तिः॥३॥

अध्यक्षे अन्तर्यामिणि पुरुषोत्तमे. इदं मर्यादामार्गानुसारेण उक्तम्. पुरो हृदि

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इति. एकं तथैव वदेद्, मुख्यार्थत्यागेति द्वयम् इति दूषणत्रयं बोध्यम्. तत्त्वप्रलयस्तु “अविभागोवचनाद्” (ब्रह्मसू.४।४।४) इति सूत्रे वक्ष्यते, वृत्तिप्रलयस्तु अत्र उच्यते इति सूत्रकाराशयस्वीकारे दोषत्रयं नास्ति इत्यतः आहुः किञ्च इति. क्रमत्यागेति. प्राणस्य जीवे लयः उक्तः तेजसः त्यागः कृतः. तेन कृत्वा किं ज्ञायते. इदं विषयवाक्यमेव नास्ति इति अर्थः॥२॥

सूत्रं व्याकुर्वन्ति पूर्वोक्तेति. छान्दोग्ये श्वेतकेतूपाख्यानस्थं विषयवाक्यम् आहुः स यथा इति. सूत्रे उत्तराद् इति उक्तं तदेव उत्तरवाक्यम् आहुः प्राणेति॥३॥

सूत्रं व्याकुर्वन्ति सर्वेन्द्रियेति. अध्यक्षपदार्थम् आहुः पुरो इति. न उद्देशः

भगवति सम्पद्यते इति अर्थः. अत्र हेतुः उपगमादिभ्यः इति. उपगमो अभ्युपगमः पुष्टिमार्गे अङ्गीकारः इति यावत्. ततः तथा इति अर्थः. ‘आदि’-पदाद् भगवद्वशीकरणसमर्थः स्नेहः प्रभ्वनिङ्गितार्थत्यागः तदनुरूपं भजनं च. अभ्युपगमे सिद्धे स्नेहादयो अवश्यं भवन्त्येव इति आशयेन, तदादित्वम् उक्तं, न उद्देशः कृतः. मर्यादामार्गे अङ्गीकृतानान्तु मुक्तिपर्यवसायित्वेन मुमुक्षुत्वाद् उत्कटस्नेहासम्भवेन प्रभुप्राकट्यासम्भवात् स्वस्वप्रकृतौ सङ्घातलये शुद्धजीवस्य भगवदनुग्रहेण श्रवणादिरूपया तथाविधस्नेहरूपया च भक्त्या मुक्तिः सम्पद्यतइति बह्वेव तारतम्यम् इति निगूढाशयेन इदम् उक्तम्. अभ्युपगमादयस्तु मुण्डकोपनिषत्सु पठ्यन्ते. “नायमात्मा” (मुण्ड.उप.३।२।४) इति उपक्रम्य “यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्. नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो नच प्रमादात् तपसो वाथ लिङ्गाद्, एतैः उपायैः यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम” (तत्रैव) इति॥४॥

॥इति चतुर्थाध्याये द्वितीयपादे प्रथमं वाङ्मनो अधिकरणम्॥१॥

उक्तं निगूढम् आशयं प्रकटयति

भूतेषु तच्छ्रुतेः॥५॥ (४।२।२)

ननु मर्यादामार्गीयाणामपि एवमेव वागादिलयः उत अन्यथा? इति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इति पुष्ट्यनुसारेण उक्तम्. ततो अनुग्रहात्. तथा विशिष्टप्राणस्य भगवति सम्पत्तिः. ‘आदि’पदात् सौत्रादिपदात्. तदादित्वम् अनुग्रहादित्वम्. न उद्देशो न स्नेहादीनाम् एकैकशः उक्तिः कृता इति अर्थः. स्व-स्वप्रकृतौ जीवस्य पुरुषाक्षरादौ भूतानां तत्तन्मात्रादौ इति अर्थः. मुक्तिः भक्तितरतमभावेन तरतमभावापन्ना मुक्तिः. तारतम्यम् एतन्मार्गापेक्षया पुष्टिमार्गे तरतमभावः इति अर्थः. इदम् उक्तम् अभ्युपगमादिभ्यः इति इदम् उक्तम् इति अर्थः॥४॥१॥

अधिकरणम् अवतारयन्ति ननु इत्यादिना. एवमेव यथा पुष्टिमार्गीयाणाम् इति अर्थः. अन्यथा भूतेषु.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इति. न कथनं कृतम् इति अर्थः. पुष्टि-मर्यादयोः तारतम्यम् आहुः मर्यादामार्गेति. अग्रे स्पष्टम् ॥४॥१॥

अधिकरणम् अवतारयन्ति ननु इति. इति संशये इत्यनेन संशयः उक्तः.

संशये निर्णयम् आह. तेषां ते भूतेषु लीयन्ते, नतु उक्तरीत्या भगवति. अत्र प्रमाणम् आह तच्छ्रुतेः.

“यत्र अस्य पुरुषस्य मृतस्य अग्निं वाग् अप्येति वातं प्राणः चक्षुः आदित्यं मनः चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरम् आकाशम् आत्मा औषधीः लोमानि वनस्पतीन् केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते” (बृहदा.उप.५।२।१३) इति श्रुतेः.

नच अविद्वद्विषयिणी इयं श्रुतिः इति वाच्यम्.

“याज्ञवल्क्येति होवाच यत्र अयं पुरुषो म्रियत उदस्मात् प्राणाः क्रामन्ति आहो नेतिनेति, होवाच याज्ञवल्क्यो अत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्रयति आध्मायति अध्मातोमृतः शेते” (तत्रैव ६।२।११) इति पूर्ववाक्यात्. न हि अविदुषः प्राणानाम् अनुत्क्रमः. “तमुत्क्रामन्तं प्राणो अनूत्क्रामति” (तत्रैव ६।४।२) इत्यादिश्रुतेः. ननु “यत्र अस्य पुरुषस्य” इति उपक्रम्य “रेतश्च निधीयते” (तत्रैव ५।२।३) इत्यन्ता श्रुतिः अविद्वद्-विषयिणी इति मन्तव्यम्. यतः एतदग्रे “क्वायं तदा पुरुषो भवति” इति प्रश्ने याज्ञवल्क्यार्तभागाभ्यां विचारितम् उत्तरम् उच्यते. “तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ ह यत् प्रशशंसतुः कर्म हैव तत् प्रशशंसतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन” इति. एतेन कर्माश्रयः तिष्ठति इति निर्णयः सम्पद्यते. एवं सति प्राणानुत्क्रमणोक्त्या

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

निर्णयम् आह सूत्रकारो निर्णयम् आह इति अर्थः. इति श्रुतेः बृहदारण्यकश्रुतेः. न हि अविदुषो अवस्था उच्यते ‘तमुत्क्रामन्तम्’ इत्यादिना. एतेन पूर्वोक्तरीत्या कर्मविचारणेन. कर्माश्रयः पुण्यापुण्यकर्माश्रितएव पुरुषो भवति नतु ब्रह्माश्रितः इति अर्थः. सम्पद्यते उक्तश्रुतिबलाद् आयाति इति अर्थः. एवं सति सद्योमुक्तिप्रतिपादकपूर्ववाक्यस्य कर्मफलभागप्रतिपादकद्वितीयवाक्यस्य च एकस्मिन्

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

पूर्ववदेव वागादिलयः भगवन्मार्गत्वस्य उभयत्र तुल्यत्वाद् इति पूर्वः पक्षः ऊहनीयः. सिद्धान्तम् आहुः तेषाम् इति. तच्छ्रुतेः इति हेतुबोधिकां बृहदारण्यके आर्तभाग-ब्राह्मणस्थां श्रुतिम् आहुः यत्रास्येति. शङ्कते नच इति. श्रुतिः इति. अन्यैः व्याख्याता इति शेषः. समाधानम् आहुः याज्ञवल्क्येति इति श्रुतेः इत्यन्तम्. अस्यां श्रुतौ विद्वद्विषयकत्वसन्देहं शङ्कते ननु इति. सम्पद्यते इति. निर्धारितवाक्येन निर्णयः सम्पद्यते इति अर्थः. एवं सति इति. एकस्मिन् प्रकरणे विरुद्धवाक्यद्वये श्रूयमाणे सति.

सङ्घातलयोक्त्या च विद्वद्विषयत्वम् अत्र अवसीयते, यतः तस्यैव उक्तं द्वयं सम्भवति. अग्रिमश्रुत्युक्तकर्माश्रयत्वं च तस्मिन् विरुद्धम्, अतः पूर्वोत्तरविरोधाद् विषयानिश्चये प्राप्ते प्रतिवदामः. मर्यादामार्गीयविद्वद्विषयिण्येव इयं श्रुतिः इति. अतएव प्रश्ने “**क्व तदा पुरुषो भवति**” इति एतावतैव चारितार्थ्येऽपि साधारण-पुरुषव्यावृत्त्या मर्यादामार्गीयतत्प्रापकम् ‘अयम्’ इति पदम्. तस्यैव उपक्रान्तत्वात् तथा. अग्रिमविचारितो अर्थोऽपि तद्विषयकएव इति बुध्यस्व.

ननु उक्तं बाधकम् इति चेद्, हन्त श्रुतिशिरःसमाकलितम् आकलय. मर्यादामार्गेहि विधिप्राधान्यं, तथैव तन्निर्माणात्. तत्र हि “**एवं कृतः एवं फलं दास्ये**” नतु अकृतेऽपि इति भगवदिच्छा, अतः कर्म प्रधानम्.

एवं सति आर्तभागस्य अयम् आशयः : वागादिरेतोऽन्तलयेन प्रारब्ध-स्यापि तदा नाशात् शुद्धं जीवं विध्यविषयं कदाचित् पुष्टौ प्रवेशयति न वा ? इति संशयेन तदा अयं क्व मर्यादामार्गेऽपि उत पुष्टावपि प्रवेशितो भवति ? इति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

प्रकरणे सत्त्वे सति. अत्र सद्योमुक्तिप्रतिपादकवाक्ये. तस्यैव सद्योमुक्तस्यैव. उक्तद्वयं प्राणानुत्क्रमणं सङ्घातलयश्च इति अर्थः. अस्मिन् विरुद्धं मुक्ते विरुद्धम्. तत्प्रापकं मुक्तबोधकम्. तस्यैव मुक्तस्यैव. तथा ‘अयम्’ इति पदं मुक्तबोधकम्. अग्रिम-विचारितो याज्ञवल्क्यार्तभागाभ्यां विचारितः. तद्विषयको मुक्तिविषयकः.

उक्तं बाधकं कर्माश्रितत्वापत्तिरूपम् इति अर्थः. तथैव विध्यधीनतयैव. तद् मर्यादामार्गः. न स्वकृते न पुष्टिमार्गे. विध्यविषयं वेदातीतम्.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

तस्मिन् इति. तत्र विरुद्धम् अवसीयते इति अर्थः. समाधानम् आहुः प्रतिवदामः इति. तस्यैव इति. प्राणान् उत्क्रमहेतुना विदुषएव इति अर्थः. अग्रिमेति. “**तौ ह यदूचतुः**” (बृहदा.उप.३।२।१३) इत्यादिना विचारितो अर्थः इति अर्थः. अग्रिमे पुनः शङ्कते ननु इति. उक्तम् इति. विद्वत्तायां कर्माश्रयेण अवस्थानं बाधकम् इति अर्थः. तथाच इयं श्रुतिः अविद्वद्विषयिणी इति भावः. समाधानम् आहुः हन्त इति. ‘हन्त’ इत्यनेन भ्रान्तत्वं पूर्वपक्षिणो द्योतयन्ति श्रुतीति. वेदान्ततात्पर्यबोधितम् इति अर्थः. मर्यादा इति. एवञ्च अत्र कर्मैव प्रधानम् इति भावः.

एवं सति इति. आर्तभागस्य उपनिषदो वक्ष्यमाणः आशयः. संशयेन इति. प्रश्नः इत्यनेन अन्वयः. तदा अयं क्व इति. तदा शुद्धत्वदशायाम् अयं विध्यधीनो

प्रश्नः. तदा अस्य अर्थस्य ईश्वरेच्छारीतिम् अविदुषो दुर्ज्ञेयत्वं जानन्तौ स्वयमेव यदवधारितवन्तौ तदपि रहस्यम् इति स्फुटम् अनुक्त्वा, श्रुतिः पर्यवसितम् अर्थम् उक्तवती “तौ ह” (बृहदा.उप.३।२।१३) इत्यादिना. अत्र ‘कर्म’पदं मर्यादामार्गपरम्. तथाच मर्यादामार्गएव तस्य स्थितिः इति अर्थः सम्पद्यते, मुक्तएव भवति इति यावत्. अतएव तत्प्रशंसापि. यतः ईश्वरत्वेन सर्वकरणसमर्थोऽपि तद्दाने तदपेक्षते. अत्र हेतुत्वेन मर्यादामार्गस्वरूपम् उक्तं “पुण्यो वा” (बृहदा.उप.३।२।१३) इत्यादिना॥५॥

ननु मर्यादामार्गीयौ भक्तो ज्ञानी च भवतः, उक्तनिर्णयस्तु ज्ञानमार्गीयविषयएव, भक्तन्तु तादृशमपि कदाचित् पुष्टावपि प्रवेशयति इति आशङ्क्य तन्निर्णयम् आह.

नैकस्मिन् दर्शयतो हि॥६॥

एकस्मिन् ज्ञानिनि भक्ते वा मर्यादानियमो न, किन्तु उभयोरपि. तत्र

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अत्र श्रुतौ. तत्प्रशंसा मर्यादामार्गरूप-कर्मकरणप्रशंसा. तद्दाने मर्यादामार्गफलदाने. तदपेक्षते वैधम् अपेक्षते. अत्र मर्यादामार्गे॥५॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादि. उक्तनिर्णयो मर्यादामार्गीयस्य वैधमुक्तिनिर्णयः. तादृशं मर्यादामार्गीयम्.

सूत्रेण समाधानम् आहुः एकस्मिन् इत्यादि. प्राकृताः मर्यादामार्गीयाः मर्यादा.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

जीवः क्व कस्मिन् मार्गे. सामान्यप्रश्नम् उक्त्वा विशेषम् आह मर्यादा इति. एवं विद्वद्विषयकप्रश्नः उत्तरमपि तथैव आहुः तदा इति. अस्य अर्थस्य दुर्ज्ञेयत्वम् इत्यनेन अन्वयः. अत्र इति. श्रुतौ इति अर्थः. ‘कर्म’पदस्य कर्मवति लक्षणार्थम् आहुः मर्यादा इति. सम्पद्यते इति. तथाच विद्वद्विषयिण्येव इयं व्यवस्था इति भावः. अत्र गमकम् आहुः अतएव इति. निवृत्तिमार्गीयप्रशंसैव गमिका इति भावः. अत्र कारणम् आहुः यतः इति. तद्दाने मुक्तिदाने. तद् इति. ज्ञानसहितं कर्म इति अर्थः. ननु एवं चेत् “पुण्यो वा” इति श्रुतिः कथं वदेद् इत्यतः आहुः अत्र इति. हेतुत्वेन फलदाने हेतुत्वेन. तथाच “पुण्यो वा” इत्यनेन मर्यादामार्गस्य इदं स्वरूपम् उक्तं कर्मकृते फलं भविष्यति इति. नतु तावता अविद्वद्विषयकत्वं श्रुतेः वक्तव्यम् इति भावः ॥५॥

सूत्रं व्याकुर्वन्ति एकस्मिन् इति. दर्शयतः इति. सामान्येन निर्देशात्

हेतुः दर्शयति इति. यतो याज्ञवल्क्यार्तभागौ ज्ञानिभक्तसाधारण्येन मर्यादानियमं दर्शयतः उक्तरीत्या, “तौ ह” इत्यादिना. अन्यथा प्राक् कृताङ्गीकृतिः अन्यथा भवेद् इति उपपत्तिः ‘हि’शब्देन सूच्यते. पूर्वोक्तपूर्वोत्तरश्रुतिविरोधपरिहारा-न्यथानुपपत्तिः अत्र मूलम् इति ज्ञेयम्.

केचित्तु उपसंहृतेषु वागादिषु शरीरान्तरप्रेप्सासामयिको जीवः “क्व अयं तदा पुरुषः?” इति प्रश्नविषयः इति वदन्ति. तद् न साधीयः. “तम् उत्क्रामन्तं प्राणो अनूत्क्रामति प्राणम् अनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति” (बृहदा.उप.४।४।२) इतिश्रुतिः भाविदेहान्तरजीवस्य प्राणानाम् इन्द्रियाणां च सहैव उत्क्रमणं वदतीति वागादिलयस्य तत्र असम्भवाद् न उक्तस्य प्रश्नविषयत्वं वक्तुं शक्यम्. पूर्ववाक्ये “अत्रैव समवनीयन्ते” इति उक्तत्वाच्च. अतो

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अत्र तयोः पुष्टौ अनङ्गीकारे. स्वसिद्धान्तदृढीकरणाय मतान्तरम् उपन्यस्यन्ति केचित्तु इति. उपसंहृतेषु वागादिषु पूर्वशरीरीयवागादिषु उपसंहृतेषु इति अर्थः. सहैव जीवोत्क्रमणेन सहैव. एतेन अनुपदोक्तरीत्या शरीरान्तरप्रेप्सासामयिक-जीवनिराकरणेन. इदं च अग्रे निरस्तम् इत्यनेन अन्वेति. अयं “क्वायं तदा पुरुषः” (बृहदा.उप.३।२।१३) इति श्रुत्युक्तो जीवः. तत्फलं परविद्याफलम्. तच्च अमृतत्वरूपं फलं च. देशान्तरानायत्तम् “इहैव समवनीयन्ते” (बृहदा.उप.३।२।११)

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

कर्मोक्त्या कर्मप्रशंसया च दर्शयतः इति अर्थः. ननु ज्ञानिनितु अस्तु नाम परन्तु भक्तत्वं भक्ते पुष्टिमर्यादाभक्तिमति तुल्यमेव इति कथं मर्यादायां वागादीनां भूतेषु लयः, पुष्टौतु भगवति इत्यतः आहुः अन्यथा इति. अप्राकृतेति. प्रकृतिसम्बन्धरहितानाम् अङ्गीकारः स्वीयत्वेन वरणं तद् अन्यथा भवेद् इतरतुल्यं भवेद् इति अर्थः. श्रुतेः एतादृश-तात्पर्यकल्पने बीजम् आहुः पूर्वोक्तेति. श्रुतिः इति. “न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ति” (बृहदा.उप.४।४।६) इति श्रुतिः इति अर्थः. अत्र मतान्तरम् आहुः केचित्तु इति. उपसंहृतेषु उपसंहारं प्राप्तेषु. दूषयन्ति तद् न इति. वदन्ति इति. श्रुतिः अमुच्यमानस्य प्राणोत्क्रमं वदति इति अर्थः. वागादिलयस्य इति. “अग्निं वागप्येति” इत्यादिवागादिलयस्य तत्र इति. तस्मिन् जीवे. असम्भवाद् इति. साधनाभावाद् असम्भवाद् इति अर्थः. तथाच तस्य मुक्त्यभावाद् वागादिलयस्य मुच्यमानजीवएव इति भावः. न उक्तस्य इति. शरीरान्तरप्रेक्षासामयिको जीवः क्व अयं तदा इति प्रश्नविषयः

अस्मदुक्तएव मार्गो अनुसर्तव्यः. एतेन “नायं परविद्यावान् यतः, अमृतत्वमेव तत्फलम्” इति तच्च देशान्तरानायत्तमिति उत्क्रमणापेक्षा कर्माश्रयत्वं च न स्यात् किन्तु अपरविद्यावान्. तस्यास्तु ब्रह्मलोकावधिः फलमिति कर्माश्रय-त्वोत्क्रमणादिकं सम्भवति इत्यपि निरस्तं वेदितव्यम्॥६॥

॥इति चतुर्थाध्याये द्वितीयपादे द्वितीयं भूताधिकरणम्॥२॥

समाना चासृत्युपक्रमाद् अमृतत्वं च अनुपोष्य॥७॥ (४।२।३)

मर्यादापुष्ट्योः न कदाचिद् अन्यथाभावः इति यद् उक्तं, तत्र हेत्वपेक्षायां वस्तुस्वरूपमेव तथा इति बोधयितुम् आह **समाना** इत्यादि. अत्र अयम् आशयः : साधनक्रमेण मोचनेच्छा हि मर्यादामार्गीया मर्यादा, विहितसाधनं विनैव मोचनेच्छा पुष्टिमार्गमर्यादा. तथा सति सदा एकरूपत्वं तयोः युक्तम् इति. एतदेव आह **सृतिः** संसृतिः. जीवानां स्वस्मात् पृथक्कृतानाम् अविद्यया अहन्ता-ममतास्पदीकरणम्. तदुपक्रमः आरम्भः तं

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इति श्रुतेः इति अर्थः. न स्यात् तस्य जीवस्य श्रुत्युक्तं तद् न स्याद् इति अर्थः॥६॥२॥

पुष्टिमर्यादास्थयोः अधिकरणद्वयेन श्रुत्या वागादिक्रमं व्युत्पाद्य एतदधिकरणारम्भो नवभिः सूत्रैः पूर्वोक्तार्थदाढ्याय. प्राप्ताशङ्कां निराकरिष्यन्तः सूत्रम् अवतारयन्ति **मर्यादा** इत्यादिना. उक्तं पूर्वाधिकरणे उक्तम्. तत्र अन्यथाभावाभावे. **वस्तुस्वरूपं** मर्यादा-पुष्टिमार्गयोः स्वरूपमेव. **तयोः** भगवदिच्छयोः. सूत्रार्थम् आहुः **सृतिः** इत्यादिना. तदुपक्रमो विद्यासम्बन्धोपक्रमः. व्रतं साधनानुष्ठानम्॥७॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इति अर्थः. एतावता प्रश्नाशयो दूषितः. इतः परं सिद्धान्ताशयं दूषयन्ति एतेन इति. अत्र जीवस्य देहान्तर-प्रेप्साकालीनत्वसमर्थनेन **निरस्तम्** इति. स्पष्टं च एतत्. इदञ्च आर्तभाग-ब्राह्मणावलोकनेन स्पष्टं भविष्यति इति अवधेयम्. अधिकन्तु प्रकाशे अनुसन्धेयम्. विस्तरभयाद् विरम्यते ॥६॥२॥

इदानीं नवभिः सूत्रैः पुष्टिमर्यादामार्गस्वरूपे यो विशेषः सएव विशेषः इति बोधयितुं सूत्रम् अवतारयन्ति **मर्यादा** इति. **यदुक्तम्** इति. पुष्टिमर्यादाविद्यमानयोः वागादिलयो युक्तः इति बोध्यम्. सूत्रं व्याकुर्वन्ति **साधनेति**. सदा एकरूपत्वं यद् उक्तं तदेव स्पष्टीकुर्वन्ति **संसृतिः** इति. **संसृतिः** संसारः. एतस्य ‘संसार’पदस्य अर्थम् आहुः जीवानाम् इति. **तदुपक्रमः** इति. संसारोपक्रमः इति अर्थः. **एवमेव** इति. एवंरीत्या

मर्यादीकृत्य मुक्तिपर्यन्तम् उक्तरूपा मर्यादा समाना सदैकरूपा, मध्ये न अन्यथा भवति इति अर्थः. एवमेव अनुपोष्य व्रतम् अकृत्वा, अमृतत्वम् अपि पुष्टिमार्गे समानम् इति अर्थः. अत्र 'उपोषण'पदम् अशेषमुक्तिसाधनोपलक्षकम् ॥७॥

एवं प्रासङ्गिकम् उक्त्वा प्रकृतं परामृश्यते. “सोऽध्यक्षः” (ब्रह्मसू. ४।३।४) इति सूत्रेण पुष्टिमार्गीय-भक्तसङ्घातस्य भगवत्येव लयः इति उक्तम्. अग्रिमेण तेन मर्यादामार्गीयभक्तसङ्घातस्य भूतेषु लयम् उक्त्वा, प्रश्नानन्तरं शुद्धजीवस्य तस्य मुक्तिरेव भवति इति वक्तव्ये सति, “आहर सौम्य हस्तम्” (बृहदा.उप.५।२।१३) इत्यादिना स्वाशयम् अन्येषु अप्रकटयन्तौ कर्म यद् निरूपितवन्तौ तत् कुतः ? इति आशङ्क्य तयोः आशयं निगूढं प्रकटयति.

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥८॥

तदा नित्यलीलान्तःपातलक्षणपुष्टिमार्गीयमुक्तिदशायां मर्यादामार्गीयायाः अपीतेः मुक्तेः संसारत्वाभावेऽपि पुरुषोत्तमभजनानन्दानुभवाभावात् संसार इत्येव पुष्टिमार्गे व्यपदेशो यतः क्रियते, अतः तदभिसन्धाय तया रीत्या निरूपणम्. अतएव श्रीभागवते श्रीशिववचनं गीयते. “नारायणपराः सर्वे न

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

एवं प्रासङ्गिकम् इत्यारभ्य सूत्रावतरणं बोध्यम्. अग्रिमेण “भूतेषु तच्छ्रुतेः” (ब्रह्मसू. ४।२।५) इति सूत्रेण. सूत्रं व्याकुर्वन्ति तदा इत्यादिना तया रीत्या निरूपणम् गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अमृतत्वम् इति अर्थः. तथाच मर्यादामार्गे मोक्षसाधनं कृत्वा मोक्षः. पुष्टिमार्गे तस्य अपेक्षा नास्ति इति भावः ॥७॥

सूत्रम् अवतारयन्ति एवम् इति. प्रासङ्गिकम् इति. मार्गद्वयेनापि एकत्रैव प्राप्तिः एका एकपदी, एका तद् अन्या सर्वैः गम्या इत्येवंरीत्या मर्यादा-पुष्ट्योः भेदः इति प्रासङ्गिकम् इति अर्थः. प्रकृतम् इति. आर्तभागब्राह्मणम् इति अर्थः. एकवारं विचारः कृतएव पुनः किमर्थम् ? अतः आहुः सोऽध्यक्षे इति. अग्रिमेण भूतेषु तच्छ्रुतेः इत्यनेन. प्रश्नानन्तरम् इति. तत् कुतः इति आशङ्क्य इत्यनेन अन्वयः. आशयम् इति. एकान्तगमनाशयम् इति अर्थः.

सूत्रं व्याकुर्वन्ति तदा इति. निरूपणम् इति. पुष्टिमार्गीयमुक्त्यपेक्षया मर्यादामार्गीयमुक्तेः न्यूनत्वबोधनाय पुनर्विचारः इति अर्थः. अतएव इति. अत्र श्रीभागवतम् उपष्टम्भकं “न बिभेति कुतश्चन” (तैत्ति.उप. २।९) इति तैत्तिरीयश्रुतिरपि

कुतश्चन बिभ्यति, स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः” (भाग.पुरा.६।७। २८) इति. श्रीभगवद्गीतास्वपि “देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि” (भग.गीता७।२३) इति वाक्येन मर्यादामार्गीयभक्तमुक्तेः इतरसाधारण्यम् उच्यते ॥८॥

ननु संसारवद् मुक्तेरपि हेयत्वं, यत्र तादृशं चेत् पुष्टिमार्गीयं तत्त्वं, तदा मुक्तेः पुरुषार्थत्वबोधिकायाः श्रुतेः प्रतारकत्वम् आपतति इति तद्बोधकप्रमाणानां तत्स्तुतिमात्रपरत्वमेव इति प्राप्ते आह

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥९॥

पुष्टिमार्गीयं तत्त्वं सूक्ष्मं दुर्ज्ञेयम् इति अर्थः. अत्र अयम् आशयः : पुष्टिमर्यादामपि अतिक्रम्य पुष्टिपुष्टौ प्रवेशे तत् तत्त्वम् अनुभवविषयो भवति, न अन्यथा. तत्र प्रवेशस्तु अतिदुरापो अतिशयितानुग्रहेतरासाध्यत्वाद्, अतः उक्तेतराज्ञेयमेव तद् भवति. तेषान्तु मुक्तिरेव फलम्, तस्याएव इष्टत्वात्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इत्यन्तम्. मुक्तेः मर्यादिकमुक्तेः ॥८॥

तद्बोधकानि मर्यादिकमुक्तिबोधकानि. तत् पुष्टिमार्गीयफलम्. ननु इत्यारभ्य अवतरणं व्याख्यातम्. सूत्रं व्याकुर्वन्ति पुष्टीत्यादिना. उक्तेतरो अत्यनुगृहीतेतरः. तत् पुष्टिमार्गीयं तत्त्वम्. तेषान्तु मर्यादामार्गीयाणान्तु. अन्यथा श्रुत्युक्तफलसाधकत्वेऽपि श्रुतेः प्रतारकत्वाङ्गीकारे.

ननु क्वचिद् मर्यादाफलदानेच्छा क्वचित् च पुष्टिफलदानेच्छा इति

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

उपष्टम्भिका बोध्या. मर्यादामार्गीयमुक्तौ न्यूनत्वम् आहुः श्रीभगवद्गीतासु इति ॥८॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. प्रतारकत्वम् इति. श्रुतेः प्रतारकत्वभिया भजनानन्दोत्कर्षप्रमाणानां स्तावकत्वम् अङ्गीकर्तव्यम् इति अर्थः. व्याकुर्वन्ति पुष्टीति. यदि इदं दुर्ज्ञेयं तदा तस्य ज्ञानाभावात् श्रुतेः प्रतारकत्वं तदवस्थमेव इत्यतः आहुः अत्र अयम् इति. पुष्टिमार्गीं द्विविधः. एकः पुष्टिमर्यादारूपः अपरः पुष्टिपुष्टिरूपः. तत्र पुष्टिपुष्टौ प्रवेशः चेत् पुष्टिमार्गीयं तत्त्वम् अनुभवविषयो भवति इति अर्थः. अनुग्रहेतरेति. अनुग्रहं विना साध्यत्वमेव नास्तीति तादृशानुगृहीतपुरुषेतरैः दुर्ज्ञेयत्वम् इति अर्थः. तेषान्तु. येषाम् अतिशयानुग्रहो नास्ति तेषां भक्तानां भक्तिरहितज्ञानिनां च

रागिणां स्वर्गादिवत्. इष्टफलाप्राप्तौ हि प्रतारकत्वम्, अन्यथा प्रवृत्तिमार्गीय-
फलबोधिकायापि श्रुतेः प्रतारकत्वं स्यात्. इच्छा च अधिकारानुसारिणीति न
अनुपपन्नं किञ्चिद् इति.

ननु एवंविधार्थास्तित्वे किं मानम्? इति आकाङ्क्षायाम् आह
प्रमाणतः इत्यादि. प्रमाणं श्रुतिः. सातु “यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा
सह, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति” (तैत्ति.उप.२।९), “एतं
ह वाव न तपति किम् अहं साधु नाकरवं किम् अहं पापम् अकरवम्” (तत्रैव) इति.
अत्र पूर्वार्धेन दुर्ज्ञेयत्वम्, उत्तरार्धेन तत्सत्ता च बोध्यते. अन्यथा मनसोऽपि
अप्राप्यस्य वेदनकथनं विरुद्धं स्याद्, अतो दुर्ज्ञेयत्वेनैव धर्मिग्राहकमानसिद्धं तद्
इति अर्थः. ‘च’कारात् तादृशानाम् अनुभवः परिगृह्यते ॥९॥

तर्हि ब्रह्मविदामिव तादृशानां भक्तानामपि स्वमार्गोपदेशनं क्वचित्
श्रूयेत. नच एवम्, अतः पूर्वोक्तं न साधीयः इति भातीति उत्सूत्रम् आशङ्क्य तत्र
हेतुम् आह

नोपमर्देन अतः ॥१०॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इच्छावैषम्ये किं नियामकम्? इत्यतः आहुः इच्छेत्यादि. ननु एवम् इत्यादि.
अनुग्रहेतराप्राप्यातितरानुग्रहेणैव प्राप्य एवंविधार्थास्तित्वे. तत् पुरुषोत्तमस्वरूपम्.
चकारात् सौत्र ‘च’कारात् ॥९॥

सूत्रम् अवतारयन्ति तर्हि इत्यादिना. तादृशानां वक्त्रीणां श्रुतीनाम्. पूर्वोक्तं
पुष्टिफलस्य सर्वोत्तमता. तत्र पूर्वपक्षे. हेतुम् अनुपदेशने हेतुम्.

सूत्रार्थम् आहुः उपदेशनम् इत्यादिना. तत् परस्पररहस्यविद्योपदेशनम्.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इति अर्थः. श्रुतेः प्रतारकत्वं निवारयन्ति इष्टेति. इच्छा च अधिकारानुसारिणीति.
तथाच येषां स्वर्गेच्छा तेषां निवृत्तिमार्गतत्त्वं दुर्ज्ञेयम्. एवम् येषां मोक्षेच्छा तेषां
पुष्टिमार्गतत्त्वम्. एवञ्च उत्कृष्टाधिकारिणं प्रत्येव श्रुतेः भजनानन्दोत्कर्षबोधकत्वमिति
न प्रतारकत्वम् इति भावः. सूत्रांशम् अवतारयन्ति ननु इति. एवंविधेति.
अतिशयानुग्रहातिरिक्तसर्वदुर्ज्ञेयार्थं सत्त्वे किं मानम्? इति अर्थः. प्रमाणं श्रुतिम् आहुः
यतो वाचः इति. इयं श्रुतिः तैत्तिरीयोपनिषदि स्पष्टार्था च ॥९॥

सूत्रम् अवतारयन्ति तर्हि इति. उत्सूत्रम् इति. सूत्राद् बहिः इति अर्थः. सूत्रं

उपदेशनं तदा स्याद् यदि ब्रह्मविदामिव तेषां स्वास्थ्यं स्यात्. यतः तेषां विरहिदशा प्रियसङ्गमदशा च इति दशाद्वयमेव भवति, न अन्या. पूर्वस्याः तस्यास्तु अतिदुःसहत्वेन सर्वेषां भावानाम् **उपमर्देन** तिरोधानेन उपदेशो न भवति इति अर्थः. सङ्गमेतु, अतः, पुरःप्रकटपरमानन्दस्वरूपाद् भगवतएव हेतोः उपदेशो अन्यस्मै न भवति इति अर्थः. न हि भगवदग्रे सः सम्भवति इति भावः ॥१०॥

ननु “रसो वै सः. रसं ह्येव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति” (तैत्ति.उप.२। ७) इत्युपक्रम्य “एष ह्येव आनन्दयाति” (तत्रैव) इति श्रुतेः उक्तरूपानन्द-प्राप्तौ दुःसहविरहतापो अशक्यवचनः, आनन्दतिरोधानएव तत्सम्भवात्. तद्हेतोः असम्भवात्, सम्भवेतु तत्प्राप्तिरेव न स्याद् इति प्राप्ते, उत्तरं पठति.

अस्यैव च उपपत्तेः ऊष्मा ॥११॥

आनन्दात्मकरसात्मकस्य अस्यैव भगवतएव धर्मः **ऊष्मा** विरहतापः इति अर्थः. विरोधपरिहाराय आह **उपपत्तेः** इति.

इदम् उक्तं भवति : भगवद्विरहस्य सर्वसाधारणत्वेऽपि स्थायि-भावात्मक-रसरूपभगवत्प्रादुर्भावो यस्य हृदि भवति, तस्यैव तदप्राप्तिजः तापः, तदनन्तरं नियमतः तत्प्राप्तिश्च भवति, नतु अतथाभूतस्येति अन्वयव्य-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

भगवदग्रे उपदेशो न सम्भवति इति अर्थः ॥१०॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादि. तत्सम्भवाद् उक्त-तापसम्भवात्. तद् हेतोः आनन्दतिरोधानहेतोः. तत्सम्भवे तिरोधानहेतुसम्भवे. तत्प्राप्तिः आनन्दप्राप्तिः. सूत्रं व्याख्यान्ति आनन्दात्मकः इत्यादिना. विरोधपरिहाराय वस्तुगत्या भगवद्विरहभावस्य सर्वत्र लोके सत्त्वात् सर्वेषां पूर्णानन्दलाभः स्याद् इति विरोधपरिहाराय इति अर्थः. उपपत्तिं विशदीकुर्वन्ति इदम् इत्यादिना. तदप्राप्तिजो भगवदप्राप्तिजः. तत्प्राप्तिः भगवत्प्राप्तिः. अतथाभूतस्य रत्यात्मकस्थायिभावशून्यस्य. तस्य “रसो वै

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

व्याकुर्वन्ति उपदेशनम् इति. सूत्रांशम् अवतारयन्ति सङ्गमेतु इति. सूत्रांशस्य अतः इत्यस्य अर्थम् आहुः पुरः प्रकटेति ॥१०॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु रसो इति. तत्सम्भवाद् इति. दुःसहतापसम्भवात्. तद् हेतोः इति. अविद्याकामकर्मादीनाम् आनन्दतिरोधाने कारणीभूतानाम् असम्भवात्. सूत्रं व्याकुर्वन्ति आनन्देति.

तिरेकाभ्याम् उक्तरसस्यैव एषः धर्मः इति निश्चीयते. तस्य वस्तुनएव तथात्वात्
सः तापोऽपि रसात्मकएव.

प्रतिषेधाद् इति चेद्, न, शारीरात्॥१२॥

ननु “न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखम्” (छान्दो.उप.
९।२६। २) इतिश्रुत्या दुःखप्रतिषेधः तादृशे भक्ते क्रियतइति तस्य दुःखित्वं न
वक्तुं शक्यम् इति आशङ्क्य प्रतिषेधति न इति. कुतः? शारीरात्.
शरीरसम्बन्धिनो हेतोः यद् दुःखं कर्मजनितम् इति यावत्, तस्यैव श्रुतौ
प्रतिषेधात् न अत्र अनुपपत्तिः इति अर्थः. एतेन दुःखत्वेन कर्मजन्यत्वानुमान-
मपि निरस्तं वेदितव्यम्, लौकिकएव दुःखे तज्जन्यत्वनियमात्॥१२॥

स्पष्टो हि एकेषाम्॥१३॥

एकेषां शाखिनां भगवत्स्वरूपलाभानन्तरं दुःख-तन्निवर्तनलक्षणो

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सः” (तैत्ति.उप. २।७) इत्यादिना प्रतिपाद्यरसस्वरूपस्य ॥११॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादिना. पश्यो भगवद्दर्शी. तस्य पश्यस्य.
दुःखित्वं विरहादिजनित-दुःखवत्त्वम्. शरीरसम्बन्धिनः शरीरावच्छेद्यपापाद् इति
अर्थः. अत्र विरहादिसम्पादिते. अनुपपत्तिः दुःखत्वसम्बन्धरूपानुपपत्तिः इति अर्थः.
एतेन तत्र वास्तवदुःखत्वाभावेन. लौकिकः इत्यादि. तथाच विजातीयदुःखत्वावच्छिन्नं
प्रत्येव पापस्य कारणता. एवं विजातीयसुखं प्रत्येव पुण्यस्य कारणत्वं वाच्यम्. अन्यथा
भगवदीयनित्यसुखे व्यभिचारापत्तेः विरहस्य प्राकृतदुःखरूपत्वे उक्त(उत्तर!)रस-
दलत्वानुपपत्तिश्च ॥१२॥

विरहदुःखस्य कर्मजत्वाभावः सूत्रतात्पर्यविषयः इति विवृण्वन्ति एकेषाम्

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

यः परं प्राप्तः तस्य अयम्. उक्तरसस्य उक्तानां यो रसः तस्य इति अर्थः.
रसात्मकएव इति. विप्रलम्भरसात्मकएव इति अर्थः. एवञ्च यः परं प्रातः तस्य अयम्
उक्तरसः तस्य प्रकारो भिन्नएव. अन्तः प्राप्या आनन्दानुभवः, बाह्याप्राप्या
विरहजन्यः तापः इति द्वयोः उपपत्तिः इति भावः ॥११॥

सूत्रपूर्वभागे पूर्वसूत्राभ्यां “न अस्यैव ऊष्मा” इति पदत्रयम् अनुवर्त्य
व्याकुर्वन्ति ननु इति. तस्य दुःखित्वम् इति. भ्रमवत्प्राप्तस्य विरहजन्यदुःखित्वम् इति
अर्थः ॥१२॥

भगवद्विरहजं दुःखं कर्मजन्यं न भवति इत्यत्र प्रमाणम् आहुः एकेषाम् इति.

अर्थः स्पष्टः पठ्यते. तथाहि. “रसो वै सः, रसं ह्येव अयं लब्ध्वा आनन्दीभवति. को ह्येव अन्यात्, कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्याद्. एष ह्येव आनन्दयाति” (तैत्ति.उप.७।२).

अत्र रसात्मकभगवत्स्वरूपलाभे सति आनन्दवत्त्वम् उक्त्वा, तस्यैव जीवनहेतुत्वं परमानन्दहेतुत्वं च उच्यते. मरणहेतुः उपस्थित्यभावे जीवनहेतुत्वं न वदेत्. सः रसस्तु संयोग-विप्रयोग-भावाभ्यामेव पूर्णो भवति अनुभूतः, न एकतरेण. तत्र विरहतापस्य अत्युपमर्दित्वेन तदा प्राणस्थितिरपि न स्यात्, यदि रसात्मको भगवान् हृदि न स्याद् इति आशयेन आह ‘को ह्येव अन्याद्’ इति. ‘यद्’ यदि ‘एषः’ हृदि स्फुरद्रूपः ‘आकाशो’ भगवान् ‘न स्यात्’, कः तदा ‘अन्याद्’, “अन प्राणने” को वा जीवयेद्, न कोऽपि इति अर्थः. तादृशस्य भगवत्स्वरूपातिरिक्ताद् न जीवनम् इति ज्ञापनाय सामान्यपदम्. ब्रह्मानन्दा-धिकपूर्णानन्दविरहासन्नमरणनिवारणासामर्थ्यम् अतादृशस्य उचितमेव इति ज्ञापनाय ‘हि’शब्दः. तादृशस्य जीवनसम्पादनं प्रभोः आवश्यकम् इति ज्ञापनाय ‘एव’कारः. तापात्मकस्यापि आनन्दात्मकत्वमेव इति ज्ञापनाय ‘आनन्द’पदम्. तदा प्रलापगुणगानादयो ये भवन्ति, तेऽपि तद्धर्माएव. नीलाम्बुद-श्यामो अतिक्लेशवशाद् “हृदयाद् अपगच्छतु” इति भावेऽपि “हृदयाद् न अपसारयितुं

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इत्यादि. अयं भक्तः. मरणहेतुः विरहभावः. अनुभूतौ अनुभवविषयतासत्त्वे. एकतरेण संयोग-विप्रयोगयोः मध्ये एकेन इति अर्थः. सामान्यपदं तादृशभक्तानां बोधकं ‘क’इति श्रुतौ पदम् इति अर्थः. तादृशस्य भगवतः. उचितमेव तत्र आविश्य प्राणरक्षणम् उचितमेव इति अर्थः. एवकारः “को ह्येव”इति ‘एव’कारः. आनन्दपदम् “आकाश आनन्दो न स्याद्” इति ‘आनन्द’पदम्. तद्धर्मा आविष्टानन्दधर्माः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

तैत्तिरीयाणाम्. कुत्र पठ्यते इत्यतः तैत्तिरीयश्रुतिम् आहुः तथाहि इति. व्याख्यानम् आहुः अत्र इति. तत्र विप्रयोगात्मके रसे. सामान्यपदम् इति. “को ह्येवान्याद्” (तैत्ति.उप.२।७) इत्यत्र ‘कः’ इति पदम्. ब्रह्मानन्देति. अक्षरानन्देति अर्थः. तद्धर्माएव. वियोगरसरूपभगवद्धर्माः इति अर्थः. आकाशस्तल्लिङ्गाधिकरणे आकाशस्य ब्रह्मवाचकत्वम् उक्तम् अत्रतु व्यापकत्वसूचनार्थम् उक्तम् इति तात्पर्यम् आहुः नीलाम्बुदेति. इति भावेऽपि इति. अतिक्लेशादिभावेऽपि इति अर्थः. श्रुतौ ‘प्राण्याद्’

शक्यः” इति ज्ञापनाय च आकाशत्वम् उक्तम्. तदनन्तरं प्रकटीभूय, तदन्यः को वा प्रकर्षेण दर्शनस्पर्शश्लेषभाषणादिभिः स्वरूपानन्ददानेन अन्यात्, पूर्वतापनिवृत्तिपूर्वकम् आनन्दपूर्णं कुर्याद् इति अर्थः. “रसं ह्येव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति” इति पूर्ववाक्येनैव अन्यव्यवच्छेदपूर्वकं भगवत्प्राप्तेः आनन्द-हेतुत्वप्राप्तावपि यत् पुनः आह तत्रापि व्यतिरेकमुखेन, तत्रापि जीवनहेतुत्वं, तदपि सामान्यविशेषाभ्यां वारद्वयं, तेन विरहसामयिकोक्तरूपएव अर्थः श्रुतेः अभिप्रेतः इति निश्चीयते. अन्यथा मरणहेत्वनुपस्थितौ जीवनहेतुत्वं न वदेद् इति उक्तम्. तदवस्थापन्नः को वा पुरुषो जीवेद् ? इति वा अर्थः॥१३॥

स्मर्यते च॥१४॥

भगवद्भावस्य मरणहेतुत्वं, तेनैव च जीवनं तस्य ब्रह्मादिदुरापत्वं च श्रीभागवते स्मर्यते.

“ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः,
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्”

(भाग.पुरा १०।४३।४) इत्युपक्रम्य,

“धारयन्ति अतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन”

(भाग.पुरा १०।४३।६) इत्यादि श्रीप्रभुवचनम्, श्रीमदुद्धववचनं च

“एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो, गोविन्दएव निखिलात्मनि रूढभावाः,

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

आकाशवत्त्वं भगवतः आकाशवत्त्वम्. तदनन्तरं विरहभावानन्तरम्. यत् पुनः आह “को ह्येवान्याद्” इत्यनेन पुनः आह इति अर्थः. व्यतिरेकमुखेन अन्यथा कोऽपि न जीवेद् इति व्यतिरेकप्राप्तिलाभेन इति अर्थः. जीवनहेतुत्वम् ‘अन्याद्’ जीवेद् इति अर्थाद् इति अर्थः. सामान्येत्यादि. जीवनं सामान्यं प्राणनं विशेषः. वारद्वयम् ‘अन्यात्’ ‘प्राण्याद्’ इति वारद्वयम् ॥१३॥

भाष्यम् अत्र स्फुटार्थम् ॥१४॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

इतिपदस्य अर्थम् आहुः तदनन्तरम् इति. अत्र गमकम् आहुः रसम् इति. यत्पुनः इति. “को ह्येवान्याद्” इत्यनेन आनन्दनं पुनः आह इति अर्थः. अन्यथा विरहावस्थायाः अभिप्रेताभावत्वे. ‘प्राण्याद्’ इत्यस्य अर्थान्तरम् आहुः तदवस्था इति ॥१३॥

सूत्रं व्याकुर्वन्ति भगवद् इति. श्रीभागवते स्पष्टम्.

वाञ्छन्ति यं भवभियो मुनयो वयं च, किं ब्रह्मजन्मभिः अनन्तकथारसस्य”

(भाग.पुरा १०।४४।५८) इत्यादि.

तेन भगवतएव जीवनहेतुत्वं भावस्य च परमपुरुषार्थत्वं दुरापत्वं च स्फुटम् अवगम्यते॥१४॥

तानि परे तथा ह्याह॥१५॥

ननु हृदि बहिश्च रसात्मकभगवत्प्राकट्यं, तददर्शनजनितो विरहभावः, तज्जनितः तापः, तेन मरणोपस्थितिः, तन्निवर्तनं तदौत्कट्यं, तदा प्राकट्यं, ततः पूर्णस्वरूपानन्ददानादिकं लोके क्वचिदपि न दृष्टं श्रुतं वा वैकुण्ठेऽपि इति कुतः ? इति आशङ्कायाम् आह तानि उक्तानि वस्तूनि परे प्रकृति-कालाद्यतीते वैकुण्ठादपि उत्कृष्टे श्रीगोकुलएव सन्ति इति शेषः. तत्र प्रमाणम् आह तथाहि आह श्रुतिः. ऋग्वेदे पठ्यते

“ता वां वास्तूनि उश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः,

अत्र आह तद् उरुगायस्य वृष्णः परमं पदम् अवभाति भूरिः”

(ऋग्वेद २।२।२४).

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादिना. तददर्शनं भगवददर्शनम्. तज्जनितो विरहभावजनितः. तेन तापेन. तदा विरहकाले. न दृष्टं श्रुतं वा फलकोटौ न क्वापि दृष्टं श्रुतं वा इति अर्थः. सूत्रेण समाधानम् आह तानि इत्यादि. उक्तानि ‘हृदि’ इत्यारभ्य ‘आनन्दादिकं च’ इत्यन्तेन उक्तानि. श्रुतिः “ता वां वास्तूनि उश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः अत्र आह तद् उरुगायस्य वृष्णः परमं पदम् अवभाति भूरी” (ऋग्वेद

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

स्फुटम् अवगम्यते इति. “को ह्येवान्याद्” इति श्रुतिः सामान्यजीवनपरा इति शङ्का स्यात् तदर्थं भगवतएव इत्यादिस्फुटम् अवगम्यते इति अर्थः ॥१४॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. प्राकट्यम् इति. साधनं विना इति शेषः. इच्छेयेति वा. “निःसाधनफलात्मायं प्रादुर्भूतोस्ति गोकुले” (सुबो.का.१०।५।२८) इति वचनात्. लोके इति. भुवनत्रयेऽपि फलांशेन दृष्टम् इति अर्थः. स्वर्गातीतेऽपि वारयन्ति वैकुण्ठम् इति. इति कुतः इति. इत्यतः कारणात् कुतः एवम् उच्यते इति अर्थः. आह स्थानं प्रमाणमपि आह इति अर्थः. सूत्रार्थम् आहुः उक्तानि इति. श्रुतिम् आहुः ता वाम् इति.

ता तानि वां भगवत्-तदन्तरङ्गभक्तयोः सम्बन्धीनि वास्तूनि वस्तूनि गमध्वै प्राप्तुम् उश्मसि कामयामहे. तानि कानि ? इति आकांक्षायां गूढाभिसन्धिम् उद्घाटयति. यत्र श्रीगोकुले गावो भूरिशृङ्गा बहुशृङ्गा रुरुप्रभृतयो मृगाश्च वसन्ति इति शेषः. अयासः शुभावहाः. तद् उक्तगुण-विशिष्टम् उरु गीयते इति उरुगायः तस्य. गोप्यो हि सततं तं गायन्ति. अतएव तदादिभक्तेषु कामान् वर्षति इति वृषा. तस्य परमं प्रकृतिकालाद्यतीतं पदं स्थानं भगवतो वैकुण्ठं भवति. तत्र एतादृशलीलाभावेन तस्मादपि परमम् उत्कृष्टम्. अत्र भूमौ अवभाति प्रकाशते इति अर्थः. तथापि स्वदृग्गोचरो न भवतीति खेदेन अह इति आह श्रुतिः. उरु गीयते परं सर्वत्र कामवर्षणं भक्तेषु अत्रैव इति तात्पर्येण वा विशेषणद्वयम् उक्तम्. यमुनापुलिनतदुपवननिकुञ्जगृहवरप्रदेशाद्रिसान्वाद्यात्मकत्वेन भूरि बहुरूपम्. तथाच एतादृशं यत् परमं पदम् अवभाति तत्सम्बन्धीनि वास्तूनि कामयामहे इति वाक्यार्थः सम्पद्यते. 'ते पदार्थाः' इति वक्तव्ये सति तानि इति उक्तिः या सा विषयवाक्यानुरोधाद् इति ज्ञेयम्. पुरुषोत्तमसम्बन्ध्यर्थानां तत्प्राकट्यस्थानएव प्राकट्यं युक्तम् इति हिशब्देन आह॥१५॥

अविभागो वचनात्॥१६॥ (४।२।४)

ननु लीलायाः नित्यत्वेन तन्मध्यपातिनां तद्दर्शनं यथा नित्यं, तथा तादृक्साधनाभावेऽपि निजानुकम्पया कदाचित् कमपि भक्तं तत्र नयति चेत् तदा

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

२।२।२४) इति ऋग्वेदश्रुतिः. भूरिशृङ्गा इत्यस्य अर्थो बहुशृङ्गा रुरुप्रभृतयः इति. तानि इति उक्तिः या इत्यादि. तथाच सूत्रे ते पदार्थाः इति वक्तव्ये तानि इति यत् सूत्रकृतोक्तं तद् 'वास्तूनि' इति नपुंसकदर्शनात् स्वयमपि तथा उक्तवान् इति अर्थः॥१५॥३॥

पूर्वोक्तरीत्या प्राप्ताशङ्कानां नवभिः सूत्रैः निराकरणं कृत्वा वागादिप्राणानां लयावश्यकतां व्यवस्थाप्य पुष्टिमार्गीयकं विशेषं सूत्रकारः प्रतिपादयति इति अधिकरणम् अवतारयन्ति ननु लीलायाः इत्यादिना. तादृक् पुष्टिस्थपुरुषोत्तमप्रापकम्. तत्र

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

श्रुत्यर्थम् आहुः तानि इति. वाम् इति षष्ठीद्विवचनं मनसि निधाय आहुः भगवद् इति. अन्यत् सर्वं स्पष्टम् ॥१५॥३॥

अधिकरणम् अवतारयन्ति ननु इति. संशयम् आहुः तादृग् इति. पूर्वपक्षम् आहुः तोषस्य इति. सिद्धान्तं विशदयन्ति तत्र इति. विद्वन्मण्डने इति. भक्तानां

कञ्चित् कालं स्थापयित्वा, ततः तं वियोजयति न वा? इति संशयः. तोषस्य कादाचित्कत्वात् तत्साध्या तत्र स्थितिरपि तथैव इति वियोजयति इति पूर्वः पक्षः. तत्र सिद्धान्तम् आह. तत्र प्रवेशितस्य तस्माद् अविभागएव. कुतः? वचनात्. तैत्तिरीयके उक्तर्गनन्तरमेव “विष्णोः कर्माणि पश्यत” (तैत्ति.संहि. १।३।६) इति ऋचा तत्र कृतानि कर्माणि उक्त्वा, तदग्रे वदति “तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः” (तत्रैव) इति. पुरुषोत्तमस्वरूपवित्त्वं सूरित्वम्. तच्च भक्त्यैवेति सूरयो भक्ताएव. तेषां सदा दर्शनम् उच्यते. अन्यथा लीलानित्यत्वेनैव पूर्वगर्भ्यां तत्रस्थितगवादीनां प्रभुकर्मविषयाणां च भक्तानां सदा तद्दर्शनस्य प्राप्तत्वाद् इदं न वदेत्. तस्माद् अविभागएव. एतेनापि लीलानित्यत्वं सिध्यति. एतद् यथा-तथा विद्वन्मण्डने प्रपञ्चितम्॥१६॥

इति चतुर्थाध्याये द्वितीयपादे चतुर्थम् अविभागाधिकरणम्॥४॥

एवं पुष्टिमार्गीयभक्तवृत्तान्तम् उक्त्वा ज्ञानमार्गीयस्य तम् आह.

**तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनु-
स्मृति-योगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया॥१७॥ (४।२।५)**

पूर्व, “भूतेषु तच्छ्रुतेः” इत्यादिना मर्यादामार्गीयस्य वागादिलयः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पुष्टिस्थस्य समीपे. तोषस्य कादाचित्कानुकम्पारूपस्य. तथा कादाचित्की इति अर्थः. तत्र प्रवेशितस्य कदाचिद् अनुकम्पया लीलायां प्रवेशितस्य. तस्माद् लीलास्थानाद्. अन्यथा नूतनाभिप्रवेशितस्य अनया श्रुत्या अविभागाप्रतिपादने॥१६॥४॥

अधिकरणम् अवतारयन्ति एवम् इत्यादिना. वृत्तान्तम् आह सूत्रकारः आह. तस्य ज्ञानमार्गीयस्य. अत्र मर्यादामार्गीयाणां सद्योमुक्तिः द्वेधा. तत्र हृदयएव सामग्रीप्राबल्याद् ब्रह्मप्राप्तिः इति एकः प्रकारः. तदन्यस्तु ब्रह्माण्डमध्ये दशमद्वारा निर्गतस्य तत्रैव ब्रह्मतासम्पत्तिः. क्रममुक्तिस्तु आभ्यां भिन्ना ब्रह्माण्डभेदेन उत्तरकालीना. तत्र आद्यायां जीवस्य न उत्क्रमणम्. द्वितीयायां तस्य उत्क्रमणम् अस्ति.

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

यत्रकुत्रचिद् मरणेऽपि तत्रैव हृदि वा बहिः वा भगवत्प्राकट्ये तत्र गोकुलादिस्थानस्य व्यापकत्वेन प्राकट्याद् सर्वं समञ्जसम् इति तत्रैव स्पष्टम् ॥१६॥४॥

अधिकरणम् अवतारयन्ति एवम् इति. तम् आह इति. क्रममुक्तिप्रकारं पितृयानेन भ्रमणं च आह इति अर्थः. ज्ञानमार्गीयवृत्तान्तम् आहुः पूर्वम् इति.

उक्तः. अधुना तस्य जीवात्मनः उत्क्रमणप्रकारः उच्यते. “स एताः तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेव अन्ववक्रामति” (बृहदा.उप.६।४।१) इति श्रुतेः तस्य आत्मनः ओक् आयतनं हृदयं तदग्रं पूर्वं प्रज्वलति, पूर्वं तथा अप्रकाशमानमपि तदा प्रकाशते इति यावत्. तदा तत्प्रकाशितं द्वारं निर्गमनमार्गो यस्य तादृशः उत्क्रामति. यतः श्रुतिः तथा आह “तस्य हैतस्य हृदयस्य अग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नोवा” (छान्दो.उप.६।४।२) इत्यादि. यद्यपि एतावत् सर्वजीवसाधारणं तथापि विद्वांस्तु न इतरवद् इतरनाड्या निष्क्रामति, किन्तु, शताधिकया एकशततम्या नाड्या मूर्धन्या निष्क्रामति. “शतं चैका हृदयस्य नाड्यः तासां मूर्धानम् अभिनिःसृतैका, तथा

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तत्र विद्वदुत्क्रमणाविद्वदुत्क्रमणयोः साम्यम् अस्ति न वा इति संशयः. तत्र भाविकामनायाः उभयोः तुल्यत्वाद् उत्क्रमणे साम्यमेव इति पूर्वपक्षे समाधानम्, हृदयागमनपर्यन्तं साम्यमेव, अग्रेतु न इति समाधानम् आहुः उच्यते इत्यादिना. सः द्वितीयसद्यो-मुक्त्यधिकारिजीवः. एताः तेजोमात्राः सूर्यपुरुषात् सन्मुखम् आगता इन्द्रियमात्राः. समभ्याददानो लभमानः. तदग्रं हृदयाग्रम्. पूर्वं निष्क्रमणपूर्वकाले. पूर्वं तथा इत्यादि. निष्क्रमणपूर्वकालान्यकाले. तदा निष्क्रमणकाले. उत्क्रामति सः मुक्त्यधिकारी. तेन सकाममार्गेण एतावता विद्वदुत्क्रमणे विशेषो द्योतितः. तत्र विशेषे प्रमाणम् आहुः यतः इत्यादिना. ‘तस्य’ इत्यादिश्रुतिः बृहदारण्यकशारीरब्राह्मणस्था. श्रुत्यर्थस्तु स्फुटः. विद्वदविद्वज्जीवः साधारणम् इति अर्थः. इतरनाड्या शताधिकेतरया नाड्या इति अर्थः. एका शतोत्तरैका इति अर्थः. आयन् गच्छन्. सूत्रशेषं व्याख्यातुम् आहुः उत्क्रामति

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

उत्क्रमणप्रकारः इति. यस्य ज्ञानसामर्थ्यादेव हृदये ब्रह्म स्फुरति सा एका सद्योमुक्तिः. तत्र उत्क्रमणाभावएव. यस्य तादृशं साधनं नास्ति एतद् जन्मनि जन्मान्तरे वा योगज्ञानसामर्थ्याद् दशमद्वाराद् निर्गमनं तस्य ब्रह्माण्डमध्यएव ब्रह्मप्राप्तिः. सा अपरा सद्योमुक्तिः. तत्र उत्क्रमणम् अस्ति इति. क्रममुक्तिस्तु ब्रह्माण्डभेदनान्तरमेव. तत्र ब्रह्माण्डाद् बहिरेव ब्रह्मप्राप्तिः. तत्र उत्क्रमणम् अस्ति इत्यतः स्थलद्वये उत्क्रमण-प्रकारः उच्यते इति अर्थः. सूत्रार्थम् आहुः सः इत्यादिना. श्रुतेः इति. बृहदारण्यके शारीरब्राह्मणस्थश्रुतेः इति अर्थः. तदोकोग्रेति सूत्रांशं व्याकुर्वन्ति तस्य इति. द्वारान्तं व्याख्याय शताधिकया इति पदं व्याख्यातुम् आहुः यद्यपि इति.

ऊर्ध्वम् आयन् अमृतत्त्वम् एति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति” (छान्दो.उप. १०।६६) इति यतः श्रुतिः आह. अत्र हेतुम् आह हार्दानुगृहीतः इति. हेत्वन्तर्गर्भं विशेषणम्. “गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे” (कठोप.३।१) इति श्रुतेः हृदयाकाश-सम्बन्धी यः परमात्मा तदनुग्रहात् तथैव भवति इति अर्थः. अनुग्रहे हेतुः विद्यासामर्थ्याद् इति. तस्याः विद्यायाः शेषभूताङ्गभूता या गतिः प्रव्रजनरूपा, तच्छेषभूतैव या भगवत्स्मृतिपरम्परा च ताभ्यां च यो भगवदनुग्रहः तेन तथा इति अर्थः॥१७॥

इति चतुर्थाध्याये द्वितीयपादे पञ्चमं तदोकोधिकरणम्॥५॥

रश्म्यनुसारी॥१८॥

“अथ या एता हृदयस्य नाड्यः ताः पिङ्गलस्य अणिमनः तिष्ठन्ति, शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्य इति असौ वा आदित्यः पिङ्गलः” (छान्दो. उप.८।६।१) इत्युपक्रम्य अग्रे पठ्यते “तमभित आसीना आहुः जानासि मां जानासी माम् इति स यावद् अस्मात् शरीराद् अनुत्क्रान्तो भवति तावज् जानादि

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इत्यादि. सर्वजीवेत्यादि. अत्र इत्यादि. अत्र एवम् अवस्थापतौ. तच्छेषभूता विद्याशेषभूता. तथाच विद्याशेषभूतं यत् प्रव्रजनं भगवत्स्मृतिपरम्परा च ताभ्यां यो भगवदनुग्रहः तेन गृहीतः तथा सम्पन्नो भवति इति अर्थः॥१७॥५॥

अधिकरणम् अवतारयन्ति अथ इत्यादिना. विषयवाक्यम् आहुः या एता इत्यादिना. विषयवाक्यं छान्दोग्यस्थदहरविद्यायाम्. अर्थस्तु यो हृदयपुण्डरीकगत-यथोक्तगुणविशिष्टब्रह्मोपासकः सः या एता हृदयस्य पुण्डरीकाकारस्य ब्रह्मोपासन-स्थानस्य सम्बन्धिन्यो नाड्यो हृदयमांसपिण्डात् सर्वतो विनिःसृता आदित्यमण्डलाद् रश्मय इव ता एताः पिङ्गलस्य वर्णविशिष्टस्य. अणिमनः सूक्ष्मस्य. पूर्णा इति सर्वत्र अध्याहारः तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्य सौरं तेज एव शरीरे स्थितं तत् पार्थिवेन फेनन्यूनाधिकभेदाद् अनुविद्धं तच्छरीरस्य रसं पाचयत् तत्तद्वर्णं करोति तत्र

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

हार्देतिपदं व्याख्यातुम् आहुः अत्र इति. अग्रे स्पष्टम्. अस्मिन् अधिकरणे उत्क्रमणप्रकारः विद्वदविद्वत्साधारणो वा न वा इति संशयः. साधारणेति पूर्वः पक्षः. अतिरिक्तः इति सिद्धान्तो बोध्यः॥१७॥५॥

अधिकरणम् आहुः रश्म्यनुसारी. विषयम् आहुः अथ इति. इयं छान्दोग्ये

अथ यत्र एतद् अस्मात् शरीराद् उत्क्रामति अथ एतैरेव रश्मिभिः ऊर्ध्वम् आक्रमते” (छान्दो.उप.८।६।४) इति.

अत्र ‘तमभित’ इत्याद्युक्तेः सर्वसाधारण्युत्क्रान्तिः प्राप्यते. पूर्वम् आदित्यत्वेन उक्तस्य पिङ्गलस्य रश्मिभिः ऊर्ध्वाक्रमणं च तथा. अत्र संशयः ओकोग्रज्वलनादेः इतरसाधारण्येऽपि यथा हार्दानुग्रहाद् विलक्षणा गतिः विदुषः उक्ता, तथा रश्म्यनुसारित्वमपि इतरसाधारणम्, उत अस्मिन्नेव? इति. तत्र अवधारणम् आह रश्म्यनुसारी निष्क्रामति अयमेव इति॥१८॥

इति चतुर्थाध्याये द्वितीयपादे षष्ठं रश्म्यधिकरणम्॥६॥

निशि न इति चेद्, न,

सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद् दर्शयति च॥१९॥ (४।२।७)

विदुषः उत्क्रमणे हार्दानुग्रहकृतो यथा विशेषः, तथा कालविशेषकृतो-
ऽपि विशेषो भविष्यति? इति आशङ्क्य तन्निरासम् आह. तत्र अहोरात्रकृतो

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

आदित्यसम्बन्धएव कारणम्. पित्तरूपेण तेजसादित्यस्य तत्र सत्त्वात्. तदाह श्रुतिः
“असौ वा आदित्यः पिङ्गल एषः शुक्लः” (छान्दो.उप.८।६।१) इत्यादि. तथाच
आदित्यमण्डलस्य पञ्चवर्णत्वात् तादृशं च भूतं पित्तमपि तादृशम् इति स्वपाचितम्
उपरञ्जयति. तत्र नाडीस्थो रसः तथा भवति इति अर्थः.

अत्र प्रकृतश्रुतौ. सर्वसाधारणी सद्योमुक्तक्रममुक्तसाधारणी. तथा
सर्वसाधारणम्. इतरः क्रममुक्तादि. इतरसाधारणम् अविद्वत्साधारणम्. तत्र
इतरसाधारणम् इति पूर्वपक्षः. सिद्धान्तस्तु विदुषएव न अविदुषः इति. तदेव आहूः रश्मी
इत्यादिना ॥१८॥

सूत्रम् अवतारयन्ति विदुषः इत्यादिना. इत्याशङ्क्य निशि न इति सूत्रभागेन

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

दहरविद्यायाम्. संशयमूलम् आहुः अत्र इति. पिङ्गलस्य वर्णविशेषविशिष्टस्य
सूर्याशस्यापि तस्य तथा इति प्राप्यते. संशयम् आहुः ओकोग्रेति. अस्मिन्नेव इति.
विदुषी इति अर्थः. पूर्वपक्षस्तु ऊहनीयः. सच इत्थम्. ओकोग्रज्वलनस्य यथासाधारण्यं
तथा रश्म्यनुसारित्वस्यापि इति. सिद्धान्तम् आहुः तत्र इति. अयमेव इति. विद्वानेव इति
‘एव’कारो अवधारणे ॥१८॥

सूत्रं व्याकुर्वन्ति विदुषः इति. विशेषोऽपि भविष्यति इति. भविष्यति चेद्

अयनकृतो वा सः भवेत्. तत्र आद्यकृतो नास्ति इति आह न इति. तत्र हेतुः सम्बन्धस्य इत्यादिः. अनुग्रहहेतुभूतो यः पूर्वोक्तो गत्यनुस्मृतिः सम्बन्धः तस्य यावद्देहभावित्वात् तत्कार्यस्य अनुग्रहस्यापि तथात्वात् कालस्य अप्रयोजकत्वम् इति अर्थः. अत्र प्रमाणम् आह दर्शयति यतः श्रुतिः. “तमेव विदित्वा मुनिः भवति एतमेव प्रव्राजिनो लोकम् ईप्सन्तः प्रव्रजन्ति” (बृहदा.उप.६।४।२२) इति ॥१९॥

हार्दानुग्रहस्य मुक्तिहेतोः विद्यमानत्वाद् अयनविशेषोऽपि अप्रयोजकः इति आह.

अतश्चायनेपि दक्षिणे ॥२०॥

स्पष्टार्थम् इदम् ॥२०॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

आशङ्क्य. तथाच निशि इति पदं मुक्तिप्रतिबन्धककालमात्रोपलक्षकम्. आह सूत्रकारः समाधानम् आह इति अर्थः. अत्र कालविशेषस्य मुक्तिप्रतिबन्धकत्वाभावे ॥१९॥

सूत्रम् अवतारयन्ति हार्देत्यादिना. स्पष्टार्थम् इदम् इति. “इति चेद् न” इति पूर्वसूत्राद् अनुवर्तनीयम्. तथाच चकारो निर्णयार्थकः. इत्थञ्च अयने दक्षिणेऽपि मुक्तिः न इति चेद् न इति अर्थः. अतःशब्देन पूर्वपक्ष-समाधानयोः पूर्वसूत्रादेव लाभात् स्पष्टार्थम् इदं सूत्रम् इति फलितम् ॥२०॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

निशि रात्रौ न सूर्यद्वारागमनं न इति आशङ्का इति अर्थः. तथाच रात्रौ अथ च दक्षिणायने मृतानां सूर्यद्वारा गमनाभावाद् विदुषां हार्दानुग्रहवद् अहरुत्तरायणं च अपेक्षितम् इति तदर्थं योगादिना शान्तनवभीष्मवत् तयोः प्रतीक्षा कर्तव्या इति गूढाभिसन्धिः आशङ्काकर्तुः इति भावः. सिद्धान्तं व्याकुर्वन्ति तत्र अहोरात्रकृतः इति. तत्र कालकृतविशेषे स भवेद् इति. विशेषो भवेद् इति अर्थः. आद्यकृतः इति. अहोरात्रकृतः इति अर्थः. अप्रयोजकत्वम् इति. परमुखनिरीक्षणवद् इति शेषः. तथाच मुक्तिं प्रति दिवसस्य कारणत्वं रात्रेः च प्रतिबन्धकत्वम् इति उभयमपि नास्ति इति भावः. स्पष्टम् अन्यत् ॥१९॥

अयनस्य अप्रयोजकत्वप्रतिपादकसूत्रम् अवतारयन्ति हार्दानुग्रहस्य इति. पूर्वसूत्राद् नेति चेद् न इति अनुवर्तते. तथाच दक्षिणे अयनेऽपि सूर्यं भित्त्वा गमनं न इति चेद् न, कुतः ? अतश्च पूर्वोक्ताद् हेतोः इति सूत्रार्थः स्पष्टएव इति आहुः. स्पष्टार्थम् इति ॥२०॥

ननु “यत्र काले तु अनावृत्तिम्” (भग.गीता ८।२२) इति काल-
प्राधान्येन उपक्रम्य “अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणं, तत्र प्रयाता
गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना” (तत्रैव ८।२५) इति भगवद्वाक्याद् ब्रह्मविदोऽपि
उक्तकालापेक्षा अस्ति इति आशङ्क्य विषयभेदेन समाधत्ते.

योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥२१॥

ज्ञानमार्गाद् योगमार्गो हि भिन्नः. तथाच योगिनम् उद्दिश्यैव
कालविशेषस्य गतिविशेषहेतुत्वं स्मर्यते, नतु ज्ञानमार्गीयस्य श्रौतस्य,
इतरनिरपेक्षत्वात्. नच योग-साङ्ख्येऽपि श्रौतेऽप्येव इति वाच्यम्. यतः स्मार्ते
एते. चो हेत्वर्थे. एते योगसाङ्ख्ये “अग्निर्ज्योतिः” (भग.गीता ८।२४) “धूमो
रात्रिः” (भग.गीता ८।२५) इति वाक्यद्वयोक्तगती वा. इदन्तु श्रुत्युक्त-
देवयान-पितृयानातिरिक्तमार्गम् अभिप्रेत्य समाहितम्. तेऽप्येव चेद् अत्रापि

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु यत्र काले इत्यादिना. अनावृत्तिम् आवृत्त्यभावम्.
इतरनिरपेक्षत्वाद् ‘हार्दानुगृहीत’स्य मुक्तौ अनुग्रहेतरानपेक्षणाद् इति अर्थः. गती वा
इति. सूत्रस्थैते इति पदस्य उक्तगतिद्वयम् अर्थः इति भावः. सूत्रे
साङ्ख्यबोधकपदाभावाद् एते इत्यनेन साङ्ख्यग्रहणम् अयुक्तम् अतः आहुः अग्निः
इत्यादि. इदन्तु स्मृत्युक्त-मार्गद्वयम्. तेऽप्येव छान्दोग्ये उक्ते देवयानपितृयानरूपे गतीऽप्येव.
अत्रापि स्मृतावपि. शब्दभेदेन ‘अग्न्या’दिशब्दभेदेन. न विरोधः श्रुति-स्मृत्योः न
विरोधः. तादृशश्रुत्युक्त-मार्गद्वयेऽपि प्रकारापेक्षासत्त्वाद् न विरोधः इति अर्थः. तथाच

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रम् अवतारयन्ति यत्र इति. आशङ्क्य इति. सूत्राद् बहिः इयम्
आशङ्का. व्याकुर्वन्ति ज्ञानमार्गाद् इति. इतरनिरपेक्षत्वाद् इति.
कालापेक्षत्वाभावात्. विद्यायाः पाक्षिकफलत्वं नास्ति इति भावः. अत्र आशङ्कते नच
इति. सूत्रेऽप्येव समाधानम् इति आहुः यतः इति. ननु सूत्रे ‘योगि’पदमेव अस्ति नतु
‘साङ्ख्य’पदम् अतः कथम् ‘एते’ इति पदेन योग-साङ्ख्ययोः ग्रहणम्? अतः आहुः
अग्निर्ज्योतिः इति. ननु छान्दोग्योक्त-देवयान-पितृयानगतीऽप्येव एते गती भवतः.
किञ्चित् शब्दवैलक्षण्येऽपि श्रौतत्वानपायात् कथम् एतयोः स्मार्तत्वम्? अतः आहुः
इदन्तु इति. तथाच सः श्रुत्युक्तो मार्गो भिन्नः, अयं च भिन्नः इति भावः. नच एवं चेत्
श्रुति-स्मृत्योः विरोधः. स्मृतौ श्रुत्युक्तमार्गकथनात्. नच तत्र विद्वान्, अत्रतु योगीति

उच्येते शब्दभेदेन, तदा न विरोधः ॥२१॥

इति चतुर्थाध्याये द्वितीयपादे सप्तमम् अतो न्याधिकरणम् ॥७॥
इति श्रीवेदव्यासमतवर्ति-श्रीवल्लभाचार्यविरचिते ब्रह्मसूत्राणुभाष्ये
चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः
हार्दानुगृहीतमुक्तौ न अन्यापेक्षागन्धोऽपि इति फलितम् ॥२१॥६॥

इति श्रीवल्लभजीसुत-गोस्वामि-श्रीगोपालजीकृते अणुभाष्यपदप्रदीपे
चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥२॥

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्
विषयभेदाद् न विरोधः इति वाच्यम्. योगि-विदुषोः मार्गैक्यमेव. तत्र कालापेक्षा, अत्र ।
नास्ति इत्यतः तथैव अस्तु इति आहुः तएव इति ॥२१॥

इति श्रीमन्मुकुन्दरायसहजमाधुरीपरमानिर्वचनीयसरसवदनतामरससुधाहृदावगाहि
श्रीमदाचार्यपदाब्जकृपापारसारश्रीमत्प्रभुचरणात्मज-
महाराजयदुनाथकुलोद्भवगोस्वामिश्रीगोपालात्मजगिरिधररचिते
अणुभाष्यविवरणे चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तिम् अफाणीत्

चतुर्थो अध्यायः तृतीयः पादः

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः॥१॥ (४।३।१)

ननु ज्ञानमार्गीयस्येव मर्यादामार्गीयभक्तस्यापि अर्चिरादिमार्गेणैव गमनम् उत सद्योमुक्तिरेव भवति? इति संशयः. तत्र यथा ज्ञानिनो नियमाभावः तथा अत्रापि इति प्राप्ते आह.

अर्चिरादिमार्गेण तस्य ज्ञानमार्गीयस्यैव उत्कर्षकथनात् सएव तेन मार्गेण गच्छति, नतु भक्तोऽपि इति अर्थः. तथाहि. पञ्चाग्निविद्याप्रकरणे “तद् य इत्थं विदुः ये च इमे अरण्ये श्रद्धा तप इति उपासते ते अर्चिषम् अभिसम्भवन्ति अर्चिषो अहर् अह्नः आपूर्यमाणपक्षम्” (छान्दो.उप. ७।१०।१) इत्यत्र उपक्रमे भक्तातिरिक्तानेव अधिकृत्य तथा गतिः उच्यते. स्मृतावपि “अग्निर्ज्योतिरहः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

द्वितीयपादे प्रथमतः पुष्टिमार्गीयस्य सद्योमुक्तिप्रकारो दर्शितः. ततो मर्यादामार्गीयस्य सद्योमुक्तिप्रकारो दर्शितः. तदनन्तरं मुक्तोत्क्रमद्वारादिकं प्रदर्शितम्. तृतीयचरणेतु हृदयान्निर्गतस्य मुक्त्यधिकारिणो ब्रह्मप्राप्तिमार्गो ब्रह्मलोकप्रकारश्च निरूप्यते. अत्र अधिकरणम् अवतारयितुं संशयादिकम् आहुः ननु इत्यादिना. पूर्वपक्षम् आहुः तत्र यथा इत्यादिना.

सिद्धान्तम् आहुः अर्चिरादिना इत्यादिना. भक्तातिरिक्तान्

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

पूर्वं सद्योमुक्तिप्रकारः उत्क्रमणविचारो दर्शितः. इदानीं ब्रह्मप्राप्तिप्रकारः उच्यते. तत्र प्रथमाधिकरणं वक्तुं संशयादिकम् आहुः ननु इति. ज्ञानापेक्षया भक्तेः आधिक्याद् भक्तः साधनाधिको अर्चिरादिनैव गमिष्यति इति उत्कटकोटिको अयं संशयोऽपि बोध्यः. पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इति. यत्र साधनाधिक्यं तत्र अर्चिरादिः इति भक्तावपि सत्त्वात् सएव तत्र मार्गः इति पूर्वः पक्षः. सिद्धान्तम् आहुः आह इति.

सूत्रार्थम् आहुः अर्चिरादीति. सूत्रे अर्चिरादिना इत्यस्य व्याख्यानम् आहुः अर्चिरादिमार्गेण इति. तत्प्रथितेः इत्यस्य व्याख्यानम् आहुः तस्य इति. ‘प्रथ’ प्रख्याने. ‘प्रथनं’ प्रख्यातिः प्रसिद्धिः. तथाच तस्य ज्ञानमार्गीयस्य उपनिषदि प्रथितेः उत्कर्षकथनाद् इति अर्थः. उपनिषद् आहुः तथाहि इति. उपक्रमे इति. “तद् य इत्थम्” (छान्दो.उप. ७।१०।१) इत्यादिना तपसः श्रवणात् कर्मणः प्रतिपादनं नतु भक्तेः. तेन कृत्वा किं ज्ञायते. विदुषामेव अर्चिरादिः नतु भक्तानाम् इति अर्थः. ननु

शुक्लः” (भग.गीता ८।२४) इत्यत्र “ब्रह्मविदो जनाः” (तत्रैव) इतिवचनेन ज्ञानमार्गीयस्यैव सः पन्थाः उच्यते.

अथ इदं चिन्त्यते : सामोपनिषत्सु पठ्यते “अथ या एता हृदयस्य नाड्यः ताः पिङ्गलस्य अणिमः तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्य इति असौ वा आदित्यः पिङ्गलः” (छान्दो.उप.१०।६।१) इत्युपक्रम्य आदित्यरूपस्य पिङ्गलस्य रश्मिरूपत्वं नाडीनाम् उक्त्वा, अग्रे वदति “अथ यत्र एतद् अस्मात् शरीराद् उत्क्रामति अथ एतैरेव रश्मिभिः ऊर्ध्व आक्रमते” (छान्दो.उप.९।६।१) इति नाडी-रश्मिसम्बन्धेन एका परलोकगतिः श्रूयते अर्चिरादिका च अन्या, “ते अर्चिषम् अभिसम्भवन्ति अचिर्षो अहः” (छान्दो.उप.५।१०।१) इत्यादि श्रुत्युक्ता. “स एनं देवयानं पन्थानम् आपद्य अग्निलोकम् आगच्छति” (कौषी.उप.१।३) इति च अपरा. “स यदा वै पुरुषो अस्माद् लोकात् प्रैति स वायुम् आगच्छति” (बृहदा.उप.५।१) इति च इतरा.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पञ्चाग्निविद्यावतो अरण्ये श्रद्धया तपः चरतश्च. तथा अर्चिरादिमार्गेण. सः पन्थाः अर्चिरादिमार्गः. तथाच मर्यादामार्गीयभक्तस्य सद्योमुक्तिरेव इति अर्थः.

मर्यादामार्गभक्तानाम् एकान्ततः सद्योमुक्तिरेव इति न निर्णेतुं शक्यते, बहूनां मुक्तिमार्गाणां सत्त्वात्. एवं बहूनां मुक्तिमार्गाणां भेदो अस्ति न वा इति चिन्त्यन्ते इति अर्थः. पठ्यते विद्याभेदेन गतिभेदः पठ्यते इति अर्थः. श्रुतयस्तु दहरविद्यास्था “ते अर्चिषम्” इति पञ्चाग्निविद्यास्था. “स एनं देवयानम्” (कौषी.उप.१।३) इति कोशी-तकीब्राह्मणस्था. “स यदा वै पुरुषः” (बृहदा.उप.५।१०।१) इति बृहदारण्यस्था.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

भवतु तथापि मर्यादाभक्तानां सद्योमुक्तिः. किमर्थम्? अर्चिराद्यतिरिक्तानामपि मार्गाणां श्रुतौ श्रवणात्.

किञ्च सूत्रकृतापि एकएव अर्चिरादिः किमर्थम् उक्तः? इति आशङ्क्य आहुः अथ इदम् इति. ननु कुत्र-कुत्र मार्गबहुत्वं श्रुतम्? इत्यतः आहुः सामोपनिषत्सु इति. पठ्यते विद्याभेदेन मार्गभेदः पठ्यते. तत्र प्रथमतो दहरविद्यास्थं वाक्यम् आहुः अथ या एता इत्यादिना श्रूयते इत्यन्तेन. द्वितीयां गतिम् आहुः अर्चिरादिकेति. तत्र पञ्चाग्निविद्यास्थं वाक्यम् आहुः ते अर्चिषम् इति. तृतीयां गतिम् आहुः स एनम् इति. इदं च वाक्यं कौषीतकिब्राह्मणे पर्यङ्कविद्यास्थम्. चतुर्थीम् आहुः स यदा इति. इदं

“सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति” (मुण्ड. उप.१।२।११) इति च अन्या. एवम् अनेकेषु मार्गेषु सत्सु अर्चिरादेरेव उक्तिः कुतः इति. तत्र सर्वेषां पारिभाषिकम् अर्चिरादित्वम्, अतएव “अथ एतयोः पथोर्न कतरेण च न” (छान्दो.उप.५।१०।८) इति मार्गद्वय-भ्रष्टानाम् अतिकष्टं “जायस्व म्रियस्वेति तृतीयं स्थानम्” (छान्दो. उप. ५।१०।८) इत्युक्तम्, अन्यथा अनेकेषां मार्गाणाम् उक्तानां श्रूयमाणत्वाद् अस्य तृतीयत्वं न उच्येत. अतः प्रकरणभेदाद् भिन्नोपासनशेषत्वाद् मिथो अनपेक्षा भिन्नाएव एते मार्गाः ब्रह्मप्रापकाः इति मन्तव्यम् इति चेद्, तत्र उच्यते.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

“सूर्यद्वारेण” (मुण्ड.उप.१।२।११) इति प्रथममुण्डकस्था. एवं पूर्वपक्षे प्राप्ते एकदेशी समाधातुं प्रतिवदति तत्र इत्यादिना. सर्वेषां पूर्वश्रुत्युक्त-सर्वमार्गाणाम्. पारिभाषिकं साङ्केतिकम्. एतयोः पूर्वश्रुत्युक्ताः सर्वमार्गाः पारिभाषिक एको अर्चिरादिमार्गः सः देवयानमार्गो, द्वितीयः पितृयानमार्गः एतयोः अन्यो ‘जायस्व’इत्यादिरूपः तृतीयमार्गः इति अर्थः. अन्यथा पूर्वोक्तानाम् अनेकेषां मार्गाणां वास्तवैकत्वाङ्गीकारेण पारिभाषिकैकत्वानङ्गीकारे च इति अर्थः. भिन्नाएव साङ्केतिकैकत्वाङ्गीकारेऽपि वस्तुतो भिन्नाएव इति अर्थः. एते पूर्वश्रुतिभिः उक्ताः. एवम् एकदेशी स्वसिद्धान्तम् उक्तपूर्वपक्षोपरि उक्त्वा तत्पूर्वपक्षोपरि अन्येन केनचित् कृतं समाधानं दूषयितुं तदनुवदति तत्र उच्यते इत्यादिना.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

वाक्यं बृहदारण्यके अनात्मोपासन-गतिफलकथने. पञ्चमीम् आहुः सूर्यद्वारेण इति. इदं च वाक्यं प्रथममुण्डके अन्ते. एतावता श्रुत्युक्तमार्गभेदो दर्शितः.

इदानीं सूत्रे एकएव मार्गः उक्तः, तत्र किं कारणम्? इति पृच्छति एवम् इति. मार्गास्तु पञ्चैव. सूत्रे एकएव मार्गो अयम् उक्तः. तत्र एकत्वं पारिभाषिकम् इति पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इति. पारिभाषिकम् इति. एते पञ्च मुक्तिमार्गाः ‘अर्चिरादि’पदेन व्यवहर्तव्याः इति आधुनिकसङ्केतः परिभाषा तत्सिद्धम् इति अर्थः. तथाच वास्तवे अर्चिरादिः एको नास्ति इति भावः. अत्र उपष्टम्भकम् आहुः अतएव इति. पारिभाषिकत्वादेव इति अर्थः. अन्यथा इति. वास्तवार्चिरादित्वे स्वीकृते. श्रूयमाणत्वाद् इति. ब्रह्मप्रापकतया इति शेषः. पूर्वपक्षिणा एवं स्वमते उद्भाविते तत्र एकदेशिकृतं समाधानम् आहुः तत्र उच्यते इति.

न हि इयं परिभाषा सर्वेषु श्रुता अस्ति, यतः तथा उच्येत. अतो लाघवाद् अनेकपर्वविशिष्टः एकएव मार्गः इति मन्तव्यं, नतु पर्वभेदेन मार्गभेदः इति, गौरवप्रसङ्गात्. नच एवम् “अथ एतैरेव रश्मिभिः” इति अवधारणा-नुपपत्तिः इति वाच्यम्. तस्याः श्रुतेः उत्क्रमणमात्रमार्गनिरूपकत्वात्. तथाहि. तत्र उपक्रमे हि “अथ यत्र एतद् अस्मात् शरीराद् उत्क्रामति अथ एतैरेव रश्मिभिः ऊर्ध्व आक्रमते”(छान्दो.उप.१०।६।५) इति उच्यते. एतस्मात् पुरस्ताद् “अथ या एता हृदयस्य नाड्यः”(छान्दो.उप.१०।६।१) इत्युपक्रम्य पिङ्गलस्य आदित्यत्वम् उक्त्वा,

“तद् यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छति इमं च अमुं च एवमेव एता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्ति इमं च अमुं च अमुष्माद् आदित्यात्

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सर्वेषु श्रुता सर्वेषु विद्वत्सु प्रसिद्धाः. तथा उच्येताम् एकेषु तेषु पारिभाषिकैकत्वम् उच्येत इति अर्थः. ननु इत्यादि. तथाच एकस्य अनेकावयवेषु पर्वत्वप्रसिद्धेः तेषां पृथक्प्राधान्याङ्गीकारे पर्वत्वमेव न भवत्येव इति अर्थः. गौरवप्रसङ्गात् तेषां पृथक्कार्य-कारणभावाङ्गीकारे गौरवात्. पुनः श्रुत्या मुक्तिमार्गान् एकत्वम् आशङ्क्य निषेधति नच इत्यादि. एवं मुक्तिमार्गस्य एकत्वे. अवधारणेत्यादि. तथाच एतस्यापि एकमार्गत्वाद् इतरपर्वत्वाभावाच्च कथं मार्गैकत्वम्? इत्याशङ्का. “अथ एतैरेव” इत्यस्य मुक्तिमार्गखण्डने हेतुः तस्याः इत्यादि. उत्क्रमणेत्यादि. तथाच उत्क्रमणमार्गएव एतच्छ्रुतिप्रतिपाद्यो नतु मुक्तिमार्गइति न तन्मार्गनानात्वम् इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

श्रुता अस्ति इति. एतादृशपरिभाषायाः सर्वत्र श्रवणाभावात् पारिभाषिकत्वं न वक्तव्यम् इति अर्थः. तर्हि कथं वक्तव्यम्? इत्यतः आहुः अतो लाघवाद् इति. पर्वप्रत्यभिज्ञानलिङ्गेन मार्गैकाङ्गीकारे लाघवाद् इति अर्थः. गौरवप्रसङ्गाद् इति. मार्गाणाम् अनेकत्वं, कस्यचिद् निकटत्वं कस्यचिद् दूरत्वकल्पनेन गौरवप्रसङ्गाद् इति अर्थः. अनेकत्वं शङ्कते नच इति. निषेधति तस्याः इति. तदेव विशदयन्ति तथाहि इत्यादिना. तत्र “अथ एतैरेव” इति रश्मिवाक्ये. आक्रमते इति. शरीराद् ऊर्ध्वम् उत्क्रमः उच्यते इति अर्थः.

ननु तद्यथा महापथेत्यादिना महापथदृष्टान्तेन मार्गत्वं बोध्यते इति आशङ्कायाम् आहुः एतस्मात् पुरस्ताद् इत्यादिना. महापथदृष्टान्तान्ते उक्तत्वाद् उत्क्रान्तिमार्गत्वमेव नाडीनां वक्तव्यम् इति अर्थः. अन्यदपि प्रकारान्तरम् आहुः

प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते ते अमुष्मिन् आदित्ये सृप्ता” (छान्दो.उप.१०।६।२)

इत्यन्तेन वाक्येन नाडीषु रश्मिप्रचारम् उक्त्वा, अग्रे “अथ यत्र एतद् अस्माद्” (छान्दो.उप.१०।६।५) इत्याद्युक्तम्. उपसंहारे च

“शतं चैका हृदयस्य नाड्यः तासां मूर्धानम् अभिनिः-
सृतैका तथा ऊर्ध्वम् आयन् अमृतत्वम एति विष्वङ्-इत्या उत्क्रमणे
भवन्ति” (छान्दो.उप.१०।६।६) इति.

एवम् उपक्रमोपसंहाराभ्याम् उत्क्रमणमात्रमार्गनिरूपकत्वं, नतु ब्रह्म-
प्रापकमार्गस्य, अतः तदनुपपत्तिपरिहारो अनर्थकः.

ननु अनेकपर्वविशिष्टत्वेन मार्गस्य एकत्वे तं निरूपयन्ती श्रुतिः क्वचित्
किञ्चित् पर्व निरूपयति, क्वचिद् न इति कथम्? उपसंहारेण प्राप्स्यन्ते इति
तात्पर्येण तथा इति चेद्, ब्रवीषि, तदा शाखान्तरम् अविदुषः तदसम्भवेन तं प्रति
श्रुते न्यूनतापातः. न हि सर्वशाखाविदं प्रत्येव कथनम् इति वक्तुम् उचितम्,
तस्य असम्भवात्. अतः स्वस्वशाखाज्ञानवन्तं प्रत्येव तथा, अध्ययनविधेरपि

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उत्क्रमणमात्रपदेन मुक्तिमार्गप्रतिपादकत्वव्युदासः. तत्र उपक्रमे उत्क्रमणमार्गोपक्रमे.
तदनुपपत्तीत्यादि. एतच्छ्रुतिप्रतिपाद्यस्य मुक्तिमार्गत्वाभावेन एतदर्थस्य परिहारो
अनर्थकएव इति अर्थः.

एकमार्गवादिमतं दूषयितुं पृच्छति ननु इत्यादि कथम् इत्यन्तेन.
एकमार्गवादिमतं दूषयितुं तन्मते समाधानम् आह उपसंहारेण इत्यादि. उपसंहारेण
सर्वशाखोक्तपर्वणां लाभो भविष्यति इति. तथा एकमार्गसिद्धान्ततोपसंहारेण
एकमार्गता. समाधानं दूषयति इति चेद् इत्यादिना. तदसम्भवेन सकलपर्वोप-
संहारासम्भवेन. न्यूनतापातो निखिलपर्वविशिष्टैकमार्गबोधकत्वाभावापत्तिः इति
अर्थः. कथनं श्रुतेः मुक्तिमार्गकथनम्. तस्य असम्भवात् सर्वशाखाविदः इदानीं कलौ

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

उपसंहारेति. उक्तार्थं द्रढयन्ति एवम् इति. तदनुपपत्तिः इति. ब्रह्मप्रापकमार्गानुपपत्तिः
इति अर्थः. एकएव मार्गः इत्यत्र दूषणम् उद्भावयन्ति ननु इति. अत्र अवान्तरसमाधानम्
आहुः उपसंहारेण इति. तद् दूषयन्ति तदा इति. सर्वशाखाध्ययनासम्भवम् आहुः
अध्ययनविधेः इति.

तावन्मात्रपरत्वात्. शाखान्तरसंवादिपर्वकथनानुपपत्तिश्च. उपसंहारेणैव तस्यापि प्राप्तिसम्भवात्. अतो विरुद्धदिक्कानां स्व-स्वमार्गेण एकग्रामप्राप्तिवद् इहापि भवितुम् अर्हति. स्वातन्त्र्येण सर्वैः मार्गैः ब्रह्मप्राप्तिः. नच एवम् “अथ एतयोः पथोः” (छान्दो.उप.७।१०।८) इति द्विवचनानुपपत्तिः, “जायस्व म्रियस्व” (छान्दो.उप.७।१०।८) इत्यस्य तृतीयत्वं च अनुपपन्नम् इति वाच्यम्. अर्चिरादिकम् उक्त्वा उपसंहरति “एषः देवयानः पन्था” (छान्दो.उप. ७।१०। २) इति. श्रुत्यन्तरे च, “स एनं देवयानं पन्थानम् आपद्य अग्निलोकम् आगच्छति” (कौषी.१।३) इति. तथाच ब्रह्मप्रापकाः सर्वे मार्गाः देवयाना इति उच्यन्ते. “दैवी सम्पद् विमोक्षाय” (भग.गीता १६।५) इति भगवद्वाक्याद् दैव्यां सम्पदि ये जाताः, ते देवाः इति उच्यन्ते. तेषां यानं गमनं यत्र इति ते सर्वेऽपि मार्गाः ‘देवयान’शब्देन उच्यन्ते. द्वितीयस्तु अविशिष्टः. एवं द्वित्वं

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अधिकारिणः श्रोतुः असम्भवाद् इति अर्थः. अतः सर्वशाखाविदो असम्भवतः. तथा श्रुतेः मुक्तिमार्गबोधनम्. तावन्मात्रम् एकशाखाध्ययनमात्रम्. शाखान्तरसंवादीत्यादि. तथाच शाखान्तरप्रसिद्ध-मुक्त्यङ्गानां शाखान्तरे प्रतिपादितत्वं न उचितं स्याद् इति अर्थः. तत्र हेतुः उपसंहारेण इत्यादि. तथाच अङ्गिप्रयोजनाभेदयोः उपसंहारप्रयोजकयोः सत्त्वाद् उपसंहारेणैव अर्थसिद्धेः शाखान्तरसंवादिपर्वणः शाखान्तरे कथनम् अनुपपन्नम् इति अर्थः. एवम् एकमुक्तिमार्गवादिनं दूषयित्वा एकदेशी स्वसिद्धान्तं स्थापयति अतो विरुद्धेत्यादि. विरुद्धदिक्कानां मध्यस्थग्रामस्य चतुर्दिक्षु विद्यमानलोकानाम्. इहापि इत्यादि. नानामुक्तिमार्गीयाणां स्व-स्वमार्गेणैव ब्रह्मप्राप्तिः इति अर्थः. एवं मुक्तिमार्गाणां नानात्वम्. द्वितीयः पितृयानमार्गः. द्वित्वं देवयान-पितृयानमार्गौ आदाय

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

तावन्मात्रेति. पितृपितामहाप्राप्तशाखाध्ययनमात्रपरत्वाद् इति अर्थः. अनुपपत्तौ हेतुम् आहुः उपसंहारेण इति. वस्तूनाम् अभेदात् फलाभेदाच्च जायमानो यः उपसंहारः तेन इति अर्थः. तस्यापि शाखान्तरे अनुक्तपर्वणः इति अर्थः. एतावता प्रबन्धेन अपरोक्तं दूषितम्. इदानीं स्वमतम् आहुः अतः इति. विरुद्धेति. प्राचीविरुद्धा प्रतीची. एवंरीत्या सर्वदिक्स्थितानाम् इति अर्थः. ब्रह्मप्राप्तिः इति. भवितुम् अर्हति इति पूर्वेण अन्वयः.

द्विवचनाद्यनुपपत्तिं शङ्कते नच इति. परिहरन्ति अर्चिरादिकम् इति.

त्रित्वं च उपपद्यते. नच उक्तरीत्या लाघवाद् एकएव सः मन्तव्यः. स्वतःप्रमाणभूता हि श्रुतिः. सा येन यदा या श्रुता, तदर्थविधारणे द्वितीयस्याः अनुपस्थितत्वाद् न लाघवगौरवतद्विचारावसरः. क्वचिद् उपस्थितौ च उक्तबाधकैः उपसंहारानवकाशः.

अपरञ्च. ब्रह्मविदः क्रममुक्तौ गन्तव्यो मार्गोहि अयम् उपदिश्येत. तत्तल्लोके तदानन्दानुभवश्च आवश्यकः. तथाच उपासनभेदात् फलभेदस्य आवश्यकत्वात् मार्गभेदोऽपि तथेति सर्वेषु एकरूपफलप्रसज्जकः उपसंहारो न युक्तः. किञ्च, उपासने कर्मणि च उपसंहारः सम्मतः. मार्गस्तु न अन्यतररूपः, अतो यस्य उपासकस्य येन मार्गेण गमनं, सः मार्गः उपदिश्यतइति न उपसंहारो

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

द्वित्वं त्रित्वं च 'जायस्व' इतिमार्गम् आदाय बोध्यम्. उक्तरीत्या मार्गनानात्वकल्पने गौरवाद् नानापर्वविशिष्टो मुक्तिमार्गः. द्वितीयस्य द्वितीयमुक्तिमार्गस्य इति अर्थः. न इत्यादि. तथाच द्वयोः उपस्थितौ लघुपक्षोपादानं गुरोः त्यागोनुपस्थितौतु विचारानवसरएव इति अर्थः. क्वचिद् उपस्थितौ कस्यचिद् एकशाखाध्यायिनो नानाशाखाध्ययनवशाद् नानाशाखीयमुक्तिमार्गाणाम् उपस्थितौ लाघवगौरवविचार-प्रसक्तावपि इति अर्थः. उक्तबाधकैः स्वाध्यायविधिबलाद् एकशाखाध्ययनं तदर्थमेव च शाखाविभागः एकशाखानुसरणेन स्वस्य सर्वशास्त्रार्थसम्पत्त्या शाखान्तरीयोपसंहारे प्रयोजनाभावश्च इति उक्तबाधकैः इति अर्थः.

परोक्तं दूषयित्वा स्वमते युक्त्यन्तरं वदति अपरञ्च इत्यादिना. मार्गो मुक्तिमार्गः. न अन्यतररूपो न कर्मोपासनयोः मध्ये एकरूपोऽपि इति अर्थः. उपसंहारे

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

लाघवम् आशङ्क्य दूषयन्ति नच इत्यादिना. दूषणप्रकारम् आहुः स्वतः इति. येन यच्छाखाध्ययनकर्त्रा. बहुशाखाध्यायिनो अनेकमार्गज्ञानाद् गौरव-लाघवविचार-तादृगवस्थ्यम् आशङ्क्य निषेधति क्वचिद् इति. उक्तबाधकैः इति. शाखान्तर-संवादिपर्वकथनानुपपत्तिरूपैः इति अर्थः.

स्वमते युक्तिम् आहुः अपरञ्च इति. तत्तल्लोके इति. इन्द्रादिलोके अमृतपानाद्यानन्दानुभवः पुराणप्रसिद्धत्वाद् आवश्यकः इति अर्थः. मार्गभेदोऽपि तथा इति. मार्गभेदोऽपि आवश्यकः इति अर्थः. उपसंहारे बाधकम् आहुः किञ्च इति. न अन्यतररूपः इति. उपासनकर्मान्यतररूपो नास्ति इति अर्थः. ननु मास्तु अन्यतररूपत्वं

युक्तः. अविधेयत्वादपि तथा. एतद् यथा-तथा पुरस्ताद् निरूपितम् “उपसंहारो अर्थाभेदाद् विधिशेषवत् समाने च” (ब्रह्मसू.३।३।५) इत्यत्र. एवं सति ‘अर्चिः’शब्देन अर्चिरूपलक्षितो मार्गः उच्यते. ‘आदि’पदेन अन्ये सर्वे मार्गाः संगृह्यन्तइति न अनुपपत्तिः काचिद् इति चेत्, अत्र वदामः. ‘अर्चिरादिभ्यः’ इति उक्तं भवेत्, त्वद्रीतिरेव चेद् अभिप्रेता भवेत्, तस्माद् न एवम् इति अवधार्यते. अर्चिरादिना इति एकवचनान्यथानुपपत्त्या मार्गस्य एकत्वम् अवश्यम् ऊरीकार्यम्. एवं सति श्रुतिषु यावन्ति पर्वाणि उक्तानि तानि सर्वाणि एकस्मिन्नेव अर्चिरादिमार्गे वर्तमानान्यपि यस्य उपासकस्य यावत् पर्वभोगो भावी, तं प्रति तावत् पर्वोक्तिः, यस्य यावतां तेषां सः न भावी तं प्रति न तदुक्तिः, तद्भोगा-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

दूषणान्तरम् आहुः अविधेयत्वाद् इति. उपसंहारस्य अविहितत्वात् तथा भवति इति अर्थः. ननु अविहितत्वं कुत्र उपसंहारे दृष्टं तत्स्थलम् आह एतद् यथा इत्यादि. तन्निरूपितम् इति. निरूपणप्रकारे हि समाने यो अर्थाभेदाद् उपसंहारः सः विधिशेषा ये अग्निहोत्रादयः तद्वद् इति उक्तम्. अग्निहोत्रादयो हि सर्वेषां समाना अपि येषां शाखिनां दशाङ्गविशिष्टाः विहिताः तेषामेव ते तथा अनुष्ठेया न इतरेषाम्, तथाविधानाभावात्. एवं यद्यत्पर्वविशिष्टो मुक्तिमार्गो यद्यच्छाखायाम् उक्तः तेन मार्गेणैव तस्य-तस्य सकलशास्त्रार्थसम्पत्त्या कृतार्थतासम्भवात् तत्तन्मार्गस्य तत्तच्छास्त्रीयं प्रत्येव विहितत्वाद् न उपसंहारशङ्कालेशोऽपि इति भावः. सिद्धिम् आह एवम् इत्यादि. एवम् उक्तरीत्या अन्यमुखेन पूर्वपक्षम् उक्त्वा सिद्धान्तम् आहुः अत्र वदामः इत्यादिना. तस्मात् सूत्रे बहुवचनाभावात्. न एवं न वाद्युक्तरीत्या मार्गभेदः इति अर्थः. तद्भोगाभावात् तत्र तावत् पूर्वोक्तभोगाभावात्.

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

तथापि ब्रह्मप्राप्तिरूपप्रयोजकनैकस्य सत्त्वाद् उपसंहारः कुतो नास्ति इत्यतः आहुः अविधेयत्वाद् इति. अविधेयत्वस्य बाधकत्वं पूर्वमेव उक्तम् इति आह एतद् इति. अग्निहोत्रन्तु सर्वेषां समानमेव परन्तु आपस्तम्बैः स्वशाखोक्तमेव कर्तव्यं न आश्वलायनोक्तम्. एवम् उपासनशेषे यत्पर्वको मार्गः कथितः तं प्रति सएव मार्गो विधेयः. एवञ्च अन्यान् प्रति तादृशमार्गस्य अविधेयत्वमार्गोपसंहारो न युक्तः इति मन्तव्यम्. एवं सति सिद्धम् आहुः एवं सति इत्यादि. सिद्धान्तम् आहुः अत्र इति. ऊरीकार्यं स्वीकार्यम्. तथा सति उपपादयन्ति एवं सति इति.

भावादिति न अनुपपन्नं किञ्चित्. ननु त्वयापि अनुक्तानां पर्वणां तत्र स्थितिं वदतोपसंहारएव उक्तो भवति प्रापकत्वेन इति चेत्, स्याद् एतद् एवं, यदि तस्यैव गन्तुः भोगाय तदपि पर्वः तत्र उच्येत, नतु एवं, किन्तु एकवचनानुरोधाद् मार्गैक्ये निश्चिते यं प्रति यत् पर्व उच्यते, तत् तत्र कण्ठोक्तमेवेति न उपसंहारापेक्षा. अग्रे अन्यत्र उक्तानां पर्वणाम् उक्तस्थले सन्निवेशोक्त्यापि सूत्रकाराभिमतः एकएव मार्गः इति ज्ञायते. श्रुतौ सर्वत्र पूर्वपरामर्शादपि तथा॥१॥

वायुम् अब्दाद् अविशेषविशेषाभ्याम्॥२॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तत्र एकस्मिन् मार्गे. तस्य एकस्य मुक्त्यधिकारिणः. तदपि तद्भोगार्थेतरदपि. एकस्मिन् मार्गे यं प्रति यं मुक्त्यधिकारिणं प्रति. तत् पर्व. तत्र मार्गे. कण्ठोक्तमेव तस्य भोगार्थमेव इति अर्थः. अग्रे अग्रिमसूत्रे. अन्यत्र उक्तानाम् अन्यशाखोक्तानाम्. अनुक्तस्थले शाखान्तरीयोपासकभोगार्थम्. पूर्वपरामर्शाद् “अर्चिषोहरहन आपूर्य-माणपक्षम्”(छान्दो.उप.४।१५।५) इत्यादिश्रुतिभिः अर्चिर्मार्गस्य एकस्यैव सर्वत्र परामर्शाद् इति अर्थः. तथा मार्गैक्यम्. इत्थं च ज्ञानिनामेव क्रममुक्तिः मर्यादामार्गीय-भक्तानान्तु सद्योमुक्तिरेव इति सिद्धम्॥१॥

अनुक्तपर्वस्थलम् उदाहर्तुं सूत्रम् अवतारयन्ति छान्दोग्ये इत्यादिना. तत्र

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

न अनुपपन्नम् इति. यतो जनपदप्रापकः एकः नानाग्रामयुक्तो मार्गः. तत्र कश्चित् पुरुषः कस्मिंश्चिद् ग्रामे निवासं करोति, अन्यस्मिन् अन्यः, एवंरीत्या अत्रापि इति न अनुपपन्नम् इति अर्थः.

एवंरीत्या कथने उपसंहारो अस्ति इति आशङ्कते ननु इति. प्रापकत्वेन इति. पर्वप्राप्तत्वेन इति अर्थः. परिहरन्ति स्याद् एतद् इति. कण्ठोक्तम् इति. यद् यत्र उक्तं तत्तेन भुज्यते न अन्येन इत्यतः उपसंहारापेक्षा नास्ति इति अर्थः. ननु मया यो मार्गभेदः स्वीकृतः सोऽपि समीचीनः पक्षः इति प्रतिभाति इत्यतः आहुः अग्रे इति. सूत्रम् इति शेषः. पूर्वपरामर्शाद् इति. अर्चिषो अहरहः पूर्वपक्षः इत्यादिरूपाद् इति अर्थः. अत्र इदं सिद्धं, मर्यादाभक्तानां सद्योमुक्तिः पूर्वमेव उक्ता, ज्ञानिनान्तु मार्गान्तराभावाद् अर्चिरादेः उक्तत्वात् क्रममुक्तिः इति ॥१॥

यत्र पर्व न उक्तं तादृशं स्थलमेव नास्ति इत्यतः मार्गस्य एकत्वं न वक्तव्यम् इति आशङ्कायां मार्गैकत्वं स्थिरीकर्तुम् अग्रिमं सूत्रं पठति इति अभिप्रायेण सूत्रम्

छान्दोग्ये वायुः न पठ्यते. कौशीतकिश्रुतौतु

“स एतं देवयानं पन्थानम् आपद्य अग्निलोकम् आगच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्” (कौशी.उप.१।३)

इति वाय्वादयः श्रूयन्ते. तत्र अर्चिषो अग्नेश्च अभेदाद् न विचारणीयम् अस्ति. वायुलोकं कस्माद् लोकाद् गच्छति? इति आकाङ्क्षायाम् आह वायुम् अब्दाद् इति.

“अर्चिषो अहः अह्न आपूर्यमाणपक्षम् आपूर्यमाण-पक्षाद् यान् षडुदङ्ङेति मासांन् तान् मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सराद् आदित्यम्” (छान्दो.उप.४।१५।५)

इति अत्र संवत्सरलोकात् परस्ताद् वायुलोको निवेशयितव्यः. तथाच संवत्सरलोकाद् वायुलोकं गच्छति इति अर्थः. तत्र विनिगमकम् आह अविशेष-विशेषाभ्याम् इति. अत्र इदं ज्ञेयम् : अग्निहोत्रादिकर्मभिः चित्तशुद्धौ उपासनाभिः ज्ञानोदये क्रममुक्त्यधिकारी हि तत्तल्लोकं गत्वा भुक्त्वा अन्ते ब्रह्म प्राप्नोति. कर्मतु अग्निसाध्यं भूलोकएव च भवति. अतः आदौ तत्रत्यो भोगः, ततः तदुपरितनलोकानाम्. “पृथिवी दीक्षा तया अग्निदीक्षया दीक्षितः” (तैत्ति. ब्राह्म.३।७।७). “यथा पृथिवी अग्निगर्भः” (आप.कल्प.१।१३।५) इत्यादि-श्रुतिभ्यो भूः अग्निप्रधाना भवति. अतो अर्चिराख्यम् अग्निलोकम् आदौ गच्छति. ततः कर्मोपासनयोः अहरादिसंवत्सरान्ते काले विहितत्वात् तत्र-तत्र गत्वा भुङ्क्ते. तथाच संवत्सरान्तानां भूसम्बन्धित्वेन अविशेषात् तन्मध्ये वायोः न प्रवेशः. भूलोकाद् उपरि अन्तरिक्षलोकः तदुपरि द्युलोकः, तथाच “वायुर-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

विनिगमकं संवत्सरलोकाद् वायुलोकगमने विनिगमकम्. अविशेषविशेषौ कौ वा? इति आकाङ्क्षायां तौ विवेक्तुम् आहुः अत्र इदम् इति. अत्र सूत्रे. इदम् अविशेष-विशेषयोः निर्वचनम्. एवञ्च अर्चिरादिसंवत्सरान्तानां भूसम्बन्धोविशेषो वायोः अधोलोकाधिपत्यम् आदित्यस्य च तदुपरि लोकाधिपत्यम् इति विशेषः ताभ्याम् अविशेष-विशेषाभ्याम् इति अर्थः. तावेव उपपादयन्ति अग्निहोत्रेत्यादिना.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अवतारयन्ति छान्दोग्ये इति. श्रुतौतु इति. श्रूयन्ते इति अग्रिमेण अन्वयः. हेतुवाक्यं विशदयन्ति अत्र इदम् इति. प्रथमतो अविशेषम् आहुः अग्निहोत्रादिकर्मभिः इत्यादिना वायोः न प्रवेशः इत्यन्तेन. एवञ्च भूसम्बन्धित्वमेव अर्चिरादिसंवत्स-

न्तरिक्षस्य अधिपतिः” (तैत्ति.संहि.३।४।५) इति श्रुतेः, “सूर्यो दिवो अधिपतिः” (तत्रैव) इति श्रुतेः तयोः पौर्वापर्ये विशेषो हेतुः अस्तीति आदित्यलोकात् पूर्वम् उक्तरीत्या भूलोकमध्यपातिसंवत्सरस्य परस्तात् च वायुः निवेशयितव्यः इति अर्थः.

ननु “ते अर्चिषम् अभिसम्भवन्ति अर्चिषो अहः” (छान्दो.उप.७।१०।१) इत्यादिश्रुतिः उक्तम्-उक्तम् अनूद्य-अनूद्य अपादानत्वं वदन्ती पूर्वोत्तरयोः अव्यवधानं सूचयतीति न उक्तम् आदरणीयम् इति चेत्, सत्यम्. यस्य उपासकस्य न वायुलोकभोगः तं प्रति सा उक्तिः. यस्यतु तद्भोगः, तस्य उक्तरीतिः मार्गैक्यादिति न अनुपपत्तिः काचित्.

केचित्तु, “स एनं देवयानं पन्थानम् आपद्य अग्निलोकम् आगच्छति, स वायुलोकं स वरुणलोकम्” (पूर्ववद्) इति अविशेषेण वायुः उपदिश्यते, मिथःपौर्वापर्यप्रापकपदाभावात्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

छान्दोग्यश्रुतिविरोधम् उपन्यस्यन्ति ननु इत्यादिना. अपादानत्वं वदन्ति इति. तथाच यस्माद् लोकाद् यं लोकं गच्छन्ति तेषाम् अवधीभूतानां कर्मभूतानां च सर्वेषां निरूपणात् तत्र वायुकर्मक-गमनावधीभूतं वस्तु वा शब्दं श्रुतौ न केनापि शब्देन प्रतिपादितम् इति अतो न उक्तम् आदरणीयं संवत्सरलोकाद् वायुलोकगमनं न आदरणीयम् इति अर्थः. उक्तविरोधपरिहारम् आहुः सत्यम् इत्यादिना. सा उक्तिः छान्दोग्यश्रुत्युक्तिः. तद्भोगो वायुलोकभोगः. उक्तरीतिः संवत्सरलोकाद् वायुगमनोक्तिः. केचित्तु शङ्कराचार्यास्तु. अविशेषेण अपादानबोधकपदव्यतिरेकेण. पदाभावात् पञ्चम्यन्तपदाभावाद् इति अर्थः. तथाच एवम् उपपादितो अर्थो

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

रान्तानाम् अविशेषः. विशेषम् आहुः भूलोकाद् इत्यादिना विशेषो हेतुः अस्ति इत्यन्तेन. तथाच नीचोच्चलोकाधिपत्यं वाय्वादित्ययोः विशेषः.

छान्दोग्यश्रुतिविरोधम् आशङ्कते ननु इति. अपादानत्वं वदन्ति इत्यादिश्रुतिः अव्यवधानं सूचयति इति अन्वयः. न उक्तम् इति. संवत्सराद् वायुलोकम् इति अर्थः. भोगपरत्वेन समाधानम् आहुः सत्यम् इति. सा उक्तिः इति. छान्दाग्योक्तिः. उक्तरीतिः सूत्रोक्तरीतिः. शङ्कराचार्यमतम् आहुः केचित्तु इति. पदाभावाद् इति. “अग्नेः वायुलोकम्” इत्याकारक-पञ्चम्यन्तपदाभावाद् इति अर्थः. एवञ्च अत्र

“यदा वै पुरुषो अस्माद् लोकात् प्रैति स वायुम् आगच्छति.
तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वम् आक्रमते सः
आदित्यम् आगच्छति” (बृहदा.उप.५।१०।१)

इति श्रुत्या आदित्यात् पूर्वो वायुः विशेषेण उपदिश्यतइति अब्दादि-
त्ययोः अन्तराले निवेशयितव्यः इति अर्थं वदन्ति. सः चिन्त्यते. यथा “तेन स
ऊर्ध्व आक्रमते स आदित्यम् आगच्छति” (छान्दो.उप.१०।६।५) इति विशेषो-
पदेशः इति उच्यते, तथा “सः वरुणलोकम्” इत्यत्रापि वक्तुं शक्यम्. नच,

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

‘विशेष’पदवाच्यो अग्रे आदित्यलोकगमनोक्तिः विशेषपदार्थः. यदा मुक्तिदशायाम्.
पुरुषो मुक्त्यधिकारी. तस्मा आगताय. सः वायुः. तत्र स्वस्थाने. विजिहीते स्थानदानं
करोति. स्थानस्वरूपं यथा इत्यादि. रथचक्रस्य खं छिद्रम्. तेन छिद्रेण. अब्दादित्योः
अन्तराले अवधित्वेन उक्तो ‘अब्द’पदवाच्यः आदित्यश्च तयोः अन्तराले इति अर्थः.
तन्मतं दूषयन्ति सः चिन्त्यते इत्यनेन. सः तदुक्तो विशेषपदार्थः. चिन्त्यते उक्तस्य
विशेषत्वम् उपपद्यते न वा इति विचार्यते इति अर्थः. तेन रथचक्रस्य छिद्रेण.
इतिविशेषोपदेशः ‘तेन’इति यत् पदम् “ऊर्ध्व आक्रमते” इति च आभ्यां सूत्रोक्तो
विशेषोपदेशः उदाहरणेऽपि. वक्तुं शक्यं तच्छब्दस्थानापन्नैतच्छब्दस्य सः इति
तच्छब्दस्य सत्वाद् विशेषोदाहरणत्वं वक्तुं शक्यम् इति अर्थः. स्वोक्तदूषणदृढीकरणाय
आशङ्कन्ते नच इत्यादि. सः इति तच्छब्दस्य सत्वात् तथा विशेषोदाहरणत्वम्.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अयमेव अविशेषपदार्थः. विशेषपदार्थम् आहुः यदा वा इति. तथाच वायुः विशेषेण
उपदिश्यते इत्यादिना ‘विशेष’पदकथनम्. श्रुत्यर्थस्तु तस्मै सः तत्र इति. तस्मै आगताय
सः वायुः तत्र तदागमनस्थले. विजिहीते इति. पूर्वस्तिमितोऽपि तदानीं स्वावयवान्
विगमयति. तस्य गमनार्थं विगमनस्थलमानम् आह यथा इति. खं छिद्रं रथछिद्राकारं
विगमनस्थलम् इति अर्थः. तन्मते अस्वरसम् आहुः सः चिन्त्यते इति. सः विशेषो
अस्ति वा न वा इति चिन्त्यते इति अर्थः. चिन्ताप्रकारमेव आहुः यथा इति. वक्तुं
शक्यम् इति. कौशीतकिब्राह्मणेऽपि वायुलोकानन्तरं वरुणलोकः पठितो भवति इति
वाजसनेयिवद् विशेषोपदेशः इति एवमपि वक्तुं शक्यम् इति अर्थः. नच “ऊर्ध्वम्
आक्रमते” इति वाजसनेयिभिः पठितम् इति तत्र विशेषः इति वाच्यम्. ऊर्ध्वाक्रमणस्य
अर्थसमानग्रस्तत्वात्. शङ्कते नच इति.

“स आदित्यम् आगच्छति” इत्यत्र ‘तत्’शब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वाद् वायुलोक-
गतस्यैव पूर्वत्वात् तथा इति वाच्यम्. “अग्निलोकम् आगच्छति स वायुलोकं स
वरुणलोकम्”(कौषी.उप.१।३) इत्यत्रापि तुल्यत्वात्. किञ्च, एवम् अग्नि-
लोकानन्तरं वायुलोकः इत्यपि वक्तुं शक्यम्. अतो विद्वद्भिः उपेक्ष्यो अयम्.
वाजसनेयिनस्तु, “मासेभ्यो देवलोकं देवलोकाद् आदित्यम्”(बृहदा.उप.
८।२।१५) इति पठन्ति. तत्रापि आदित्यात् पूर्वो देवलोकात् परो वायुः ज्ञेयः.
एकत्र आदित्यात् पूर्वत्वे सिद्धे मार्गैक्याद् अन्यत्रापि तथात्वस्य न्यायप्राप्तत्वात्.
सूत्रकारेण तु छन्दोगश्रुत्यपेक्षया उक्तं “वायुम् अब्दाद्” इति. एवं सति मासेभ्यः
परस्ताद् अब्दनिविशनं कार्यम्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तुल्यत्वात् सः इति तच्छब्दस्य अर्थाद् लब्ध्योर्ध्वलोकाक्रमणस्य च सत्त्वाद्
विशेषोदाहरणत्वस्य तुल्यत्वाद् इति अर्थः. दूषणान्तरं भावयन्ति किञ्च इत्यादिना. एवं
पूर्वपरामर्षकतच्छब्दार्थोर्ध्वलोकाक्रमणरूपार्थस्य विशेषपदार्थत्वे. अग्निलोकेत्यादि.
तथाच “अग्निलोकम् आगच्छति स वायुलोकम्” (कौषी.उप.१।३) एतद्भागेऽपि सः
इति तच्छब्दस्य अर्थाद् लब्ध्या ऊर्ध्वक्रमणस्य च सत्त्वाद् अग्निलोक-वायुलोकयोः
मध्येऽपि अब्दलोककल्पनापत्तिः. तथाच विशेषलक्षणस्य विशेषोदाहरणे अतिव्याप्तिः
इति भावः. ननु आदित्यात् पूर्वं वायुलोकं देवलोकात् सः गच्छति इति क्रमस्वीकारे
वायुम् अब्दाद् इति सूत्रेण अब्दात् संवत्सरलोकाद् वायुं गच्छति इति उक्तार्थविरोधः
इत्यतः आहुः सूत्रकारेण इत्यादि. एवं सति वाजसनेयिच्छान्दोग्याभ्याम् एकमार्गस्य
उक्तत्वे सति. मासेभ्यः इत्यादि. तथाच वाजसनेयिश्रुतौ मासेभ्यः परस्ताद्
आदित्यलोकात् पूर्वम् अब्दनिवेशः कार्यः इति अर्थः. ननु मासेभ्यो अब्दलोकं ततो

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

समाधानम् आहुः अग्निलोकम् इति. तुल्यत्वात्. सः इति तच्छब्दस्य
उभयत्रापि सत्त्वात्. एवञ्च हेतोः अर्थान्तरसाधकत्वेन प्रकृतसिद्धिः न भवति इति भावः.
अन्यदपि दूषणम् आहुः किञ्च इति. एवम् इति. पूर्ववर्तित्वोर्ध्वाक्रमणयोः
विशेषपदार्थत्वस्वीकारे. उपेक्ष्यम् इति. अब्दानन्तर्यमपि न सिद्ध्यति इत्यतः उपेक्ष्यम्
इति अर्थः. सूत्रांशे विचार्य बृहदारण्यके विरोधांशे शङ्कराचार्यमतं परिहरन्ति
वाजसनेयिनः इति. तर्हि व्यासैः कथम् उक्तम्? इत्यतः आहुः सूत्रकारेण इति.
परिहरन्ति एवं सति इति. एवं देवलोकनिवेशे.

नच “वायुम् अब्दाद्” इति सूत्रान् मार्गभेदापत्तिः. देवलोकस्य आदित्याधिष्ठेयत्वेन आदित्यमध्यपातित्वम् अभिप्रेत्य छन्दोगश्रुतिः तथा उक्तवती. तदनुसारेण व्यासोऽपि अतो न अनुपपत्तिः॥२॥

तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात्॥३॥

“आदित्यात् चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतम्”(छान्दो.उप.६।१५।५) इत्यत्र-पठित-विद्युल्लोकात् परतो वरुणलोको निवेशनीयः. तत्र हेतुः सम्बन्धात्. तडितो अप्सम्बन्धित्वाद् वरुणस्य तत्पतित्वात् तथा॥३॥

वरुणाच्चाधीन्द्रप्रजापती॥४॥

स्पष्टम् इदम्. अर्चिरादिपाठे विद्युदनन्तरं “तत्पुरुषो अमानवः स

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

देवलोकं ततो वायुं ततः आदित्यम् इति गमनक्रमे मध्ये देवलोकस्य व्यवधनाद् “वायुम् अब्दाद्” इति सूत्रोक्तमार्गाद् भेदापत्तिः इति आशङ्कते नच इत्यादिना. समाधानम् आहुः देवेत्यादिना. आदित्यमध्यपातित्वम् इति. तथाच देवलोकस्य आदित्यकोटौ निवेशे अब्दाद् वायुं वायोः आदित्यम् इत्येव क्रमः सिद्धइति न मार्गभेदापत्तिः इति भावः. व्यासोऽपि तथा उक्तवान् इति विभक्तिविपरिणामेन अन्वयः॥२॥

ननु आदित्यलोकपर्यन्तं मार्गैक्योपपादनेऽपि वरुणलोकनिवेशने स्थान-नियामकाभावाद् मार्गभेदापत्तिः इत्यतः सूत्रेण समाधानम् आहुः आदित्याद् इत्यादि. तत्र विद्युल्लोकात् परतो वरुणलोकनिवेशो. तत्पतित्वाद् अप्पतित्वात्. तथा विद्युल्लोकानन्तरं वरुणलोकनिवेशः॥३॥

स्पष्टम् इदम्. इदं सूत्रं स्पष्टार्थम् इति अर्थः. ननु अर्चिरादिमार्गे

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

शङ्कते नच इति. परिहरन्ति देवलोकस्य इति. “सूर्यो दिवोधिपतिः” (तैत्ति.सं.३।४।५) इति श्रुत्या आदित्याधिष्ठेयत्वेन इति अर्थः. न अनुपपत्तिः इति. तथाच देवलोकात् पूर्वमेव वायुनिवेशः इति अर्थः॥२॥

अस्मिन् सूत्रे वरुणलोकनिवेशनप्रकारम् आहुः आदित्याद् इति. असम्बन्धित्वाद् इति. “विशाला हि विद्युतां नृत्यन्ति तीव्रस्तनितनिर्घोषो जीमूतोदरेषु नृत्यन्ति अथ आपः प्रपतन्ति”(.....) इति ब्राह्मणाद् असम्बन्धित्वाद् इति अर्थः. एवञ्च एतादृशहेतोः सत्त्वात् तन्निवेशसिद्धो मार्गभेदो नास्ति इति भावः॥३॥

स्पष्टम् इति. सूत्रे पाठादेव ज्ञायते वरुणलोकानन्तरम् इन्द्रप्रजापतिलोको

एतान् ब्रह्म गमयति” (छान्दो.उप.६।१५।५) इति पठ्यते. तत्तु यस्य उपासकस्य वरुणादिलोकगमनापेक्षा नास्ति, तम् अपेक्ष्य इति ज्ञेयम्. मार्गैक्यनिमयमम् अभिप्रेत्य सूत्रकारो अन्यत्र उक्तानाम् अन्येषामपि लोकानां तत्रैव निवेशनम् आह॥४॥

इति चतुर्थाध्याये तृतीयपादे प्रथमम् अर्चिराद्यधिकरणम्॥१॥

आतिवाहिकाः तल्लिङ्गात्॥५॥ (४।३।२)

विद्युदनन्तरं “तत्पुरुषो अमानवः सः एतान् ब्रह्म गमयति” (छान्दो. उप.६।१५।५) इत्यत्र भवति संशयः. उक्तश्रुतेः गमयित्रैव ब्रह्मप्राप्तिः इति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

विद्युल्लोकानन्तरं ब्रह्मप्राप्तिः श्रूयते न वरुणलोकप्राप्तिः इति मार्गैक्यविरोधः इत्यतः आहुः अर्चिरादीत्यादि. तत्तु विद्युल्लोकाद् ब्रह्मलोकगमनन्तु तम् अपेक्ष्योक्तम् इति अर्थः॥४॥१॥

सूत्रम् अवतारयन्ति मार्गैक्येत्यादिना. मार्गैक्यं सर्वेषां क्रममुक्तिमार्गाणां देवयानपथत्वेन मार्गैक्यम्. तत्रैव अर्चिरादिमार्गएव. निवेशनं पर्वत्वेन निवेशनम्. उपोद्घातसङ्गत्या अधिकरणम् आरचयितुं संशयादिकम् आहुः विद्युद् इत्यादिना. वचनाभावेन विद्युल्लोकानन्तरं ब्रह्मप्रापकपुरुषवचनं यथा अस्ति तथा वरुणलोकं गतस्य ब्रह्मप्रापकपुरुषवचनाभावेन इति अर्थः. तत्र इत्यादिना पूर्वपक्षम् आहुः. तत्र ब्रह्मप्राप्तिविषये. तदभावेन गमयितुः वाचनिकत्वाभावेन. सा वरुणलोकं गतस्य ब्रह्मप्राप्तिः. आह सूत्रकारः समाधानम् आह इति अर्थः. ब्रह्मप्राप्तिः अमानवपुरुषेण गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

निवेशनीयः इति अर्थः. तडिद् लोकानन्तरं वरुणनिवेशे अर्चिरादिश्रुतिविरोधम् आशङ्कते अर्चिराद् इति. परिहरन्ति तत्तु इति. यस्य उपासकस्य इति. पर्यङ्कविद्योपासकस्य इति अर्थः. एकएव मार्गः सूत्रकारसम्मतः. अत्र युक्तिम् आहुः मार्गैक्येति. अन्यत्र उक्तानाम् इति. देवयानमार्गस्य यथा अक्षिपुरुषविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां प्रत्यभिज्ञानं तथा पर्यङ्कविद्यायामपि अस्ति. एवं वैद्युतस्यापि विद्याद्वये निवेशे पर्यङ्कविद्यायामपि निवेशः कर्तव्यः. एवञ्च वैद्युतम् अतिवाहकः सर्वत्र आवश्यकम् इत्यनेन मार्गैक्यबोधनम् इति भावः ॥४॥१॥

अस्मिन् अधिकरणे अवसरसङ्गतिं विषयं च आहुः विद्युद् इति. संशयं व्युत्पादयन्ति उक्तश्रुतेः इति. “तत्पुरुषो अमानवः” (छान्दो.उप.४।१५।५) इति श्रुतेः इति अर्थः.

निश्चीयते. सच विद्युदनन्तरमेव पठ्यते. एवं सति यस्य वरुणादिलोकगमनं, तस्य वचनाभावेन गमयित्रप्राप्तेः ब्रह्मप्राप्तिः भवति, नवा ? इति. तत्र वाचनिकस्य यावद्वचनत्वात् तदभावेन सा न भवति इति प्राप्ते आह आतिवाहिकाः इति. एतद् उक्तं भवति. यस्य उपासकस्य यावत् फलभोगानन्तरं ब्रह्मप्राप्तिः भाविनी, तस्य तावत् तद्भोगानन्तरं ब्रह्मप्राप्तिः भवति. अतएव कौशीतकि-श्रुतौ प्रजापतिलोकानन्तरं ब्रह्मलोकः पठ्यते. अन्यथा कृतसाधनवैयर्थ्यं, तेषां ब्रह्मप्राप्तिसाधनत्वबोधकश्रुतिविरोधश्च स्यात्. तथाच यत्र आतिवाहिकश्रुतिः नास्ति, तत्रापि आतिवाहिको भगवदीयएव ब्रह्म प्रापयति इति ज्ञेयम्. वस्तुतस्तु बहवएव तादृशाः सन्ति इति ज्ञापनाय बहुवचनम् अत्र उक्तम्. तन्मध्ये कश्चन आगत्य एकएव नयति इति ज्ञापनाय श्रुतौ एकवचनम्. तत्र हेतुः तल्लिङ्गात्. “तत्पुरुषो अमानवः” (छान्दो.उप.६।१५।५) इत्यत्र ब्रह्मसम्बन्धित्वं लिङ्गम् उच्यते. तेन इदं ज्ञाप्यते. यथा विद्याबलात् तत्तल्लोकप्राप्तिः, तथैव

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

कारिता ब्रह्मप्राप्तिः. अन्यथा उपासकस्य ब्रह्मप्राप्त्यभावे. तेषाम् उपासनानाम्. आतिवाहिकोपकृष्टस्थानाद् उत्कृष्टस्थानप्रापकः पुरुषः. तादृशाः उत्कृष्टस्थानप्रापकाः पुरुषाः. अत्र सूत्रे. नयति ब्रह्म नयति. एकवचनम् “अमानवःपुरुषः” इति एकवचनम्.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इति. सिद्धान्तम् आहुः आतिवाहिका इति इति. एतस्यैव अर्थम् आहुः एतद् इति. अत्र उपष्टम्भकम् आहुः अतएव इति. अन्यथा इति. तत्साधनीभूतोपासनेन ब्रह्मप्राप्त्यभावे कृतसाधनेति. ब्रह्मप्राप्त्यर्थं यत् कृतं साधनम् इति अर्थः. आतिवाहिकश्रुतिः इति. अतिवहनम् अतिक्रामयित्वा प्रापणम् अतिवाहः. भावे घञ्, तत्सम्बन्धी आतिवाहिकः, तद्बोधिका श्रुतिः आतिवाहिकश्रुतिः. ननु “तत्पुरुषो अमानवः” इति एकवचनं श्रुतौ अस्ति, सूत्रेतु नास्ति, तेन कृत्वा किं ज्ञायते. इदं सूत्रम् आतिवाहिकप्राप्त्यर्थं नास्ति इत्यतः आहुः वस्तुतस्तु इति. बहवएव इति. तादृशाः ब्रह्मप्रापकातिवाहकाः बहवएव इति अर्थः. तथाच यस्यां श्रुतौ आतिवाहिक-पाठो नास्ति ब्रह्मप्राप्तिस्तु उक्ता तद् अन्यथानुपपत्त्या कल्पनीयः इति भावः. एवं चेत् श्रुतौ एकवचनं किमर्थम्? अतः आहुः तन्मध्ये इति. तत्र बहुत्वे. ‘तल्लिङ्गाद्’ इति सौत्रो यो हेतुः तस्य अर्थम् आहुः तत्पुरुषः इति. तेन इति. “तत्पुरुषो अमानवः” इति वाक्योक्तलिङ्गेन इति अर्थः. पुरुषानुग्रहेण इति. ब्रह्मसम्बन्धिपुरुषाणां बहुत्वाद्

ब्रह्मप्राप्तिरपि इति न, किन्तु भगवदीयपुरुषानुग्रहेणैव इति.

नच पूर्व-पूर्वलोकाधिष्ठातृदेवा उत्तरोत्तरलोकं प्रति आतिवाहिकाः यथा, तथा ब्रह्मप्राप्त्यव्यवहितपूर्वलोकदेवाएव ब्रह्मप्रापका इति 'तत्'पदेन सः लोकएव उच्यते इति वाच्यम्. तदेतरलोकेषु तदकथनं यथा, तथा अत्रापि न कथयेत्. लोकाधिष्ठातृदेवानाम् आतिवाहिकत्वोक्तौ अर्चिलोकप्रापकाति-वाहिकस्य अभावात् तत्प्राप्तिः न स्यात्. तथा सति देवयानमार्गएव उच्छिद्येत. अतो यथा विद्याबलेनैव अर्चिषः प्राप्तिः तथा इतरेषामपि इति बुध्यस्व. कस्यचिद् अल्पलोकगत्यनन्तरमेव ब्रह्मप्राप्तिः. कस्यचिद् बहुलोकगत्यनन्तरं सः उच्यत इति भोगभूमित्वमेव तेषाम् अगवगन्तव्यम्. सर्वेषां सर्वत्र गमने देवयानं

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तत्पदेन अमानवपुरुषावाचकपदेन. सः लोकएव ब्रह्मप्राप्तिः अव्यवहितदेवलोकएव. तदेतरलोकेषु ब्रह्मप्राप्त्यव्यवहितलोकेषु. तदकथनम् अमानवपुरुषाकथनम्. अत्रापि अव्यवहितलोकस्थलेऽपि. न कथयेत् पूर्वलोकस्थानामेव अग्रे प्रापकतायाः तुल्यत्वाद् आतिवाहिकं न कथयेद् इति अर्थः. अर्चिलोकेत्यादि. अर्चिलोकस्य भूलोकान्तर्गतत्वाद् अमानुषाद्यसम्भवाद् इति अर्थः. कस्यचिद् उपासकस्य. सा ब्रह्मप्राप्तिः. तेषां

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

बहुवचनम् इति भावः.

अत्र आशङ्कते नच इति. पूर्वलोकदेवाः इति. विद्युल्लोकदेवाः इति अर्थः. तत्पदेन इति. "तत्पुरुषोऽमानवः" इति श्रुतौ लुप्तपञ्चम्यन्त- 'तत्'पदेन इति अर्थः. सः लोकएव इति. विद्युल्लोकएव इति अर्थः. तथाच अमानवः विद्युल्लोकाधिष्ठाता पुरुषः तस्माद् विद्युल्लोकाद् ब्रह्म गमयति इति अर्थः. एवञ्च भगवदीयपुरुषानुग्रहेण इति न वक्तव्यम् इति शङ्कितुः अभिप्रायः. निराकुर्वन्ति तदेतरेति. "आदित्यात् चन्द्रमसम्" (.....) इत्यादौ यथा पुरुषस्य अकथनम् इति अर्थः. न कथयेद् इति. विद्युल्लोकानन्तरं न कथयेद् इति अर्थः. तथाच विद्युल्लोकसम्बन्धादेव आतिवाहिकस्य प्राप्तत्वाद् इति भावः. दूषणान्तरम् आहुः लोकेति. तथा सति इति. अर्चिलोकप्रापकातिवाहकाभावे सति. एवञ्च विद्युदन्तलोके गमयित्रपेक्षा नास्ति ब्रह्मणितु तदपेक्षा इति सूचितम्. ननु सर्वासु विद्यासु सर्वेषां लोकानां कथनं श्रुतौ नास्ति इत्यतो विद्याबलेन विद्युदन्तलोकप्राप्तिः नास्ति इति श्रुतितात्पर्यम् अवगम्यते इत्यतः आहुः कस्यचिद् इति. भोगभूमित्वम् इति. एवञ्च

पन्थानं वदन्त्याः श्रुतेः सामि तत्कथनम् अनुपपन्नं स्यात्. अतः उपासनाभेदेन फलभेदं ज्ञापयन्ती तथावदति इति युक्तम् उत्पश्यामः॥५॥

ननु “तेषाम् इह न पुनरावृत्तिरस्ति”(बृहदा.उप.८।२।१५) इत्यादिश्रुतिभ्यो देवयानं पन्थानं प्राप्तानां पुंसां ब्रह्मवित्त्वम् अवश्यं वाच्यम्. तेन सद्योमुक्तौ सम्भवत्यां सत्यां क्षयिष्णुत्वेन क्षुद्रानन्दत्वेन च हेयानां परमफल-प्राप्तिविलम्बहेतूनाम् अर्चिरादिलोकानां कामना कुतः यतः तद्धेतुभूतोपासनाः सम्भवन्ति. किञ्च. “अर्चिरादिना तत्प्रथितेः”(ब्रह्मसू.४।३।१) इत्यत्र यद् उक्तं ज्ञानमार्गीयस्यैव अर्चिरादिप्राप्तिः, न भक्तिमार्गीयस्य इति, तदपि अनुप-पन्नम्. “यत् कर्मभिर् यत् तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्”(भाग.पुरा. ११। २१।३२) इत्युपक्रम्य, “सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभते अञ्जसा, स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति”(तत्रैव) इतिभगवद्वाक्याद् भक्तस्यापि एतद्वाञ्छाफले सम्भवतः, अन्यथा प्रभुः न वदेत्. एवं सति भक्तिसुखं हित्वा अन्यत्र कामनायां हेतुः वाच्यः इति आकाङ्क्षायां तम् आह.

उभयव्यामोहात् तत्सिद्धेः॥६॥

अत्र इदं ज्ञेयम् : देवयानः पन्थापि भगवतैव सृष्टो अस्ति. तथाच

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

लोकानाम्. श्रुतेः स्वल्पलोकगमनप्रतिपादिकायाः श्रुतेः. सामितत्कल्पनं मुक्तिमार्गीयाल्पलोकप्रतिपादकत्वम्. अतो अल्पकथनदोषप्रसक्तितः॥५॥

तेषां ब्रह्मप्राप्त्यधिकारिणाम्. तद्धेतुभूतोपासनाः तत्तल्लोकीय-क्षुद्रानन्दहेतूभूतोपासनाः. भक्तिसुखं परमानन्दात्मकम्. ननु तेषाम् इत्यारभ्य अवरतरणम् उक्तं स्फुटार्थम्. सूत्रेण समाधानं वक्तुम् आहुः अत्र इदम् इत्यादि. उक्तहेतुभिः उत्कृष्टफलं त्यक्त्वा क्षुद्रफले इच्छासम्भवाद् इत्यादिहेतुभिः. तत्र

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

लोकाधिष्ठातृदेवता न उच्यते येन तस्याः आतिवाहिकत्वं स्वीकर्तव्यम्, अपितु भोगभूमित्वम् इति अर्थः. भोगभूमित्वाभावे अनुपपत्तिम् आहुः सर्वेषाम् इति. सामितत्कथनम् अर्धलोककथनम्॥५॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. कामनाभावात् तादृशीनाम् उपासनानां सम्भवएव न सम्भवति इति आहुः तेषाम् इति. भक्तस्य क्रममुक्तिः नास्ति इत्यत्र अनुपपत्तिम् आहुः किञ्च इति. सूत्रार्थं विशदयन्ति अत्र इदम् इति.

उक्तहेतुभिः तत्र कस्यापि कामाभावे तत्सृष्टिः व्यर्था स्याद्, अतो भगवानेव कांश्च व्यामोहयति ज्ञानिनो मर्यादामार्गीयभक्तांश्च, अतः तत्कामनासिद्धेः तत्फलभोगः इति. यत्तु अर्चिरादिमार्गगन्तणां देहवियोगेन सम्पिण्डित-करणग्रामत्वेन अस्वातन्त्र्यं **व्यामोहः**. अर्चिरादीनां च अचेतनत्वेन अस्वातन्त्र्यं **व्यामोहः** कार्यकरणासामर्थ्यम् इति यावत्. तेन अर्चिराद्यधिष्ठातृदेवैः अतिवाह्यन्ते इति सिद्धम् इति व्याख्यानम्. तद् न साधीयः, 'व्यामोह'शब्दस्य अन्यथाज्ञानवाचकत्वेन असामर्थ्यावाचकत्वात्. तथा सति अर्चिलोकमपि न प्राप्नुयात्. प्रापकाभावाद् इति उक्तम्॥६॥

ननु विद्युतो वरुणादिलोकप्राप्त्यनन्तरं यस्य ब्रह्मप्राप्तिः तस्य तल्लोकसम्बन्धी ब्रह्मप्रापकः पुरुषो अस्ति उत सः स्वतएव तत्प्राप्नोति? इति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अर्चिरादिलोकफले. तत्सृष्टिः अर्चिरादिलोकसृष्टिः. उभयव्यामोहाद् इति सूत्रभागार्थम् आहुः ज्ञानिनः इत्यादिना. अतो भगत्कृतव्यामोहाद्. दूषयितुं कस्यचिद् मतानुवादम् आहुः यत्तु इत्यादिना. पिण्डितेत्यादि. ऊर्ध्वलोकगमनासमर्थकरणग्रामत्वेन इति अर्थः. अस्वातन्त्र्यं स्वतोगमनासामर्थ्यम्. अस्वातन्त्र्यं स्वयम् ऊर्ध्वलोकप्रापणे असामर्थ्यम्. **व्यामोहः** "उभयव्यामोह"पदार्थः. दूषयन्ति तद् न इत्यादिना. दूषणहेतुम् आहुः **व्यामोहः** इत्यादिना. तथा सति गन्तुः करणानां सामर्थ्याभावे सति. प्रापकाभावात् प्रापककरणानाम् अभावात्॥६॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु विद्युतो इत्यादिना. विद्युतो विद्युल्लोक-प्राप्त्यनन्तरम्. तल्लोकसम्बन्धी तल्लोकवासी इति अर्थः. सः गन्ता. तद् ब्रह्म.

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

तत्फलभोगः इति इति. इदञ्च सर्वं "स वै नैव रेमे" (बृहदा.उप.१।४।३) इत्यादिश्रुत्या लीलासम्पत्त्यर्थं करोति इति उक्त्या सम्पद्यते इति मन्तव्यम्. अत्र अन्येषां व्याख्यानम् आहुः यत्तु इति. सम्पिण्डितेति. समुदायो यस्य सः तथा. तेन किं जातम् अतः आहुः अस्वातन्त्र्यम् इति. अयं 'व्यामोह'शब्दार्थो न भवति इति खण्डयन्ति तत्र इति. तथा सति गन्तुः. सम्पिण्डितकरणग्रामवत्त्वेन अस्वातन्त्र्ये 'व्यामोह'शब्दार्थे वक्तव्ये सति. प्रापकाभावाद् इति. अर्चिरादिमार्गएव अधिष्ठातृ-देवता तत्पूर्वम् अधिष्ठातृदेवतायाः अभावाद् इति अर्थः ॥६॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. ब्रह्मप्राप्तिः इति श्रुतौ उक्ता इति शेषः.

वैद्युतेनैव ततः तच्छ्रुतेः॥७॥

न हि ब्रह्मप्राप्तिः विद्युल्लोकसम्बन्धिपुरुषसामर्थ्येन उच्यते किन्तु ब्रह्मसम्बन्धितत्सामर्थ्येन. तथाच यतएव लोकात् तत्प्राप्तिः ततो ब्रह्मसम्बन्धि-पुरुषादेव. एवं सति विद्युल्लोकात् तत्प्राप्तौ यो ब्रह्मसम्बन्धी पुरुषः प्रापकः उक्तः तेनैव ततो वरुणादिलोकेभ्योऽपि ब्रह्मप्राप्तिः. तत्र हेतुम् आह तच्छ्रुतेः. “तान् वैद्युतात् पुरुषो मानसः एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति” (बृहदा.उप. ८।२। १५) इति श्रुतेः. अत्र ‘एत्य’ इति वचनाद् यतएव लोकाद् ब्रह्मप्राप्तिः भवित्री तत्रैव आगत्य ब्रह्म प्रापयति इति गम्यते. श्रुतौ (बृहदा.उप. ८।२।१५) वैद्युतं लोकम् आगत्य तस्माद् ब्रह्मलोकान् गमयति इति उक्तमिति सः पुरुषो वैद्युतः इति उच्यते, नतु तल्लोकवासित्वेन. तथा सति ‘एत्य’ इति न वदेत्, ततएव ब्रह्मप्रापणे. अतएव ‘मानस’ इति उक्तः. यदैव भगवन् मनसि भवति “अथ एनं मां प्रापयतु” इति तदैव प्रापयति इति तथा.

छान्दोग्येतु (छान्दो.उप. ६।१५।५) ‘अमानवः’ इति पठ्यते. तच्च अलौकिकत्वं, तदपि उक्तरूपमेवेति न कश्चिद् विशेषः. वाजसनेयके

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

विद्युल्लोकसम्बन्धी विद्युल्लोकवासी. तेनैव पूर्वं ब्रह्मप्राप्तिकारकत्वेन उक्तेनैव. ततो ब्रह्मप्रापकत्वोक्तितः. उक्तिश्च श्रुतौ ‘एत्ये’त्यादिरूपा. तथा भगवदीयपुरुषएव ब्रह्मगमयिता इति अर्थः. उक्तरूपमेव भगवन्मनोविषयसम्पादकत्व-रूपमेव. ते भक्ताः

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

संशये इति. वरुणलोकसम्बन्धी पुरुषः ब्रह्मप्रापको वा स्वतएव आगच्छति इति संशयः इति अर्थः. सूत्रार्थम् आहुः न हि इति. अत्र बृहदारण्ये वाजसनेयिशाखायां पञ्चाग्नि-सम्यक्पिण्डितः पिण्डाकारं प्राप्तः, एकीभूतः इतियावत्. करणग्राम इन्द्रियविद्यास्थं प्रमाणम् आहुः तान् वैद्युतान् इति. अस्याः श्रुतेः तात्पर्यार्थम् आहुः अत्र इति. गम्यते इति. मानसः पुरुषः ब्रह्म प्रापयति इति ज्ञायते इति अर्थः. ननु तादृशपुरुषस्य विद्युल्लोकवासित्वाभावे वैद्युतम् इति तस्य सज्ज्ञा श्रुतौ कथम् इत्यतः आहुः श्रुतौ वैद्युतम् इति. तथा सति इति. ब्रह्मप्रापणे इत्यनन्तरम् ‘एति’ इत्यस्य सम्बन्धः. अतएव तल्लोकवासित्वाभावादेव. तथा मानसः इति अर्थः. ननु एवं चेत् छान्दोग्ये ‘अमानवः’ इति कथम् उक्तम्? अतः आहुः. छान्दोग्येतु इति. न कश्चिद् विशेषः

“ब्रह्मलोकान् गमयति” (बृहदा.उप.८।२।१५) इति पठ्यते. छान्दोग्ये तु ‘ब्रह्म’ इति. तत्र अयं भावः : भक्तन्तु वैकुण्ठलोकं नयति, ते बहुविधा इति ‘ब्रह्मलोकान्’ इति उक्तम्. ज्ञानमार्गीयन्तु अक्षरं ब्रह्म प्रापयति इति ‘ब्रह्म’ इति उक्तम्. अतएव उभयव्यामोहः उक्तः आचार्येण॥७॥

इति चतुर्थाध्याये तृतीयपादे द्वितीयम् आतिवाहिकाधिकरणम्॥२॥

अत्र सिद्धान्तदाढ्यार्थम् उक्तम् अर्थं हस्तपिहितमिव कृत्वा बादरिमतं पूर्वपक्षत्वेन आह

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः॥८॥ (४।३।३)

“स एतान् ब्रह्म गमयति” (छान्दो.उप.६।१५।४) इत्यत्र ‘ब्रह्म’पदेन अविकृतं परमेव ब्रह्म उच्यते, उत कार्यरूपो ब्रह्मलोकः ? इति भवति संशयः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

लोकाश्च. लोकान् इति उक्तं “तान् वैद्युताद्” इति बृहदारण्यश्रुतौ उक्तम् इति अर्थः. अतएव एतदुभयोः सूत्रकाराभिप्रायविषयत्वादेव॥७॥२॥

क्रममुक्तिमार्गविचारानन्तरं तत्फलं विचारयति इति एतदभिप्रायेण सूत्रम् अवतारयन्ति अत्र सिद्धान्तेत्यादिना. अत्र एतद् अधिकरणे. सिद्धान्तदाढ्यार्थं मर्यादामार्गेऽपि प्राप्यं परं ब्रह्मैव इति सिद्धान्तदाढ्यार्थम्. उक्तम् अर्थम् इत्यादि. जघन्याधिकारिणां परब्रह्मप्रापको अर्चिरादिमार्गः इति इमम् अर्थम् अनुक्त्वा इति अर्थः.

अधिकरणरचनार्थं विषयादिकम् आहुः “स एताम्” इत्यादिना. ब्रह्मपदार्थ-निर्धारो विषयः. संशयः स्फुटः. परस्य इत्यादि पूर्वपक्षः. उक्तेः श्रुतौ उक्तेः. तस्य

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इति. अलौकिकत्वं मानसत्त्वम् एकमेव इति अर्थः. यदंशविशेषः तम् आहुः वाजसनेयके इति. ते वैकुण्ठलोकाः इति अर्थः. उभयेति. अक्षरं वा वैकुण्ठं वा अस्तु इति उभयं ‘ब्रह्म’शब्देन उक्तम् इति व्यामोहो बादरायणे न उक्तः इति अर्थः. ॥७॥२॥

सूत्रम् अवतारयन्ति अत्र इति. सिद्धान्तेति. क्रममुक्तौ परब्रह्मैव प्राप्यं भवति इति सिद्धान्तस्य दृढीकरणार्थम्. उक्तम् अर्थं मध्यमाधिकारिणाम् अर्चिरादिमार्गः परप्राप्तिसाधनम् इति इमम् अर्थम्. हस्तेति. अयम् अर्थो अग्रे व्यवस्थापनीयः, इदानीम् अनुक्तः इतिकृत्वा हस्तपिहितमिव इति उक्तम् इति अर्थः.

इदम् अधिकरणं भवति इति कृत्वा विषयम् आहुः सः एतान् इति. संशयम् आहुः ब्रह्मपदेन इति. श्रुतौ ‘गति’पदं ‘ब्रह्म’पदं च अस्ति इति संशयमूलम्. पूर्वपक्षम् आहुः

परस्य व्यापकत्वेन देशविशेषगमयित्रोः अनपेक्षितयोः उक्तेः कार्यरूपएव सः
'ब्रह्म'पदेन उच्यते इति **बादरिः** आचार्यो मन्यते. कुतः? **अस्य गत्युपपत्तेः.**
तस्य परिच्छिन्नत्वेन तत्स्थितिदेशं प्रति अस्य गन्तुः गतेः **उपपत्तेः** इति अर्थः
॥८॥

विशेषितत्वाच्च॥९॥

“ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति”
(बृहदा.उप.८।२।१६) इति श्रुतौ बहुत्वेन वासाधिकरणत्वेन च **विशेषिताः**
लोकाः. गन्तारश्च दूरदेशगत्या **विशेषिता** इति न परं ब्रह्म तत्, किन्तु कार्यमेव
इति अर्थः. 'लोक'पदं तज्जन्यभोगपरम्. तेन तस्य एकत्वेऽपि विविधभोग-
ज्ञापनाय बहुवचनं घटते॥९॥

तत्र 'ब्रह्म'शब्दप्रयोगे हेतुम् आह.

सामीप्यात् तद्व्यपदेशः॥१०॥

तल्लोकस्थितानां न अन्यलोकव्यवधानं परप्राप्तौ, किन्तु ततएव इति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

कार्यब्रह्मणः॥८॥

'ब्रह्म'पदस्य कार्यपरतोपपादकश्रुतिं पूर्वपक्ष्यभिमतं प्रदर्शयन्तः सूत्रम्
अवतारयन्ति **ब्रह्म** इत्यादिना. **विशेषिताः** श्रुतौ बहुत्ववासाधिकरणत्वाभ्यां विशिष्टा
उक्ता इति परब्रह्मणो व्यापकत्वेन दूरदेशस्थत्वासम्भवाद् हेतोः इति अर्थः. **तद्** गन्तृभिः
गम्यम्. **तज्जन्यः** कार्यब्रह्मजन्यः. **तस्य** कार्यब्रह्मणः॥९॥

वाद्यभिमतसूत्रावतरणम् आहुः **तत्र** इत्यादिना. **तल्लोकः** कार्यब्रह्मलोकः. **न**
अन्येत्यादि. भूरादिलोकस्थितानामिव इति अर्थः. **ततएव** कार्यब्रह्मलोकाद्

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

परस्य इति. देशेति. देशविशेषः च गमयिता च इति द्वन्द्वः. **सः** ब्रह्मलोकः. **तस्य** इति.
कार्यब्रह्मलोकस्य॥८॥

तस्य कार्यरूपत्वं व्यवस्थापयितुं सूत्रार्थम् आहुः **ब्रह्मलोकान्** इति.
गन्तारश्च इत्यस्य अग्रेण अन्वयः. **न परं ब्रह्म** इति. “**ब्रह्म गमयति**” (छान्दो.उप.
५।१०।२) इति श्रुतौ प्राप्यत्वेन यद् उक्तं तद् न परं ब्रह्म इति अर्थः. ननु श्रुतौ
'लोक'पदमपि उक्तम् इति कथं कार्यब्रह्मपरत्वम् अतः आहुः **लोकपदम्** इति.॥९॥

सूत्रम् अवतारयन्ति **तत्र** इति. सूत्रं व्याकुर्वन्ति **तल्लोकस्थितानाम्** इति.

परब्रह्मसामीप्याद् ब्रह्मत्वेन व्यपदेशः कृतः. 'तु'शब्दस्तु वस्तुतो ब्रह्मत्वं व्यवच्छिनत्ति॥१०॥

ननु “आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोर्जुन” (भग.गीता ८।१६) इति वाक्यात् ततः पुनरावर्तते. अत्र “तेषाम् इह न पुनरावृत्तिरस्ति” (बृहदा. उप.८।२।१६) इति पठ्यतइति परमेव अत्र ‘ब्रह्म’शब्देन उच्यते इति प्राप्ते, उत्तरं पठति.

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सह अतः परमभिधानात्॥११॥

कल्पसमाप्तौ कार्यस्य ब्रह्मलोकस्य नाशे सति तदध्यक्षेण चतुर्मुखेन ब्रह्मणा सह अतो ब्रह्मणः सकाशात् परम् ईश्वरं प्राप्नोति अतो अपुनरावृत्तिश्रुतिः न विरुध्यते. अत्र प्रमाणम् आह अभिधानाद् इति. श्रुतौ तथाभिधानाद् इति अर्थः. सा तु “वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः सन्न्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे” (महाना.उप.१२।३) इति. ‘परान्तकाले’ इत्यत्र ‘पर’शब्देन ब्रह्मणः पूर्णम् आयुः उच्यते ॥११॥

उक्ते अर्थे श्रुतिं प्रमाणत्वेन उक्त्वा स्मृतिमपि आह.

स्मृतेश्च॥१२॥

“ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे, परस्यान्ते कृतात्मान

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः
अव्यवहितएव परब्रह्मलोकः इति अर्थः. व्यवच्छिनत्ति कार्यब्रह्मणि व्यवच्छिनत्ति॥१०॥

प्रजापतौ परब्रह्मसामीप्याद् ‘ब्रह्म’पदएव मुक्तौ अपुनरावृत्तिश्रुतिविरोधः तत्प्राप्तौ इति आशङ्क्य वादी समाधत्ते इति सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादिना. ततः कार्यब्रह्मलोकाद्. अत्र देवयानमार्गे. तेषां गन्त णां. सूत्रार्थं विवृण्वन्ति कल्पेत्यादिना ॥११॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अग्रे स्पष्टम् ॥१०॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. पठ्यते इति. विषयश्रुतौ पठ्यते इति अर्थः. तथाच ब्रह्मसामीप्याद् ब्रह्मत्वम् इति न स्वीकार्यम् इति भावः. सूत्रं व्याकुर्वन्ति कल्पेति. ब्रह्मणः सकाशाद् इति. चतुर्मुखाद् ब्रह्मणः सकाशाद् इति अर्थः ॥११॥

प्रविशन्ति परं पदम्” (कूर्म.पूरा.९२।२६९) इति स्मृत्यापि सएव अर्थः
प्रतिपाद्यते॥१२॥

अत्र सिद्धान्तम् आह.

परं जैमिनिमुख्यत्वात्॥१३॥

“स एतान् ब्रह्म गमयति” इति अत्र ‘ब्रह्म’पदेन परमेव ब्रह्म उच्यते
इति जैमिनिः आचार्यो मनुते. कुतः? मुख्यत्वात्. बृहत्त्वादिधर्मविशिष्टं हि
‘ब्रह्म’पदेन उच्यते. तादृक् परमेव ब्रह्म भवतीति मुख्या वृत्तिः ‘ब्रह्म’पदस्य
परस्मिन्नेव, अन्यत्र गौणी. तथाच मुख्य-गौणयोः मध्ये मुख्यस्यैव बलिष्ठत्वात्
तथा॥१३॥

दर्शनाच्च॥१४॥

“स एतं देवयानं पन्थानम् आपद्य अग्निलोकम् आगच्छति स वायुलोकं
स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्” (कौशी.उप.१।३)
इति कौशीतकिश्रुतिः अग्न्यादिलोकप्राप्तिवद् अविशेषेणैव प्रजापतिलोक-
प्राप्त्यनन्तरं ब्रह्मलोकप्राप्तिं दर्शयति. न हि तत्र ‘ब्रह्मलोक’शब्देन कार्यः सः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सएव अर्थो ब्रह्मणा सह सर्वेषां मुक्तिरूपएव अर्थः॥१२॥

पञ्चभिः सूत्रैः बादरिपक्षोपन्यासं कृत्वा जैमिनिमतोपन्यासमुखेन स्वसिद्धान्तं
प्रतिपादयति इति अभिप्रायेण सूत्रम् अवतारयन्ति अत्र सिद्धान्तम् इत्यादिना. तादृक् परं
बृहत्त्वादिधर्मविशिष्टं परम्. एव इति ‘एव’कारेण कार्यब्रह्मव्यावृत्तिः. मुख्या वृत्तिः
अवयवशक्तिसमानाधिकरणरूढिशक्तिः ‘ब्रह्म’पदस्य अन्यत्र कार्यब्रह्मणि. तथा
ब्रह्मपदं परब्रह्मप्रतिपादकमेव इति अर्थः॥१३॥

सूत्रम् अवतारयन्ति सः एतम् इत्यादिना. दर्शयति कौशीतकीश्रुतिः बोधयति.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

स्मृतेश्च. स्मृतिवचनात् ॥१२॥

सूत्रम् अवतारयन्ति अत्र इति. बादरिमते. सूत्रं व्याकुर्वन्ति सः एतान् इति.
मनुते इति. जैमिनिः मनुते इत्यनेन स्वस्यापि अयमेव सिद्धान्तः इति सूचितम्. मुख्या
वृत्तिः इति. यथा घटत्वविशिष्टे घटे ‘घट’पदस्य शक्तिः एवं बृहत्त्वविशिष्टे ब्रह्मणि
‘ब्रह्म’पदस्य शक्तिः इति वृत्तौ मुख्यत्वम् इति अर्थः ॥१३॥

सूत्रं व्याकुर्वन्ति स एतम् इति.

उच्यते इति वक्तुं शक्यम्. पार्थक्येन प्रजापतिलोकस्य उक्तत्वात्. अपरञ्च, “ये च इमे अरण्ये श्रद्धातप इति उपासते ते अर्चिषम् अभिसम्भवन्ति” (छान्दो.उप. ७।१०।१) इति छान्दोग्यश्रुतिं विषयीकृत्य हि “अर्चिरादिना तत्प्रथितेः” (ब्रह्मसू.४।३।१) इत्युपक्रमः आचार्येण कृतः. अन्यत्र ‘अर्चिः’शब्दस्य अभावात्, तत्र च अन्ते “ब्रह्म गमयति” (छान्दो.उप.७।१०।१) इति उच्यते. तथाच छान्दोग्ये अनुक्तानाम् अन्यत्र उक्तानां लोकानां मार्गैक्यसिध्यर्थं तत्रैव सन्निवेशो, “वायुम् अब्दात्”, “तडितोऽधिवरुणः”, “वरुणाच्चाधीन्द्र-प्रजापती” (ब्रह्मसू.४।३।२-४) इत्यन्तेन उक्तः. एवं सति आदौ अर्चिषं, ततो अहः, ततः सितपक्षं, ततः उदगयनं, ततः संवत्सरं, ततो वायुं, ततो देवलोकं, ततो आदित्यं, ततः चद्रमसं, ततो विद्युतं, ततो वरुणं, ततः इन्द्रं, ततः प्रजापतिं, ततश्च अमानवेन पुरुषेण ब्रह्मप्राप्तिः इति निर्णयः सम्पद्यते. एवं सति प्रजापतिलोकाद् अन्यस्य कार्यब्रह्मलोकस्य असम्भवात् तच्छङ्कापि भवितुं नार्हति यद्यपि, तथापि व्यासोक्तमार्गैक्यम् अमन्वानः तथा अवदद् इति ज्ञायते. परन्तु वेदार्थनिर्णयार्थमेव प्रवृत्तत्वाद् भगवदवतारत्वाच्च तदुक्तएव शास्त्रार्थः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तत्र श्रुतौ. तत्रैव सन्निवेशः. छान्दोग्ये अनुक्तानाम् अन्यत्र उक्तानां पर्वत्वेन अर्चिरादिमार्गएव सन्निवेशः कार्यः इति अर्थः. ततो अहः तदनन्तरम् अहर्गच्छति इति अर्थः. अमन्वानो “वायुम् अब्दाद्” इति अधिकरणे पूर्वपक्षे मार्गभेदवादी जैमिनिः अमन्वानः. तथा मार्गभेदम्. तथाच फलांशे वैषम्याभावेऽपि मार्गांशे व्याससिद्धान्त-

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

प्रजापतिलोकस्य इति. त्रैलोक्यशरीरो विराट् यः समष्टि-व्यष्टिरूपः संसारमण्डलस्थायी ब्रह्मा ‘प्रजापति’शब्देन उच्यते सएव हिरण्यगर्भः, तस्यतु जन्यत्वं “हिरण्यगर्भं पश्यति जायमानम्” (महाना.उप.१०।३) इति तैत्तिरीयश्रुतेः. तदनन्तरं यो ब्रह्मलोकः सः नित्यः इति आखण्डलार्थः.

ननु इदं जैमिनेः अभिमतं नतु व्यासस्य इति कथम् अयं सिद्धान्तः? इत्यतः आहुः अपरञ्च इत्यादिना अवदद् इति ज्ञायते इत्यन्तेन. तथा अवदद् इति. जैमिनिः इति शेषः. तथाच व्यासैः जैमिनिः अवदद् इति उक्तं तेन कृत्वा किं ज्ञायते सिद्धान्तस्तु उभयोः एकएव परन्तु मार्गभेदः इति भावः.

ननु जैमिन्युक्तमार्गभेदः कुतो न आद्रियते इत्यतः आहुः परन्तु इति. ननु

इति मन्तव्यम्. किञ्च, “स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्” (कौशि.उप.१।३)
इत्यत्र ‘ब्रह्म’पदस्य परवाचकत्वं तेनापि वाच्यं चेत्, तद्दृष्टान्तेन अन्यत्रापि
तथैव वाच्यं, बाधकाभावात्.

ननु परस्य व्यापकत्वाद् निर्विशेषत्वाच्च न गन्तव्यता उपपद्यते.
जीवस्यापि अविद्योपाध्यवच्छिन्नतादशायां परब्रह्मणि गन्तृत्वासम्भवात् तन्नाशे
च वस्तुतो अभिन्नत्वात् स्वरूपेण अवस्थानमेव भवतीति न गन्तृत्वमपि उपपद्यते,
तस्यैव अभावात्. जीवत्वदशायान्तु उपाध्यवच्छेदाद् गन्तृत्वं जीवस्य अपरस्य
ब्रह्मणश्च आविद्यकरूपनामवत्त्वेन गन्तव्यता च उपपद्यते. उपासना-फलत्वाद्
अस्य गमनस्य उपास्यस्य च सगुणत्वेन तत्प्राप्तेरेव उचितत्वाच्च.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

वैषम्यं जैमिनेः बोद्धव्यम् इति फलितम्. तदुक्तएव व्यासोक्तएव. तेनापि मार्गभेद-
वादिनापि. तद्दृष्टान्तेन कौशीतकीश्रुत्युक्तप्रकारदृष्टान्तेन. अन्यत्रापि यत्र श्रुतौ
मुक्तस्य लोकेषु गमनक्रमे प्रजापतिब्रह्मलोकेति द्वयस्योपादानं नास्ति तत्रापि इति अर्थः.
तथैव वाच्यं ‘ब्रह्म’पदस्य परब्रह्मवाचकत्वमेव वाच्यम् इति अर्थः.

दूषयितुं शङ्कराचार्यमतम् आशङ्कन्ते ननु इत्यादिना. तन्नाशे
विद्योपाधिनाशे. तस्यैव गन्तुरेव.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

बादरि-जैमिनिमतयोः मध्ये व्यासेन जैमिनिमतादरणं कृतं तत्र किं कारणम्? अतः
आहुः किञ्च इति. तेनापि बादरिणापि. तथैव वाच्यम् इति. अग्निपुरुषविद्यायां
पञ्चाग्निविद्यायां च तथैव वाच्यम् इति अर्थः. बाधकाभावाद् इति. पूर्वोक्तगत्युप-
पत्त्यादिदूषणानां परिहारस्य कृतत्वाद् बाधकाभावाद् इति अर्थः. एवञ्च जैमिनिमतादरणे
श्रुतिसामञ्जस्यं कारणम् इति भावः.

बादरिमतं समिचीनम् इति अभ्युपगन्तॄणां शङ्कराचार्याणां मतम् आहुः ननु
परस्य इति. व्यापकत्वाद् इति. “आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः” (शत.ब्राह्म.१०।६
।३।२१) इति श्रुत्या व्यापकत्वाद् इति अर्थः. निर्विशेषत्वाद् इति. “आत्मैव इदं
सर्वम्” (छान्दो.उप. ७।२५।२) इति श्रुत्या तथात्वाद् इति अर्थः. न गन्तव्यतेति.
सर्वत्र सत्त्वाद् इति अर्थः. जीवस्यापि इति. जीवस्य अज्ञानदशायां ब्रह्मप्राप्तिः
नास्त्येव इति न गन्तृत्वम् उपपद्यते इति अर्थः. ज्ञानदशायाम् आहुः तस्यैव इति.
जीवस्यैव इति अर्थः. ननु एवं चेद् बादरिमते गत्युपपत्तिः कथम् इत्यतः आहुः
जीवत्वदशायाम् इति. गतिविषया याः श्रुतयः ताः पञ्चाग्निविद्यायां पर्यङ्कविद्यायां

निर्गुणब्रह्मविद्यावतो गन्तृत्वासम्भवः इति उक्तम्, अतो बादरिमतमेव साधीयः.
नच 'ब्रह्म'पदस्य मुख्यार्थत्वम् उक्तरीत्या अत्र सम्भवति. अतो अत्र अमुख्यार्थ-
त्वमेव अनुसर्तव्यम् इति चेत्, स्याद् एतद् एवं यदि औपाधिकम् उपास्यरूपं जीवत्वं
वा स्याद्, नतु एवम्. “प्रकृतैतावत्वं हि प्रतिषेधति”(ब्रह्मसू.३।२।२२)

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

बादरिमतमेव अमानवपुरुषः चतुर्मुखं प्रापयति इति बादरिमतमेव इति अर्थः.
इति चेद् इत्यन्तेन उक्तपूर्वपक्षे समाधानम् आहुः स्याद् एतद् इत्यादिना. प्रतिषेधति
“नेति नेति” इति श्रुतिः. प्रकृतं यत् परिच्छिन्नत्वं परिच्छिन्नप्रमाणवत्त्वम् एतदेव
प्रातीतिकं श्रुतिः प्रतिषेधति नतु ब्रह्मात्मकं जगत् प्रतिषेधति इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

वैश्वानरविद्यायां च श्रूयन्ते. एवञ्च तासां सगुणोपासनाविषयत्वात् सगुणब्रह्मविषया
गतिः वक्तव्या. तथाच अज्ञानरूपेण उपाधिना यावत्पर्यन्तं जीवदशा वर्तते तावत्पर्यन्तम्
उपास्योपासकतावश्यकत्वाद्, अविद्याया कल्पितनामरूपत्वाद्, ब्रह्मणः उपास्यत्वाच्च
जीवे गन्तृत्वं ब्रह्मणि गन्तव्यत्वं च उपपद्यते इति अर्थः. ननु एवं चेत्
परब्रह्मप्राप्तिबोधकश्रुतीनां का गतिः इत्यतः आहुः उपासना इति. तत्प्राप्तेः इति.
सगुणब्रह्मप्राप्तेः इति अर्थः. तथाच अपरस्मिन् ब्रह्मणि वर्तमाना गतिश्रुतयः परे
ब्रह्मणि अध्यारोप्यन्ते इति भावः. ननु एवं चेद् ब्रह्मद्वयं भवन्मते सम्पन्नम् इति. तद् न.
“एतद्वै सत्यकाम परं च अपरं च ब्रह्म यदोङ्कारः” (प्रश्नोप.५।२) इति श्रुतेः
‘अस्थूला’दिशब्दैः यत्प्रतिपाद्यते तत्परं तदेव नामरूपविशिष्टम् उपासनाय उपदिश्यते
तद् अपरम्. एवञ्च अविद्याकृतनामरूपत्वेन अद्वितीयश्रुतिविरोधोऽपि नास्ति. ब्रह्मणो
व्यापकत्वेऽपि घटाकाशगमनवद् बुद्ध्याद्युपाधिगमनं च उपपद्यते. इदं च सर्वं
“तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः” (ब्रह्मसू.२।३।२९) इति सूत्रे स्पष्टमेव उक्तं प्राक्.
निर्गुणब्रह्मविषया गतिरेव नास्ति इति आहुः निर्गुणेति. इति उक्तम् इति. “न तस्य
प्राणाः उत्क्रामन्ति” (बृहदा.उप. ४।४।६) इति श्रुतौ उक्तम् इति अर्थः. बादरिमतमेव
इति. इयं शङ्कराचार्योक्तिः. नच इति. न हि इति अर्थः. अत्र ‘ब्रह्म’पदस्य मुख्यार्थत्वं
न हि सम्भवति अतः इति अन्वयः. इति चेद् इति. एतावत्पर्यन्तं बादरिमतं
शङ्कराचार्यैः स्थापितम्. इतः परं तन्मतं दूषयितुम् आहुः स्याद् एतदेवम् इत्यादिना
निरस्तत्वाद् इत्यन्तेन. औपाधिकम् अपरं ब्रह्म उपास्यरूपम् अथच तादृशम्
औपाधिकं जीवत्वं वा स्यात् तदेव नास्ति इति आहुः यदि औपाधिकम् इति.
पुरस्तादेव पूर्वमेव निरस्तत्वाद् इति. अयम् अर्थः. “सदेव सोम्येदमग्र आसीद्”

इत्यादिभिः “तद्गुणसारत्वाच्च तद्व्ययपदेशः” (ब्रह्मसू.२।३।२९) इत्याद्यधिकरणैः श्रुत्यर्थनिर्णयेन ब्रह्मणि विशेषाणाम् औपाधिकत्वस्य जीवपुरुषोत्तमाभेदस्य च पुरस्तादेव निरस्तत्वात्. नच व्यापकत्वं गन्तव्यत्वे बाधकं, प्रारब्धभोगं विना तत्प्राप्त्यसम्भवात्. यदा यत्र तद्भोगसमाप्तिः तदा तत्र तत्प्राप्तेः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

यदा यत्र यस्मिन् लोके यस्मिन् काले.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

(छान्दो.उप.६।२।१) इति निर्विशेषब्रह्मप्रतिपादिका, “यतो वा इमानि” (तैत्ति.उप.३।१) इत्यादिश्रुतिः ब्रह्मणो जगत्कारणत्वप्रतिपादिका. एवञ्च निर्विशेषमेव जगत्कारणम् इति एकमेव ब्रह्म श्रुत्या वाक्यद्वयेन प्रतिपाद्यते. सा कारणता उपादानरूपा वक्तव्या. “आत्मैव इदं सर्वम्” (छान्दो.उप.७।२५।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः. तटस्थ-कारणतायाः प्रागेव निराकृतत्वात्. अतएव एकादशस्कन्धे “यथा सुवर्णं सुकृतं पुरस्तात् पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्यस्य, तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणां नानापदेशैरहमस्मि तद्वद्” (भाग.पुरा.११।२८।१९) इति भगवद्वाक्यात्. अथच ‘तदनन्यत्वम् आरम्भण-शब्दादिभ्यः’ (ब्रह्मसू.२।१।१४) इति सूत्रकृतोक्तत्वाद् घटशरावादयो मृदएव नामान्तरं यथा तथा प्रपञ्चरूपो विकारोऽपि ब्रह्मणएव नामान्तरम्. एवञ्च उपादान-तत्सिद्धौ ब्रह्मणि अनेकशक्तिमत्त्वं सिद्धम्. एवञ्च विरुद्धदर्माधारत्वाद् एकमेव ‘परापर’शब्देन व्यवहियते. अतएव “अतः परं नान्यदणीयसं हि परात्परं यो महतो महान्तम्” (महाना.उप.१।५) इति श्रुतौ उक्तम्. “द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये” (मैत्रा.उप.६।२२) इत्यादिश्रुतौतु अक्षरपरब्रह्मणी विषयौ, नतु उपाधिमत्त्वेन अपरत्वं तदभावेन परत्वं ब्रह्मणो वक्तव्यम्. एवं जीवेऽपि उपाधिः नास्ति, नापि ब्रह्माभेदः. “अंशो नानाव्यपदेशाद्” (ब्रह्मसू.२।३।४३) इति सूत्रेण अंशत्वमेव व्यवस्थापितत्वात्. तस्मात् ‘प्रकृतैतावत्त्वम्’ इत्याद्यधिकरणैः इदं सर्वं निषिध्यते इति अर्थः. एवञ्च बादरिमताग्रहो न कर्तव्यः इति दिक्.

मम बादरिमताग्रहो मास्तु, परन्तु भवन्मते गन्तव्यत्वं न सम्भवति. ब्रह्मणो व्यापकत्वाद् इति आशङ्कते नच इति. परिहरति प्रारब्धेति. यदा यस्मिन् काले यत्र यस्मिन् लोके स्वर्गादौ. तथाच प्रारब्धभोगस्य प्रतिबन्धकत्वात् तदभावस्य कारणत्वाद् गमनेन प्रतिबन्धकनिवृत्तिः इति भावः. ननु एवंरीत्या अनुपपत्तिपरिहारो भवतु नाम परन्तु सगुण-निर्गुणभेदेन विद्याद्वयम् अस्ति. सगुणविद्या ‘अपरा’पदवाच्या, ‘परा’पदवाच्या निर्गुणब्रह्मविद्या. तत्र पञ्चाग्निविद्यातु परा, तत्र गतिश्रुतीनामपि तदङ्गत्वेन पाठो दृश्यते

निष्प्रत्यूहत्वात्. किञ्च. उपास्यरूपाणां सर्वेषां निर्गुणत्वमेव, उपासकस्य परं सगुणत्वेन तत्तारतम्यात् फलतारतम्यम्. यस्तु भगवदनुग्रहेण प्राकृतगुणरहितो अभूत्, सः निर्गुणब्रह्मविद्यावान् इति उच्यते. तादृशस्यैव मुक्तिप्रकारद्वयम् उक्तं, सद्योमुक्तिक्रममुक्तिभेदेन. “न तस्मात् प्राणाः उत्क्रामन्ति अत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्म अप्येति” (बृहदा.उप.६।४।२२) इत्यादिश्रुतिस्तु प्रारब्धरहितविषया. निर्गुणब्रह्मविद्यावतोऽपि प्रारब्धभोगस्तु त्वयापि वाच्यः, अन्यथा प्रवचनासम्भवेन ज्ञानमार्गएव उच्छिद्येत. “ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले” (महाना.उप.१२।३) इतिश्रुतिरपि परान्तकालएव येषां प्रारब्धभोगसमाप्तिः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तत्प्राप्तेः ब्रह्मप्राप्तेः. फलतारतम्यं विलम्बाविलम्बादिरूपं तारतम्यम् इति अर्थः. अन्यथा निर्गुणब्रह्मविद्यावतः प्रारब्धभोगानङ्गीकारे ॥१४॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इति तासां श्रुतीनाम् उभयविद्यासाधारणत्वमेव अस्ति इति वक्तव्यम्. एवञ्च सगुणब्रह्मविद्योपासकस्य सगुणब्रह्म लोके कार्यरूपे कमलासनस्य लोके गतिः सिद्धा. एवं पञ्चाग्निविद्योपासकस्यापि तत्रैव गतिः वक्तव्या, गतिश्रुतीनां साधारणत्वाद् इत्यतः आहुः किञ्च इति. निर्गुणत्वमेव इति. प्राकृतगुणरहितत्वमेव इति अर्थः. ननु एवं चेत् सगुणब्रह्मविद्यावान् निर्गुणब्रह्मविद्यावान् इति व्यवहारोच्छेदः इत्यतः आहुः यस्तु इति. तादृशस्यैव इति. निर्गुणब्रह्मविद्यावतः इति अर्थः. भेदेन इति. प्रारब्धरहितस्य सद्योमुक्तिः, तत्सहितस्य क्रममुक्तिः इति अर्थः. तत्र प्रारब्धसहितस्य क्रममुक्तिबोधिका श्रुतिस्तु “शतं चैका पुरुषस्य नाड्यः” (छान्दो.उप.८।६।६), “ते अर्चिः अभिसम्भवन्ति” (बृहदा.उप.६।२।१५) इति.

ननु निर्गुणब्रह्मविद्यावतोऽपि प्रारब्धं स्वीकर्तव्यम् इति असमञ्जसम् इत्यतः आहुः निर्गुणब्रह्मविद्यावतः इति. उच्छिद्येत इति. यस्य निर्गुणब्रह्मज्ञाने जाते प्रारब्धाभावे शरीरनाशे सति अध्यापनरूपप्रवचनाभावे ज्ञानमार्गप्रचारो न स्याद् इति अर्थः. ननु “ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले” (महाना.उप.१२।३) इति श्रुतौ ‘सर्व’पद-ग्रहणात् सगुणब्रह्मविद्यावतामपि परामर्शः इति स्वीकर्तव्यम्. अन्यथा श्रुतिव्याकोपः स्याद् इत्यतः आहुः ते ब्रह्मलोके इति. सगुणब्रह्मविद्यावतः अशुद्धसत्त्ववत्त्वात् श्रुतौ पूर्वार्धे ‘शुद्धसत्त्वा’ इति विशेषणानर्थक्यम्. तथाच लक्षणया कथञ्चिद् व्याख्यानन्तु बादरेः आचार्यस्य सम्मतं न अस्माकम् इति अलं पल्लवितेन ॥१४॥

अनेन सूत्रेण अन्यदपि श्रुतिवाक्यं सगुणचतुर्मुखब्रह्मपरं न भवति इत्यत्र अपरं

तद्विषयिणी इति मन्तव्यम्. अन्यथा “वेदान्तविज्ञान” (महाना.उप.१२।३)
इत्याद्युक्तधर्मविशिष्टानां मुक्तौ विलम्बो न उपपद्येत इति दिक् ॥१४॥

नच कार्ये प्रतिपत्यभिसन्धिः ॥१५॥

अपिच. “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१) इति सङ्क्षेपेण
उक्त्वा, “तदेष अभ्युक्ता” इति तद्विवरिकाम् ऋचं प्रस्तुत्य, सा उक्ता “सत्यं
ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म. यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्, सो अश्नुते सर्वान्
कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता” (तत्रैव) इति. अत्र उपक्रमानुरोधेन परेणैव
ब्रह्मणा सह सर्वकामभोगलक्षणा प्रतिपत्तिः उच्यतइति कार्यरूपे वस्तुमात्रे
प्रतिपत्तिः न क्वापि श्रुतेः अभिप्रेता, अतो अत्रापि परमेव ‘ब्रह्म’पदेन उच्यते.
ऋगर्थस्तु आनन्दमयाधिकरणे प्रपञ्चितइति न अत्र उक्तः ॥१५॥

इति चतुर्थाध्याये तृतीयपादे तृतीयं कार्यं बादरिः इति अधिकरणम् ॥३॥

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पूर्वोक्तरीत्या प्रासङ्गिकं मतान्तरं परिहृत्य जैमिनिमतं सिद्धान्तत्वेन उरीकृत्य
सूत्रं व्याकुर्वन्ति अपिच इत्यादिना. तद्विवरिकां “ब्रह्मविदाप्नोति परम्”(तैत्ति.
उप.२।१) इत्यस्य विवरिकाम्. सा उक्ता “सत्यं ज्ञानम्” इति ऋगुक्ता. उपक्रमा-
नुरोधेन “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” इत्यस्यानुरोधेन. प्रतिपत्तिः मुक्तिफलभोगरूपा.
अभिप्रेता इति अभिसन्धिः इति सूत्रभागस्य अर्थः. अत्रापि “ब्रह्म गमयति” इति
श्रुतावपि. ऋगर्थस्तु “सत्यं ज्ञानमनन्तम्” इति ऋगर्थस्तु ॥१५॥३॥

पूर्वाधिकरणसिद्धान्तम् अनुवदन्तः सूत्रम् अवतारयन्ति क्रममुक्त्यधिकारिणः

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

हेतुं व्याख्यातुम् आहुः अपि च इति. सा उक्ता इति. सा ऋग् उक्ता. सा का? इत्यतः
आहुः सत्यम् इति. “ब्रह्मणा सह” इत्यत्र सगुणं ब्रह्म विवक्षितं न भवति इति अत्र
हेतुम् आहुः अत्र इति. “आप्नोति परम्” इत्यत्र ‘पर’शब्देन परब्रह्मणएव उपक्रमो
अस्ति इति तदनुरोधेन इति अर्थः. वस्तुमात्रे प्रतिपत्तिः इति. ‘प्रति’शब्दस्य
प्रतिकूलार्थकत्वं ‘पत्ति’शब्दस्य गत्यर्थकत्वम्. एवञ्च संसारप्रतिकूला गतिः न क्वापि
कार्ये श्रुतेः अभिप्रेता इति अर्थः ॥१५॥३॥

सिद्धार्थानुवादपूर्वकं सूत्रम् अवतारयन्ति क्रमेति. संशयम् आहुः तत्र इदम्
इति. तान् इति. उपासनाविशेषवतः. पूर्वपक्षम् आहुः किमत्र इति. सिद्धान्तं वक्तुं

क्रममुक्त्यधिकारिणः प्रारब्धं भुक्त्वा अमानवेन पुरुषेण प्रापिताः परमेव ब्रह्म प्राप्नुवन्ति इति सिद्धम्. तत्र इदं सन्दिह्यते. अर्चिरादिलोकप्राप्तिः हि उपासनाविशेषफलम्. एवं सति अमानवः पुरुषः तान् सर्वान् ब्रह्म प्रापयति उत कांश्चिदेव? इति. किम् अत्र युक्तं? सर्वानेव इति. यतो अर्चिरादिमार्गगतानाम् अन्ते ब्रह्मप्रापणार्थमेव सः नियुक्तः, ततो अन्यथाकरणे हेत्वभावात् तथैव सः कर्ता इति प्राप्ते, उच्यते. श्रुतौ ब्रह्मत्वेनैव सर्वत्र उपासनायाः उक्तत्वाद् उपास्येषु भगवद्विभूतिरूपत्वेन शुद्धब्रह्मरूपेष्वपि अतथात्वं ज्ञात्वा श्रुतिः ब्रह्मत्वेन उपासनायाः फलसाधनत्वं वदति, नतु उपास्ये ब्रह्मतामपि इति मन्वानाः यः उपासते, ते **प्रतीकालम्बनाः** इति उच्यन्ते. तथाच सत्यपि वेदविहितत्वेन उपासनायाः कृतत्वेन सफलत्वात् तत्फलत्वेन उपासकानाम् अर्चिरादिलोक-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इत्यादिना. **सिद्धम्** एतत्सूत्रपूर्वसूत्रेषु सिद्धम्. तत्र अमानवपुरुषेण प्रापणे. तान् अर्चिरादिमार्ग-गतान्. संशयम् उक्त्वा पूर्वपक्षम् आहुः **सर्वान्** इत्यादि. सो अमानवः पुरुषः. समाधानम् आहुः **श्रुतौ** इत्यादिना. **शुद्धब्रह्मरूपेषु** ब्रह्मविभूतिरूपेषु इति अर्थः. **अतथात्वं ज्ञात्वा** शुद्धब्रह्मत्वम् अज्ञात्वा. **उपास्ये ब्रह्मताम्** अब्रह्मत्वेन निर्णीते ब्रह्मत्वेन उपासना कार्या. **इति मन्वाना ये** इति. उपासनाप्रकारानङ्गीकुर्वतः. तथाच एतादृशान् उद्दिश्य अग्रे उच्यते. **उपासते ते** इत्यादि. ते ब्रह्मत्वेन निर्णीते ब्रह्मत्वेन उपासनाकर्तारः. **सत्यपि** तेषां प्रतीकालम्बनत्वे सत्यपि इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रार्थम् आहुः **उच्यते** इति. **अतथात्वम्** अब्रह्मत्वं ज्ञात्वा. अस्यैव अर्थम् आहुः **श्रुतिः ब्रह्मत्वेन** इत्यारभ्य **मन्वानाः** इत्यन्तेन. **प्रतीकालम्बना** इति. “न प्रतीकः” (ब्रह्मसू.४।१।४) इति सूत्रोक्तं अतस्मिन् तत्त्वेन उपासनं प्रतीकं, तथोपासकाः ‘प्रतीकालम्बन’पदवाच्याः इति अर्थः. **तथाच** इति. एवञ्च तेषां प्रतीकालम्बनत्वे सति. **सफलत्वाद्** इति. यथा शुद्धकर्मिणां पूर्वकाण्डस्य ब्रह्मणि तात्पर्यं नास्ति किन्तु कर्मणि एवञ्च तात्पर्यभ्रमेण यजतः कर्मणः सफलत्वम् एवं प्रतीकोपासनायाः सफलत्वाद् इति अर्थः. **तत्फलत्वेन** इति. तादृशोपासनायाः फलम् अर्चिरादिः इति अर्थः. **अर्चिरादिलोकेति**. यजतां स्वर्गादिरूपं फलं यथा तथा तादृशोपासकानां तल्लोकप्राप्तावपि इति अर्थः. तथाच तेषां स्वर्गभोगानन्तरं पुनरावृत्तिः यथा तथा

प्राप्तावपि तान् अमानवः पुरुषो ब्रह्म न प्रापयति, किन्तु शुद्धब्रह्मत्वं ज्ञात्वा यः उपासते, तानेव ब्रह्म प्रापयति इति बादरायणः आचार्यो मन्यते. तत्र हेतुम् आह उभयथादोषाद् इति.

वस्तुतो यद् ब्रह्मरूपं, तत्र अब्रह्मत्वनिश्चयः उपासनार्थं च ब्रह्मत्वेन भावनम् एवम् उभयथाकरणे दोषः सम्पद्यतइति तस्य न ब्रह्मप्राप्तौ अधिकारो अस्तीति युक्तं तदनयनम् इति अर्थः. तथाच श्रुतिः “असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति वेद चेद्” (तैत्ति.उप.२।६) इति, “योन्यथा सन्तमात्मानम् अन्यथा प्रतिपद्यते, किंतेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणः” (महाभा.शान्तिप.२२१।२७) इति.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

शुद्धब्रह्मत्वम् उपास्यविभूतिरूपेषु शुद्धब्रह्मत्वम्. बादरायणो व्यासः. एतदन्तसूत्रार्थम् उक्त्वा अवशिष्टभागार्थं वक्तुम् आहुः तत्र इत्यादि. यद् ब्रह्मरूपं विभूत्यात्मकं ब्रह्मस्वरूपम् इति अर्थः. तस्य तादृशप्रतीकोपासकस्य. सूत्रशेषं व्याकर्तुम् आहुः एवम् इत्यादि. तत्क्रतुश्च इतीति. तद् भजनं क्रतुः यस्य सः तत्क्रतुः भक्तः इति अर्थः. न तस्य इत्यादि. भक्तियोगस्यैव प्रापकत्वाद् न इतरापेक्षा इति अर्थः. प्राचीनभजनेत्यादि. प्राचीनभजनलक्षणः क्रतुः यस्य इति अर्थः. नीयते भक्तियोगेन नीयते इति अर्थः.

नीयते इति लकारव्यत्ययात् सूत्रे नयति इत्यस्यानुसारात् पक्षान्तरम् आहुः वस्तुतः इत्यादि. ब्रह्मलोकान् इति नानालीलास्थानाभिप्रायेण उक्तम्. प्रथमान्तः उक्तः. सूत्रे नयति इति कर्तरिप्रयोगः उक्तः इति अर्थः. प्रथमान्तकर्तृकप्रयोगेण “स्वतन्त्रः कर्ता” (पाणि.सू. १।४।५४) इति स्मृतेः गमने कर्तुः स्वातन्त्र्यमपि द्योतितम्. उपास्यरूपेषु असत्त्वेन ज्ञाने अब्रह्मत्वेन ज्ञाने च “असन्नेव स भवति”

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

उपासकानामपि पुनरावृत्तिः इति भावः.

सौत्रहेतोः अर्थम् आहुः वस्तुतः इति. तथा दोषसत्त्वे प्रमाणं श्रुतिद्वयम् आहुः तथाच इति. सूत्रशेषं व्याकर्तुम् आहुः एवम् इति. अर्थम् आहुः सर्वम् इति. न प्रतीकादीति. यथाच सूत्रे अप्रतीकालम्बनान् इति पदेन भक्तस्यापि परिग्रहः तत्क्रतुश्च इत्यत्र ‘तत्’पदस्य तदनन्तरम् अर्थः, एवञ्च अमानवः पुरुषो भक्तान् नयति स्वकीयेच्छया तत् तदनन्तरं ब्रह्मलोके भोगानन्तरं क्रतुश्च नीयते इति अर्थः. एवञ्च कर्मार्थत्वेन अत्र नीयते इति सूत्रे नयति इति लटः कर्त्रर्थस्य लकारार्थव्यत्ययः इति

एवं ज्ञानमार्गीयव्यवस्थाम् उक्त्वा भक्तिमार्गीयस्यापि ताम् आह तत्क्रतुश्च इति. “सर्वं मदभक्तियोगेन” (भाग.पुरा.११।२०।३२) इति वाक्याद् न तस्य उपासनापेक्षेति न प्रतीकादिसम्भावना तत्र. “कथञ्चिद् यदि वाञ्छति” (तत्रैव) इति वाक्याद् इच्छामात्रेण तद्भोगकरणानन्तरं प्राचीनभगवद्भजन-लक्षणक्रतुश्च नीयते इति अर्थः. वस्तुतस्तु भक्तस्य अमानवपुमपेक्षाभावात् स्वयमेव ब्रह्मलोकान् प्राप्नोति इति ज्ञापनाय प्रथमान्तः उक्तः.

ननु ब्रह्मणो अधिकं न किञ्चिद् अस्ति, “न तत्समश्च अभ्यधिकश्च दृश्यते” (श्वेता.उप. ६।८) इति श्रुतेः. एवं सति छान्दोग्ये सनत्कुमार-नारदसंवादे “स यो नाम ब्रह्म इति उपास्ते” (छान्दो.उप.९।१०।१) इत्यादिना नाम-वाङ्-मनः-सङ्कल्प-चित्त-ध्यान-विज्ञानादीनां ब्रह्मत्वेन उपासनम् उत्तरोत्तरं पूर्वस्मात् पूर्वस्माद् भूयस्त्वं च उच्यते. अतो न ब्रह्मत्वं सर्वेषाम् उपास्यानां वक्तुं शक्यम् इति चेद्, मैवम्. विभूतिरूपाणां नियतफलदातृत्वाद् येन रूपेण अल्पफलदानं, तत्र अधिकगुणप्राकट्ये प्रयोजनाभावात् तावन्मात्र-गुणप्रकटनं, येन रूपेण ततो अधिकफलदानं, तत्र ततो अधिकगुणप्रकटनमिति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

(तैत्ति.उप.२।६।१) इत्यादिदूषणानि उक्तानि. वादी शङ्कते ननु इत्यादि. उत्तरोत्तरं पूर्वपूर्वापेक्षया अधिकाधिकत्वेन. भूयस्त्वम् उत्तरोत्तरस्य भूयस्त्वम्. न ब्रह्मत्वं ब्रह्मत्वेन अभिमतपूर्वस्माद् उत्तरस्य आधिक्यश्रवणाद् “न तत्समः” (श्वेता.उप.६।८) इत्यादिश्रुतिविरोधाद् न ब्रह्मत्वम् इति अर्थः. समाधानम् आहुः मा एवम् इत्यादिना. तथाच न्यूनाधिक्यफलदातृत्वरूपमेव तेषु न्यूनाधिकव्यवहारहेतुः नतु वस्तुनि ब्रह्मणि

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अस्वरसः. इमम् अस्वरसं हृदि निधाय प्रकारान्तरम् आहुः वस्तुतः इति. स्वयमेव इति. तत्क्रतुः इति प्रथमान्तं भक्तवाचकम्. एवञ्च तत्क्रतुभक्तः इच्छामात्रेण स्वयमेव स्वात्मानं नयति इति अर्थे न प्रयोगव्यत्ययः इति भावः.

इदानीम् उपास्येषु अब्रह्मत्वज्ञाने असमत्वज्ञाने च दोषः इति उक्तम्. तत्र पूर्वपक्षम् आहुः ननु इति. छान्दोग्ये अन्ते. विज्ञानादीनाम् इति. नामेत्यादीनां सप्तानां भूमव्यतिरिक्तानाम् इति अर्थः. तथाच तेषु असमत्वज्ञानम् अब्रह्मत्वज्ञानं च अस्ति इति तयोः न दोषत्वं छान्दोग्यप्रामाण्याद् इति भावः. समाधानम् आहुः मा एवम् इति. लीलारूपम् इति इति. नामादिरूपेषु न्यूनाधिकगुणप्रकटनम् इच्छया कृतं लीलार्थं नतु

पूर्वस्माद् आधिक्यम् उच्यते. एवमेव सर्वत्र. नियतफलदानन्तु स्वतन्त्रेच्छत्वाद् लीलारूपमिति न अनुपपन्नं किञ्चित्. प्रतिमादिषु आवाहनेन सन्निहिते विभूतिरूपे तद्भावनं पूजामार्गे. भक्तिमार्गेतु भक्त्या तत्र प्रकटे तथा. गुरौतु, “शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मणि” (भाग.पुरा.११।३।२१) इति विशेषणवत्त्वेन भगवदावेशात् तत्र तद्भावनम् इति सर्वम् अवदातम्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

परिच्छिन्नत्वादिकमपि इति भावः. ननु वस्तुतोऽतद्रूपे प्रतिमादौ तत्तत्त्वेन भावनाद् यथावाचनिकं तत्तत्फलं भवति तथा ब्रह्मणि तत्तद्रूपे सत्यपि ब्रह्मत्वेन उपासनेपि वाचनिकं फलं भविष्यति इत्यतः आहुः प्रतिमा इत्यादि. सन्निहिते इति. तथाच तत्र विद्यमानस्यैव भावनात् फलं नतु असतः सकाशाद् इति अर्थः. तत्र प्रतिमादौ. तथा भावनं फलदानं च इति अर्थो नतु अविद्यमाने. तत्र गुरौ. तद्भावनं ब्रह्मभावनम्. सर्वं पूर्वपक्षितम्. अवदातं विद्यमानस्यैव भावनाद् वाचनिकं फलं नतु असतः सकाशाद् इति समाहितम् इति अर्थः.

ऋषिद्वयमतनिरूपणोत्तरं स्वसिद्धान्तनिरूपणे व्यासाशयम् आहुः अपिच
गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

तैः रूपैः ब्रह्मणः समाभ्यधिकत्वहानिः. ब्रह्मणो अनन्तरूपत्वात् तेषां ब्रह्माभिन्नत्वाद् ब्रह्मणः एकत्वात् च. अत्र दृष्टान्तः. विस्फुलिङ्गानां न्यूनाधिकभावेऽपि अग्नेः अग्नित्वहानिः नास्ति. विस्फुलिङ्गानामपि न अग्नित्वहानिः. तथाच अब्रह्मत्वज्ञानं दोषावहमिति समीचनएव पूर्वसूत्रार्थः इति भावः. ननु उपास्यरूपेषु ब्रह्मत्वाभावे का हानिः यथा प्रतिमादौ देवबुद्ध्या पूजायां फलसिद्धिः तथा अत्रापि मोक्षः इत्यतः आहुः प्रतिमादिषु इति. आदिपदेन सूर्यो अग्निः ब्राह्मणाः गावः इत्यादीनां संग्रहः. तद्भावनम् इति. विभूतिरूपदेवबुद्धिः इति अर्थः. भक्तौ आहुः भक्तीति. तत्र प्रतिमादौ भक्त्या इत्यनेन आवाहनापेक्षा नास्ति इति. प्रकटे इत्यनेन पूजापेक्षया आधिक्यं च सूचितम्. तथा तद्भावनम्. ननु गुरौ आवाहनाभावेन सन्निहितत्वाभावेऽपि कार्यसिद्धिः जायते सा न स्याद् इत्यतः आहुः गुरौतु इति. “शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मणि” (भाग.पुरा. ११।३।२१) इति वचनाद् उपनिषद्रूपशब्दजन्यशाब्दबोधविषये ब्रह्मणि निष्णातत्वरूप-विशेषणविशिष्टत्वेन भगवदावेशस्य सत्त्वाद् न आवाहनापेक्षा इति भावः. एवञ्च केवलं बुद्धिमात्रं फलप्रयोजकं न भवति किन्तु तत्तद्रूपसन्निधानं प्रतिमादौ अपेक्षितम् इति हृदयम्.

इदानीम् ऋषिद्वयमतकथनानन्तरं स्वमतकथने तात्पर्यम् आहुः अपिच इति.

अपिच बादरि-जैमिनिमतोक्त्यनन्तरं स्वमतोक्त्या तत्समानविषयत्वम् अत्रापि इति अवगम्यते. तत्रच कार्यब्रह्मलोकप्राप्तिपरब्रह्मप्राप्तिविषयत्वम् उक्तं पूर्वोत्तरपक्षभेदेन. बादरिमते सविशेषस्यैव उपास्यत्वाद् विशेषाणां च आविद्यकत्वाद् उपासनानां सर्वासां प्रतीकतद्रूपत्वमेव सिध्यति. एवं सति अप्रतीकालम्बनान् नयति इति वदता व्यासेन बादरिमतानुसारिणः उपासकस्य न कस्यापि ब्रह्मप्राप्तिः इति ज्ञाप्यते. वस्तुतस्तु उपासनायाम् उपास्यस्वरूप-ज्ञानस्यापि अङ्गत्वात् तन्मतीयानाम् उक्तरीत्या तदभावेन निरङ्गत्वाद् अर्चिरादि-प्राप्तिरपि न सम्भवति, किं पुनः ब्रह्मणः इति निगूढाशयो व्यासस्य. एवं सति परप्राप्तावेव उपोद्बलकम् उक्तं भवतीति सैव व्यासाभिमत इति सिद्धम्. येतु

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इत्यादि. तत्समानविषयत्वम् अप्रतीकालम्बनान् नयति इति सूत्रभागेन प्रतीकाल-म्बनकर्तुः बादरेः निराकरणं जैमिनिमताङ्गीकारश्च इति सूत्रे तात्पर्यवत्वम् इति अर्थः. तत्र बादरि-जैमिनिमतयोः. प्राप्तिविषयत्वं प्राप्तेः विषयत्वम् इति अर्थः. पूर्वोत्तरेत्यादि. बादरिमतं पूर्वपक्षत्वेन जैमिनिमतं च उत्तरपक्षत्वेन इति अर्थः. उक्तरीत्या उपासनानाम् आविद्यकत्वेन अलीकत्वाद् इति उक्तरीत्या इति अर्थः. तदभावेन उपास्यप्रमाभावेन इति अर्थः. उपोद्बलकं साधकं सूत्रम्. सैव परप्राप्तिरेव. दूषयितुं शाङ्करमतम् अनुवदन्ति ये इत्यादिना. प्रतीकेषु आरोपितब्रह्मत्वप्रकारकज्ञानविशेष्येषु. तथात्वेऽपि

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

तत्समानेति. उभयमतसमानविषयत्वम्. अत्रापि व्यासमतेऽपि इति अर्थः. तथाच “सः एतान् ब्रह्म गमयति” (छान्दो.उप.४।१५।५) इत्यत्र ‘ब्रह्म’पदे त्रयाणां विचारात् समानविषयत्वम् इति भावः. तत्र जैमिनिमते कार्यं ब्रह्म इति बादरिमतोक्तं पूर्वपक्षीकृत्य परं ब्रह्मैव सिद्धान्तितम् इति कार्यब्रह्मपरब्रह्मविषयत्वं, बादरिमतेतु कार्यं ब्रह्मैव विषयः, व्यासमतेतु परं ब्रह्मैव विषयः. तदेतद् विशदयन्ति तत्र च इत्यादिना. तत्र च जैमिनिमते च. प्रतीकेति. प्रतीकोपासनरूपत्वम् इति अर्थः. एवञ्च बादरिमते व्यासोक्तम् अस्वरसं स्फुटीकुर्वन्ति एवं सति इति. बादरिमते प्रतीकोपासनासिद्धौ सत्याम्. व्यासेन इति. ज्ञाप्यते इति अग्रेण अन्वयः. तन्मते उपासनायाः कार्यब्रह्मलोकप्रापकत्वमपि नास्ति इति व्यासाशयं प्रकटीकुर्वन्ति वस्तुतस्तु इति. उक्तरीत्या इति. उपास्ये अब्रह्मत्वम् अज्ञात्वा ब्रह्मत्वेन उपासना इतिरीत्या इति अर्थः. एवं सति इति. अङ्गज्ञानाभावेन अप्राप्यत्वे सति. उपोद्बलकम् इति. अप्रतीकालम्बननयनकथनम् इति शेषः. अत्रैव शङ्कराचार्यमतम्

प्रतीकेषु अब्रह्मक्रतुत्वं वदन्तः पञ्चाग्निविद्यायाः तथात्वेऽपि वचनबलात् तद्वतो ब्रह्मप्राप्तिः इति वदन्ति, तत्र इदम् उच्यते. वचनन्तु वस्तुसतः पदार्थस्य बोधकं नतु कारकम्, अतः तत् चेद् बोधयति तदा प्रतीकालम्बनान् नयति इति व्यासोक्त्यविरोधाय तत्रापि अप्रतीकत्वम् ऊरीकार्यम्, अन्यथा पञ्चाग्नि-विद्यानिरूपिकां श्रुतिं पश्यन् एवं सः न वदेत्.

नच औत्सर्गिकं पक्षम् आश्रित्य तथा उक्तम् इति वाच्यम्. तस्य

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

प्रतीकालम्बनत्वेऽपि. अब्रह्मक्रतुत्वेऽपि इति फलितम्. तद्वतः पञ्चाग्निविद्यावतः. तद् दूषयन्ति तत्र इदम् इत्यादिना. कारकं ब्रह्मप्राप्तौ कारणम् इति अर्थः. तत् पञ्चाग्निविद्यावाक्यम्. बोधयति प्रतीकोपासकस्य ब्रह्मप्राप्तिं बोधयति. तत्र उपासनाविषये. अप्रतीकत्वं वास्तवं ब्रह्मत्वम्. सः सूत्रकारः. एवं न वदेद् अप्रतीकोपासकानां नयनं न वदेत्. इत्थं च पञ्चाग्निविद्यायां “मूर्धैव सुतेजा” (छान्दो.उप.५।१८।२) इत्यादिश्रुतिभिः उपास्यानाम् अङ्गत्वबोधनाद् अङ्गोपासनैव इयं न प्रतीकोपासना इति अर्थः. औत्सर्गिकम् इत्यादि. तथाच बाधकापोद्यो नियमः उत्सर्गः यावद् उपासकस्य सर्वत्र ब्रह्मातिरिक्ते मिथ्यात्वनिश्चयो नास्ति तावत् सर्वत्र उपास्ये

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

आहुः येतु इति. अब्रह्मक्रतुत्वं ब्रह्माप्रापकोपासनत्वम्. वदन्तः इति. ये तन्मते इति शेषः. तथात्वेऽपि अब्रह्मक्रतुत्वेऽपि. तद्वतः प्रतीकपञ्चाग्निः उपासनावतः इति अर्थः. वचनबलात् पञ्चाग्निविद्यास्थातिवाहिकवचनबलात्. एवञ्च प्रतीकेष्वपि ब्रह्मप्राप्तिः वर्तते इति भावः. तन्मते दूषणम् आहुः वचनन्तु इति. विधिभिन्नं वचनन्तु इति अर्थः. बोधकं यथा “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१।१) इति वाक्यं बोधकं तथा इति अर्थः. नतु कारकम् इति. यथा “ज्योतिष्टोमेन यजेत” (शतप.ब्राह्म.१०।२।१।६) इति वाक्यम् इति अर्थः. एवं चेत् प्रकृते किम्? अतः आहुः अतः इति. बोधयति ब्रह्मप्राप्तिं बोधयति इति अर्थः. तत्रापि पञ्चाग्निविद्यायामपि. ऊरीकार्यम् इति. स्वीकार्यम् इति अर्थः. तथाच पञ्चाग्निविद्यायां “मूर्धैव सुतेजा” (छान्दो.उप.५।१८।२) इत्यादिश्रुत्या लोकादीनां ब्रह्माङ्गत्वाद् अङ्गविद्यात्वाद् अप्रतीकत्वम् इति भावः. एवं सः न वदेद् इति. अप्रतीकालम्बनान् नयति इति सः व्यासः न वदेद् इति अर्थः.

अत्र आशङ्कते नच इति. औत्सर्गिकम् इति. तत्क्रतुं नयतीति सामान्यपक्षम् आश्रित्य इति अर्थः. तथोक्तम् इति. अप्रतीकालम्बननयनम् उक्तम् इति अर्थः. एवञ्च

बाधकापनोद्यत्वाद् वचनस्य च उक्तन्यायेन अबाधकत्वात्. यत्र वचनस्य बाधकत्वम् उच्यते, तत्र बाधबोधकत्वमेव, नतु तथात्वमिति उपेक्षणीयाः ते.

ननु मनःप्रभृतीनां शुद्धब्रह्मत्वे “मनो ब्रह्म उपास्ते” (छान्दो.उप.९।३

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अङ्गत्वं जानाति तद्दशाम् अभिप्रेत्य च अप्रतीकान् नयति इति व्यासैः उक्तं वस्तुतस्तु “अथात आदेशो नेति नेति” (बृहदा.उप.२।३।६) इत्यादिवाक्यैः सर्वस्य मिथ्यात्वे निश्चिते सर्वस्मिन् उपास्ये ब्रह्मत्वाङ्गादीनां बाधनाप्रतीकोपासनासम्भवाद् उत्सर्गपक्षम् आदाय व्यासैः तथा उक्तत्वेऽपि प्रतीकोसनापक्षएव व्यासाभिप्रेतः इति अर्थः. तस्य प्रतीकोपासनापक्षस्य. बाधकेत्यादि. सकलोपास्यानां मिथ्यात्वे अब्रह्मत्वेन उपासने प्रतीकोपासनं स्यात् तत् च “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” (छान्दो.उप.३।१४।१) “ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्” (तत्रैव ६।८।७) “एकोऽहं बहु स्याम्” (तत्रैव ६।२।३) इत्यादिश्रुतिवाक्यैः बाधितत्वाद् न वाच्यम् इति अर्थः. वचनस्य मिथ्यात्वबाधकवचनस्य एवम् अन्यस्यापि विधिभिन्नस्य. उक्तन्यायेन “वस्तु सतः पदार्थबोधकं नतु कारकम्” इति उक्तरीत्या इति अर्थः. तथाच वचनस्य अबाधकत्वेऽपि बाधकबोधकता तिष्ठत्येव इति भावः. ततएव निवृत्तिसिद्धेः इति भावः.

पञ्चाग्निविद्यायाः ब्रह्मविद्यात्वे शङ्कते ननु इत्यादि. इतिशब्दशिरस्कं

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

“अथ पदार्थान् निरूपयति” इति उक्तं, तदनन्तरं “द्रव्यादीन् निरूपयति” इति उक्तं यथा तथा तत्क्रतुन्याये सामान्यपक्षम् आश्रित्य अप्रतीकालम्बननयनरूपविशेषबोधनम् इति न विरोधः इति भावः. उत्तरम् आहुः तस्य इति. तस्य औत्सर्गिकपक्षस्य. वचनस्य इति. पञ्चाग्निवचनस्य इति अर्थः. उक्तन्यायेन ब्राह्मणश्रमणन्यायेन इति अर्थः. ननु बाध्यबाधकभावो विधिभिन्नवाक्यस्थले न स्वीक्रियते चेद् वाक्ययोः बाध्यबाधकभावप्रसिद्धिः न स्याद् इत्यतः आहुः यत्र इति. नतु तथात्वम् इति. नतु बाधकत्वम् इति अर्थः. विधिभिन्नवाक्यस्य कारकत्वाभावाद् इति भावः. ननु बाधकत्वाभावे निवृत्तिः न स्याद् इति चेद्, न, बाधबोधेनैव निवृत्तिः भविष्यति इति उपेक्षणीया इति. तेषां मते तत्क्रतुश्रुतिबाधकल्पनं, तत्क्रतुपञ्चाग्निवाक्ययोः बाध्य-बाधकभावकल्पनं, व्यासे तच्छ्रुत्यविचारापादनं, पुनः औत्सर्गिकपक्षबोधकतया तद्विचारकल्पनम् इति कल्पनाचतुष्टयम्. अस्मन्मतेतु तत्क्रतुपञ्चाग्निवाक्ययोः सामान्य-विशेषभावेन समानविषयत्वमात्रं कल्पनीयम् इति लाघवात् ते उपेक्षणीया इति अर्थः.

पञ्चाग्निविद्यायाः ब्रह्मविद्यात्ममेव नास्ति इति शङ्कते ननु मनः इति.

१२) इति वदेद्, नतु प्रकारवाची 'इति' शब्दशिरस्कं 'ब्रह्म' पदम्, अतः उपासना-
प्रकारावच्छेदकत्वमेव 'ब्रह्म' पदस्य, नतु स्वरूपनिरूपकत्वम् इति चेद्, हन्त इदं
शब्दार्थानिवगमविजृम्भितमेव, यतो **“मन उपास्व”** (छान्दो.उप.९।३।१) इति
उक्त्वा तदुपासनाफलं **“यावन्मनोगतं तत्र अस्य कामचारो भवति”** इति
वदिष्यन् तदुपासनायाः एतत्फलसाधकत्वे प्रयोजकरूपाकाङ्क्षायाम् आह **“मनो
ब्रह्म”** (छान्दो.उप. ९।३।१) इति. 'इति' शब्दो अत्र हेतुत्ववाची. तथाच यतो
मनो ब्रह्म, अतो हेतोः तदुपासनं तादृक्फलसाधकम् इति अर्थः. अतएव **“मनो
हि ब्रह्म मन उपास्व”** इति पूर्वम् उक्तम्. सर्वत्र एवमेव ज्ञेयम् ॥१६॥

इति चतुर्थाध्याये तृतीयपादे चतुर्थम् अप्रतीकालम्बनाधिकरणम् ॥४॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

“मनो ब्रह्म इति उपासत” (तत्रैव ३।१८।१) इत्याकारकम् इति अर्थः.
प्रकारावच्छेदकत्वं ब्रह्मत्वेन उपासनं कार्यम् इति प्रकारबोधकत्वम् उपास्ये
ब्रह्मस्वरूपं वा बोधकत्वम् इति अर्थः. हन्त इति श्रुत्यर्थानवबोधात् खेदार्थकम्. इदं
ब्रह्मपदसमभिव्याहाराद् ब्रह्मत्वे उपासनाप्रकारावच्छेदकत्वनिर्वचनम्. शब्दार्थेत्यादि.
श्रुतिशब्दार्थाज्ञानविजृम्भितम् इति अर्थः. वाद्यज्ञानं प्रकटीकुर्वन्ति यतः इत्यादिना.
तन्मनोगतं मनसा विचारितम्. तत्र फले. अस्य उपासकस्य. कामचारो
यावद्वाञ्छितसिद्धिरूपः. तद् उपासनायाः मनउपासनायाः. एतत्फलेत्यादि.
वाञ्छितफलसाधकत्वे इति अर्थः. सर्वत्र 'ब्रह्म' पदोत्तरे 'ति' शब्दस्थले ॥१६॥४॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

प्रकारवाची इति. प्रकारवाची यः इतिशब्दः तच्छिरस्कं 'ब्रह्म' पदं **“मनो ब्रह्म इति
उपासीत”** (छान्दो.उप.३।१८।१) इति वाक्ये न वदेद् इति अर्थः. अतः इति. अतः
कारणाद् ब्रह्मत्वेन या उपासना तस्यां प्रकारीभूतं यद् ब्रह्मत्वं तदवच्छेदकत्वं
तदघटकत्वं 'ब्रह्म' पदस्य इति अर्थः. खण्डयन्ति हन्तेति. हन्त इति खेदे. शब्दार्थः
इति. 'इति' शब्दार्थः इति अर्थः. कथम् इदम्? इत्यतः आहुः यतः इति. इतिशब्दस्य
हेतुत्ववाचकत्वे यो अर्थः तम् आहुः तथाच इति. अत्र औ(?) पष्टम्भकम् आहुः
अतएव इति. पूर्वम् उक्तम् इति. **“मनो ब्रह्मेत्युपासीत इति”** इति शब्दशिरस्कं यद्
वाक्यं तत्कथनात् पूर्वम् इति अर्थः. सर्वत्र इति. **“ये अनं ब्रह्मोपासते”**
(छान्दो.उप.७।१।२) **“ये प्राणं ब्रह्मोपासते”** (तैत्ति.उप.२।३) इत्यादिवाक्येषु इति
शब्दशिरस्कता न दृश्यते. अन्ते **“मनो ब्रह्मेत्युपासीत”** इति वाक्ये 'इति' शब्दस्य

विशेषं च दर्शयति॥१७॥ (४।३।५)

सर्वाणि उपास्यानि रूपाणि ब्रह्मरूपाण्येवेति तदुपासकानां परप्राप्तिरेव इति सिद्धम्. तत्र इदं चिन्त्यते : ज्ञानमार्गीयाणां भक्तिमार्गीयाणां च अविशेषेणैव परप्राप्तिः उत कश्चिद् विशेषो अस्ति? इति. तत्र उभयोरपि ब्रह्मोपासकत्वेन अविशेषेणैव फलं भवति इति प्राप्ते, प्रत्याह. **विशेषं च श्रुतिः दर्शयति.** तैत्तिरीयके पठ्यते “**ब्रह्मविद आप्नोति परम्**” (तैत्ति.उप.२।१) इति गूढाभिसन्धिना सामान्यतः एतावदुक्त्वा, गूढं तम् उद्घाटयन्ति अतिगोप्यत्वम् अस्मिन् अर्थे अनुभवैकवेद्यत्वं च ज्ञापयन्ति आह “**तदेषाभ्युक्ता सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सो अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता**” (तत्रैव) इति. ‘तत्’ पूर्वोक्तं प्रतिपाद्यत्वेन अभिमुखीकृत्य एष ऋग् उक्ता, तदनुभवकर्तृभिः इति शेषः. ‘ब्रह्मविद्’ अक्षरब्रह्मविद्, ‘आप्नोति’ सान्निध्याद् अक्षरमेव आप्नोति. एतावान् अर्थो “यो वेद” इति अन्तयर्चा उक्तः. अथ ‘परमाप्नोति’ इति अर्थः उच्यते. ‘निहितम्’ इत्यादिना. अतएव मध्ये क्रियापदम् उभयसम्बन्धित्वज्ञापकत्वम् उक्तम्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

पूर्वाधिकरणसिद्धान्तम् अनुवदन्तो अधिकरणम् अवतारयन्ति **सर्वाणि** इत्यादिना. तदुपासकानां ब्रह्मत्वेन विभूतिरूपोपासकानाम्. इदं वक्ष्यमाणम्. संशयम् उक्त्वा पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इत्यादिना. अतएव अधिकारभेदेन फलभेदावश्यकत्वादेव. **उभयसम्बन्धित्वज्ञापनाय उभयफलप्राप्तिः.**

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

हेत्वर्थत्वं वक्तव्यम् इति अर्थः. अत्र अन्नाद्युपासनासु ब्रह्मोपासनात्वं नास्ति इति शङ्का तत्समाधानं च विस्तरेण प्रकाशे उक्तमिति विस्तरभयाद् अत्र विरम्यते॥१६॥४॥

पूर्वाधिकरणसिद्ध्यर्थम् आहुः **सर्वाणि** इति. अधिकरणम् अवतारयन्ति तत्र इति. संशयम् आहुः **ज्ञानमार्गीयाणाम्** इति. पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इति. सिद्धान्तसूत्रमेव आहुः **विशेषम्** इति. श्रुतिमेव आहुः **ब्रह्मविद्** इति. तदर्थम् आहुः **गूढेति. उक्त्वा** इति. श्रुतिः इति शेषः. आह इति. श्रुतिः इति शेषः. का वा श्रुतिः? इति आकाङ्क्षायाम् आहुः “**तदेषा**” इत्यादिना “**विपश्चिता**” इत्यन्तेन. अस्य अर्थम् आहुः तत्पूर्वोक्तम् इति. मध्ये क्रियापदम् इति. ‘आप्नोति’ इति क्रियापदम् इति अर्थः. तत्प्राप्तिश्च परप्राप्तिश्च. उच्यते इति. “निहितं गुहायाम्” इत्यादिना. कथम् उच्यते

तत्प्राप्तिश्च मर्यादा-पुष्टिभेदेन द्वेधा. तत्र आदौ मर्यादायाम् उच्यते. इह अयम् आशयो ज्ञेयः “**नायमात्मा प्रवचनेन**” (ठोप.उप.२।२२) इति श्रुत्या भगवद्वरणातिरिक्तसाधननिरासः क्रियते पुरुषोत्तमप्राप्तौ. एवं सति अक्षरब्रह्म-ज्ञानस्य तत्साधनत्वे उच्यमाने तद्विरोधः स्यात्. तेन एवम् एतद् अर्थो निरूप्यते. ज्ञानमार्गीयाणाम् अक्षरज्ञानेन अक्षरप्राप्तिः, तेषां तदेकपर्यवसायित्वाद्, भक्तानामेव पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वात्. तदुक्तं भगवद्गीतासु “**एवं सततयुक्ता ये**” इति प्रश्ने “**मय्यावेश्य मनो ये मां**” (भग.गीता १२।२), “**ये तु अक्षरम् अनिर्देश्यं**” (भग. गीता.१२।३), श्रीभागवते च “**भक्त्याहम् एकया ग्राह्यः**” (भाग.पुरा. ११।१४।२१), “**तस्मान् मदभक्तियुक्तस्य**” इति उपक्रम्य, “**न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद् इह**” (भाग.पुरा.११।२०।३१) इत्यादिना. तथाच ब्रह्मविदं चेद् भगवान् वृणुते, तदा भक्तिः उदेति. तत्प्रचुरभावे सति स्वयं तद्धृदि प्रकटीभविष्णुः स्वस्थानभूतं व्यापिवैकुण्ठं ‘तद्गुहायां’ हृदयाकाशे प्रकटीकरोति. तत् ‘परमव्योम’शब्देन उच्यते. अलौकिकप्रयोगेण तस्य अलौकिकत्वं ज्ञाप्यते. यथा स्वस्थापितं वस्तु अवश्यं स्वदर्शनयोग्यं भवति, तथा अत्र भगवानपि इति ज्ञापनाय

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इह फले. अयं वक्ष्यमाणः. एवं सति पुरुषोत्तमस्य वरणमात्रलभ्यत्वे सति. तत्साधनत्वे पुरुषोत्तमप्राप्तिसाधनत्वे. तद्विरोधो वरणमात्रलभ्यत्वविरोधः. एतद् अर्थः उक्तश्रुत्यर्थः. तेषां ज्ञानमार्गीयाणाम्. तदेकेत्यादि. अक्षरज्ञानमात्रविश्रान्तत्वाद् इति अर्थः. भक्तानामेव इति एवकारेण ज्ञानिव्यवच्छेदः. ब्रह्मविदम् अक्षरविदम्. तत्प्रचुरेत्यादि. तस्य वृत्तस्य. भगवति प्रचुरभावे सति इति अर्थः. तद् निहितव्यापि-वैकुण्ठं हृदयाकाशम्. अलौकिकप्रयोगेण “**परमे व्योमन्**” (तैत्ति.उप.३।६) इति अलौकिकप्रयोगेण. तस्य तादृशहृदयाकाशस्य अत्र गुहायाम्. भगवानपि इति. दर्शनयोग्यो भवति इति विभक्तिविपरिणामेन अन्वयो बोध्यः. तथाच परम् इत्यादि. अत्र हि एवं बोध्यम्. “**ब्रह्मविदाप्नोति परम्**” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यत्र देहलीदीपन्यायेन क्रियापदम् उभयत्र अन्वेति “**ब्रह्मविद् ब्रह्माप्नोति परमाप्नोति**”

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इति एतदर्थम् आशयं वर्णयन्ति इह इति. एवम् एतदर्थो निरूप्यते इति उक्तम्. तत्र सएव अर्थः इति आहुः ज्ञानेति.

ज्ञानिभक्तानां परप्राप्तिप्रकारम् आहुः भक्तानाम् इत्यारभ्य परमाप्नोति इति

‘निहितम्’ इति उक्तम्.

तथाच ‘परमाप्नोति’ इति पदविवृतिरूपत्वाद् अस्य ‘गुहायां’ ‘परमे व्योम्नि निहितं यो वेद, स “नास्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्म आप्येति” (बृहदा.उप.६।४।२२) इति श्रुत्युक्तरीत्या ‘परमाप्नोति’ इति अर्थः सम्पद्यते. अथ शुद्धपुष्टिमार्गे अङ्गीकृतस्य व्यवस्थाम् आह, “सो अश्नुते” इत्यादिना. अत्र अयम् अभिसन्धिः. यथा स्वयं प्रकटीभूय लोके लीलां करोति तथा अत्यनुग्रहवशात् स्वान्तःस्थितमपि भक्तं प्रकटीकृत्य तत्स्नेहातिशयेन तद्वशः सन् स्वलीलारसानुभवं कारयतीति ‘सः’ भक्तो ‘ब्रह्मणा’ परब्रह्मणा पुरुषोत्तमेन सह “सर्वान् कामान् अश्नुते” इति. ‘च’काराद् उक्ता श्रुतिः स्मृतयश्च सङ्गृह्यन्ते. एवं सति ज्ञानमार्गीयाणाम् अक्षरप्राप्तिरेव,

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

इतिरीत्या. च इत्थं विवरणं चर्च्यपि ‘यो वेद’ इत्यन्तो भागो ‘ब्रह्मविद्’ इत्यन्तस्य विवरणं ‘निहितं गुहायाम्’ इत्यादिभागस्तु ‘परमाप्नोति’ इत्यस्य विवरणं बोध्यम्. ‘यो वेद’ इत्यस्यापि देहलीदीपन्यायेन उभयत्र अन्वयः इति फलितम्. ‘सः’ इति यत्पदसमानार्थकं पदं बोध्यम्. अस्य परवेत्तुः. ब्रह्मैव सन् चतुर्भुजाद्याकारवान् सन्. ब्रह्माप्येति पूर्वोक्तरीत्या अनुग्रहबलाद् व्यापिवैकुण्ठस्थं पुरुषोत्तमं प्राप्नोति इति अर्थः. मर्यादापुष्टिज्ञानिभक्तिगतिं निरूप्य शुद्धपुष्टिभक्तस्य श्रीगोकुललीलाप्रवेशम् आहुः अथ शुद्धेत्यादिना. स्वान्तःस्थितमपि इति. अपिशब्दाद् भक्तस्नेहातिशयेन अतिकृपया. बहिःस्थितांस्तु स्वलीलाम् अनुभावय इत्येव इति सिद्धम्. सः शुद्धपुष्टिमार्गीयः. चकारात् सूत्रस्थचकारात्. स्मृतयश्च “मय्यावेश्य मनो ये मां” (भग.गीता १२।२)

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अर्थः सम्पद्यते इत्यन्तेन. अलौकिकप्रयोगेण इति. व्योम्नि इति अलौकिकप्रयोगेण इति अर्थः. पुष्टिमार्गे तु आहुः अथ इति. चकाराद् इति सूत्रोक्त ‘च’काराद् इति अर्थः ॥१७॥

इतिश्रीमन्मुकुन्दराय-सहजमाधुरी-परमानिर्वचनीय-सरसवदन-तामरस-
सुधाहृदावगाहि-श्रीमदाचार्यपदाब्ज-कृपापारसार-श्रीमत्प्रभुचरणात्मज-
महाराजयदुनाथकुलोद्भव-गोस्वामि-श्रीगोपालात्मज-गिरिधरविरचिते
अणुभाष्यविवरणे चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तिम् अफाणीत्

भक्तानामेव पुरुषोत्तमप्राप्तिः इति सिद्धम्॥१७॥५॥

इति श्रीवेदव्यासमतवर्ति-श्रीवल्लभाचार्यविरचिते श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्ये
चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

श्रीभागवते “भक्त्याहम् एकया ग्राह्यः तस्माद् मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः
न ज्ञानं नच वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद् इह” (भाग.पुरा.११।२०।३१)
इत्यादिरूपा॥१७॥५॥

इति श्रीमद्गोस्वामि-श्रीवल्लभजीसुत-गोपालजीविरचिते
अणुभाष्यपदप्रदीपे चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः॥३॥

चतुर्थो अध्यायः चतुर्थः पादः

सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्॥१॥ (४।४।१)

“ब्रह्मविदानोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१) इत्युपक्रम्य, “सो अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता” (तैत्ति.उप.२।१) इति तैत्तिरीयके पठ्यते. तत्र इदं सन्दिह्यते, किम् अन्तःस्थितएव अश्नुते, उत पुनर्जन्म प्राप्य? इति. तत्र अन्त्यस्तु अनुपपन्नः. “न स पुनरावर्तते” (छान्दो. उप. ८।१५।१), “तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ति” (बृहदा.उप.६।२।१५) इत्यादि-श्रुतिविरोधात् कर्माभावाच्च इति प्राप्ते प्रतिवदति, सम्पद्य ब्रह्म सम्पद्यापि स्थितस्य जीवस्य प्रभोः अत्यनुग्रहवशात् स्वरूपात्मक-भजनानन्द-दित्सायां तत्कृतः आविर्भावो भवत्येव. आविर्भावस्य भगवदधीनत्वज्ञापनाय अस्य तत्र कर्तृत्वं न उक्तम्.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

द्वितीयपादे सद्योमुक्तौ क्रममुक्तौ प्राप्य स्वरूपप्राप्तिप्रकारं दर्शयित्वा समाप्तौ ज्ञानमार्गीययोः सद्योमुक्तौ अक्षरप्राप्तिपुरुषोत्तमप्राप्तिरूपः फले विशेषो अस्ति इति दर्शितम्. इदानीं तत्पुरुषोत्तमप्राप्तिरूपं फलं भक्तः कथम् अनुभवति? इत्यतः तत्प्रकारः, कीदृशं पुरुषोत्तमस्वरूपम्? इति तत्प्रकारश्च इत्येतद् अस्मिन् पादे विचार्यते इति आशयेन सूत्रम् उपन्यस्य विचारम् आरभन्ते ब्रह्मविद् इत्यादि. तत्र ‘अश्नुते’ इति विवरणांशरूपे विषये. इदं वक्ष्यमाणम्. अन्तःस्थितः इति पक्षे तस्य स्वातन्त्र्येण ‘सः’ इत्यनेन भोगकर्तृत्वोक्तिः विरुद्धाः, अन्तःस्थितस्य अभेदेन स्वातन्त्र्याभावात्. पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इत्यादि. अन्त्यो जन्म प्राप्य इति पक्षः. समाधानम् आहुः सम्पद्य इत्यादि. तत्कृतो भगवत्कृतः. अस्य भक्तस्य. तत्र आविर्भावे.

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

पादद्वयेन सद्योमुक्तिप्रकारः क्रममुक्तिप्रकारः, अथच प्राप्यप्रकारः, ज्ञानमार्गे भक्तिमार्गे च क्रमेण अक्षरप्राप्तिः पुरुषोत्तमप्राप्तिप्रकारश्च दर्शितः अधुना चतुर्थे पादे पुरुषोत्तमस्वरूपं तदनुभवप्रकारश्च प्रदर्श्यते. सूत्रार्थम् आहुः ब्रह्मविद् इति. संशयम् आहुः किम् इति. लये सति भेदएव नास्ति इति भोगे स्वातन्त्र्याभावात् प्रथमाविभक्त्यनुपपत्तिः इति भावः. पूर्वपक्षम् आहुः तत्र इति. तथाच श्रुतिविरोधापेक्षया विभक्त्यर्थस्वातन्त्र्यबाधएव उचितः इति पूर्वपक्ष्याशयः. सिद्धान्तं वक्तुं सूत्रार्थम् आहुः सम्पद्य इति. भगवता सह एकीभावं प्राप्य इति अर्थः. आविर्भावः ब्रह्मभिन्नत्वेन अनुभवविषयत्वयोग्यत्वम्. अस्य जीवस्य. तत्र आविर्भावे.

ननु उक्तं “न स पुनरावर्तते” (छान्दो.उप.८।१५।१) इत्यादिश्रुति-
विरोधः कर्माभावश्च बाधकः इत्यतः आह स्वेन इति. ‘स्व’शब्दो अत्र
भगवद्वाची. तथाच भगवत्स्वरूपबलेनैव आविर्भावः इति अर्थः. एवं सति
उक्तश्रुतिः मर्यादामार्गविषयिणीति न विरोधः इति भावः. तेषाम् इह प्रपञ्चे न
पुनरावृत्तिः अस्ति इति हि श्रुतिः आह. लीलायाः प्रपञ्चातीतत्वात् तत्र
आविर्भावस्य निषेधाविषयत्वादपि न विरोधः. अत्र प्रमाणाकाङ्क्षायाम् आह
शब्दाद् इति. “सो अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता” (तैत्ति.उप.
२।१) इति श्रुतिः पुरुषोत्तमेन सह सर्वकामभोगं वदति. सच न विग्रहं विना
सम्भवतीति श्रुतिबलादेव तथा मन्तव्यम् इति अर्थः॥१॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

एवं सति भक्ताविर्भावस्य आवश्यकत्वे सति. उक्तश्रुतिः “न स
पुनरावर्तते” (छान्दो.उप.८।१५।१) इति मुक्तस्य संसारावृत्तिनिषेधिका श्रुतिः. ननु
मर्यादामार्गे पुनरावृत्त्यभावः पुष्टिमार्गे च तत्सत्त्वम् इति न्यूनता इत्यतः आहुः तेषाम्
इत्यादि. तेषां मुक्तानाम्. इह इति. यद्यपि एतच्छ्रुतौ ‘इह’ इति पदं तथापि “इमं मानवं
नावर्तन्ते” (तत्रैव ४।१५।५) इति श्रुत्येकवाक्यतया सएव अर्थः. निषेधाविषयत्वाद्
“न स पुनरावर्तते” (तत्रैव ८।१५।१) इत्युक्तनिषेधाविषयत्वाद् इति अर्थः. ‘अपि’-
शब्दाद् निषेधस्य पुष्टिमार्गसाधारण्येऽपि न विरोधः इति अर्थः. अत्र पुष्टिमार्गीयस्य
भगवत्स्वरूपलीलायाः आविर्भावे. तथा भगवत्स्वरूपाद् भक्ताविर्भावः॥१॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सौत्रं स्वेन इति पदम् अवतारयन्ति ननु इति. तथा च इति. छान्दोग्ये
भूमविद्यायां “तस्य ह वा एतस्य” (छान्दो.उप.७।२६।१) इति उपक्रम्य “आत्मत
आविर्भाव-तिरोभावौ आत्मतो अन्नम्” (७।२६।२) इत्यादि श्रावणाद् भगवदिच्छया
आविर्भावः. उक्तश्रुतिः. “न स पुनरावर्तते” (छान्दो.उप.८।१४।१) इति श्रुतिः. न
विरोधः इति. समाने विषये प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावः, न तु भिन्ने विषये इति भावः.
तेषां मर्यादामार्गीयाणाम्. श्रुतिः आह इति. पञ्चाग्निविद्यायाम् ‘इह’ इति श्रवणाद्
अक्षिपुरुषविद्यायां च “इमं मानवम् आवर्तं नावर्तन्ते” इति श्रवणाच्च प्रपञ्चे न
आवृत्तिः इति अर्थः. लीलायाम् आवृत्तौ न विरोधः इति आहुः लीलाया इति. तथा च
मर्यादामार्गापेक्षया पुष्टिमार्गे जघन्यत्वं नास्ति इति भावः. एतादृशार्थे यः सौत्रो हेतुः तम्
अवतारयन्ति अत्र इति. हेतोः अर्थम् आहुः सो अश्नुते इति. तथा मन्तव्यम् इति. यद्

हेत्वन्तरम् आह.

मुक्तः प्रतिज्ञानात्॥२॥

अत्र उपक्रमे “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१) इति वाक्येन परप्राप्तिलक्षणां मुक्तिं प्रतिज्ञाय हि तद्विवृतिरेव “सो अश्नुते” (तत्रैव) इत्यादिना क्रियते. तेन पुष्टिमार्गीयमुक्तिरूपत्वमेव तस्य अशनस्य सिध्यति, अतोऽपि हेतोः तदाविर्भावस्य न लौकिकत्वं न च आवृत्तिरूपत्वम् इति अर्थः॥२॥

आत्मा प्रकरणात्॥३॥

ननु परस्य ब्रह्मणो निर्गुणत्वात् कामभोगस्य गुणसाध्यत्वात् “सह ब्रह्मणा” इत्यत्र ‘ब्रह्म’पदं सगुणतत्परम्, अतो न तस्य मुक्तिरूपत्वम् इत्यतः आह. अत्र ‘ब्रह्म’पदेन आत्मा व्यापको मायातद्गुणसम्बन्धरहितो यः स एव उच्यते. कुतः प्रकरणात्. “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१) इति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रम् अवतारयन्ति हेत्वन्तरम् इत्यादिना. ननु भक्तस्य भगवति सम्पन्नस्य पुनः लीलार्थम् आविष्करणम् अनावृत्तिरूपम् अलौकिकमेव नतु प्रपञ्चमध्यपातरूपं तत्र किं गमकम्? इत्यतो हेत्वन्तरम् आह इति अर्थः. सूत्रं व्याकुर्वन्ति अत्र इत्यादिना. मुक्तिं प्रतिज्ञाय ब्रह्मविदो मुक्तिं प्रतिज्ञाय. तद्विवृतिः “परमाप्नोति” इत्यस्य विवृतिः. सूत्रार्थस्तु श्रुत्या आविर्भूतस्य मुक्तिप्रतिज्ञाकरणाद् लीलार्थम् आविर्भूतः “सोश्नुते” (तैत्ति.उप.२।१) इति प्रतिपादितो मुक्तः इति॥२॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादि. तत् परं ब्रह्मपरम्. तस्य कामभोगाशनस्य ॥३॥

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

विना यद् अनुपपन्नं तत् तेन आक्षिप्यते इति अर्थापत्तिप्रमाणेन विग्रहं विना भोगो न सम्भवतीति विग्रहस्य आक्षेपलभ्यत्वं मन्तव्यम् इति अर्थः॥१॥

सूत्रम् अवतारयन्ति हेत्वन्तरम् इति. एतादृशाविर्भावेऽपि मुक्तत्वम् अस्ति इत्यत्र एतत्प्रकरणोक्तं हेत्वन्तरम् आह इति अर्थः. सूत्रार्थम् आहुः अत्र इति. परम् आप्नोति ब्रह्मविद् इति शेषः. एवं च उपक्रमवाक्ये मुक्तेः प्रतिज्ञानात् यस्य आविर्भावः स मुक्तः इति सूत्रयोजना ॥२॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. न तस्य मुक्तिरूपत्वम् इति. भोगस्य मुक्तिरूपत्वं नास्ति इति अर्थः. सूत्रार्थम् आहुः अत्र इति. उच्यते इति. एवं च

उपक्रम्य तत्पाठाद् गुणातीतस्यैव एतत्प्रकरणमिति तदेव अत्र 'ब्रह्म'शब्देन उच्यते इति अर्थः॥३॥

अविभागेन दृष्टत्वात्॥४॥

ननु “ब्रह्मविद् आप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१) इति भिन्नं वाक्यम्, ऋग् भिन्ना, अतो न एकं प्रकरणमिति सगुणमेव तत्र 'ब्रह्म'पदेन उच्यते इति आशङ्क्य प्रतिवदति. पूर्ववाक्येन समम् अविभागेनैव इयम् ऋक् पठिता, नतु विभागेन. कुतः? दृष्टत्वात्. 'ब्रह्मविद्' इतिवाक्यानन्तरं 'तत्' पूर्वोक्तम् अर्थं प्रतिपाद्यत्वेन अभिमुखीकृत्य एषा ऋग् उक्ता इति श्रुतिः दृश्यते “तदेषा अभ्युक्ता” (तैत्ति.उप.२।१) इति. तेन पूर्ववाक्योक्तार्थम् अधिकृत्यैव ऋग् उच्यतइति गुणातीतमेव तद् अत्र वाच्यम् इति अर्थः॥४॥

इति चतुर्थाध्याये चतुर्थपादे प्रथमं सम्पद्याविर्भावाधिकरणम्॥१॥

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः॥५॥ (४।४।२)

पूर्वेण मुक्तो जीवो भगवदनुग्रहातिशयेच्छातो बहिः आविर्भूतो

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादि. ऋग् भिन्ना “सत्यं ज्ञानम्” (तैत्ति.उप. २।१) इति ऋग् भिन्ना. तत्रर्चि. तद् ब्रह्म. अत्रर्चि॥४॥१॥

अत्र प्रथमाधिकरणीयसूत्रचतुष्टयमध्ये पूर्वसूत्रद्वये भगवद्दत्तालौकिक-विग्रहेण भगवता सह भोगः साधितोपरसूत्रद्वयेन च भगवतः पुरुषोत्तमत्वम् उक्तम्. तत्र पूर्वसूत्रद्वयसिद्धभक्तविग्रहं सूत्रकारो विचारयति इति तम् अर्थम् अनुवदन्तो अधिकरणम्

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

“तस्माद् वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः” (तैत्ति.उप.२।१।१) इति वाक्यं तस्मिन्नेव प्रकरणे पठितम्. तथाच एतादृशकार्यकर्ता निर्गुणः पुरुषोत्तमएव, आविर्भाव्य भोगमपि सएव कारयति इति तस्य मोक्षरूपत्वम् इति भावः. तादृशभोगस्य कार्यत्वाद् न मोक्षत्वम् इति न शङ्कनीयम् इति हृदयम् ॥३॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. न एकम् इति ऋचः वाक्यस्य च परस्पर-सापेक्षबोधकपदसत्त्वे एकं प्रकरणम् इति वक्तव्यं तदेव नास्ति इति भावः. सूत्रार्थम् आहुः पूर्ववाक्येन इति. तेन इति. 'तदेषा'इति श्रुत्यैव एकवाक्यता उच्यते इति अर्थः ॥४॥१॥

पूर्वसूत्रद्वयसिद्धार्थानुवादपुरःसरं सूत्रम् अवतारयन्ति पूर्वेण इति.

गुणातीतेन पुरुषोत्तमेनैव सह सर्वान् कामान् अश्नुते इति सिद्धम्. अथ तत्रैव इदं विचार्यते. आविर्भूतो जीवः प्राकृतेन शरीरेण भुङ्क्ते, उत अप्राकृतेन? इति. तत्र भोगस्य लौकिकत्वे तदायतनस्यापि तादृशेनैव भवितव्यम् इति मन्वानं प्रति आह. **ब्राह्मेण** ब्रह्मसम्बन्धिना ब्रह्मणा भगवतैव स्वभोगानुरूपतया सम्पादितेन सत्यज्ञानानन्दात्मकेन शरीरेण पूर्वोक्तान् अश्नुते इति **जैमिनिः** आचार्यो मनुते. तत्र हेतुः **उपन्यासादिभ्यः** इति. “**ब्रह्मविद् आप्नोति परम्**” (तैत्ति.उप.२।१) इति ब्रह्मविदः परप्राप्तिं प्रतिज्ञाय तदर्थस्यैव उपन्यासो अग्रिमया ऋचा क्रियते, “**सो अश्नुते**” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यादिना. तथाच परप्राप्तेः मुक्तिरूपत्वात् पुष्टिमार्गीयायाः तस्याः एवरूपत्वाद् अक्षरब्रह्मणः पुरुषोत्तमायतनरूपत्वात् तदात्मकमेव शरीरं तस्य वक्तुम् उचितं, नतु प्राकृतम्. एतद् बोधनायैव अग्रे

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अवतारयन्ति **पूर्वेण** इत्यादिना. **अनुग्रहातिशयेच्छा** अतित्वरया फलदानानुकूल-कृतिविषयिणी इच्छा. **सिद्धम्** इत्यन्तो विषयः उक्तः. संशयम् आहुः **आविर्भूतः** इत्यादिना. पूर्वपक्षम् आहुः **तत्र** इत्यादिना. **तदायतनस्य** शरीरस्य. **तादृशेनैव** लौकिकेनैव. **पूर्वोक्तान्** सर्वान् कामान्. **तत्र** ब्राह्मणशरीरेण भोगे. **उपन्यासादिभ्यो** विवरणादिभ्यः इति अर्थः. उपन्यासमेव उपपादयन्ति **ब्रह्मविद्** इत्यादिना. तस्याः मुक्तेः. **एवरूपत्वात्** सर्वकामाशनरूपत्वात्. **तदात्मकमेव** अक्षरब्रह्मात्मकमेव. तस्य भक्तस्य. **नतु प्राकृतम्** इति ‘शरीरा’न्वयि. ननु भक्तशरीराणाम् अक्षरात्मकत्वे किं प्रमाणम्? इत्यतः आहुः एतद् **बोधनाय** इत्यादि. शरीरस्य अक्षरात्मकत्वबोधनायैव

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

आद्यसूत्रद्वयेन इति अर्थः. **अथ** इति. तत्सिद्ध्युत्तरम् इति अर्थः. **तत्रैव** इति. तस्मिन् वाक्यार्थे **इदं** वक्ष्यमाणम्. संशयम् आहुः **आविर्भूतः** इति. पूर्वपक्षम् आहुः **तत्र** इति. सूत्रार्थकथनेन सिद्धान्तम् आहुः **ब्राह्मेण** इति. अस्यैव अर्थम् आहुः **ब्रह्मणा** इति. **शरीरेण** इत्यन्तं हेतुं व्याकर्तुम् आहुः **उपन्यासादिभ्यः** इति. उप समीपे न्यासः कथनं विवरणं, सएव आदिः येषां ते उपन्यासादयः, तेभ्यः. हेतुं विवृण्वन्ति **ब्रह्मविद्** इति. **अग्रिमयार्चेति**. अग्रिमया ऋचा इति छेदः. तस्याः मुक्तेः. **एवरूपत्वाद्** इति. सर्वकामाशनरूपत्वाद् इति अर्थः. ननु ब्रह्मभावे सम्पन्ने, व्यापकत्वं यथा, पूर्वशरीराकारस्य आविर्भावः कुतो न जायते ब्राह्मणशरीराङ्गीकारः किमर्थम् इत्यतः आहुः **एतद्** इति. अग्रे “**औषधीभ्यो अन्नम्**” (तैत्ति.उप.२।१।१) इत्यनन्तरम्.

अन्नमयादीनि विभूतिरूपाणि उक्तानि. भक्तशरीरे प्रतीयमानानाम् अर्थानां विभूतिरूपत्वेन ब्रह्मात्मकत्वं तेन साधितं भवति. इदमेव 'आदि'पदेन बहुवचनेन च ज्ञाप्यते. एतद् आनन्दमयाधिकरणे प्रपञ्चितम्, अतो न अत्र पुनः उच्यते. यत्र कर्मवादी जैमिनिः एवं मनुते, तत्र अन्येषाम् एवम् अङ्गीकारे किम् आश्चर्यम् इति ज्ञापनाय तन्मतोपन्यासः कृतः॥५॥

चिति तन्मात्रेण तदात्मत्वाद् इति औडुलोमिः॥६॥

“स यथा सैन्धवघनो अनन्तरो अबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरे अयम् आत्मा अनन्तरो अबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनः” (बृहदा.उप.६।१।१३) इति श्रुतौ 'घन'पदेन ज्ञानात्मकविग्रहात्मत्वं ब्रह्मणो बोध्यते, अन्यथा न वदेत्,

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

ऋगात्मकोपन्यासानन्तरम् अन्नमयादीनि विभूतिरूपाणि पुरुषविधत्वेन ब्रह्मत्वेन उपास्यत्वेन च उक्तानि निरूपितानि तादृशे. तादृशानिरूपणस्य फलम् आहुः भक्तशरीरे इत्यादिना. तादृशविभूतिरूपभक्तशरीरे इति अर्थः. अर्थानां रूपरस-गन्धस्पर्शादि-सकलधर्माणाम् इति अर्थः. तेन पूर्वोक्तरीत्या विभूतिनिरूपणेन. इदमेव तादृशभक्तशरीरधर्माणां श्रुत्युक्तब्रह्मरूपत्वमेव. 'आदि'पदेत्यादि. उपन्यासादिभ्यः इत्यादिपदे बहुवचनेन तत्प्रकरणसकलब्रह्मरूपता-प्रतिपादकश्रुतीनां ग्रहणम् इति बोध्यम्. प्रपञ्चितं वर्णकान्तरे प्रपञ्चितम् इति अर्थः. अन्येषां ज्ञानिभक्तानाम्. एवम् अङ्गीकारे भक्तशरीराणाम् उक्तरीत्या अक्षररूपता अङ्गीकारे॥५॥

सूत्रम् अवतारयन्ति सः यथा इत्यादिना. अन्यथा ज्ञानात्मकविग्रहानङ्गीकारे. न

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

उक्तानां तेषां फलम् आहुः भक्तशरीरेति. तेन कथनेन. आदिपदेन इत्यादि. उपन्यासादिभ्यः इत्यादिपदं बहुवचनं च बोध्यम्. एतद् इति. तन्निरूपकस्यापि तुल्यफलत्वम् इत्यनेन प्रपञ्चितम् इति अर्थः. इदमेव पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थे “स्वरूपेण अवतारेण” (पुष्टिप्र.म.१३) इति सार्धश्लोकेन उक्तम्. तथाच यथा व्यापकत्वस्य आविर्भावः तथा सच्चिदानन्दात्मकाक्षरात्मक-देहस्यापि आविर्भावे लीलारसानुभवरूपो मोक्षः सिद्ध्यति इति भावः. अयञ्च सेवाफले “महान् भोगः प्रथमे विशते सदा” इत्यत्र उक्तः इति अवधेयम्. मतोपन्यासप्रयोजनम् आहुः यत्र इति ॥५॥

सूत्रं व्याकुर्वन्ति स यथा इति. अन्यथा इति. अन्यथा 'घन'पदं न वदेद् इति अर्थः. अनुक्तेः इति. जीवस्य विग्रहवत्त्वस्य अनुक्तेः इति अर्थः. “अशरीरं वाव सन्तं

प्रयोजनाभावात्. तथाच तादृशेन सह भोगकर्त्रा तादृशेनैव भाव्यम् इति, चित्ति
चिद्रूपे ब्रह्मणि, तन्मात्रेण चिन्मात्रेण रूपेण कामान् भुङ्क्ते, नतु विग्रहेण. श्रुतौ
जीवस्य तथात्वस्य अनुक्तेः. पूर्णानन्दत्वाद् भगवतः तत्सम्बन्धेन तदानन्दान्
अनुभवति इति अर्थः सम्पद्यते. चिदात्मत्वं जीवस्य यतो नैसर्गिकम् इति
औडुलोमिः आचार्यो मनुते. “अशरीरं वा व” (छान्दो.उप.८।१२।१) इति
श्रुतिः एतादृशान्यविषयिणी इति ज्ञेयम्. मुक्तिदशायां तदनुभवस्य भगवदिच्छा-
विषयत्वाभावाद् न तथा. तथाच एतदेतज्जातीयकानन्दानुभवो अस्य भवत्विति
भगवदिच्छैव श्रुतौ ‘काम’शब्देन उच्यते॥६॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

वदेत् श्रुतौ ‘घन’पदं न वदेद् इति अर्थः. तादृशेन सच्चिदानन्दविग्रहेण भगवता इति अर्थः.
भोगकर्त्रा भक्तेन. तादृशेनैव सच्चिदानन्दवतैव. सूत्रार्थम् आहुः चित्ति इत्यादि.
चिन्मात्रेण रूपेण सच्चिदानन्दशरीरेण इति अर्थः. नतु विग्रहेण सच्चिदानन्दा-
त्मकातिरिक्तभौतिकविग्रहेण इति अर्थः. तथात्वस्य सच्चिदानन्दविग्रहत्वस्य.
तत्सम्बन्धेन सच्चिदानन्दविग्रहं प्राप्य इति अर्थः. तदानन्दान् भगवदानन्दान्. “अशरीरं
वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः” (छान्दो.उप.८।१२।१) इति श्रुतिः. अशरीरं भौतिक-
शरीरशून्यम्. एतच्छ्रुतौ प्रत्येकं प्रियाप्रिययोः भोगनिषेधाद् अप्रियमिश्रितप्रियभोक्तृ-
विषयिणी इति न विरोधः इति अर्थः. ननु अशरीरस्य तादृशस्य मुक्तिसुखं कुतो न भवति ?
इत्यतः आहुः मुक्तीत्यादि. तदनुभवस्य मुक्तिसुखानुभवस्य. भगवदिच्छा इत्यादि.
“मुक्तिसुखवान् अयं भवतु” इति भगवदिच्छाविषयत्वाभावाद् इति अर्थः. ‘कामान्’ इति
बहुवचनं समर्थयितुम् आहुः तथाच इत्यादि. एतज्जातीयकः इति. भगवता ‘सह’
भुज्यमानत्वेन प्रतिपादित-सजातीयेति अर्थः. इत्येवंविधाकारेति अर्थः॥६॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

प्रियाप्रिये न स्पृशतः” (छान्दो.उप.८।१२।१) इति श्रुतेः. व्यर्थत्वं स्याद् इत्यतः आहुः
अशरीरम् इति. एतादृशान्येति. एतादृशाद् भगवदानन्दाद् अन्यः दुःखसम्भिन्नः
आनन्दः तद्विषयिणी इति अर्थः. तथाच श्रुतौ ‘प्रिय’पदम् ‘अप्रिय’पदसमभिव्याहृतं
श्रुतिम् इति हेतोः तथा बोध्यम् इति भावः. अन्यदपि कारणम् आहुः मुक्तिदशायाम्
इति. भगवदिति. दुःखसम्भिन्न-सुखानुभवस्य भगवदिच्छाविषयत्वं नास्ति इति अर्थः.
अस्मिन् अर्थे उपष्टम्भकम् आहुः तथाच इति. एतद्-एतद् इति वीप्सया
विलक्षणानन्दो द्योत्यते. वैलक्षणेन च दुःखासम्भिन्नत्वम् आनन्दे द्योत्यते. एवञ्च

एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावाद् अविरोधं बादरायणः ॥७॥

परमाचार्यो बादरायणस्तु न एवं मनुते. “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१) इति अस्य उपन्यासः एवमपि विग्रहवत्त्वेनापि कृतो यतः. तथाहि. “यो वेद निहितं गुहायाम्” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यत्र गुहाया उक्तत्वात् तस्याः विग्रहएव सम्भवात्. किञ्च. प्रथमान्तोपस्थितत्वेन ‘प्राप्नोति’ इति उक्त्या च ब्रह्मविदः परप्राप्तौ स्वातन्त्र्यं ज्ञाप्यते. तदेव ‘ब्रह्मणा सह’ इति पदेन उपन्यस्तम्. तेन ब्रह्मणोऽपि तत्समानक्रियावत्त्वं ज्ञाप्यते, परन्तु अप्राधान्येन. तथाच भक्तस्यैव कामा वक्तुम् उचिताः. ते च न विग्रहं विना सम्भवन्ति.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सिद्धान्तम् आहुः परमेत्यादिना. न एवं मनुते चिदतिरिक्तविग्रहाभावं न मनुते इति अर्थः. सूत्रेण सिद्धान्तं वक्तुम् आहुः ब्रह्मविद् इत्यादि. उपन्यासः ऋग्रूपः उपन्यासः. एवमपि इति सूत्रभागस्य अर्थो विग्रहवत्त्वेन इत्यादि. तादृशार्थकरणमेव प्रदर्शयन्ति तथाहि इत्यादिना. तस्याः गुहायाः. प्राधान्येन श्रुतौ भक्तकामप्रतिपादनमुखेन भक्तानां विग्रहवत्त्वं साधयन्ति किञ्च इत्यादिना. प्रथमान्तेत्यादि. ‘आप्नोति’ इत्यस्य कर्तुः. प्रथमान्तपदोपस्थाप्यत्वेन इति अर्थः. स्वातन्त्र्यम् इति अर्थः. उपन्यस्तं तृतीयान्तार्थस्य गौणत्वं प्रथमान्तार्थस्य प्राधान्यम् इति ‘सह’शब्देन बोधितम् इति अर्थः. तत्समानेत्यादि. भक्तक्रिया-समानक्रियानुकूल-यत्नवत्त्वम् इत्यर्थः. कामाः “सोऽश्नुते सर्वान् कामान्” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यत्र

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

तादृशेच्छाविषयानुभवः चिन्मात्रेण इति न शरीरापेक्षा इति औडुलौमेः मतम् इति हृदयम् ॥६॥

सिद्धान्तबोधकं सूत्रं व्याकुर्वन्ति परमेति. न एवम् इति. औडुलोमिमतरीत्या न मनुते इति अर्थः. सूत्रांशः उपन्यासाद् इति. हेतुं व्याकुर्वन्ति ब्रह्मविद् इति. यतः एवम् अविग्रहवत्त्वेनापि उपन्यासः कृतः इति योजना. ननु “ब्रह्मविद्” इत्यादिवाक्ये विग्रहश्रवणाभावात् कथम् इदम्? इत्यतः आहुः तथाहि इति. तस्याः गुहायाः “सो अश्नुते” इत्यनेनापि विग्रहो बोध्यते, कामभोगस्य विग्रहाधीनत्वाद् इति भावः. युक्त्यन्तरम् आहुः किञ्च इति. ज्ञाप्यते बोध्यते. अप्राधान्येन इति. “ब्रह्मणा विपश्चिता” (तैत्ति.उप.२।१।१) इत्यत्र “सहयुक्ते अप्रधाने” (पाणि.सू.२।३।१९) इति अनुशासनेन अप्राधान्ये तृतीयायाः जायमानत्वाद् इति अर्थः. तथा इति. कामानां

किञ्च. 'विपश्चिता' इति विशेषणेन विविधं पश्यत् चिद्रूपत्वम् उच्यते. काम-भोगोक्तिप्रस्तावः एतदुक्त्या तदुपयोग्येव सर्वं वाच्यम्. एवं सति भक्तविविधभावान् पश्यति, स्वयं भोगचतुरश्च इति उक्तं भवति. एतेनापि भक्तविग्रहः सिध्यति. ननु विग्रहस्य आगन्तुकत्वेन लौकिकत्वाद् अलौकिकेन ब्रह्मणा भोगो विरुद्धः इत्यतः आह पूर्वभावाद् इति. भक्तप्राप्तेः पूर्वमेव भगवद्दित्सित-भोगानुरूपविग्रहाणां सत्त्वाद् न विरोधः. किञ्च. उक्तश्रुति-सूत्रैः पुरुषोत्तमेन सह भक्तस्य कामभोगो निरूपितः. स यावता अर्थेन विना न उपपद्यते, तावान् सः श्रुत्यभिमतः इति मन्तव्यम्. तथाच ब्रह्मसम्बन्धयोग्यानि शरीराणि नित्यानि सन्त्येव. यथा अनुग्रहो यस्मिन् जीवे, सः तादृशं तदाविश्य भगवदानन्दम् अश्नुते इति सर्वम् अवदातम्॥७॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

भुज्यमानपदार्थगोचराः कामाः भक्तनिष्ठाएव इति अर्थः. विविधं नानाप्रकारकं नानाविशेष्यकं च इति अर्थः. उच्यते भगवतः उच्यते. एतद् उक्त्या विविधपश्यच्चिद्रूपत्वोक्त्या. तदुपयोग्येव इति उक्तं भवति इति 'विपश्चित्'पदेन उक्तं भवति इति अर्थः. एतेन भक्तविविधभावदर्शनोपपादनेन भक्तप्राप्तेः भगवता सह भक्तप्राप्तेः. भगवद्दित्सितो भगवता भक्ताय दातुम् इच्छितः इति अर्थः. पूर्वोक्तविचारेण फलितो यो अर्थः तम् आहुः किञ्च इत्यादिना. सो अर्थः. तदाविश्य शरीरम् आविश्य इति अर्थः॥७॥

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

शरीराधीनत्वाद् इति भावः.

'विपश्चित्'पदमपि विग्रहबोधकम् इति आहुः किञ्च इति. तदुपयोग्येव इति. कामोपभोगोपयोग्येव इति अर्थः. एतेन इति. 'विपश्चित्'पदेन इति अर्थः. पूर्वभावाद् इति सौत्रं हेत्वन्तरम् अवतारयन्ति ननु इति. हेत्वन्तरार्थम् आहुः भक्तेति. भक्तस्य भगवत्प्राप्तेः पूर्वमेव इति अर्थः. भगवदिति. भगवता दातुम् इच्छितानां भोगानुरूप-विग्रहाणाम् इति अर्थः. न विरोधः इति. चिन्मात्रत्वब्राह्मशरीरत्वयोः न विरोधः इति अर्थः. एवञ्च बादरायणो विग्रहवक्तृत्वं मन्यते इति भावः. एतावता यत् सिद्धं तद् आहुः किञ्च इति. मन्तव्यम् इति. यद् विना यद् अनुपपन्नं तत् तेन आक्षिप्यते इति अर्थापत्तिप्रमाणेन अनुक्तोऽपि अर्थो मन्तव्यः इति अर्थः. तदाविश्येति. "अयं मम देहः" इति अभिमानं कृत्वा.

सङ्कल्पादेव च तच्छ्रुतेः॥८॥

एवं परप्राप्तिः केषाञ्चिदेव भवति. तत्र हेत्वपेक्षायाम् आह. भजनानन्दं दातुं यमेव सङ्कल्पविषयी करोति, सएव एवं प्राप्नोतीति भगवत्सङ्कल्पएव तत्र हेतुः. तत्र प्रमाणम् आह तच्छ्रुतेः. “नायम् आत्मा” (कठोप.१।२।२३) इत्युपक्रम्य, “यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः” (तत्रैव) इति श्रुतिः श्रूयते. अतः सएव अत्र हेतुः. श्रुतौ प्रवचनादिनिषेधः कृतः इति अत्रापि ‘एव’कार उक्तः. ‘च’कारात् तज्जनिता एतदनुरूपा परमार्तिः संगृह्यते॥८॥

अतएव च अनन्याधिपतिः॥९॥

यतो हेतोः साधनं फलं च उक्तरीत्या स्वयमेव, न अन्यो अतो हेतोः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रम् अवतारयन्ति एवम् इत्यादि. एवं पूर्वोक्तरीत्या. केषाञ्चिदेव इति ‘एव’कारेण सर्वेषां प्राप्तिव्यवच्छेदः. यमेव यं जीवमेव. प्रवचनादीत्यादि. “नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया” (कठोप.१।२।२२) इत्यादीनां निषेधः कृतः इति अर्थः. अत्रापि सूत्रेऽपि. चकारात् सौत्र‘च’कारात्. तज्जनिता सङ्कल्पजनिता. तदनुरूपा सङ्कल्पविषयीभूतफलानुरूपा॥८॥

सूत्रविवरणम् आहुः यतः इत्यादिना. अन्यत्र पुष्टिभक्तिभिन्नेषु. श्रुतिरपि

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अत्र अस्मिन् सूत्रे “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” इत्यस्य विषयवाक्यत्वम् अस्ति न वा इति, अथच मुक्तानां शरीरम् अस्ति वा न वा इति बहवो विवदन्ते. तद्विचारस्तु विस्तरेण प्रकाशे प्रपञ्चितः. अत्र विस्तरभयाद् विरम्यते ॥७॥

सूत्रम् अवतारयन्ति एवम् इति. सूत्रार्थम् आहुः भजनेति. सङ्कल्पेति. अस्य भक्तस्य भजनानन्दानुभवो भवतु इति सङ्कल्पं कृत्वा इति अर्थः. सएव इति. वरणरूपः सङ्कल्पएव अत्र हेतुः इति अर्थः. श्रुतौ “नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः” इति श्रुतौ. एवकारः इति. एवकारस्य अन्ययोगव्यवच्छेदार्थकत्वाद् अन्यनिषेधः सूत्रे उक्तः इति अर्थः. तज्जनिता एव इति. भगवदनुग्रहजनिता एव इति अर्थः. संगृह्यते तस्याः व्यवच्छेदः संगृह्यते इति अर्थः ॥८॥

सूत्रार्थम् आहुः यतः इति. यतः कारणात्. साधनम् इति. पुष्टिमार्गीयाणां वरणादिरूपम् इति अर्थः. फलम् इति. स्वस्वरूपात्मकम् इति अर्थः. एवञ्च अनन्याधिपतिः इति सौत्रवाक्यस्य अर्थं विशदयन्ति तेन इति. ननु किम् इदम् उच्यते

तेषां हृदि साधनत्वेन फलत्वेन प्रभुरेव स्फुरति, न अन्यः. तेन अनन्याः ते. तेषामेव अधिपतिः पुरुषोत्तमः. अन्यत्र आधिपत्यं विभूतिरूपैः करोति. अतः “सर्वस्य अधिपतिः” (बृहदा.उप.६।४।२२) इति श्रुतिरपि तदभिप्रायेणैव इति भावः. ‘च’काराद् “मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि” (भाग.पुरा. ९। ६।८) इति भगवद्वाक्यं संगृह्यते. अन्यथा सर्वज्ञस्य अकुण्ठितज्ञानशक्तेः एवं कथनम् अयुक्तं स्यात्. अतः पुष्टिमार्गो अनुग्रहैकसाध्यः प्रमाणमार्गाद् विलक्षणः, तत्र विश्वासश्च तथा इति सिद्धम्॥९॥

अभावं बादरिराह ह्येवम्॥१०॥

मुक्तोऽपि जीवः पुष्टिमार्गे अङ्गीकृतो भगवद्दत्तं विग्रहं प्राप्य भजनानन्दं प्राप्नोति इति सिद्धम्. अत्र प्रत्यवतिष्ठते. बादरिः आचार्यो मुक्तस्य देहाद्यभावं मनुते. तत्र हेतुः आह हि एवम् इति. ब्रह्मविदो हि मुक्तिः उच्यते. “यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति” (बृहदा.उप.४।४।१४) इत्याद्युक्त्वा, “यत्र तु अस्य सर्वम् आत्मैव अभूत् तत् केन कं पश्येद्?” (तत्रैव)

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

“सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः” (बृहदा.उप.४।४।२२) इत्यादिना. तदभिप्रायेण अन्यत्र विभूतिरूपेण आधिपत्याभिप्रायेण. चकारात् सौत्र‘च’कारात्. तथा प्रमाणमार्गाद् विलक्षणः॥९॥

पूर्वसूत्रसिद्धार्थम् अनुवदन्तः सूत्रम् अवतारयन्ति मुक्तोऽपि इत्यादि. अत्र विग्रहप्राप्त्यंशे. प्रत्यवतिष्ठते विरुद्धं वदति इति अर्थः. तदेव सूत्रमुखेन प्रतिपादयति बादरिः इत्यादिना॥१०॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

“सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः” (बृहदा.उप.४।४।२२) इति श्रुत्या सर्वस्यैव तथा अस्ति, केवलं पुष्टिमार्गीयाणां कथम् इत्यतः आहुः अन्यत्र इति. तदभिप्रायेणैव इति. विभूतिरूपाभिप्रायेण इति अर्थः. अत्र उपष्टम्भकम् आहुः चकाराद् इति. तथा इति. अनुग्रहाद् इति अर्थः॥९॥

सूत्रं व्याकुर्वन्ति मुक्तोऽपि इति. मुक्तोऽपि इत्यादिना सिद्धम् इत्यन्तेन बादरिकृतप्रत्युपस्थानार्थं पूर्वोक्तार्थं स्मारयन्ति. अत्र इति. अस्मिन् अर्थे बादरिः निरानन्दवादी. आह इति. एवं श्रुतिः आह इति अर्थः. का वा श्रुतिः? इत्यतः आहुः यत्र हि इति॥१०॥

इत्यादिना द्वितीयज्ञाननिषेधम् आह ब्रह्मविदः श्रुतिः. तथाच तस्य कामभोगवार्ता दूरतरेति तदाक्षेप्यदेहोऽपि तथा॥१०॥

भावं जैमिनिः विकल्पामननात्॥११॥

जैमिनिः आचार्यस्तु मुक्तस्य पुंसो देहादेः भावं सत्तां मन्यते. तत्र हेतुः विकल्पः इत्यादि. “ब्रह्मविद् आप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुत्या ब्रह्मज्ञानस्य तत्प्राप्तिसाधनत्वम् उच्यते. “नायमात्मा” (कठोप.२।२२) इति श्रुत्या तु वरणमात्रप्राप्यत्वम्. “सो अश्नुते” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यादिना च परप्राप्त्युपन्यासः क्रियते. “इहैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्म अप्येति” (बृहदा.उप.४।४।२२) इति च पठ्यते. एवं सति मिथो विरोधे तदभावाय उक्त-व्याख्यानरीत्या ज्ञानमार्गीयस्य ब्रह्मज्ञानेन अक्षरब्रह्मप्राप्तिः, पुष्टिमार्गीय-भक्तस्य तु “सो अश्नुते” इत्यनेन उक्ता परप्राप्तिः इति व्यवस्थितविकल्पएव श्रुत्यभिमतः इति ज्ञायते. तेन, “नायमात्मा” इति श्रुतिः परप्राप्तिविषयिणी. “इहैव” इत्यादिश्रुतिस्तु मर्यादामार्गीयविषयिणी इति मन्तव्यम्. एवं सति पुष्टिमार्गीयस्य भोगसाधनात्मकविग्रहवत्त्वं निष्प्रत्यूहं सिध्यति. “तत् केन कं

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तत्प्राप्तिः परप्राप्तिः. मिथोविरोधे “सोश्नुते सर्वान् कामान्” (तैत्ति.उप. २।१), “इहैव समवनीयन्ते” (बृहदा.उप. ३।२।११) इत्यनयोः मिथो विरोधे इति अर्थः. तदभावाय विरोधाभावाय. उक्तव्याख्यानरीत्या ब्रह्मविद् ब्रह्म प्राप्नोति, ब्रह्मवित् परं प्राप्नोति इति उक्तव्याख्यानरीत्या इति अर्थः. स्फुटम् अन्यत्॥११॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रं व्याकुर्वन्ति जैमिनिः इति. हेतुं व्याकुर्वन्ति विकल्पेति. विरुद्धाः कल्पाः श्रुतौ कथिताः पक्षाः विकल्पाः तेषाम् आसमन्ताद् मननाद् विचारात्. एवञ्च विचारेण व्यवस्थितविकल्पं साधयन्ति ब्रह्मविद् इत्यादिना मन्तव्यम् इत्यन्तेन. तत्र प्रथमतो ज्ञानसाधनम् आहुः ब्रह्मविद् इति. ज्ञानविरुद्धं वरणं साधनम् आहुः नायमात्मा इति. फले विरोधम् आहुः सोऽश्नुते इति. इहैव इति. एवं सति इति. मिथः साधनयोः फलयोः विरुद्धत्वे सति. तदभावाय विरोधाभावाय. अधिकारिभेदः स्वीकर्तव्यः इति शेषः. श्रुतिविरोधं परिहरन्ति तेन इति. एवं सति व्यवस्थितविकल्पाङ्गीकारे सति. शरीराङ्गीकारमपि आहुः पुष्टीति. शरीराङ्गीकारे “तत् केन कं पश्येद्” (बृहदा.उप. ४।४।१४) इति श्रुतिविरोधं परिहरन्ति तत् केन इति ॥११॥

पश्येद्?” (बृहदा.उप.४।४।१४) इत्यादिनातु ब्रह्मज्ञानसामयिकीं व्यवस्थाम् आह, नतु तदुत्तरकालीन-परप्राप्तिसामयिकीम् इति किम् अनुपपन्नम् ॥११॥

द्वादशाहवद् उभयविधं बादरायणो अतः ॥१२॥

ब्रह्मणा सह सर्वकामाशनप्रयोजकं शरीरम्. शरीरत्वस्य भूतजन्यत्व-
व्याप्यत्वात् तदभावेन अशरीररूपं, तद्भोगायतनत्वेन शरीररूपमपि इति
बादरायणः आचार्यो मन्यते. अत्र हेतुः, अतः इति. तथाविधश्रुतेः इति अर्थः.
तथाहि. “भूमैव विजिज्ञासितव्यः” (छान्दो.उप.९।२३।१) इति उक्त्वा,
तत्स्वरूपम् आह “यो वै भूमा तत् सुखम्” इत्युपक्रम्य, अग्रे उच्यते “यत्र
नान्यत् पश्यति नान्यत् शृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा” (छान्दो.उप.७।२४
।१) इत्यनेन केवलभावविषयत्वं पुरुषोत्तमलक्षणम् उक्त्वा केवलभाववतो
भक्तस्य विप्रयोगसामयिकीं व्यवस्थाम् आह “स एव अधस्तात् स उपरिष्ठात् स

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रं व्याकुर्वन्तो भक्तशरीरस्य उभयविधत्वं प्रतिपादयन्ति ब्रह्मणा सह
इत्यादिना. इत्थञ्च भक्तभिन्नमुक्तानां शरीरमेव नास्ति इति भक्तानां च तादृशाधि-
कारिणां शरीरम् इति शरीरत्वतदभावोभयत्वमपि अस्ति इति व्युत्पादयन्ति इति भावः.
तदभावेन भूतजन्यत्वरूपव्यापकत्वस्य अभावेन. अशरीररूपं व्याप्यभूतशरीर-
त्वाभाववद् इति अर्थः. भोगायतनत्वेन परमानन्दसाक्षात्कारावच्छेदकत्वेन. अत्र हेतुः
तादृशभक्तशरीरस्य शरीरत्वतदभावोभयविरुद्धधर्मवत्त्वे हेतुः. तत्स्वरूपं भूमस्वरूपम्.
यत्र साक्षात्कारविषयत्वेन भक्तेषु प्रसिद्धे. केवलभावविषयत्वम् अनन्यभक्तप्रतीति-

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रं व्याकुर्वन्ति. ब्रह्मणा इति. बादरायणमते शरीरम् अशरीरं च इति
द्विविधशरीरम्. तत्र कामाशनं शरीरं विना न सम्भवतीति शरीरं स्वीकर्तव्यम्. भौतिकत्वं
तत्र नास्ति इति अशरीरत्वम्. तदेतद् विशदयन्ति सर्वेति. तद्भोगायतनत्वेन ब्रह्मणा
सह भोगायतनत्वेन. श्रुतिमेव आहुः भूमैव इति. ब्रह्मैव इति अर्थः. तत्स्वरूपम् इति.
तस्य शरीरस्य स्वरूपम् आह इति अर्थः. ननु भूमविद्यायां भूमः स्वरूपम् उच्यते नतु
शरीरस्य इत्यतः आहुः यो वै भूमा इति. अग्रे इति. सुखरूपं भूमः स्वरूपम् उक्त्वा
अग्रे सुखरूपत्वेन शरीरम् उच्यते इति अर्थः. केन वाक्येन उच्यते ? इत्यतः आहुः “यत्र
नान्यद्” इत्यादिना “आत्मतएव इदं सर्वम्” इत्यन्तेन. भक्तानां प्रथमतो विप्रयोगा-
वस्था तदनन्तरं संयोगावस्था इति रीत्या व्यवस्थाम् आहुः भक्तस्य इति. आत्मतएव

पश्चात् स पुरस्तात्” (छान्दो.उप.७।२५।२) इत्यादिना. ततः “स वा एष एवं पश्यन् एवं मन्वान एवं विजानन्” इति पूर्वावस्थाम् अनूद्य, संयोगावस्थाम् आह “आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः” (छान्दो.उप.७।२५।२) इति वाक्येन, “सो अश्नुते” इति श्रुतिसंवादिनम् अर्थम् उक्त्वा, भक्तस्वरूपम् आह “तस्य ह वा एतस्य एवं पश्यत एवं मन्वानस्य एवं विजानतः आत्मतः प्राणः” (छान्दो.उप.७।२५।२) इत्युपक्रम्य, “आत्मतएव इदं सर्वम्” इति. तेन अशरीरत्वं सिध्यति. अव्ययप्रयोगेण अविकृतादेव पुरुषोत्तमात् प्राणाद्याविर्भावः उच्यते. अत्र ल्यब्लोपे पञ्चमी. पूर्वं विरहदशायां प्राणादयो भगवत्येव लीना आसन्, ततः तत्प्राकट्ये ततएव प्राणादयोऽपि सम्पन्नाः इति तत्प्राप्तेः निमित्तत्वं यतो, विभूतिरूपाणामपि पुरुषोत्तमे लयो न अनुपपन्नः. “आत्म-रतिः” इत्यादिना “सोऽश्नुते” इत्यनेन च शरीरत्वम्. जैमिनिरपि अतएव

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

विषयत्वम्. इदं सर्वं भक्तशरीरतद्भर्मादि. तेन भक्तशरीरस्य आत्ममात्रनिमित्तकारणत्वेन भूतान्यत्वेन इति अर्थः. आत्मतः आत्मस्वरूपात्. अव्ययप्रयोगेण ‘आत्मतः’ इति प्रयोगेण. पञ्चम्यर्थकथनेन श्रुत्यर्थम् आहुः पूर्वम् इत्यादिना. ततो विरहदशोत्तरकाले. तत्प्राकट्ये भगवति दर्शनविषयीभूते. ततएव भगवतएव. तत्प्राप्तेः भगवत्प्राप्तेः. निमित्तत्वं भक्तानां प्राणादिसकलदेहधर्मप्राप्तौ निमित्तत्वम्. शरीरत्वं भक्तदेहस्य

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

इदं सर्वम् इति. एतेन शरीरस्य आत्मजन्यत्वं नतु भूतजन्यत्वम्. तेन भूतजन्यत्वाभावात् शरीरत्वं नास्ति इति, “आत्मरतिः आत्मक्रीडः” (छान्दो.उप.९।२५।२) इत्यनेन क्रीडायतनत्वाद् अप्राकृतशरीरत्वं सिद्ध्यति इति सूचितम्.

ननु किम् इदम् उच्यते, ब्रह्मणः सकाशात् सृष्टेः उक्तत्वात् शरीरस्य का वार्ता इत्यतः आहुः अव्ययप्रयोगेण इति. आत्मतः इति अव्ययप्रयोगेण इति अर्थः. अत्र ‘आत्मतः’ इत्यत्र. एवञ्च सृष्टेः आकाशादिरूपविकृतिभावं प्राप्ताद् ब्रह्मणः सकाशाद् उत्पत्तिः, भक्तशरीरस्यतु अविकृतादेव भूम्नः सकाशादेव इति विशेषः इति भावः. ननु इयं भक्तस्य एवं व्यवस्था इत्यत्र किं गमकम्? इत्यतः आहुः पूर्वम् इति. इति तत्प्राप्तेः इति. एवमेव भक्तस्य भगवत्प्राप्तेः इति अर्थः. ननु विभूतिरूपाणां प्राणादीनां भगवति लयः कथम्? इत्यतः आहुः यतः इति. अग्रे “तस्य ह वा एतस्य” (छान्दो.उप. ९।२६।१) इत्यादिना ब्रह्मणः प्राणादीनाम् आविर्भावः श्रूयते. तेन कृत्वा

“ब्राह्मेण” (ब्रह्मसू.४।४।५) इति मनुते. एकस्य विरुद्धोभयधर्मवत्त्वम् अमन्वानं प्रति वैदिकं दृष्टान्तम् आह द्वादशाहवद् इति. “यः कामयेत प्रजायेयेति स द्वादशरात्रेण यजेत” (तैत्ति.संहि.७।२।९) इति चोदनया “द्विरात्रेण यजेत” (तैत्ति.संहि.७।१।४) इत्यादिवद् नियतकर्तृकत्वेन अहीनत्वं गम्यते द्वादशाहस्य. “द्वादशाहमृद्विकामा उपेयुः, य एवं विद्वांसः सत्रम् उपयन्ति” (तैत्ति.संहि. ७।५।१) इति श्रुत्या च सत्रत्वं बहुकर्तृकस्य गम्यते. एवमेव द्वादशाङ्गशरीरेन्द्रियप्राणान्तःकरणात्मभिः ‘अश्नुते’ इति सत्रतुल्यत्वम्. वस्तुतो भगवद्विभूतिरूपत्वेन ब्रह्मात्मत्वेन एकरूपत्वम्, अतो द्वादशाहवद् उभयविधम्. सत्रे प्रत्येकं चेतनानां यजमानानां फलभागित्ववद् अत्रापि तादृक् भक्तदेहादीनामपि

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

शरीरत्वम्. ब्राह्मेण विभूतिरूपशरीरेण. अहीनत्वं द्वादशाहस्य अहीनत्वं सत्रत्वम् इति एकस्य उभयरूपत्वं श्रुतिसिद्धम् इति अर्थः. एवं भक्तस्य सत्रतुल्यताम् उपपादयन्ति एवमेव इत्यादिना. शरीरस्य द्वादशाङ्गता निबन्धे स्फुटा तेन भोगाशनम्. एकम् अन्तःकरणसहितानि एकादशेन्द्रियाणि आत्मा च एतैरपि द्वादशभिः भोगाशनम्. एवं सङ्ख्यया सत्रतुल्यत्वं पूर्वोक्तरीत्या शरीरद्वैविध्येनापि शरीरस्य भक्तीयस्य तुल्यत्वं बोध्यम्. भक्तशरीरसत्रयोः भगवद्विभूतित्वभगवद्रूपत्वाभ्यां द्वैविध्येन साम्यम् उपपादयन्ति वस्तुतः इत्यादिना. तादृगुक्तसर्वकामभोक्तृ. देहेन्द्रियेत्यादि. भौतिक-

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

किं ज्ञायते. तत्र लयो अस्ति इति हृदयम्.

इदानीं शरीरत्वसाधिकां श्रुतिम् आहुः आत्मरतिः इति. “सोऽश्नुते” इति तैत्तिरीये. “तस्य एवं विदुषो यज्ञस्य आत्मा यजमानः” (महाना.उप.१८।१) इति तैत्तिरीयोपनिषत्समाप्तौ या दशा उक्ता सा फलानुभवस्य प्रथमावस्था. अत्र पूर्वमीमांसकसम्मतिम् आहुः जैमिनिः इति. हेतुं व्युत्पाद्य दृष्टान्तार्थम् आहुः एकस्य इति. यः कामयेत इति. इदं च तैत्तिरीये सप्तमाष्टके. द्वादशो इति पौण्डरीकयागस्य सञ्ज्ञा. तस्यैव अहीनत्वम् एककर्तृकत्वेन यथा द्विरात्रस्य तस्यैव बहुकर्तृकत्वे सत्रत्वम्. दार्ष्टान्तिके योजयन्ति एवम् इति. द्वादशेति. द्वादश अङ्गभूताः ये शरीरेन्द्रियादयः इति अर्थः. शरीरं, पञ्चेन्द्रियाणि, पञ्चप्राणाः, एकम् अन्तःकरणम् इति द्वादशेति बोध्यम्. अतएव उक्तं “ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृह एव विशिष्यते” (तत्त्वदी.निब.शा.प्र.५१) इति उक्तम्. अतएव इति. इदं च मर्यादामार्गीयभक्तानुसारेण. तथाच पुष्टिमार्गीयाणां किं वक्तव्यम् इति भावः॥१२॥

ब्रह्मात्मकत्वात्. चेतनत्वमेव इत्यपि अनेन दृष्टान्तेन ज्ञाप्यते. अतएव श्रीभागवते “देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम्” (भाग.पुरा.७।१।२४) इति गीयते॥१२॥

इति चतुर्थाध्याये चतुर्थपादे द्वितीयं ब्राह्मेण इति अधिकरणम्॥२॥

तत्त्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः॥१३॥ (४।४।३)

अथ इदं चिन्त्यते : भगवत्स्वरूपे प्राकृतशरीरइव अवस्था दृश्यन्ते तत्कालीनैः पुम्भिः इति कथम् अप्राकृतत्वम् उपपद्यते ? इति तत्र उपपत्तिम् आह. तद्दर्शनस्य वास्तववस्तुविषयकत्वव्यवच्छेदेन पूर्वपक्षव्युदासाय ‘तु’-शब्दः. तत् प्राकृततुल्यतादर्शनम् अभावे तथात्वस्य अभावएव भवति, नतु तत्र प्राकृताः धर्माः सन्ति. ननु अविद्यमानानाम् अर्थानां कथं दर्शनम् उपपद्यते ? इत्यतः आह सन्ध्यवद् इति. स्वप्ने यथा वासनावशाद् अविद्यमानानामपि अर्थानां दर्शनं भवति, तथा भगवदिच्छावशात् तत्रापि प्राकृततुल्यत्वदर्शनस्य उपपत्तेः, न प्राकृतत्वं तत्र ज्ञेयम् इति अर्थः. तथाच श्रुतिः.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

देहेन्द्रियादि-हीनानाम् इति अर्थः॥१२॥२॥

भक्तदेहस्वरूपं विचारयितुम् अधिकरणम् अवतारयन्ति अथ इत्यादिना. भगवत्स्वरूपे इत्यादिना संशयादिकम् आहुः. तथाच अत्र फलरूपं भगवत्स्वरूपं प्रकृतिसम्बन्धवद् न वा इति संशयः. प्रकृतावस्थादर्शनात् प्राकृतम् इति पूर्वपक्षः. प्राकृतत्वेन दर्शनस्य स्वप्नतुल्यत्वाद् अप्राकृतम् इति सिद्धान्तः. तत्र पूर्वपक्ष-निवृत्तिनिमित्तम्. उपपत्तिं ‘तु’शब्देन उपपत्तिम्. आह सूत्रकारः इति अर्थः. तद्दर्शनस्य इति भगवति प्राकृतावस्थादर्शनस्य वास्तववस्तुविषयकत्वाभावेन अभावएव इति सादृश्यस्य भेदघटितत्वाद् इति अर्थः. तत्र भगवति. तत्रापि भगवत्यपि. उपपत्तेः भ्रान्तत्वेन दर्शनस्य उपपत्तेः इति अर्थः. अन्यत् स्फुटम्॥१३॥

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

एवं देहप्रकारः फलानुभवप्रकारे विचारितः. “आत्मा” “प्रकरणाद्” इति सूत्रद्वयेन फलं विचारितम्. इदानीं फलप्रकारं विचारयितुम् अधिकरणम् अवतारयितुम् आहुः अथ इति. संशयम् आहुः भगवदिति. तथाच प्रकृतिसम्बन्धविशिष्टं रहितं वा इति संशयः. अवस्था दृश्यन्ते इति. अतः तद्विशिष्टम् इति पूर्वपक्षम् आहुः इति कथम् इति. प्राकृतत्वस्य भ्रान्तत्वम् इति सिद्धान्तम् आहुः तद्दर्शनस्य इति. ननु ‘सन्ध्यवद्’

“सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानं तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन् उभे स्थाने पश्यति इदं च परलोकस्थानं च. अथ यथाक्रमो अयं परलोकस्थाने भवति तम आक्रमम आक्रम्य उभयान् पाप्मन आनन्दांश्च पश्यति, स यत्रायं प्रस्वपिति” (बृहदा.उप.६।३।९) इत्युपक्रम्य,

“स्वयं विहृत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति अत्र अयं पुरुषः स्वयंज्योतिः भवति, न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति” (बृहदा.उप.६।३।१०)

इत्यादिरूपा. एवमेव भगवान् आसुराणां प्राकृतगुणे तमस्येव दुःखात्मके लयं चिकीर्षुः स्वस्मिन् प्राकृतत्वबुद्धिसम्पादनाय तादृशीमिव लीलां दर्शयति, अतो न प्राकृतत्वशङ्कागन्धोऽपि अत्र. अतएव भगवता उक्तं, “माम् आत्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तो अभ्यसूयकाः” (भग.गीता१६।१८) इत्युपक्रम्य “ततो यान्ति अधमां गतिम्” (भग.गीता१६।२०) इति. तेषाम् आसुरत्वेन मुक्त्यनधिकारित्वात् तथाकरणम्. अतः सुष्ठूक्तं सन्ध्यवद् उपपत्तेः इति॥१३॥

भावे जाग्रद्वत्॥१४॥

लौकिकवद् भासमाने लीलापदार्थे यद् दर्शनं भक्तानां, तत्तु भावे विषये विद्यमाने सति भवति. अत्र दृष्टान्तम् आह जाग्रद्वत्. यथा मोहाभाववतः पुंसः सतएव अर्थस्य दर्शनं तथा इति.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रम् अवतारयन्ति लौकिकेत्यादि. पूर्वं दोषकार्यम् उक्तम् इदं गुणकार्यम् उच्यते इति बोद्धव्यम्. अत्र पूर्वसूत्राद् ‘उपपत्तेः’ इति अनुवर्तनीयम्. तथाच “लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्” (ब्रह्मसू.२।१।३३) इत्यादिरीत्या पौगण्ड-बाल-किशोराद्यवस्था-पन्नस्य दर्शनं वास्तववस्तुदर्शनमेव इति बोध्यम्.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इति उक्तं तत्किं प्रमाणम् अतः आहुः तथाच इति. इयं बृहदारण्ये ज्योतिर्ब्राह्मणे. इत्यादिरूपेति. इदं च श्रुतिः इति पूर्वेण अन्वितम्. अस्य अर्थस्तु तद्भाष्यादौ अनुसन्धेयः. दार्ष्टान्तिके योजयन्ति एवम् इति. अत्र प्रमाणम् आहुः अतएव इति. अभ्यसूयकाः गुणेषु दोषारोपकाः ॥१३॥

दोषदर्शने उपपत्तिः उक्ता. इदानीं गुणदर्शन उपपत्तिम् आह भावः इति. व्याकुर्वन्ति लौकिकवद् इति.

एताभ्यां सूत्राभ्याम् एतदुक्तं भवति. “सो अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता” (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुत्या भक्तकामपूरणाय भगवान् लीलां करोति इति गम्यते. यद्दर्शन-श्रवण-स्मरणैः भक्तानां दुःखं भवति, तादृशीमपि तां करोति इति श्रूयते. यथा सौभयुद्धे मोहवचनानि, हस्ताद् आयुधच्युतिः, प्रभासीयलीला च. उक्तरीत्या “सो अश्नुते” इति श्रुत्या परब्रह्मत्वम् अवगम्यते. उक्तलीलया तद्वैपरीत्यं च. एवं सति एकस्या वास्तवत्वम्, अन्यस्याः अवास्तवत्वं वाच्यम्.

“ते-ते धामानि उश्मसि” (तैत्ति.संहि.१।३।६।१)

“विष्णोः कर्माणि पश्यतः” (तैत्ति.संहि.१।३।६।२)

“तद् विष्णोः परमं पदं” (तैत्ति.संहि.१।३।६।२)

“तद् विप्रासो विपन्यवः” (ऋग्वेद १।२२।२१) इत्यादिश्रुतिभिः,

“सहस्रशीर्षं देवं विश्वाक्षं विश्वशम्भुवं, विश्वं नारायणं देवम् अक्षरं परमं पदं, विश्वतः परमं नित्यं विश्वं नारायणं हरिं, विश्वमेव इदं पुरुषः तद् विश्वम् उपजीवति पतिं विश्वस्य आत्मा ईश्वरं शाश्वतं शिवम् अच्युतम्”

(महाना.उप.११।१-३)

इत्यादिभिश्च शुद्धब्रह्मणः तद्विपरीतदर्शने अवश्यं हेतुः वाच्यः. सतु आसुरव्यामोहनमेव इति पूर्वसूत्रेण उपपादितः. भक्तेभ्यः स्वरूपानन्ददानाय

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

एताभ्याम् अनुपदम् उक्ताभ्याम्. तां लीलाम्. उक्तलीलया “सो अश्नुते” (तैत्ति.उप.२।१) इति लीलया. तद्वैपरीत्यं मोहकलीलाजन्यदुःखवैपरीत्य-सुखरूपम् इति अर्थः. तद्विपरीतदर्शने ब्रह्मधर्मातिरिक्तधर्मप्रकारेण ब्रह्मविशेष्यक-दर्शने. सतु शुद्धस्य ब्रह्मणः आविद्यकधर्मेण दर्शने हेतुः.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रद्वयव्याख्यानोत्तरं तत्प्रयोजनम् आहुः एताभ्याम् इति. एवम् उपपाद्य वास्तवम् आहुः एवं सति इति. इत्यादिश्रुतिभिः. लीलानां नित्यत्वप्रतिपादनं कृत्वा प्रथमसूत्रप्रयोजनम् आहुः शुद्धेति. द्वितीयस्य अर्थम् आहुः भक्तेभ्यः इति. लीलानां ब्रह्मस्वरूपत्वम् इति ज्ञापनाय “लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्” (ब्रह्मसू.२।१।३३) इति सूत्रार्थं स्मारयन्ति अतएव इति. एतत्सूत्रस्य प्रकारान्तरेण अर्थम् आहुः अथवा इति. अत्र मोक्षे केचिद् भोगं न अङ्गीकुर्वन्ति तेषाम् उपरि अस्वरसः प्रकाशे अनुसन्धेयः.

“लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्” (ब्रह्मसू. २।१।३३) इति न्यायेन या लीलाः करोति, यथा रिङ्गणादिलीला भगवतो नैसर्गिकधर्मरूपानन्दात्मकत्वेन विद्यमानाएव, ता भक्ताः पश्यन्ति इति द्वितीयसूत्रेण उक्तम्. अतएव लीलायाः अनेकरूपत्वाद् ब्रह्मणश्च श्रुतौ सैन्धवदृष्टान्तेन एकरसत्वनिरूपणात् शुद्धब्रह्मधर्मत्वं न सम्भवति इति शङ्कानिरासाय ‘कैवल्यम्’ इति उक्तम्. “साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च” (श्वेता. उप. ६।११) इत्यादिश्रुतिषु या अन्यधर्मराहित्यलक्षणा केवलता उक्ता, सा लीलात्मिकैव, लीलाविशिष्टमेव शुद्धं परं ब्रह्म, न कदाचित् तद्रहितम् इति अर्थः पर्यवस्यति. तेन स्वरूपात्मकत्वं लीलायाः पर्यवस्यति तेन च नित्यत्वम्. एतद् विद्वन्मण्डने प्रपञ्चितम्. अथवा. लीलैव कैवल्यं, जीवानां मुक्तिरूपम्. तत्र प्रवेशः परमा मुक्तिः इति यावद् इति अर्थः ॥१४॥

इति चतुर्थाध्याये चतुर्थपादे तृतीयं तत्त्वभावाधिकरणम् ॥३॥

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥१५॥ (४।४।४)

ननु पूर्णज्ञान-क्रियाशक्तिमता ब्रह्मणा तुल्यभावेन तत्रापि प्रधानभावं प्राप्य कामभोगकरणम् अपूर्णज्ञानक्रियावतो भक्तस्य अनुपपन्नम् इति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

एकरसत्वेत्यादि. नानाविध-लीलासु भगवतः एकरसरूपत्वम् इति अर्थः. तेन स्वरूपात्मकत्वेन. प्रकारान्तरेण ‘कैवल्य’पदार्थम् आहुः अथवा इत्यादि. तत्र प्रवेशो लीलायां प्रवेशः ॥१४॥३॥

एवम् अधिकरणत्रयेण फलप्राप्तिसामग्रीं फलस्वरूपं च निरूप्य फलानुभवप्रकारं विचारयति तादृशे विषये संशयो भगवद्भोगात्मको अनुभवो भक्तानां सम्भवति न वा? इत्याकारको भक्तानां स्वतःसामर्थ्याभावः “सोऽनुते सर्वान् कामान्” (तैत्ति. उप. २।१) इति श्रुतिश्च संशयबीजम्. एतद् अभिप्रेत्य सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादिना इति आशङ्क्याम्. ननु इत्यारभ्य एतत्पूर्वपक्षे प्राप्ते इति अर्थः.

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

विस्तरभयाद् विरम्यते ॥१४॥

एवं फलस्वरूपं विचार्य फलानुभवोपकरणं विचारयितुम् अधिकरणम् अवतारयन्ति ननु इत्यादिना. अत्र भोगे जीवस्य स्वतः सामर्थ्यं नास्ति. श्रुतौतु भोगः उक्तो भवति. अतो भगवद्भोगो जीवस्य अस्ति वा न वा इति संशयः. नास्ति इति पूर्वः पक्षः. जीवस्य अस्वाधीनत्वाद् इति. अस्ति इति सिद्धान्तः. भगवदावेशात्. तदेतद्

आशङ्कायां तत्र उपपत्तिम् आह. न हि तदा नैसर्गिकज्ञानक्रियाभ्यां तथा भोक्तुं शक्तो भवति, किन्तु भगवान् तस्मिन् आविशति यदा, तदा अयमपि तथैव भवति इति सर्वम् उपपद्यते. एतदेव आह **प्रदीपवद्** इति. यथा प्राचीनः प्रकृष्टो दीपः स्नेहयुक्तायां वर्त्याम् अर्वाचीनायाम् आविष्टः स्वसमानकार्यक्षमां तां करोति, स्नेहाधीनस्थितिश्च भवति स्वयं, तथा अत्रापि इति अर्थः. अत्र प्रमाणम् आह **तथाहि दर्शयति** श्रुतिः “**भर्ता सन् भ्रियमाणो बिभर्ति, एको देवो बहुधा निविष्टः**” (तैत्ति.आर.३।१४) इति. “**सर्वान् कामान्**” (तैत्ति.उप.२।१) इति उक्तत्वाद् यस्य कामस्य भोगो यथा निवेशे सति भवति तत्र तथा तदा निवेशः इति बहुधा निवेशः उक्तः. अयं निवेशो न अन्तर्यामित्वेन, तस्य एकधैव प्रवेशात्. निसर्गतः सर्वेषां जीवानां भगवान् भवत्येव प्रभुः यद्यपि, तथापि यं स्वीयत्वेन वृणुते, तस्य विवाहितः पतिरिव ‘भर्ता सन्’ वरणजस्नेहातिशयेन भक्तेनापि भ्रियमाणः सन्, स इव स्वयमपि तं स्वस्मिन् ‘बिभर्ति’. अतएव

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तदा भगवद्भोगकाले. नैसर्गिकेत्यादि. जीवस्य स्वाभाविकज्ञानक्रियाभ्याम् इति अर्थः. शक्तो भवति जीवः शक्तो भवति इति अर्थः. तथैव भगवत्समानाकारेण. स्वयं वर्त्यन्तरम् आविष्टः प्राचीनदीपः. अत्रापि भक्ते भगवानपि इति अर्थः. अत्र प्रविष्टस्य भगवतो भक्तेन सर्वदा धारणे. ‘भर्ता’ इति श्रुतिस्तु तैत्तिरीये भर्तृसूक्तारम्भे अस्ति “**भर्ता सन् भ्रियमाणो बिभर्ति. एको देवो बहुधा निविष्टः**” (तैत्ति.आर.३।८।८) इति. स इव यथा भक्तो भगवन्तं बिभर्ति तथा इति अर्थः. अतएव निरवधिस्नेहेनैव धारणस्य अत्र

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

विशदयन्ति तदा इति. भगवत्प्राप्तिरूपमोक्षावस्थायाम्. दृष्टान्तं व्युत्पादयन्ति एतदेव इति. यथा प्राचीनः इति. पूर्वं स्थितः इति अर्थः. स्वयम् इति. स्वयं स्नेहाधीनस्थितिश्च भवति इति अन्वयः. तथाहि इति. सूत्रांशं व्याकुर्वन्ति अत्र प्रमाणम् इति. भर्ता सन् इति. इयं श्रुतिः तैत्तिरीयोपनिषदि. श्रुत्यर्थम् आहुः “**सर्वान् कामान्**” इत्यारभ्य “**मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु**” इत्यन्तेन. अत्र श्रुतिव्याख्याने वरणजस्नेहातिशयेन इति उक्तं, तत्र उपष्टम्भकम् आहुः अतएव इति. अस्मिन् अनुवाके “**एको देवो बहुधा निविष्टः**” (मुद्र.उप.१) इति वाक्यं, तत्र ‘देव’पदेन अयमेव अर्थो अभिप्रेतः इति. श्रुतितात्पर्ये गमकम् इति आहुः अतएव देवपदम् इति. ‘देव’पदस्य अर्थान् आहुः स्वरूपेति. अस्मिन् अर्थे निरुक्तं प्रमाणम्

स्नेहराहित्येन अयोगोलकादिकं विहाय प्रदीपं दृष्टान्तम् उक्तवान् व्यासः.
 अतएव ‘देव’पदम् उक्तम्. स्वरूपानन्ददानाद् भावोद्दीपनात्
 पूतनादिमुक्तिदानेन स्वमाहात्म्य-द्योतनाद् वैकुण्ठादिस्थितेश्च. तदुक्तं निरुक्ते
 “दिवो दानाद् वा, दीपनाद् वा, द्योतनाद् वा, द्युस्थानो भवतीति वा यो देवः”
 (निरु. ७।१५) इति. किञ्च भक्तानां कामभोजनार्थं क्रीडाकरणात्, क्रीडायामेव
 जयेच्छाकरणाद्, भक्तैः सह व्यवहारकरणाद्, भक्तेषु स्वमाहात्म्येच्छादि-
 द्योतनाद् “न पारये अहं” (भाग.पुरा.१०।२९।३७), “न त्वादृशीं प्रणयिनीम्”
 (भाग.पुरा.१०।५७।५५) इत्यादिभिः स्तुतिकरणाद्, भक्तप्रपत्तिदर्शनेन
 कालीयदमनादौ मोदकरणात्, तेष्वेव भक्तिमदकरणात्, ते स्वप्नेऽपि प्रियमेव
 पश्यन्ति इति स्वप्नकरणात्, तेषां कान्तिकरणाद् इच्छाकरणाद् वा, तन्निकटे
 गमनादपि ‘देवः’. तदुक्तं धातुपाठे “दिवु क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-
 स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु” (पाणि.धातु.दि.१) इति. एवं सति
 युक्तमेव तेषां तथात्वम् इति ‘हि’शब्देन आह॥१५॥

ननु “अस्थूलम् अनण्वह्लस्वम्” (बृहदा.उप.५।८।८) इत्याद्यनन्तरं
 पठ्यते “न तद् अश्नोति कञ्चन न तद् अश्नोति कश्चन” (बृहदा.उप.५।८।९)

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उक्तत्वादेव. अतएव क्रीडार्थं भगवतो भक्ते निवेशादेव. ‘देव’पदं श्रुतौ ‘देव’पदम्.
 ‘देव’पदस्य अर्थम् आहुः स्वरूपानन्देत्यादि. तदुक्तं ‘देव’शब्दस्य यावदर्थवत्वम्
 उक्तम्. दिवो दानाद् दिव आधिदैविकस्य दिवः स्वरूपानन्दरूपस्य इति अर्थः. तस्य
 दानाद् इति भावः. ‘देव’शब्दार्थनिरुक्त्या भगवन्तं निरूप्य ‘दिवु’धात्वर्थनिरूपणेन
 भगवत्स्वरूपं निरूपयन्ति किञ्च इत्यादिना. जयेच्छाकरणात्. भगवता जयेच्छा-
 करणाद् इति अर्थः. व्यवहारकरणात्. तेष्वेव भक्तेष्वेव. ते द्वारकास्थाः स्त्रियः. तेषां
 भक्तानाम्. तथात्वं दीपन्यायेन भगवदावेशित्वम्. ‘हि’शब्देन सौत्र ‘हि’शब्देन॥१५॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु अस्थूलम् इत्यादिना. अग्रे पठ्यमानम् आहुः “न
 तदश्नोति” (बृहदा.उप.३।८।८) इत्यादि. अभेदेन ब्रह्मकर्तृकब्रह्मकर्मकभोगो

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

आहुः तदुक्तम् इति. अन्यमपि ‘देव’पदस्य अर्थम् आहुः किञ्च इति. अस्मिन् अर्थे
 धातुपाठोक्तं प्रमाणम् आहुः तदुक्तम् इति ॥१५॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इति. न तदश्नोति इति. ‘अश्नोति’ इत्यत्र

इति उक्तश्रुतौ च ब्रह्मणा सह जीवस्य भोगः उच्यते. तथाच सगुण-निर्गुणभेदेन विषयभेदो अवश्यं वाच्यो विरोधपरिहाराय इत्यतः उत्तरं पठति.

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षम् आविष्कृतं हि॥१६॥

इह अयम् आशयः. “प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः” (ब्रह्मसू.३।२।२२) इत्याद्यधिकरणैः “परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च” (श्वेता.उप.६।८) इत्यादिश्रुतिभिश्च प्राकृताएव धर्माः निषिध्यन्ते, ब्रह्मणि अप्राकृताएव बोध्यन्ते, अन्यथा तद्बोधनमेव न स्याद् निषेधकवाक्येव तद्बोधनमपि न स्याद्, “एतस्यैव अक्षरस्य प्रशासने” (बृहदा.उप.५।८।९) इत्यादिरूपम्, अतो अचिन्त्यानन्तशक्तेः भगवतः का वा कार्याक्षमता, यया प्राकृतान् गुणान् ऊरीकुर्याद् अतो निर्गुणमेव सदा सर्वत्र भगवद्रूपम् इति मन्तव्यम्. एवं सति, “तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितम् अक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुः एवमेव इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति” (छान्दो.उप.१०।३२) इति छान्दोग्यश्रुतेः प्रस्वापदशायां न कश्चिद् ब्रह्म अश्नाति, तच्च न कञ्चन् इति तद्विषयिणी निषेधिका श्रुतिः, “ब्रह्मविद् आप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुत्युक्तपरब्रह्मप्राप्ति-दशाविषयिणी भोगबोधिका सेति न विरोधगन्धोऽपि. एतदेव आह स्वाप्ययः

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

निषिध्यते. उक्तश्रुतौ “सत्यं ज्ञानम्” इति श्रुतौ. विषयभेदः सगुणो भोग्यो निर्गुणोऽभोग्यः एवंरीत्या विषयभेदः इति अर्थः. इह सूत्रे. अयं वक्ष्यमाणः. अन्यथा ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वे. तद्बोधनं धर्मबोधनं स्वाभाविकीत्यादिना. इत्यादिरूपं प्रशासनद्युपृथिव्यादिधारणरूपम्. प्रस्वापदशायां जीवस्य प्रस्वापदशायाम्. न कश्चिद् जीवः. तच्च ब्रह्म च. तद्विषयिणी प्रसुप्तविषयिणी. उक्ते अर्थे सूत्रं योजयन्ति स्वाप्ययः इत्यादिना.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

विकरणव्यत्ययेन अशनमेव अर्थः इति भावः. सूत्रं व्याकुर्वन्ति इह अयम् इति. पूर्वोक्तं स्मारयन्ति प्रकृतः इति. अन्यथानुपपत्तिं प्रमाणयन्ति अन्यथा इति. अन्यमपि श्रुतिविरोधं परिहरन्ति एवम् इति. तथाच न कञ्चनेति इत्यादिश्रुतिः प्रस्वापदशा-विषयिणी, भोगबोधिका तु “ब्रह्मविदाप्नोति” (तैत्ति.उप.२।१।१) इति श्रुतिः इति अर्थः. अत्र उपष्टम्भकम् आहुः एतदेव इति. इति अर्थः इति. स्वाप्ययसम्पत्त्योः मध्ये

प्रस्वापः, “स्वमपीतो भवति तस्माद् एनं स्वपितीत्याचक्षते” (छान्दो.उप.८।८।१) इतिश्रुतेः. सम्पत्तिः ब्रह्मसम्पत्तिः उक्तरीत्या पुष्टिमार्गीयो मोक्षः. एतयोः अन्यतरापेक्षम् उभयश्रुत्युक्तम् इति अर्थः. भगवत्कर्तृकभोगस्य लीलारूपत्वात् तस्याश्च, “लोकवत्तु लीला कैवल्यम्” (ब्रह्मसू.२।१।३३) इत्यत्र मुक्तित्वेन निरूपणात् तत्प्राप्तेः सम्पद्रूपत्वं युक्ततरम् इति ‘हि’शब्दार्थः॥१६॥

इति चतुर्थाध्याये चतुर्थपादे चतुर्थं प्रदीपवद् इति अधिकरणम्॥४॥

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणाद् असन्निहितत्वाच्च॥१७॥ (४।४।५)

ब्रह्मणा सह भोगकरणं लौकिकव्यापारयुतम्, उत न इति संशये, तद्युतम् इति पूर्वः पक्षः. तथा सति मुक्तित्वभङ्गात् पूर्वोक्तम् अनुपपन्नम् इति प्राप्ते, आह जगद् इत्यादि. पूर्वोक्तस्य जगत्सम्बन्धी लौकिको यो व्यापारः काय-वाङ्-मनसां तद्वर्जं तद्रहितं भोगकरणम्. तत्र हेतू आह प्रकरणाद् असन्निहितत्वाच्च इति. “ब्रह्मविद् आप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१) इत्युपक्रमेण मुक्तिप्रकरणात् तत्र लौकिकव्यापारो असम्भावितः. किञ्च.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

उभयश्रुत्युक्तं भोगतदभावरूपम्. ‘हि’शब्दार्थः सौत्र‘हि’शब्दार्थः इति अर्थः॥१६॥४॥

भोगप्रकारविशेषं निरूपयितुम् अधिकरणम् अवतारयन्ति ब्रह्मणा सह इत्यादिना. तद्युतं लौकिकव्यापारयुतम्. तथा सति लौकिकव्यापारसम्बन्धे सति. पूर्वोक्तम् अलौकिकव्यापारवत्त्वम्. सूत्रेण समाधानम् आहुः पूर्वोक्तस्य इत्यादिना. पूर्वोक्तस्य पुष्टिमार्गरीत्या लीलानुभवतो भक्तस्य.

असन्निहितत्वाद् इत्यस्य अर्थं वक्तुम् आहुः किञ्च इत्यादि. न तत्सम्भवो

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

अन्यतरापेक्षम् उभयश्रुत्युक्तम् आविष्कृतम् इति समुदितार्थः (अत्र प्रकाशकाराः एवम् आहुः - अन्यतरापेक्षम् इत्येतद् अग्रे आविष्कृतम् आविष्करणं भगवत्प्राकट्यम् इति यावत्. हि यतो हेतोः अतो युक्तम् - एतावती त्रुटिः बोध्या इति। ^{आद्यसम्पादकीयम्}) ॥१६॥४॥

भोगप्रकारं विचारयितुम् अधिकरणम् अवतारयन्ति ब्रह्मणा सह इति. संशयम् आहु लौकिकेति. पूर्वपक्षम् आहुः तद्युतम् इति. सिद्धान्तं वक्तुं सूत्रं व्याकुर्वन्ति पूर्वोक्तस्य इति. परब्रह्मणि प्राप्तस्य भक्तस्य. हेतु आह इति. हेतुद्वयम् आह इति अर्थः. प्रथमहेतुं व्याकुर्वन्ति ब्रह्मविद् इति. असन्निहितत्वरूपं द्वितीयं हेतुं

लीलायाः कालमायाद्यतीतत्वेन प्राकृतं जगद् दूरतरम् इतोऽपि हेतोः न तत्सम्भवः. कदाचिद् लोके लीलाप्रकटनेच्छायां तदधिष्ठानत्वयोग्ये मथुरादिदेशे अतिशुद्धे गोलके चक्षुरिन्द्रियमिव स्थापयित्वा लीलां करोति तदापि लीलामध्यपातिनां न लौकिकव्यापारसम्भवः. न हि चक्षुरिन्द्रियं गोलककार्यं करोति. न वा तन्नाशे नश्यति. एतत् सर्वं “दिवीव चक्षुराततम्” इति श्रुतिव्याख्याने विद्वन्मण्डने प्रपञ्चितम्. किञ्च. छान्दोग्ये, “भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः” (छान्दो.उप.७।२३।१) इति उक्त्वा, भूमनो लक्षणम् आह “यत्र नान्यत् पश्यति नान्यत् शृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा” (तत्रैव ७।२४।१) इति. अत्र ‘नान्यद् विजानाति’ इति एतावतैव चारितार्थ्येऽपि यद् इन्द्रियव्यापारो निषिद्धः, तत्रापि अन्यविषयकः, तेन भगवद्विषयकः सः सिद्धो

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

न लौकिकव्यापारसम्भवः. कदाचित् तादृशभक्तोद्घारेच्छाकाले. तद् व्यापिवैकुण्ठम् अक्षरं ब्रह्म. ‘तद्’ इति ‘स्थापयित्वा’ इत्यनेन अन्वेति. अधिष्ठानत्वयोग्ये स्थापयित्वा व्यापिवैकुण्ठे स्थापयित्वा इति अर्थः. तदापि मथुरादिदेशावच्छिन्न-व्यापिवैकुण्ठे भगवता सह भक्तानां लीलाकरणकालेऽपि. लौकिकव्यापाराभावमेव उपपादयन्ति न हि इत्यादिना. चक्षुःस्थानापन्नम् अक्षरं गोलकस्थानापन्नो भूदेशः. तन्नाशे गोलकभूभागयोः नाशे. नश्यति चक्षुः अक्षरं वा नश्यति इति अर्थः. लीलायां लौकिकव्यापाराभावे प्रमाणान्तरम् उपन्यस्यन्ति किञ्च इत्यादिना. सः चक्षुःश्रोत्र-

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

व्याकुर्वन्ति किञ्च इति. दूरतरम् इति. असन्निहितम् इति अर्थः. तथाच भोगस्थानम् अक्षरं ब्रह्म इति भावः. अतएव उक्तं द्वितीयस्कन्धे “निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नम” (भाग.पुरा.२।४।१४) इति. ननु “ते-ते धामान्यु श्मसि” (तैत्ति.संहि.१।३।६।११) इत्यनया श्रुत्या भूमौ भोगः उक्तः, तस्य का वा गतिः इत्यतः आहुः कदाचिद् इति. यदा जगतः उद्घारेच्छा तदा इति अर्थः. लीलाम् इति. अक्षरं ब्रह्म भूमौ स्थापयित्वा लीलां करोति इति अर्थः. ननु एवं चेत् तत्रत्यभक्तानां भूमिसम्बन्धे लौकिकव्यापारो भविष्यत्येव इत्यतः आहुः तदापि इति. अस्मिन् अर्थे प्रमाणम् आहुः एतत् सर्वम् इति. प्रपञ्चितम् इति. ‘चक्षुः’ इति द्वितीयैकवचनान्तं पदम् इत्यादिना प्रपञ्चितम् इति अर्थः. अपरं प्रमाणम् आहुः किञ्च इति. यदिन्द्रियव्यापारो निषिद्धः इति. ‘पश्यति’ इत्यनेन ‘शृणोति’ इत्यनेन च यः उक्तः सः

भवति इति जगद्व्यापारराहित्यं सिद्धम्. तत्र तेन भगवतएव स्वतन्त्रफलत्वम् उक्तं भवति. न हि सुखस्य अन्यत् प्रयोजनम् अस्ति॥१७॥

प्रत्यक्षोपदेशाद् इति चेद्, न आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः॥१८॥

ननु एतत्प्रकरणएव छान्दोग्ये पठ्यते “सर्वं ह पश्यति” (छान्दो.उप. ७।२६।२) इति सर्वविषयकप्रत्यक्षम् उपदिश्यतइति अन्यविषयकव्यापारराहित्यं न उपपद्यते इति आशङ्क्य, समाधत्ते आधिकारिकेत्यादिना.

अत्र इदम् उच्यते. “सो अश्नुते” (तैत्ति.उप.२।१), “लोकवत्तु लीला कैवल्यम्” इत्यादिभिः नित्यलीलामध्यपातित्वं तस्य उच्यते. “नान्यत् पश्यति” इत्यादिश्रुतिवशाद् जगद्व्यापारवर्जं भोगकरणं पूर्वसूत्रेण उक्तम्.

अत्र इदं विचार्यते : “नान्यत् पश्यति” इति प्रकरणएव “सर्वं ह

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

व्यापारः. तत्र भगवता सह भक्तलीलायाम्. तेन इतरविषयतानिषेधेन. फलितम् आहुः न हि इत्यादि. इतरसाधनलाभस्य प्रयोजनं सुखरूपं फलं यथा तथा सुखरूपभूमलाभस्यापि किञ्चित् प्रयोजनं स्वातिरिक्तं फलम् अस्ति इति न हि इति अर्थः. तादृशफलस्य अप्रसिद्धेः इति अर्थः॥१७॥

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादिना. एतत्प्रकरणएव भूमविद्याप्रकरणएव. पठ्यते “सर्वं ह पश्यः पश्यति” (छान्दो.उप.७।२६।२) इत्यादि पठ्यते. तथाच भक्तस्य अक्षरे ब्रह्मसर्वदर्शनरूपो व्यापारो ‘जगद्व्यापारः’ श्रूयते इति अर्थः. अत्र एतत्सूत्रान्तरेण. इदं वक्ष्यमाणम् अधिकं सङ्ग्राह्यम्. तस्य भक्तस्य. अत्र शङ्कास्पदे

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

निषिद्धः इति अर्थः. एवञ्च अनया श्रुत्यापि लौकिकव्यापारवर्जत्वं सिद्धम् इति भावः. एवञ्च सिद्धस्य फलम् आहुः तत्र तेन इति. कुतः एतद्? इत्यतः आहुः न हि इति. साधनादिकस्य सर्वस्य प्रयोजनं सुखं, पुनः सुखस्यापि प्रयोजनान्तरापेक्षा न वक्तव्या इति अर्थः ॥१७॥

सूत्रं व्याकुर्वन्ति ननु इति. ननु अक्षरे ब्रह्मणि जगद्व्यापारवर्जो भोगो न सम्भवति कुतः इत्यतः आहुः एतत्प्रकरणएव इति. अन्यविषयेति. प्राकृतविषयेति अर्थः. प्रकारान्तरेण अवतारयन्ति. अवतरणग्रन्थे इदं वक्ष्यमाणम् अधिकम् इति अर्थः. किं तदधिकम् इत्यतो विषयम् आहुः सोऽश्नुते इत्यादिना. तस्य उच्यते इति. भक्तस्य उच्यते इति अर्थः. अत्र इदम् इति. अस्मिन् सूत्रे इदम् उक्तश्रुति-सूत्राभ्यां यद् उक्तं,

पश्यति” इति सर्वविषयकं दर्शनम् उच्यते, तत् कथं पूर्वोक्तम् उपपद्यते ? इति. किञ्च. एकस्यैव भक्तस्य देश-कालभेदेन क्रियमाणानेकलीलासम्बन्धित्वं भवति. तच्च लीलानित्यतायां न घटते. यतः तत्तद्देश-तत्तत्काल-सम्बन्धिनी सा नित्या. एवं सति एकस्य अनेकरूपत्वं जीवस्य न सम्भवतीति तन्नित्यत्वमपि न सिध्यति इति.

तत्र उच्यते. श्रुतौ ‘सर्व’पदेन न जगद् उच्यते, किन्तु यस्यां-यस्यां लीलायां देशकालभेदेन क्रियमाणायाम् अधिकृतो य एको भक्तः, तस्यैव तावन्ति

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

विरोधे. इदम् अनुपदं निरूप्यमाणम्. पूर्वोक्तं जगद्व्यापारराहित्यम्. प्रथमाशङ्कां दृढीकृत्य “सोऽश्नुते” (तैत्ति.उप.२।१), “लोकवत्तु” (ब्रह्मसू.२।१।३३) इत्याद्युक्ते विरोधम् उपपादयन्ति किञ्च इत्यादिना. एकस्यैव “एवं पश्यन्” (छान्दो.उप.७।२६।१), “सर्वं हि पश्यः पश्यति” (तत्रैव ७।२६।२) इत्यादिश्रुतिषु सर्वत्र एकवचनोपादानाद् एकस्यैव इति अर्थः. न घटते पूर्वसिद्धतत्तद्देश-कालावच्छिन्नलीलासम्बन्धस्य भक्ते नित्यत्वेन अवच्छेदासम्भवाद् देशान्तर-कालान्तरावच्छिन्नलीलासम्बन्धो भक्ते न घटते इति अर्थः. एवं सति एकस्यैव भक्तस्य एकस्मिन्नेव काले नानादेशावच्छिन्नलीलायाः एकस्मिन् च देशे नानाकालावच्छिन्नलीलायाः च अङ्गीकारे सति इति अर्थः. न सम्भवति कुत्रापि अनुक्तत्वाद् न सम्भवति इति अर्थः. एकस्य अनेकत्वेतु सर्वमेव सुघटं स्याद् इति अर्थः.

तत्र उच्यते पूर्वसूत्रोक्तजगद्व्यापारवर्जनस्य “स सर्वं पश्यति” इत्यनेन खण्डने कृते समाधानम् उच्यते इति अर्थः. तावन्ति नानादेशकालावच्छिन्न-

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

विचारम् आहुः न अन्यद् इति. उपपद्यते इति. अनेन पूर्वोक्तैव आशङ्का अनूदिता. द्वितीयाम् आहुः किञ्च इति. एकस्यैव इति. “सोऽश्नुते” (तैत्ति.उप.२।१।१) इत्यत्र “स वा एषः एवं पश्यन्” (छान्दो.उप.७।१५।४) इत्यादिषु एकत्वकथनेन एकस्यैव इति अर्थः. एवं सति इति. देशकाल-भक्तविशिष्टायाः नित्यत्वे सति इति अर्थः. जीवस्य भक्तस्य न सम्भवति इति. अनुक्तत्वाद् इति शेषः. तन्नित्यत्वमपि इति. लीलायाः नित्यत्वमपि इति अर्थः. सूत्रे प्रत्यक्षोपदेशाद् इत्यत्र षष्ठीतत्पुरुषः प्रथमपक्षे, द्वितीयपक्षेतु कर्मधारयः इति ज्ञेयम्.

एवम् आशङ्कांशं द्वेधा व्याख्याय समाधानांशार्थम् आहुः तत्र उच्यते इति.

रूपाणि सन्ति तानि आधिकारिकाणि इति उच्यन्ते. तेषां मण्डलं समूहः तत्र स्थितवस्तुमात्रम् उच्यते इति न अनुपपन्नं किञ्चित्. अतएव अग्रे पठ्यते “सर्वमाप्नोति सर्वशः” (छान्दो.उप.९।२६।२) इति, “स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा भवति, सप्तधा नवधा चैव पुनश्च एकादश स्मृतः, शतञ्च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिः” (तत्रैव) इति. यथा मण्डलवर्तिषु पुंसु न एकस्य प्राथम्येन प्राधान्यं वक्तुं शक्यं, तथा एतेष्वपि रूपेषु इति ज्ञापनाय ‘मण्डल’पदम् उक्तम् ॥१८॥

विकारावर्ति च तथाहि स्थितिम् आह ॥१९॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

लीलानुभवयोग्यानि. तानि एकभक्तीयनानारूपाणि. तेषां एकभक्तीयनानारूपाणाम्. उच्यते “स सर्वं पश्यति” इति ‘सर्व’शब्देन योग्यताबलाद् लीलावस्तुमात्रम् उच्यते नतु जगत्, तादृशस्य दर्शनायोग्यत्वात्. “नान्यत् पश्यति” (छान्दो.उप.७।२४।१) इत्यनेनैव अयोग्यतोपपादनात्. अतएव एकस्यैव अनेकरूपैः सर्वलीलासम्बन्धि-सकलपदार्थदर्शनाङ्गीकारादेव. तथा एतेषु इति. आधिकारिक-मण्डलस्थो यो भक्तजीवः तदीययावद्देहेष्वपि प्राधान्यव्यवस्था समैव इति अर्थः ॥१८॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

आधिकारिकमण्डलोक्तेः इत्यस्य व्याख्यानम् आहुः श्रुतौ इति. किन्तु इति. अस्य पदस्य वस्तुमात्रम् उच्यते इत्यनेन अन्वयः. अधिकृतः इति. अधिकारः भक्तानां लीलानुभवयोग्यता, तत्सम्बन्धि आधिकारिकम्. न अनुपपन्नम् इति. “सर्वः सर्वं पश्यति” (प्रश्नोप.४।५) इति श्रुतौ ‘सर्व’पदेन जगद्ग्रहणाभावाद् जगद्व्यापाररहितत्वं न अनुपपन्नम्. एवं “सोऽश्नुते” इत्यत्र एकवचनं भक्तस्वरूपबोधकम्. तथाच एकएव भक्तः आधिकारिकदेहं स्वीकृत्य तत्तद्देशकालविशिष्टलीलानाम् अनुभवकर्तेति न तस्य अनेकत्वम् अनित्यत्वं च. लीलानामपि तादृशविशेषणविशिष्टानां नित्यत्वम् इति न अनुपपन्नम् इति अर्थः. अत्र प्रमाणम् आहुः अतएव इति. अग्रे “सर्वं हि पश्यः पश्यति” इत्यस्य अग्रे. अत्र ‘सर्व’पदार्थस्य सङ्कोचाद् जगद्ग्रहणं नास्ति. एकस्य भक्तस्य बहुधाभवने प्रमाणम् आहुः सः एकधा इति. ननु चक्राकारः समूहो ‘मण्डल’पदेन उच्यते. तस्य किं तात्पर्यम् अतः आहुः यथा इति. तथाच बहुपुरुषेषु एकस्यैव प्राधान्यम् इति नास्ति इति भावः ॥१८॥

एतावता श्रुतिविरोधः परिहृतः. लोके असामञ्जस्यं परिहन्ति विकारावर्ति च

ननु एवं सति “श्वः त्वद्गेहम् आयास्ये” इति प्रभुणा उक्ते तदाशया तत्स्थितिः न उपपद्यते. नित्यत्वाद् लीलायाः तस्य कालस्य तदागमनस्य च तदापि वर्तमानत्वात्. तथा प्रभूक्तिरपि न उपपद्यते इति आशङ्क्य समाधत्ते. इह भगवल्लीला प्रकृतिः, तद्विरुद्धो अर्थो विकारः इति उच्यते. तत्र न वर्तते तज्ज्ञानं तादृशं च भवति. यत्स्वरूपं प्रति तथा वदति, तस्य स्वगेहे तदा भगवत्स्थितिज्ञानं न भवति इति अर्थः. उपलक्षणं च एतद्, अतो यद्देश-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रम् अवतारयन्ति ननु इत्यादि. एवं सति लीलाघटकसकलपदार्थानां नित्यत्वे सति. तदाशया श्वस्तनभगवदागमनाशया. तत्स्थितिः भगद्विरहेण स्थितिः. तस्य कालस्य आगमनकालस्य. तदापि आगमनसङ्केतितपूर्वदिनेऽपि. न उपपद्यते आगमने भविष्यत्वबोधिका न उपपद्यते इति अर्थः. इह व्याससिद्धान्ते. तद्विरुद्धो वास्तवभगवल्लीलापदार्थविरुद्धः. तत्र लीलाबहिर्भूत‘विकार’पदवाच्यलौकिकपदार्थे सति. तज्ज्ञानं ‘विकारावर्ति’इत्यनेन उच्यते इति अर्थः. चकारार्थम् आहुः तादृशम् इति. तादृशम् “अयम् अत्र अद्य नास्ति” इति विकारविषयलौकिकज्ञानसमानसमाकारं च भवति “मद्गेहे अद्यदिने भगवान् नास्ति” इति ज्ञानं भगवत्तिरोधानसम्पादितम् इति अर्थः. यत्स्वरूपं प्रति भक्तीयनानास्वरूपाणां मध्ये यत्स्वरूपं प्रति इति अर्थः. न भवति व्यञ्जकघृताद्यसमवधाने कुङ्कुमगन्धादेरिव आविर्भावाद्यसन्निधाने भगवतोऽपि प्रत्यक्षं न भवति इति अर्थः. एतद् भगवद्दर्शननिरूपणम्.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

इति. सूत्रं व्याकर्तुम् अवतारयन्ति ननु इति. एवं सति लीलायाः नित्यत्वे सति. तथा प्रभूक्तिरपि इति. एवञ्च प्रभूक्त्या किं ज्ञायते. “श्वः त्वद्गेहे विलक्षणां लीलां करिष्यामि” इति ध्वन्यते, नित्यत्वं लीलायाः ज्ञायते इति भावः. समाधानं व्याकुर्वन्ति इह इति. इह भगवत्सम्बन्ध्यर्थविचारे. प्रकृतिः रसात्मिका. तद्विरुद्धो अर्थो लौकिकः, सः हि विकारः. तत्र इति. लौकिके विकारभूते अर्थे. तज्ज्ञानम् इति. तस्य ब्रह्मणा सह भोगकरणस्य ज्ञानम्. आधिकारिकमण्डलस्थं सर्वं ज्ञानं विकारावर्ति विकाररहितम् इति अर्थः. तादृशं तत्समानाकारं च इति अर्थः. चकारेण आत्मतः आविर्भाव-तिरोभावौ सूचितौ. तथा वदति “श्वः त्वद्गृहम् आयास्ये” इति वदति. प्रथमदिने स्वगेहे भगवदिच्छायाः भगवत्स्थितिज्ञानं न जायते. अन्यथा लीलारसानुभवो न स्याद् इति भावः. सूत्रे अनुक्तमपि आहुः उपलक्षणम् इति.

कालविशिष्टा यादृशी या लीला, तस्याः तादृश्याएव तल्लीलामध्यपातिनो भक्तस्य ज्ञानं, न अन्यविषयकम् इति ज्ञेयम्. अतएव द्वितीयस्यापि, “मह्यं पूर्वम् उक्तम् आसीत् तेन आगतः” इत्येव ज्ञानं भवति. तदैव हि रसोदयः. अतो रसस्वरूपमध्यपातित्वाद् लीलायाः रसस्य च भगवदात्मकत्वाद् भगवद्रूपत्वेन सर्वम् उपपद्यते लीलायाम्. अत्र प्रमाणम् आह तथा हि स्थितिम् आह इति. “सर्वम् आप्नोति सर्वशः” (छान्दो.उप.९।२६।२) इति श्रुतिः एकस्यैव भक्तस्य सर्वशः सर्वैः प्रकारैः सर्वलीलारसम् आप्नोति इति वदन्ति उक्तरीत्यैव लीलायां स्थितिम् आह इति अर्थः. अतो वस्त्वेव इदम् अलौकिकम् ईदृशम् इति मन्तव्यं वैदिकैः इति भावः. अलौकिके अर्थे लौकिकरीत्यनुसरणं न युक्तं, किन्तु अलौकिकरीत्यनुसरणमेव युक्तम् इति ‘हि’शब्देन द्योत्यते. एतेन “रसो वै सः” (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुतेः लीलाविशिष्टएव प्रभुः तथेति तादृशएव परमफलम् इति ज्ञापितं भवति॥१९॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तादृश्याः संयोग-विप्रयोगान्यतर-रसात्मकभगवद्रूपायाः. न अन्यविषयकम् इति ज्ञेयम्. “नान्यत् पश्यति नान्यत् शृणोति नान्यद् विजानाति” (छान्दो.उप.७।२४।१) इत्यादिश्रुतिभिः न भगवदतिरिक्तविषयकं ज्ञेयम् इति अर्थः. अतएव लीलामध्यपाति-भगवदतिरिक्तज्ञानासम्भवादेव. अत्र सर्वदा भक्तानां भगवल्लीलारसपाने. सर्वशो लीलोपयोगिसर्वदेशकालावच्छेदेन. सर्वैः प्रकारैः रसनिष्पादकसर्वैः प्रकारैः इति अर्थः. उक्तरीत्येत्यादि. एकस्यैव भक्तस्य सकललीलारसभोगोपयोगिनानास्वरूपैः. लीलायां स्थितिम् आह इति अर्थः. अतः सर्वलोकविलक्षणतया भोगोपपादनतः. इदम् एतादृश-लीलारूपम्. तथा रसरूपः॥१९॥

नानास्वरूपकैः कभक्तसदृशानेकभक्तघटितलीलाविशिष्टभगवत्स्वरूपस्य

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

अत्र उपष्टम्भकम् आहुः अतएव इति. द्वितीयस्यापि इति. ज्ञानम् इति अग्रेण अन्वयः. सर्वम् उपपद्यते इति. “अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्, प्रकृतिभ्यः परं यद्यत् तद् अचिन्त्यस्य लक्षणम्” (मत्स्यपुरा.) इति मत्स्यपुराणोक्तेः इति न तत्र तर्कापेक्षा इति भावः. पूर्वोक्तार्थे प्रामाण्यं द्योतयितुं सूत्रशेषम् अवतारयन्ति अत्र इति. एतावता यत् सिद्धं तद् आहुः अतः इति॥१९॥

पूर्वं तर्कनिषेधो भगवत्सम्बन्धिपदार्थेषु उक्तः. इदानीं तस्मिन्नेव अर्थः

नच लौकिकयुक्तिविरोधो अत्र बाधकत्वेन मन्तव्यः, किन्तु साधकत्वेन यतः प्रत्यक्षानुमाने श्रुतिस्मृती अपि लौकिकयुक्त्यप्रसारेण अलौकिके भगवत्सम्बन्धिनि अर्थे अन्यथाभावनं निषेधति,

“नैषा तर्केण मतिरः आपनेया” (कठोप.१।२।९)

“परा अस्य शक्तिः विविधैव श्रूयते

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च” (श्वेता.उप.६।८)

“अलौकिकास्तु ये भावा न तान् तर्केण योजयेत्”

(महाभा.भीष्मप.५।१२) श्रीभागवते च

“न हि विरोध उभयं भगवति अपरिगणितगुणगण ईश्वरे अनवगाह्य-
माहात्म्ये अर्वाचीनविकल्पवितर्कविचारप्रमाणाभासकुतर्कशास्त्रकलिलान्तः-
करणाशयदुरवग्रहवादिनां विवादानवसरे” (भाग.परा.६।९।३६) इत्यादिवाक्यैः
अचिन्त्यानन्तशक्तिमत्त्वेन भगवत्स्वरूपस्यैव परमफलत्वं प्रदर्श्यते. किञ्च.

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

रसरूपस्य लौकिकयुक्त्यसिद्धत्वं दूषणं मनसिकृत्य तन्निरासाय सूत्रम् अवतारयन्ति नच
इत्यादिना. अत्र तादृशभक्तविशिष्टलीलायाः नित्यत्वे. किन्तु इत्यादि. येन
लौकिकयुक्त्यगोचरत्वम् अलौकिके साधकं तेन विरोधोऽपि तथा न अनुमानबाधकः इति
अर्थः. प्रत्यक्षेत्यादि. उक्तार्थस्य नित्यानुमेयश्रुतिमूलकत्वाभावात् स्वतःसिद्धप्रामाण्य-
मूलकानुमितिप्रामाण्यकत्वेन अनुमानपदेन उपादानम्. अन्यथाभावनम्. लौकिक-
युक्तिसिद्धतया भावनम्. एषा उपनिषज्जनिता रसात्मकस्वरूपविषयिणी. प्रमाणान्तरम्
आहुः किञ्च इत्यादिना.

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

उपष्टाम्भकं सूत्रान्तरम् आहुः दर्शयतश्च इति.

व्याकुर्वन्ति नच इत्यादिना. नच इति. न हि इति अर्थः. साधकत्वेन इति.
भगवन्माहात्म्यमेव तादृशं यत्र भगवति लौकिकयुक्तिप्रसरो नास्ति इति साधकत्वेन इति
अर्थः. सौत्र प्रत्यक्षानुमाने इत्यस्य अर्थम् आहुः यतः इति. श्रुतिम् आहुः न एषा इति.
स्मृतिम् आहुः अलौकिकेति. प्रमाणान्तरम् आहुः श्रीभागवते इत्यादिना प्रदर्श्यते
इत्यन्तेन. अनवगाह्य इत्यारभ्य वादिनाम् इत्यन्तम् एकं पदम्.

इदानीं भगवतः फलत्वे ऋक्शाखीयं वाक्यम् आहुः किञ्च इति. अत्र निरुक्ते

“ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः,
अत्र आह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदम् अवभाति भूरि”
(ऋग्वेद २।२।२४)

इति ऋग्वेदे पठ्यते. किञ्चित् पाठभेदेन यजुःशाखायामपि. ‘ता’ तानि
‘वास्तूनि’ ‘वां’ गोपी-माधवयोः सम्बन्धीनि ‘गमध्यै’ प्रसादत्वेन प्राप्तुम्
‘उश्मसि’ कामयामहे. तानि कानि? इति आकांक्षायां गूढाभिसन्धिम्
उद्घाटयति, ‘यत्र’ श्रीगोकुले ‘गावो भूरिशृङ्गा’ बहुशृङ्गा रुरुप्रभृतयो वसन्ति
इति शेषः. ग्राम्यारण्यपशूपलक्षणार्थम् उभयोरेव ग्रहणम्. अत्र आह भूमावेव
‘तदुरुगायस्य’ बहुगीयमानस्य ‘वृष्णः’ भक्तेषु कामान् वर्षति इति वृषा तस्य
‘पदं’ स्थानं वैकुण्ठं, ततोऽपि परमम् अधिकम्, अत्र विचित्रलीलाकरणात्.
‘भूरि’ यमुनापुलिन-निकुञ्ज-गोवर्धनादिरूपत्वेन बहुरूपम्. तथाच तत्रत्यानि
तानि ‘कामयामहे’ इति वाक्यार्थः सम्पद्यते.

एतेन लीलासम्बन्धिवस्तूनां यत्र फलत्वेन प्रार्थनं, तत्र तल्लीलाकर्तुः
परमफलत्वे किं वाच्यम् इति आशयो ज्ञाप्यते.

“अथ ह वा व तव महिमाऽमृतसमुद्रविप्रुषासकृल्-
लीढया स्वमनसि निष्यन्दमानानवरतसुखेन विस्मारितदृष्ट-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

किञ्चित्पाठभेदेन ‘विष्णु’पदप्रयुक्तपाठभेदेन इति अर्थः. उक्तश्रुत्यर्थम्
आहुः ताः तानि इत्यादि. एतेन लीलासम्बन्धिपदार्थानां कामनायाः श्रुत्या निरूपणेन.
लीलासम्बन्धिपदार्थकामनाम् उक्त्वा तादृशपदार्थलेशस्य फलत्वम् आहुः अथ ह
इत्यादिना॥२०॥

गोस्वामिश्रीमदगिरधरविरचितं विवरणम्

यास्केन सूर्यकिरणपरं व्याख्यानं कृतम् इति भ्रमनिरासाय आहुः किञ्चिद् इति. अर्थम्
आहुः ता इत्यादिना सम्पद्यते इत्यन्तेन. उभयोः गोभूरि-शृङ्गयोः. रुरु-प्रभृतयो
भूरिशृङ्गाः ज्ञेयाः. अत्र वेदाशयं स्फुटीकुर्वन्ति एतेन इति. अत्र अर्थे यास्केन
‘शृङ्गा’दिपदस्य निरुक्तिः उक्ता नतु किरणे तात्पर्यम् इति ज्ञापयितुं भागवतवाक्यम्
उपष्टम्भकम् आहुः अथ ह वाव इति. किञ्च ऋग्वेदस्थऋचः विष्णुसूक्ते पाठो अस्ति,
तैत्तिरीये ‘विष्णोः’ इति पदमेव अस्ति एतदग्रे “विष्णोः कर्माणि”(तैत्ति.संहि.
१।३।६।१२) इति मन्त्रो दृश्यते. अतः प्रथममन्त्रो भगवत्परएव इति बोध्यम् ॥२०॥

श्रुत-सुखलेशभासाः परमभागवता” (भाग.पुरा.६।९।३९)

इति श्रीभागवते. एतेनापि कैमुतिकन्यायेन प्रभोरेव स्वतःपुरुषार्थत्वं ज्ञाप्यते. फलप्रकरणत्वात् तदेव आचार्यतात्पर्यविषयः इति ज्ञायते.

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च॥२१॥

इतोऽपि हेतोः पुरुषोत्तमस्वरूपमेव परमं फलम् इति ज्ञायते. यतः, “सो अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता” (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुतौ भक्तसाम्यम् उच्यते तच्च पुरुषोत्तमएव सम्भवति. यतः सख्यं दत्त्वा तत्कृतात्मनिवेदनम् अङ्गीकुर्वन् अतिकरुणः स्वस्वरूपानन्दम् अनुभावन् तं प्रधानीकरोति. अन्यथा भक्तो अनुभवितुं न शक्नुयाद्, युक्तं च एतत्. प्राप्तं फलं स्वाधीनं भवत्येव, अन्यथा फलत्वमेव न स्यात्. तथाच अस्माद् लिङ्गादपि प्रभोरेव परमफलत्वं सिध्यति. “न तत्समश्च अभ्यधिकश्च दृश्यते” (श्वेता. उप.६।८) इति श्रुतिविरोधपरिहाराय ‘मात्र’पदम्. नच अत्र कामभोगस्य फलत्वं शङ्कनीयम्. “आप्नोति परम्” इति एतद्व्याकृतिरूपत्वात् स्वरूपानुभव-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

सूत्रम् अवतारयन्ति इतोऽपि इत्यादिना. इतोऽपि भोगांशे साम्यतोऽपि. पुरुषोत्तमएव इति ‘एव’कारेण अक्षरभोगार्थसाम्यव्यवच्छेदः. प्रधानीकरोति ‘सह’शब्दात् स्वयं गौणो भूत्वा भक्तं प्रधानीकरोति इति अर्थः. अन्यथा भक्ते भगवता प्राधान्यादाने प्राप्तं भक्तेन प्राप्तम्. फलं सर्वकामाशनरूपम्. अन्यथा स्वाधीनतया भोगत्वाभावे. अस्मात् साम्यरूपात्. ‘मात्र’पदम् इति. तथाच भोगमात्रएव साम्यं नतु “सृष्टिकरणादौ” इतिसूत्रे मात्रपदोपादानात् श्रुतिविरोधपरिहारः. ननु अत्र कामफलभोगस्यैव श्रुत्युक्तत्वाद् भोगस्यैव फलत्वं नतु परब्रह्मणः इत्यतः आहुः नच इत्यादि. व्याकृतिरूपत्वात् “सो अश्नुते सर्वान् कामान्” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यस्य

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सूत्रम् अवतारयन्ति इतोऽपि इति. इतः भोगएव साम्यं श्रुतौ ‘सह’पदेन उच्यते, अस्मादेव हेतोः इति अर्थः. सूत्रं व्याकुर्वन्ति यतः इति. पुरुषोत्तमएव इत्यत्र एवकारेण अक्षरब्रह्मणो व्यावृत्तिः. तत्र कारणम् आहुः यतः सख्यम् इति. ननु श्रुतौ कामभोगः श्रूयते, अतो भोगस्यैव फलत्वम् इति आशङ्कते नच इति. उत्तरम् आहुः आप्नोति परम् इति. व्याकृतिः इति. एतद्वाक्यव्याख्यानरूपत्वाद् इति अर्थः. ननु विवरणे कामानाम् अशनं किमर्थम् उक्तम् इत्यतः आहुः स्वरूपेति. इदं च सर्वं

रूपत्वाद् भोगस्य. अनुभूयमानस्यैव हि सुखस्य लोके पुरुषार्थत्वोक्तेः॥२१॥

एवं भगवतः स्वतःपुरुषार्थरूपत्वम् उक्त्वा कर्मफलभोगानन्तरम् आवृत्तिवद् अत्रापि आवृत्तिः भविष्यति इति आशङ्कानिरासाय उत्तरं पठति.

अनावृत्तिः शब्दाद् अनावृत्तिः शब्दात्॥२२॥

अनावृत्तिः भक्तानां ज्ञानिनां च उच्यते. तत्र मानं शब्दः. सच

“तया ऊर्ध्वम् आयन् अमृतत्वम् एति” (छान्दो.उप.१०।६।६)

“न तेषां पुनरावृत्तिः” (छान्दो.उप.४।१५।६)

“एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते” (तत्रैव ४।१५।५)

“ब्रह्मलोकम् अभिसम्पद्यते नच पुनरावर्तते” (तत्रैव ८।१५।१)

इत्यादिरूपस्तु ज्ञानिनां ताम् आह. न हि भक्तानां नाड्यादिप्रयुक्तम् अमृतत्वम्. “तस्मान् मदभक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः, न ज्ञानं नच वैराग्यं

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

तद्व्याकृतिरूपत्वाद् इति अर्थः॥२१॥

सूत्रम् अवतारयन्ति एवं भगवतः इत्यादिना. अत्रापि ज्ञानभक्तिमार्गयोरपि. सूत्रं व्याकुर्वन्ति अनावृत्तिः इत्यादिना. तथा देवयानवीथ्या. तेषाम् अमृतत्वप्राप्तानाम्. इत्यादिरूपः शब्दः इति अर्थः. ताम् अनावृत्तिं. नाड्यादिप्रयुक्तम् इत्यादि. तथाच “शतज्ज्वैका च हृदयस्य नाड्यः” (कठोप.२।३।१६) इत्यनेन नाडीद्वारेण* उत्क्रान्तो अमृतत्वम् आप्नोति इति प्रकारो भक्तेषु नास्ति इति अर्थः. न हि इत्याद्युक्ते हेतुम् आहुः तस्माद् इत्यादि.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

श्रीमदाचार्यैः पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थे कण्ठरवेण उक्तं “भगवानेव हि फलं सः यथ आविर्भवेद् भुवि. गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत्” (पुष्टिप्र.म.१७) इति. अनेन सूत्रपञ्चकेन भोगरूपं परमफलं भगवानेव इति सूचितम् ॥२१॥

सूत्रम् अवतारयन्ति एवम् इति. सूत्रं व्याकुर्वन्ति अनावृत्तिः इति. उच्यते इति. अनेन सूत्रेण उच्यते इति अर्थः. सच इति. अस्य सच इति पदस्य इत्यादिरूपस्तु इत्यनेन अन्वयः. तथाच इत्यादिरूपः शब्दो ज्ञानिनामेव ताम् अनावृत्तिम् आह इति अर्थः. सः को वा शब्दः? इत्यतः आहुः तथा इति. ऊर्ध्वगतिहेतुभूतयोः ज्ञान-वैराग्ययोः काठके बृहदारण्ये च उक्तत्वाद् ज्ञानिनामेव ताम् आह इति अर्थः. भक्तस्य

* ‘द्वयेन’ इति गट्ट.पाठः.

प्रायः श्रेयो भवेद् इह” (भाग.पुरा. ११।२०।३१) इत्यादिवाक्येभ्यः.

किन्तु ‘यमेव’(कठोप.२।२२) इति श्रुतेः वरणमात्रलभ्यः पुरुषोत्तमः. एवं सति “ब्रह्मविद् आप्नोति परम्”(तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुतेः विरोध-परिहारपूर्वकोक्तव्याख्यानरीत्या भक्तस्य परं ब्रह्म प्राप्तस्य निर्दोषत्वाद् आवृत्तिहेत्वभावात् प्रपञ्चे अनावृत्तिः सम्भवति. तादृशं प्रति ईश्वरेच्छापि न तथा भवितुम् अर्हति. “ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तम् इमं परं, हित्वा मां शरणं याताः कथं तान् त्यक्तुम् उत्सहे”(भाग.पुरा.९।४।६५) इति भगवद्-वाक्यात्. परप्राप्तिरूपत्वाच्च भोगस्य न नाशसम्भावना. किञ्च यत्र एकस्यैव

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

भक्तानम् अनावृत्तौ हेतुभूतः कः शब्दः इति आकांक्षायां तम् आहुः किन्तु इत्यादिना. विरोधपरिहारेत्यादि. तथाच ब्रह्मविद् ब्रह्मैव प्राप्नुयात् कथं परं प्राप्नुयाद् इति विरोधे प्राप्ते समाहितं ब्रह्मविद् ब्रह्मैव प्राप्नुयात् परब्रह्मवित् परं प्राप्नोति इति अर्थः. आवृत्तिहेत्वभावाद् अविद्याकामकर्मादिरूपावृत्तिहेतूनाम् अभावाद् इति अर्थः. तादृशं भक्तम्. इच्छा आवृत्तिः अस्य भवतु इत्याकारिका ईश्वरेच्छा. अनुगृहीतभक्ते भगवतः पुनरावृत्तिः इच्छाभावे हेतुम् आहुः ये दारेत्यादिना. अपरब्रह्मप्राप्तानां ज्ञानिनाम् अनावृत्तौ श्रुतौ सिद्धायां परब्रह्मप्राप्तानां भक्तानाम् अनावृत्तिः कैमुतिक-न्यायसिद्धा इति आहुः परप्राप्तिः इत्यादिना.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

नास्ति इत्यत्र किं मानम्? अतः आहुः तस्माद् इति. ननु भक्तस्य अनावृत्तिः कस्माद् वाक्याद् अवगन्तव्या इत्यतः आहुः किन्तु इति. पुरुषोत्तमः इति. सएव अमृतत्वं तेषाम् इति अर्थः. सतु अक्षरात् परएव. “अक्षरात्परतः परः” (मुण्ड.उप.२।१।४) इति श्रुतेः, “यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम्” (भग.गीता भग.गीता १५।१८) इति गीतावचनाच्च. एवं सति इति. अक्षरात् परत्वे सति इति अर्थः. उक्तव्याख्यानेति. येन वरणं कृतं तस्यतु स्वरूपानन्दानुभवः सर्वकामाशनरूपः, येन वरणं न कृतं तस्य अक्षरप्राप्तिः अक्षरानन्दानुभवः इति पूर्वव्याख्यानरीत्या इति अर्थः. परं ब्रह्म इति. अक्षराधिष्ठातारम् इति अर्थः. प्राप्तस्य वरणेन प्राप्तस्य भक्तस्य आवृत्तिहेतुः अभावाद् इति. अविद्याकामकर्मणाम् अभावाद् इति अर्थः. ननु भक्तस्यापि व्यामोहः उभयव्यामोहसूत्रे उक्तएव, कदाचिद् इच्छया आवृत्तिः स्याद् इत्यतः आहुः तादृशम् इति. कैमुतिकन्यायेनापि आवृत्त्यभावं दृढीकर्तुम् आहुः किञ्च इति.

भक्तस्य देशकालभेदेन अनेकविधलीलासम्बन्धित्वेऽपि तत्तल्लीलासम्बन्धित्वम् अनश्वरम् उच्यते, तत्र सर्वथा तदभावः कथं वक्तुं शक्यो ब्रह्मणापि. अपरञ्च. कालसाध्यो हि नश्वरः स्यात्. न हि पुरुषोत्तमे कालः प्रभवितुं शक्नोति. “न यत्र कालो अनिमिषां परः प्रभुः” (भाग.पुरा.३।२।१७) इत्यादिवाक्येभ्यः. तथाच ज्ञानमार्गीयभक्तिमार्गीययोः अनावृत्तौ तुल्यत्वेऽपि फलप्राप्तौ वैलक्षण्यात् पूर्ववाक्येन भक्तानाम् आह अनावृत्तिम्, उत्तरवाक्येन ज्ञानिनाम् इति ज्ञायते. नच फलप्रकरणान्ते अनावृत्त्युक्तेः संसाराभावएव जीवस्य परमं फलम् इति आचार्याभिप्रायो ज्ञायते इति वाच्यम्. ब्रह्मविदः परप्राप्तिं फलत्वेन उक्त्वा तत्स्वरूपस्य सर्वकामभोगत्वेन श्रुत्या निरूपणात्. सच स्वस्वाधिकारानुसारेण निवेदितार्थाङ्गीकाररूपएव इति ज्ञेयम्. तेन सएव परमं फलम्. अनावृत्तिस्तु आर्थिकी परन्तु आवृत्तौ सम्भवत्यां परमफलत्वं न उपपद्यतइति ज्ञानदुर्बल-

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

अनेकविधेत्यादि. आधिकारिकानेकदेहैः अनेकलीलासम्बन्धित्वेऽपि इति अर्थः. तत्र तादृशभक्ते. सर्वथा तदभावः पुनरावृत्तिलक्षणः. कालसाध्यः कालाधीनस्थितिः उत्पत्तिकः पदार्थः. पुरुषोत्तमे पुरुषोत्तमात्मकलीलासम्बन्धे. वैलक्षण्यात् परापरब्रह्मप्राप्तिरूपवैलक्षण्यात्. पूर्ववाक्येन इत्यादि. सूत्रपूर्वार्धेन इति अर्थः. तथाच श्रुत्यात्मकशब्देन भक्तानां परप्राप्तेः उक्तत्वात् सूत्रकाराणामपि भक्तानावृत्तिरेव आदौ अभिप्रेता इति अर्थः. यद्यपि सूत्रे आवृत्तिः समाप्तितात्पर्यिका तथापि श्लेषेण सोऽपि अर्थो अवसेयः. परेषां मतम् अपाकर्तुं पूर्वपक्षम् आहुः नच इत्यादि. पूर्वपक्षस्य श्रुत्यर्थविरुद्धत्वाद् श्रुत्यर्थेन समाधानम् आहुः ब्रह्मविदः इत्यादिना. सच सर्वकामफलभोगश्च. सएव सर्वकामफलभोगएव.

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

ननु लीलायां देशो ब्रजादिरूपः कालः वसन्तादिरूपः उक्तएव इति कथं नित्यत्वम्? अतः आहुः अपरञ्च इति. एवंरीत्या स्वरूपानुभवस्य अथच लीलायाः नित्यत्वं साधितं तेन कृत्वा यत् सिद्धं तद् आहुः तथाच इति. पूर्ववाक्येन भक्तानाम् इत्यत्र हेतुम् आहुः वैलक्षण्याद् इति. ज्ञानमार्गीयफले उत्कर्षम् आशङ्कते नच इति. परमं फलम् इति. नतु परप्राप्तिः इति अर्थः. आचार्याभिप्रायः व्यासाशयः. समाधानम् आहुः ब्रह्मविदः इति. सच इति. भोगश्च इति अर्थः. तेन सएव इति. अनुभूयमानः पुरुषोत्तमएव इति अर्थः. आर्थिकी अर्थसमाग्रस्ता. तथाच यत्र आवृत्तिः

शङ्का-निरासाय इयम् उक्ता. पुष्टिमार्गीय-भक्तविशेष-प्रवर्तक-निवर्तक-
वेणुशब्दात् भगवन्निकट-गतौ अनावृत्तिः पूर्वेण उक्ता, मर्यादामार्गीयाणां
वेदरूपाद् शब्दात् तदुक्तसाधनाद् अनावृत्तिं द्वितीयेन इत्यपि तात्पर्यविषयः
श्लिष्टो अर्थो ज्ञेयः. तथा सति परमफलम् अग्रे स्वतएव भावी इति भावः इति
अलं विस्तरेण.

इति चतुर्थाध्याये चतुर्थपादे पञ्चमं जगद्व्यापाराधिकरणम् ॥५॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

प्रवर्तको भगवति सर्वकामफलभोगार्थं प्रवर्तकः. निवर्तकः सर्वप्रपञ्च-
लौकिकेभ्यो निवर्तकः. पूर्वेण सूत्रपूर्वार्धेन. द्वितीयेन सूत्रोत्तरार्धेन. तथा सति
भगवन्निकटे सति.

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

तत्र परमफलत्वं नास्ति, अत्रतु परमफलत्वम् अस्ति इत्यनेन अर्थादेव अनावृत्तिः इति
भावः. ननु आर्थिकी चेद् अनावृत्तिः तर्हि कण्ठरवेण किमर्थम् उक्ता इति अर्थतः आहुः
परन्तु इति. सम्भवन्त्याम् इति. भगवदिच्छया सम्भवन्त्याम् इति अर्थः. द्विरुक्तेः
समाप्तिबोधनं प्रसिद्धमेव. अन्यदपि तात्पर्यम् आहुः पुष्टीति. उक्ता इति.
“वाङ्मनसि दर्शनात् शब्दाच्च” (ब्रह्मसू.४।२।१) इति सूत्रे उक्तत्वाद् इति भावः. ननु
एतेन अनावृत्तिः उक्ता नतु परमं फलम् इत्यतः आहुः तथा सति इति. अनावृत्तौ सत्याम्
इति अर्थः. एतावता “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१।१) इत्यनेन साधनम्
अथच “ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति” (बृहदा.उप.४।४।६) इत्यनेन फलम् अस्मिन् पादे
विचारितम्. अत्र अध्यायचतुष्टये प्रत्यधिकरणं परमतानुवादपूर्वकं तन्निराकरणं च
श्रीपुरुषोत्तमैः प्रकाशे सम्यक् प्रतिपादितमेवेति न अत्र प्रकाशितम् इति अलं विस्तरेण
इति.

अत्र अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः इत्यनेन अक्षरोपासनया अक्षरब्रह्मप्राप्तिः,
“ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति” इति वाक्याद्. अत्र आदित्याद्यङ्गोपासनासत्त्वे
अर्चिरादिमार्गेण गत्वा अमानवेन पुरुषेण भगवल्लोकप्राप्तिः ऐश्वर्यभोगश्च. उपासनायां
यदा भक्तिसत्त्वे वैकुण्ठादौ भगवत्सेवकत्वं, पुष्टिभक्तौतु भगवति प्रवेशः पुनः निर्गमनं
भजनानन्दानुभवः. प्रवेशे “भक्त्या माम् अभिजानाति” (भग.गीता १८।५५)
इत्यादिवाक्यं प्रमाणं, निर्गमने भूमविद्याप्रमाणम् इति सर्वम् अनवद्यम् इति अलं
विस्तरेण. इति शुभम् ॥२२॥

जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलालितम्।
 तदन्यद् इति ये प्राहुरासुरांस्तान् अहो बुधाः॥१॥
 नानामतध्वान्त-विनाशनक्षमो,
 वेदान्तहृत्पद्म-विकासने पटुः।
 आविष्कृतोऽयं भुवि भाष्यभास्करो,
 मुधा बुधा धावत नान्यवर्त्मसु॥२॥
 पुरन्दरमदोद्भवप्रचुर-वृष्टिसम्पीडित-
 स्वकीयवर-गोकुलावन-परायणो लीलया।
 स्मितामृतसुवृष्टिभिः परिपुपोष तान् यो गिरिं
 दधार च सएव हि श्रुतिशिरःसु संराजते॥३॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

परब्रह्मस्वरूपम् आहुः जानीत इत्यादिना॥१॥
 सूर्यत्वेन भाष्यं निरूपयन्ति नानामतेत्यादिना. वेदान्तेत्यादि. अविद्यातम-
 स्विनीविनाशनेन वेदान्तार्थैः किरणसदृशैः हृत्पद्मविकासनसमर्थः इति अर्थः॥२॥
 ग्रन्थस्वरूपं प्रतिपाद्य ग्रन्थप्रतिपाद्यार्थस्य अनायासेन सकलानिष्टनिवृत्ति-
 पूर्वकसकलेष्टसाधकत्वसकलोपनिषत्प्रतिपाद्यत्वञ्च आहुः पुरन्दरेत्यादिना.
 स्वकीयवरेति. स्वकीयानां वररूप इति अर्थः॥३॥

गोस्वामिश्रीमदुगिरधरविरचितं विवरणम्

एवंरीत्या सर्वसूत्राणां व्याख्यानं कृत्वा संक्षेपेण वेदान्तसिद्धान्तज्ञानार्थम्
 उपदिशन्ति जानीत इति. परमं तत्त्वं वेदान्तसिद्धान्तम्. तदन्यद् इति. तत् परमं तत्त्वम्
 अन्यत् कर्तृत्वाकर्तृत्वादिधर्मरहितम्॥१॥

अस्य भाष्यस्यैव चिन्तनं कर्तव्यम् इति उपदेशं प्राहुः नाना इति. ध्वान्तेत्यनेन
 श्लिष्टप्रयोगेण द्वैतवादी माध्वः परामृश्यते. तेनच स्वस्मिन् अद्वैतत्वं परामृश्यते. जीवे
 अंशत्वेऽपि न अद्वैतहानिः. न हि विस्फुलिङ्गौ न अग्निः इति भाष्यप्रयोगात्॥२॥

भगवतः कृपालुत्वसत्त्वएव वेदान्तार्थस्फुरणं भविष्यति इति आशयेन तस्य
 कृपालुत्वं वर्णयन्ति पुरन्दरेति. पुरन्दरस्य यो मदः गर्वः, तस्माद् उद्भवो यस्याः
 एतादृशीं या प्रचुरवृष्टिः अत्यधिका वृष्टिः, तया सम्पीडिता ये स्वकीयाः गोपाः,
 वरगोकुलानि श्रेष्ठगवां कुलानि, तेषाम् अवनं रक्षणं तत्र परायणः. एतादृशः
 श्रीभगवान् लीलया, एतेन श्रमाभावः सूचितः, गिरिं दधार च पुनः यः तान् स्वकीयान्
 स्मितामृतसुवृष्टिभिः स्मितं हास्यं तदेव अमृतं तस्य सुवृष्टयः, ताभिः परिपुपोष

श्रीकृष्णकृपयैवायं सिद्धान्तो हृदि भासते ।
तेनाधिकं वरीवर्ति न वक्तव्यं हरेर्नृणाम् ॥४॥
भाष्यपुष्पाञ्जलिः श्रीमदाचार्यचरणाम्बुजे ।
निवेदितस्तेन तुष्टा भवन्तु मयि ते सदा ॥५॥

इति श्रीमद्वेदव्यासमतवर्ति-श्रीवल्लभाचार्यविरचिते श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्ये
चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥४॥

समाप्तः चतुर्थो अध्यायः ॥४॥

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः

भगवन्मार्गीयसिद्धान्तरहस्यानां बहुशो विद्यमानत्वेऽपि भगवत्कृपाव्यतिरेकेण
तेषां हृदयारोहसम्भवात् कृपासत्त्वे च स्वतएव आरोहसम्भवात् तथानिर्वचनं न
अतिप्रयोजकम् इति आहुः श्रीकृष्ण इत्यादिना. शिष्यान् शिक्षयन्तो ग्रन्थान्ते मङ्गलम्
आचरन्ति भाष्येत्यादिना. तथाच तृतीयाध्यायद्वितीयचरणनवमाधिकरणस्य “स्थान-
विशेषात् प्रकाशादिवद्” इति सूत्रम् आरभ्य चतुर्थाध्यायसमाप्तिपर्यन्तं श्रीमद्-
गोस्वामिनां कृतिः इति श्रीमदाचार्यचरणार्पणं तस्याः स्वयं कृतम् इति बोध्यम् ॥२२॥५॥

श्रीवल्लभकृपालेशाच्छ्रीविट्ठलसुवीक्षणात् ।

पदानामणुभाष्यस्य प्रदीपः पूर्णतामयात् ॥१॥

गोस्वामिश्रीमद्गिरधरविरचितं विवरणम्

सएव उपनिषत्सु संराजते ॥३॥

ननु एतादृशो वेदान्तसिद्धान्तः चेत् तस्य ज्ञानं दुर्लभम् इत्यतः आहुः
श्रीकृष्णेति. अयं भाष्योक्तः. तेन कारणेन इदं भाष्यम् अधिकं वरीवर्ति. तेन कारणेन
हरेः सम्बन्धार्थे षष्ठी. सम्बन्धश्च सेव्यसेवकभावादि. नृणां मनुष्याणाम्. हरिसम्बन्धि-
मनुष्याणां न वक्तव्यम् इति यावत्. एतेन भगवत्सम्बन्धिभिः पद-पदार्थज्ञानार्थम्
अध्ययनं कर्तव्यं सिद्धान्तार्थस्फुरणन्तु स्वतएव भविष्यति इति सूचितम्. अथ
श्रीप्रकाशकृतस्तु भाष्यविभावनार्थस्फुरणेऽपि भगवत्कृपायाएव कारणत्वं न पाण्डित्यादेः
इति आशयेमाहुः श्रीकृष्णेत्यादि इति आहुः ॥४॥

इदानीं समाप्तौ मङ्गलं कर्तव्यम् इति सूचयितुं सार्धाध्यायस्य स्वयं करणात्
श्रीप्रभुचरणैः श्रीमदाचार्यचरणे निवेदितम्. श्रीमदाचार्यचरणरूप-वस्तुनिर्देशात्मकं मङ्गलं
च आचरन्ति भाष्येत्यादिना. सदा इति पदाद् निरन्तरं सन्तोषप्रार्थना. इति शुभम् ॥५॥

हरिर्यत्कृपया साक्षाद् भक्तस्य भवति ध्रुवम् ।

भगवदीयश्रीमदिच्छारामप्रणीतः प्रदीपः
श्रीगोपालगुरोः प्रीत्या त्विच्छारामप्रदीपतः।
प्रकाशयतु सर्वस्वं श्रीवल्लभरहःकृतम् ॥२॥
॥समाप्तं चतुर्थचतुर्थे पञ्चमाधिकरणम् ॥५॥
इति श्रीमद्गोस्वामि-श्रीवल्लभजीसुत-गोपालजीविरचिते
अणुभाष्यपदप्रदीपे चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥४॥
समाप्तः श्रीमद्ब्रह्मसुत्राणुभाष्यपदप्रदीपः

गोस्वामिश्रीमद्गिरिधरविरचितं विवरणम्
श्रीमदाचार्यचरणेष्वयं ग्रन्थः समर्पितः ॥१॥
श्रुतिसूत्रविरोधो हि वाच्यवृत्त्या निवारितः ।
भाष्येऽस्मिन् श्रीमदाचार्यैः तस्याधिक्यं कथं न हि ॥२॥
भाष्यस्यास्य दुरूहत्वात् प्रकाशस्य तथात्वतः ।
व्याख्यानं तद्विवरणरीत्या तु कृतवानहम् ॥३॥

इतिश्रीमन्मुकुन्दराय-सहजमाधुरी-परमानिर्वचनीय-सरसवदन-तामरस-
सुधाहृदावगाहि-श्रीमदाचार्यपदाब्ज-कृपापारसार-श्रीमत्प्रभुचरणात्मज-
महाराजश्रीयदुनाथकुलोद्भव-गोस्वामि-श्रीगोपालात्मज-गिरिधररचिते
अणुभाष्यविवरणे चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तिम् अफाणीत्

श्रीकृष्णाय नमः
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः

श्रीमद्गोस्वामिश्रीव्रजभूषणचरणान्तेवासि-
श्रीश्रीनिर्भयरामविरचितो

॥ अधिकरणसङ्ग्रहः ॥

व्याचख्युर्ये ब्रह्मवादं भक्तिमार्गाविरोधतः ।

वन्दे ताञ्छ्रीमदाचार्यान् वेदवेदान्तपारगान् ॥१॥

(पादार्थसङ्ग्रहः)

अथ वेदस्मृतिपुराणादिप्रतिपाद्यो ब्रह्मपरमात्मभगवच्छब्दवाच्यः श्रीकृष्णः स्वात्मना सर्वं जगद् उत्पाद्य तत्र आसक्तान् स्वांशान् जीवान् स्व-स्वरूपं बोधयितुं शब्दब्रह्मात्मकवेदरूपेण आविर्भूय, तदर्थस्य दुर्बोधत्वं मत्वा ज्ञानकलया व्यासरूपेण अवतीर्य, ब्रह्मविचारशास्त्रं चकार. तस्यापि दुर्बोधत्वेन व्याख्यानसापेक्षतया तस्य व्याख्यातारो विष्णुस्वामि-मध्वप्रभृतयो ब्रह्माद्वैतवादस्य सेव्य-सेवकभावस्य च विरोधं मन्वानाः अभेदबोधकश्रुतिषु लक्षणया भेदपरत्वं स्वीकृत्य शुद्धं भेदम् अङ्गीचक्रुः. विशिष्टाद्वैतवादिनोऽपि ब्रह्मवादं सेव्य-सेवकभावञ्च स्थापयितुम् अशक्ताः विशिष्टा-द्वैतवादं शरणीकुर्वन्तोऽपि अन्ततो गत्वा भेदपर्यवसायिनएव ज्ञेयाः. मायावादिनोऽपि अतएव मायावादम् अवलम्बन्ते. एवं सति “वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्” (भग.गीता १५।१५) इति वचनात् “किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्, इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन” (भाग.पुरा.११।) इति एकादशस्कन्धीयवचनाच्च, भगवदितरस्य वेदतात्पर्यज्ञानाभावाद् भगवान् श्रीमदाचार्यरूपेण आविर्भूय ब्रह्मविचार-शास्त्रं व्याख्यातवान्. तत्र ब्रह्मवादं भक्तिमार्गञ्च अविरोधेन स्थापितवान्. अतएव अन्ये भक्तिमार्गाः सगुणाः, अयमेव निर्गुणो भक्तिमार्गः. तथाच उक्तं तृतीयस्कन्ध-सुबोधिण्यां द्वात्रिंशाध्याये “प्रोवाचं भक्तियोगस्य स्वरूपं ते चतुर्विधम्” (तत्रैव ३।३२।३७) इत्यत्र, “ते च साम्प्रतं विष्णुस्वाम्यनुसारिणः तत्त्ववादिनो रामानुजाश्च तमोरजःसत्त्वैर्भिन्नाः अस्मत्प्रतिपादितश्च नैर्गुण्यः” एवं चतुर्विधोऽपि भगवता प्रतिपादितः “अभिसन्धाय यो हिंसाम्” (तत्रैव) इत्यादिना इति. तस्मात् श्रीमदाचार्याः सर्वोपनिषदाम् अविरोधेन ब्रह्मविचारशास्त्रं व्याख्यातवन्तः.

तत्र अध्यायाः चत्वारः क्रमेण समन्वयाविरोधसाधनफलनिर्णायकाः. तत्र

प्रथमाध्याये स्वरूपबोधकवाक्यानि विचार्यन्ते. तानि द्विविधानि, सन्दिग्धानि निःसन्दिग्धानि च. तत्र निःसन्दिग्धानां निर्णयो न वक्तव्यः. सन्दिग्धानि पुनः चतुर्विधानि कार्यप्रतिपादकानि, अन्तर्यामिप्रतिपादकानि, उपास्यरूपप्रतिपादकानि, प्रकीर्णकानि च इति.

तत्र प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे कार्यप्रतिपादकानि वाक्यानि विचार्यन्ते. द्वितीयपादे अन्तर्यामिप्रतिपादकानि. तृतीयपादे उपास्यरूपप्रतिपादकानि. चतुर्थपादे प्रकीर्णकानि इति प्रथमाध्यायपादार्थसङ्ग्रहः.

द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादे श्रुतिस्मृत्यविरोधः. द्वितीयपादे साङ्ख्य-योग-न्याय-मायावाद-बाह्यादिवादानां स्वातन्त्र्येण निराकरणम्. तृतीयपादे श्रुतिवाक्येषु परस्परविरोधपरिहारः. चतुर्थपादे जीवशरीरमध्यवर्तिप्राणादीनां विचारः.

तृतीयाध्यायस्य प्रथमपादे जीवस्य ब्रह्मज्ञानोपयोगिजन्मविचारः. द्वितीयपादे जीवस्य मुक्तियोग्यता, अत्रैव विरोधपरिहारेण ब्रह्मस्वरूपनिरूपणं “न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि” इत्यारभ्य पादशेषेण. तृतीयपादे गुणोपसंहारः. चतुर्थपादे कर्माद्यङ्गविचारः.

चतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादे ब्रह्मविदो जीवदूदशायां कर्तव्यस्य श्रवणादेः विचारः. द्वितीयपादे म्रियमाणस्य सर्वेन्द्रियलयादिविचारः. तृतीयपादे क्रममुक्ति-मार्गादिनिरूपणम्. तुरीयपादे पुष्टिमर्यादाभेदेन फलं, लीलानित्यत्वादिकञ्च वर्ण्यते. इति पादार्थसङ्ग्रहः॥

॥ प्रथमो अध्यायः ॥

अथ अधिकरणानि सङ्क्षेपतः सङ्गृह्यन्ते.

तत्र विषयसंशयपूर्वपक्षसिद्धान्तसङ्गतिरूपपञ्चावयवघटितं हि अधिकरणम्. तत्र सङ्गतेः सर्वत्र स्पष्टत्वात् प्रत्यधिकरणम् अवयवचतुष्टयमेव प्रदर्श्यते. यत्रतु सिद्धान्तमात्रं तत्र सिद्धान्तविषयाभावएव पूर्वपक्षविषयः कल्पनीयः. अत्र अधिकरण-विभागो भाष्यप्रकाशानुसारी.

अथ ब्रह्मविचारशास्त्रम् आरभमाणो भगवान् सूत्रकारः स्वचिकीर्षितशास्त्रा-रम्भकत्वं बोधयितुं प्रथमाधिकरणम् आरभते “अथातो ब्रह्मजिज्ञासा” इति एकेन

सूत्रेण. अत्र व्यासेन स्वयम् आरम्भमाणं विचारशास्त्रं विषयः, तदारम्भणीयं न वा इति संशयः व्याकरणादिनैव वेदार्थनिर्णयाद् न आरम्भणीयम् इति पूर्वः पक्षः, विचारशास्त्रं विना व्याकरणादिना वेदार्थसन्देहनिरासासम्भवाद् आरम्भणीयम् इति सिद्धान्तः. तथाहि छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठके श्रूयते “अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच” (छान्दो.उप.) इत्यादि, तत्र ‘आकाश’शब्दवाच्यो भूताकाशो वा परमात्मा वा इति संशयनिरासो ब्रह्मविचारशास्त्रैकसाध्यो नतु व्याकरणादिसाध्यः इति विचारशास्त्रम् आरम्भणीयम् इति सिद्धम्.

अथ शब्दो अर्थचतुष्टये वर्तते मङ्गले, अधिकारे, आनन्तर्ये, अर्थान्तरोपक्रमे च. तत्र प्रकृते अर्थान्तरस्य असम्भवाद् अधिकारार्थकएव ‘अथ’शब्दः. ‘अतः’ शब्दो हेतौ. तथाच अयं सूत्रार्थः, यस्मात् कर्मादिभ्यो ब्रह्मज्ञानमेव पुरुषार्थसाधनम् अतः तज्ज्ञानाय ब्रह्मविचारो अधिक्रियते इति ॥१॥

अथ द्वितीयाधिकरणम्

“जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वाद्” इति एकेन सूत्रेण. अत्र ब्रह्म कर्तृ अकर्तृ वा इति संशये, अकर्तृ इति पूर्वपक्षे, कर्तृ इति सिद्धान्तः. पूर्वपक्षो यथा “सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म” (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुतौ ब्रह्मणि सत्यत्वादधिर्मोक्त्या कर्तृत्व-सत्यत्वयोः विरोधाद् न जगत्कर्तृ ब्रह्म इति प्राप्ते उच्यते, “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते” (तैत्ति.उप.३।१) इति श्रुत्या ब्रह्मणि जगत्कर्तृत्वं स्वीकार्यमेव लोके कर्तृत्वादेः सत्यत्वादिविरोधेऽपि सर्वभवनसमर्थे ब्रह्मणि कर्तृत्व-सत्यत्वयोः उभयोरपि श्रुतिसिद्धत्वेन विरोधाभावात्, तस्माद् जगत्कर्तृ ब्रह्म इति सिद्धम् ॥२॥

अथ तृतीयाधिकरणम्

“तत्तु समन्वयाद्” इति एकेन सूत्रेण. अत्र ब्रह्म समवायिकारणं निमित्त-कारणमेव वा इति संशये, निमित्तकारणमेव नतु समवायिकारणम् इति पूर्वपक्षे, समवायिकारणमपि ब्रह्म इति सिद्धान्तः. लोके समवायिकारणस्य विकृतत्वेऽपि ब्रह्मणि समवायित्वाविकृतत्वयोः उभयोरपि श्रुतिसिद्धत्वेन विरोधाभावाद्, विरुद्धधर्माश्रयत्वाद् ब्रह्मणः. तथाच समवायिकारणं ब्रह्मैव इति सिद्धम् ॥३॥

अथ चतुर्थाधिकरणम्

“ईक्षतेर्नाशब्दम्” इत्यादिभिः सप्तभिः सूत्रैः. सर्ववेदान्तप्रतिपाद्यं ब्रह्म न

भवति, भवति वा इति संशये, न भवति इति पूर्वपक्षे, भवति इति सिद्धान्तः. “यतो वाचो निर्वर्तन्त” (तैत्ति.उप.२।४) इति श्रुतेः सर्वव्यवहारातीतोऽपि “स ईक्षाञ्चक्रे” (प्रश्नोप.६।३) इत्यादिश्रुतेः सृष्टिद्वारा व्यवहार्यो भविष्यामि इति इच्छया व्यवहार्यो भवत्येव, चक्षुरादिबलेन अग्राह्योऽपि भगवान् निःश्वासरूपवेदप्रतिपाद्यो भवति इति सिद्धम् ॥४॥

अथ पञ्चमाधिकरणम्

“आनन्दमयोऽभ्यासाद्” इत्यादिभिः अष्टभिः सूत्रैः. तैत्तिरीयके अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमयानन्दमयसञ्ज्ञकेषु आनन्दमयशब्देन अन्नमयादिवत् पदार्थान्तरं परमात्मा वा इति संशये, पदार्थान्तरम् इति पूर्वपक्षे, अन्नमयादयो विभूतिरूपाः आनन्दमयस्तु परमात्मा इति सिद्धान्तः. अत्र अधिकरणे “ब्रह्मविदाप्नोति परं, तदेषाभ्युक्ता, सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्, सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता” (तैत्ति.उप.२।१।१) इत्यादिश्रुतिः व्याख्याता बहुविस्तरेण भाष्ये ॥५॥

अथ षष्ठाधिकरणम्

“अन्तस्तद्धर्मोपदेशाद्” इत्यादिसूत्रद्वयेन. छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठके “य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुः हिरण्यकेशः” (छान्दो.उप.१।६।६) इत्यादि. अत्र हिरण्मयशब्देन अधिष्ठातृदेवताशरीरम् आहोस्वित् परं ब्रह्म इति ब्रह्मणो वा शरीरम् इति संशये, देवताशरीरं प्राप्तः कश्चिद् जीवएव अधिकारी सूर्यमण्डलस्थः इति पूर्वपक्षे, परमात्मैव सूर्यमण्डलस्थः इति सिद्धान्तः ॥६॥

अथ सप्तमाधिकरणम्

“आकाशस्तल्लिङ्गाद्” इति एकेन सूत्रेण. छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठके “अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते” (छान्दो.उप.१।१।७) इत्यादि. अत्र आकाशशब्देन भूताकाशो वा परमात्मा वा इति संशये, भूताकाशः इति पूर्वपक्षे, परमात्मा इति सिद्धान्तः ॥७॥

अथ अष्टमाधिकरणम्

“अत एव प्राणः” इति एकेन सूत्रेण. छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठके श्रूयते “कतमा

सा देवतेति प्राण इति होवाच”(छान्दो.उप.१।११।५) इति. अत्र ‘प्राण’शब्दो मुख्यप्राणवाचको ब्रह्मवाचको वा इति संशये, मुख्यप्राणवाचकः इति पूर्वपक्षे, ब्रह्मवाचकः इति सिद्धान्तः ॥८॥

अथ नवमाधिकरणम्

“ज्योतिश्चरणाभिधादिनाद्” इत्यादिभिः चतुर्भिः सूत्रैः. छान्दोग्ये “अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते”(छान्दो.उप.३।१३।७) इत्यादि. अत्र ज्योतिःशब्देन प्राकृतं ज्योतिः आहोस्विद् ब्रह्म इति संशये प्राकृतं ज्योतिः इति पूर्वपक्षे ब्रह्मैव इति सिद्धान्तः ॥९॥

अथ दशमाधिकरणम्

“प्राणस्तथानुगमाद्” इत्यादिभिः चतुर्भिः सूत्रैः. कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि इन्द्रप्रतर्दनसंवादे परमपुरुषार्थकामस्य प्रतर्दनस्य तत्त्वज्ञानोपदेशाय “प्राणो वा अहम् अस्मि”(कौषी.उप.३।२) इति निर्वाच्ये प्राणशब्देन आसन्यो वा ब्रह्म वा इति संशये, आसन्यः इति पूर्वपक्षे, ब्रह्म इति सिद्धान्तः. तथाहि पूर्वोक्तोपनिषदि पञ्चमाध्याये “प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च”(कौषी.उप.३।१) इत्यादि. अस्य अर्थः, दिवोदासस्य अपत्यं पुमान् दैवोदासिः प्रतर्दनो राजा इन्द्रस्य गृहं जगाम इति, तं दृष्ट्वा इन्द्रः उवाच “प्रतर्दन वरं ते ददामीति स होवाच प्रतर्दनः हे इन्द्र? त्वमेव वरं वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे”(तत्रैव) इति, ततः इन्द्रः उवाच ‘प्राणोऽस्मि’ इत्यादि. वामदेवस्य ऋषेः यथा ज्ञानावेशात् स्वस्मिन् सर्वधर्मस्फूर्तिः “अहं मनुरभवं सूर्यश्च”(बृहदा.उप.१।४।१०) इति श्रुतौ. तथा इहापि स्वस्मिन् ब्रह्मावेशात् प्रतर्दनाय स्वस्मिन्नेव ब्रह्मत्वम् उपदिष्टवान् “मामेव विजानीहि”(कौषी.उप.३।१) इति. तथाच परमपुरुषार्थकामाय प्रतर्दनाय “प्राणो अहम् अस्मि”(तत्रैव३।२) इत्यादिना इन्द्रेण उपदिश्यमानः प्राणः कथं प्राणवायुः स्यात्? तस्माद् अत्र प्राणशब्देन परमात्मा इति सिद्धम् ॥१०॥

॥ इति प्रथमाध्याये प्रथमः पादः ॥

अथ द्वितीयपादे प्रथमाधिकरणम्

“सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशाद्” इत्यादिभिः चतुर्भिः सूत्रैः. प्रथमपादे शब्दसन्देहो निवारितः, अर्थसन्देहनिरासाय द्वितीयाद्यारम्भः. तत्र अर्थो द्वितीयाद्यारम्भः. तत्र अर्थो

द्विविधो जीव-जडात्मकः, प्रत्येकसमुदायाभ्यां त्रिविधः, तत्र अस्मिन् पादे जीवपुरःसरेण सन्देहाः निवार्यन्ते, तृतीयपादे जडपुरःसरेण, चतुर्थपादे उभयपुरःसरेण, छान्दोग्ये “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” (छान्दो.उप.१।१४।१) इत्यारभ्य “मनोमयः प्राणशरीरः” (छान्दो.उप.३।१४।२) इत्यादि. अत्र मनोमयशब्देन जीवएव ब्रह्मत्वेति संशये जीवएव ब्रह्मत्वेन उपास्य इति प्राप्ते, ब्रह्मैव इति सिद्धम् ॥१॥

अथ द्वितीयाधिकरणम्

“शब्दविशेषाद्” इत्यादिभिः चतुर्भिः सूत्रैः. वाजिशाखायां “यथा ब्रीहिः वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वा तथायमन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्मयः” (शत.ब्राह्म.१०।६।३।२) इत्यादि. तत्र हिरण्मयः पुरुषः किं जीव उत ब्रह्म इति संशये, जीवः इति पूर्वपक्षे, ब्रह्म इति सिद्धान्तः. तथाहि “ब्रीहिर्वा यवो वा” इत्यादिना सूक्ष्मपरिमाणश्रवणाद् ब्रह्मणो व्यापकत्वेन सूक्ष्मपरिमाणासम्भवाद् जीववाक्यत्वमेव युक्तम् इति पूर्वपक्षे प्राप्ते उच्यते शब्दविशेषाद् इति. शब्देन उक्तो विशेषः शब्दविशेषः तस्मात्. हिरण्मयस्य आनन्दमयत्वम् अन्तस्तद्धर्माधिकरणे सिद्धं, न तज्जीवे सम्भवति, किन्तु ब्रह्मण्येव इति. एवं सति पूर्वोक्तश्रुतौ ब्रीह्यादितुल्यतया यत्प्रतिपादनं तत् चतुर्विधभूतान्तर्हृदये वर्तमानत्वख्यापनाय, तेषां हृदयानां तावत्परिमाणकत्वात्, तत्तद्धृयाकाशे वर्तमानस्य सर्वतःपाणिपादान्तस्य तादृशरूपत्वेऽपि न व्यापकत्वविरोधः, तेन हिरण्मयः पुरुषो ब्रह्म इति सिद्धम्. अत्रैव अधिकरणे “स्मृतेश्च” इति सूत्रव्याख्याने गीतायाः श्रुतित्वं स्मृतित्वञ्च उपपादितं, “तादृशरूपं निःश्वसितवेदोद्गमजनकं स्मृत्वा तदर्थमपि स्मृत्वा भगवान् पुरुषोत्तमो वाक्यानि उक्तवान् स्मृतिरूपाणि. चकारात तन्मूलभूत निःश्वासोऽपि उच्यते” इति ॥२॥

अथ तृतीयाधिकरणम्

“अत्ता चराचरग्रहणाद्” इत्यादिसूत्रद्वयेन. कठवल्लीषु द्वितीयवल्लीसमाप्तौ श्रूयते “यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः मृत्युः यस्य उपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः” (कठोप.१।२।२५) इति. अत्र उपसेचनशब्दार्थो घृतम् इति सुबोधिण्यां प्रथमस्कन्धपञ्चदशाध्याये “वाचं जुहाव मनसि” (भाग.पुरा.१।१५।४१) इति श्लोकविवरणे उक्तम्, अत्र यच्छब्दोक्तो भोक्ता जीवो ब्रह्म वा इति संशये, भोक्तृत्वस्य जीवधर्मत्वाद् उपासनोपचितालौकिकसामर्थ्यो महादेवादिः अत्ता भविष्यति इति पूर्वपक्षे, ब्रह्म-क्षत्रयोः अशक्य-वधयोः सर्वमारकस्य मृत्योश्च भक्षयिता जीवो न

भवत्येव वा इति भगवानेव भोक्ता, ब्रह्मक्षत्रयोरपि मोक्षापेक्षितत्वाद् मृत्युसम्बन्धमात्रेण भगवति भोक्तारि प्रवेशयोग्यत्वमेव ओदनत्वं, प्राणानां तत्रैव समवलयाद्, मृत्युरपि तत्रैव लीनो अग्रे तेषां जन्माद्यभावाय भगवत्येव प्रविशति. तस्माद् अस्मिन् वाक्ये ब्रह्मक्षत्रमृत्यूनाम् अन्ता भगवानेव इति सिद्धम् ॥३॥

अथ चतुर्थाधिकरणम्

“गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनाद्” इत्यादिसूत्रद्वयेन. काठके तृतीय-
वल्ल्यां श्रूयते “ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे” (कठोप.
१।३।१) इत्यादि. किम् इदं जीववाक्यम् आहोस्विद् ब्रह्मवाक्यम् इति संशये, द्विवचन-
निर्देशाद् जीवप्रकरणपठितत्वाद् बद्धमुक्तौ जीवौ निरूप्येते इति पूर्वपक्षे प्राप्ते, उच्यते,
गुहायां हृदयाकाशे जीवपरमात्मानावेव निरूप्यते. तथाच ब्रह्मैव वाक्यार्थः. जीवनिरू-
पणन्तु उभयोः तुल्यतया स्वरूपामृतभोगनिरूपणार्थं, तेन ब्रह्मवाक्यमेव इति सिद्धम् ॥४॥

अथ पञ्चमाधिकरणम्

“अन्तर उपपत्तेः” इत्यादिभिः पञ्चभिः सूत्रैः. छान्दोग्ये षष्ठे प्रपाठके “य
एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते” (छान्दो.उप.४।१५।१) इत्यादि. अत्र अक्षिप्रतिबिम्बित-
पुरुषस्य ब्रह्मत्वेन उपासनापरम् इदं वाक्यं ब्रह्मवाक्यमेव वा इति संशये, प्रतिबिम्बीएव
अयम् इति पूर्वपक्षे, ब्रह्मैव इति सिद्धम्. तथाच ‘अक्षिपुरुष’शब्देन अक्षिप्रतिबिम्बो न
ग्राह्यः, किन्तु, सर्वव्यापकस्य ब्रह्मणो अक्षिस्थानस्य उत्तमत्वात् तत्र उपदेशो ज्ञेयः,
तद्दर्शनन्तु आर्षज्ञानेन इति ॥५॥

अथ षष्ठाधिकरणम्

“अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशाद्” इत्यादिभिः चतुर्भिः सूत्रैः.
बृहदारण्यके श्रूयते “यः पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद” (बृहदा.उप.३।७।३)
इत्यादि. तत्र “अधिदैवम् अधिलोकम् अधिवेदम् अधियज्ञम् अधिभूतम् अध्यात्मञ्च
कश्चिद् अन्तरवस्थितो यमयिता अन्तर्यामी” (.....) इति. अत्र किम् अन्तर्या-
म्यधिदैवादिषु सर्वत्र एकएव भगवान्, अथ अधिदैवादीनां भेदात् तत्तत्सज्ज्ञाविशिष्टाः
अन्ये, इति संशये, अन्ये इति पूर्वपक्षे, भगवानेव इति सिद्धम् ॥६॥

अथ सप्तमाधिकरणम्

“अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः” इत्यादिभिः त्रिभिः सूत्रैः, मुण्डके हि श्रूयते

तत्र शौनकेन “कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवेद्” (मुण्डकोप.१।१।३) इति पृष्ठे अङ्गिरा “द्वे विद्ये वेदितव्ये” (मुण्डकोप.१।१।३) इत्युत्तरम् आह तत्र नामरूपात्मकजगतो विज्ञानार्थं नामांशवेदादिविद्यारूपांशा अपरा, पराच यथा “अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते” (मुण्डकोप.१।५) इत्यादि. तत्र वेदादिविद्यायां न सन्देहः, परायां सन्दिह्यते किम् एषा साङ्ख्यमतविद्या ब्रह्मविद्या वा इति? “दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः” (मुण्डकोप.२।१।२) इत्यादौ पुरुषपदश्रवणात् साङ्ख्यविद्या इति पूर्वपक्षे अत्र न साङ्ख्यपरिकल्पितौ प्रकृतिपुरुषौ वाक्यार्थः, किन्तु अक्षरशब्देन पुरुषशब्देन च ब्रह्मैव प्रोक्तम् इति ब्रह्मविद्यैव एषा इति सिद्धम् ॥७॥

अथ अष्टमाधिकरणम्

“वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषाद्” इत्यादिभिः नवभिः सूत्रैः. छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके श्रूयते “को न आत्मा किं ब्रह्म” (छान्दो.उप.५।११।१) इत्यादि. अग्रे च “यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविद्यमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते” (छान्दो.उप.५।१८।१) इत्यादि. तत्र संशयः, किं वैश्वानरशब्देन ब्रह्म प्रतिपादयितुं शक्यते न वा इति? अर्थस्य अतिसन्दिग्धत्वात् सन्देहः. तत्र इदं वाक्यं हिरण्यगर्भोपासनापरम् इति पूर्वपक्षे, भगवतो विरुद्धधर्माश्रयत्वात् प्रादेशमात्रो व्यापकः इति वैश्वानरो भगवानेव इति सिद्धम्. अत्रैव अधिकरणे “साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः” इत्यादिसूत्रैः परिमाणविशेषो विचारितः. प्रादेशमात्रत्वं भगवतः स्वाभावविकं कृत्रिमं वा इति, तत्र अस्मिन् अर्थे चत्वारो ऋषयो वेदार्थचिन्तकाः प्रकारभेदेन आहुः, तत्र केवलं शब्दबलविचारको वेदव्यासाचार्यः, शब्दार्थयोः जैमिनिः, आश्मरथ्यस्तु शब्दोपसर्जनेन अर्थविचारकः, केवलार्थविचारको बादरिः इति. तत्र व्यासस्य मुख्यसिद्धान्ते प्रादेशमात्रोऽपि व्यापकः इति वैश्वानरो भगवानेव इति सिद्धम् ॥८॥

॥ इति प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः ॥

अथ तृतीयपादे प्रथमाधिकरणम्

“द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दाद्” इत्यादिभिः सप्तभिः सूत्रैः द्वितीयपादे आधेय-रूपो भगवान् प्रतिपादितः, आधाररूपो अत्र प्रतिपाद्यते, तेन सर्वं ब्रह्म इति फलिष्यति. अथर्वशाखायां मुण्डकोपनिषदि द्वितीयमुण्डके श्रूयते “यस्मिन् द्यौः पृथिवी च अन्तरिक्षम्” (मुण्ड.उप.२।२।५) इत्यादि. तत्र द्युभ्वादीनाम् आयतनं ब्रह्म आहोस्वित् साङ्ख्यमतोक्ता प्रकृतिः इति संशये, प्रकृतिरेव इति पूर्वपक्षे, परमात्मैव इति सिद्धम् ॥९॥

अथ द्वितीयाधिकरणम्

“भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशाद्” इत्यादिसूत्रद्वयेन, छान्दोग्ये नवमप्रपाठके श्रूयते “यो वै भूमा तत्सुखम्” (छान्दो.उप.७।२३।१) इत्यारभ्य “यत्र न अन्यत्पश्यति न अन्यत् श्रुणोति न अन्यद्विजानाति सः भूमा” (तत्रैव) इति. अत्र ‘भूम’शब्देन सुषुप्तिरूपं सुखबाहुल्यं ब्रह्म वा इति सिद्धम् ॥२॥

अथ तृतीयाधिकरणम्

“अक्षरमम्बरान्तधृतेः” इतिसूत्रत्रयेण. बृहदारण्यके गार्गीब्राह्मणे “स होवाच एतद्वै तदक्षरं गार्गी ब्राह्मणा अभिवदन्ति” (बृहदा.उप.३।८।८) इत्यादि. तत्र अक्षर-शब्देन ब्रह्म वा पदार्थान्तरं वा इति संशये पदार्थान्तरम् इति पूर्वपक्षे, ब्रह्मैव इति सिद्धम् ॥३॥

अथ चतुर्थाधिकरणम्

“ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः” इति एकेन सूत्रेण. आथर्वणानां प्रश्नोपनिषदि पञ्चमप्रश्ने “एतद्वै सत्यकाम परं च अपरं च यदोङ्कारः” (प्रश्नोप.५।२) इत्यादिना ओङ्कारोपासनायाम् एकमात्रोपासनया मनुष्यलोकप्राप्तिं, द्विमात्रोपासनया सोमलोकप्राप्तिं, त्रिमात्रोपासनया सूर्यलोकप्राप्तिं, पुनरागमनं च निरूप्य अर्धचतुर्थ-मात्रोपासनया “परं पुरुषम् अभिध्यायीत” (प्रश्नोप.५।५) इत्यादि. अत्र परः पुरुषः परमात्मा ध्यानविषयो विराट् पुरुषो वा ब्रह्मा वा इति संशये विराट् ब्रह्मा वा ध्यानविषयः इति पूर्वपक्षे, अभिध्यानविषयः परमात्मैव इति सिद्धम् ॥४॥

अथ पञ्चमाधिकरणम्

“दहर उत्तरेभ्यः” इत्यादिभिः अष्टभिः सूत्रैः. छान्दोग्ये दशमप्रपाठके श्रूयते “यद् इदम् अस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरो अस्मिन् अनन्तराकाशः तस्मिन् यदन्तः तद् अन्वेष्टव्यं तद् वा विजिज्ञासितव्यम्” (छान्दो.उप.८।१।१) इत्यादि. अत्र दहरशब्दोक्तो जीवो अन्वेष्टव्यो ब्रह्म वा इति संशये जीवैव दहरः इति पूर्वपक्षे, दहरः परमात्मैव इति सिद्धम् ॥५॥

अथ षष्ठाधिकरणम्

“अनुकृतेस्तस्य च” इत्यादिसूत्रद्वयेन. कठवल्ल्यां मुण्डके च श्रूयते “न तत्र

सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोयमग्निः, तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति” (कठोप. २।५।१५) इत्यादि. अथ तेजोविशेषो वाक्यार्थो ब्रह्म वा इति संशये तेजोविशेषः इति पूर्वपक्षे, ब्रह्मैव, वाक्यार्थः इति सिद्धम्. तथाहि “यस्मिन् द्यौः” (मुण्ड. उप. २।२।५) इति दहरवाक्ये सूर्यादीनां ब्रह्माधारत्वम् उक्तं, अस्मिंश्च वाक्ये तत्र सूर्यादीनां भानं निषिध्यते, अत्र ब्रह्म चेद् वाक्यार्थः स्यात्, तदा सूर्यादिभाननिषेधो न स्याद् अतः तेजोविशेषएव वाक्यार्थः इति प्राप्त उच्यते, “न तत्र सूर्यो भाति” इति वाक्येन, न सर्वथा सूर्यादीनां भानं तत्र निषिध्यते, किन्तु, सूर्यादिप्रकाशस्य तत्प्रकाशाधीनत्वं बोध्यते, एवञ्च सूर्यादीनां स्वतःप्रकाशो न अस्त्येव, भगवत्प्रकाशेनैव प्रकाशः इति भगवानेव वाक्यार्थः इति सिद्धम् ॥६॥

अथ सप्तमाधिकरणम्

“शब्दादेव प्रमितः” इत्यादिसूत्रद्वयेन. कठवल्ल्युपनिषदि चतुर्थवल्ल्यां श्रूयते “अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति” (कठोप. ४।१२) इत्यादि छान्दोग्येतु “यावान् वा अयम् आकाशः” (छान्दो. उप. ८।१।३) इति व्यापकत्वं श्रूयते, अत्रतु अङ्गुष्ठमात्रता प्रतीयते, अतो विरोधाद् अङ्गुष्ठमात्रशब्देन तावत्परिमाणकदेहवान् जीवो वाक्यार्थो भगवान् वा इति संशये, जीवः इति पूर्वपक्षे, विरुद्धधर्माश्रयत्वात् तावत्परिमाणको मनुष्यहृदयस्थो भगवानेव वाक्यार्थः इति सिद्धम् ॥७॥

अथ अष्टमाधिकरणम्

“तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवाद्” इत्यादिभिः अष्टभिः सूत्रैः. ब्रह्मविद्यायां कर्मणि च मनुष्याणामेव अधिकारो वा देवादीनामपि इति संशये मनुष्याणामेव इति पूर्वपक्षे, देवानामपि ज्ञाने कर्मणि च अधिकारः इति सिद्धम्. अस्मिन्नेव अधिकरणे “शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्” इति सूत्रव्याख्याने वैदिकः पदार्थः सर्वोऽपि आधिदैविको भिन्नः इति. अत्रैव “अतएव च नित्यत्वम्” इति सूत्रव्याख्याने वेदस्य नित्यत्वञ्च प्रतिपादितम् ॥८॥

अथ नवमाधिकरणम्

“शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात् सूच्यते हि” इत्यादिपञ्चभिः सूत्रैः, सम्बर्गविद्यादौ जातिशूद्रस्य अधिकारो अस्ति न अस्ति वा इति संशये, अस्ति इति पूर्वपक्षे, न अस्ति इति सिद्धान्तः. अत्रैव अधिकरणे श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्

“स्मृतेश्च” इति सूत्रव्याख्याने शूद्रस्य वेदश्रवणम् अध्ययनम् अर्थज्ञानम् एतद्वयमपि निषिद्धम्. “अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां कर्णप्रपूरणम्”(गौत.ध.सू.२।३।४) इत्यादि “उच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः”(तत्रैव?) इति ॥९॥

अथ दशमाधिकरणम्

“कम्पनाद्” इति एकेन सूत्रेण. कठवल्ल्यां श्रूयते “यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतं महद्वयं वज्रमुद्यतं य एतद् विदुः अमृतास्ते भवन्ति”(कठोप. २।६।२) इति. अत्र प्राणोपासना वा ब्रह्मवाक्यं वा इति संशये प्राण इन्द्रो वा वाक्यार्थः इति पूर्वपक्षे, भगवानेव वाक्यार्थः इति सिद्धान्तः ॥१०॥

अथ एकादशाधिकरणम्

“ज्योतिर्दर्शनाद्” इति एकेन सूत्रेण, छान्दोग्ये दशमप्रपाठके श्रूयते “य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरभिसम्पद्यत स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते”(छान्दो.उप.८।३।४) इति, तत्र परं ज्योतिः महाभूतं ब्रह्म वा इति संशये महाभूतमेव इति पूर्वपक्षे ब्रह्मैव इति सिद्धम् ॥११॥

अथ द्वादशाधिकरणम्

“आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशाद्” इति एकेन सूत्रेण, छान्दोग्य-समाप्तौ श्रूयते “आकाशो वै नामरूपयोः निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म”(छान्दो.उप. ८।१४।१) इति, तत्र आकाशशब्देन भूताकाशः परमात्मा वा इति संशये, भूताकाशः इति पूर्वपक्षे, परमात्मैव इति सिद्धम् ॥१२॥

अत्र त्रयोदशाधिकरणम्

“सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन” इति सूत्रद्वयेन. बृहदारण्यके षष्ठे प्रपाठके ज्योतिर्ब्राह्मणे “याज्ञवल्क्य किं ज्योतिरयं पुरुषः”(बृह.उप.४।३।२) इत्यारभ्य “अभयं ह वै ब्रह्म भवति य एवं वेद”(बृह.उप.४।४।२५) इत्यन्ते सन्देहः किं ब्रह्मवाक्यम् एतद् उत जीवस्य इति, जीववाक्यम् इति पूर्वपक्षे, ब्रह्मवाक्यम् इति सिद्धम्. एतत्सूत्रव्याख्याने सर्वमेव विषयवाक्यं विस्तरेण व्याख्यातं भाष्ये ॥१३॥

॥ इति प्रथमाध्याये तृतीयः पादः ॥

अथ चतुर्थपादे प्रथमाधिकरणम्

“आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्त गृहीतेर्दर्शयति च”
इत्यादिभिः सप्तभिः सूत्रैः. काठके श्रूयते “महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः
पुरुषान् न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः”(कठोप.३।११) इति. अत्र
महदव्यक्तपुरुषशब्दानां साङ्ख्यशास्त्रप्रसिद्धानां श्रवणात् साङ्ख्यमतमपि श्रौतं भवति
न वा इति संशये, भवति इति पूर्वपक्षे, साङ्ख्यमतं श्रौतं न भवति इति सिद्धम्. एवञ्च
पूर्वोक्तश्रुतौ अव्यक्तशब्देन साङ्ख्योक्ता प्रकृतिः न ग्राह्या किन्तु भगवत्कृपा अक्षरं वा
अव्यक्तशब्देन ग्राह्यम् इति ॥१॥

अथ द्वितीयाधिकरणम्

“चमसवदविशेषाद्” इत्यादिभिः त्रिभिः, श्वेताश्वतरोपनिषदि चतुर्थाध्याये
श्रूयते “अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्”(श्वेता.उप.४।५) इत्यादि. अत्र ‘अजा’-
शब्देन साङ्ख्यप्रसिद्धा प्रकृतिः उच्यते वा अग्निसूर्यसोमविद्युदादिरूपं ज्योतिः उच्यते
इति संशये, प्रकृतिः इति पूर्वपक्षे, अजाशब्देन ज्योतिरेव उच्यते इति सिद्धम् ॥२॥

अथ तृतीयाधिकरणम्

“न सङ्ख्योपसङ्ग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च” इत्यादिभिः त्रिभिः
सूत्रैः. बृहदारण्यकषष्ठे श्रूयते “यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठित
तमेवमन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोमृतम्”(बृहदा.उप.४।४।१७) अत्र पञ्चगुणिताः
पञ्च इति व्याख्याय साङ्ख्योक्तानि पञ्चविंशतितत्त्वानि ग्राह्याणि वा प्राण-चक्षु-
श्रोत्रान्न-मनांसि पञ्चजनशब्देन ग्राह्याणि इति संशये, साङ्ख्योक्ततत्त्वानि इति
पूर्वपक्षे, प्राणादयएव इति सिद्धम्. तथाच पञ्चसङ्ख्योक्ताः पञ्चजनाः इति व्याख्येयं,
बुद्धेः पञ्चवृत्तिः जनयन्तीति पञ्चजनाः प्राणादयः इति व्युत्पत्तिसिद्धः पञ्चजनशब्दः
इति ॥३॥

अथ चतुर्थाधिकरणम्

“कारणत्वेन चाकाशादिषु यथा व्यपदिष्टोक्तेः” इति एकेन सूत्रेण. तत्र
ब्रह्मणो जगत्कारणताप्रतिपादिकानां श्रुतीनां परस्परविरोधात् कपिलोक्तप्रकारेण
प्रकृतिकारणताबोधिका साङ्ख्यस्मृतिरेव ग्राह्या वा विप्रतिषेधपरिहारेण ब्रह्मकारणता-
बोधिका श्रुतिरेव आदर्तव्या इति संशये, श्रुतीनां परस्परविरोधाद् अर्थवादत्वं स्वीकृत्य

साङ्ख्यस्मृतिरेव ग्राह्या इति पूर्वपक्षः, तथाहि तैत्तिरीये “एतस्माद् आत्मन आकाशः सम्भूतः”(तैत्ति.उप.२।१) इत्यत्र आकाशादिका सृष्टिः उक्ता, क्वचित् छान्दोग्यादौ तेजःप्रभृतिका “तत्तेजो असृजत”(छान्दो.उप.६।२।३) इति. क्वचिद् अन्यथैव “एतस्माज्जायते प्राणः”(मुण्डकोप.२।१।३) इति, एवं सति श्रुतीनां परस्परविरोधाद् अर्थवादत्वं स्वीकृत्य कपिलस्य भगवज्ज्ञानांशावतरात्वाद् जन्म तत्प्रकारेणैव जगद्व्यवस्था उचिता इत्येवम् प्राप्ते उच्यते, भगवतो अचिन्त्यानन्तशक्तिमत्त्वेन सृष्टिप्रकाराणां नानात्वं स्वीकृत्य विरोधपरिहारेण ब्रह्मकारणताबोधिका श्रुतिरेव आदर्तव्या इति सिद्धम्. कार्यप्रकारभेदस्तु माहात्म्यज्ञापको नतु बाधकः इति ॥४॥

अथ पञ्चमाधिकरणम्

“समाकर्षाद्” इति एकेन सूत्रेण. अत्र पूर्वाधिकरणापेक्षया किञ्चिदेव वैलक्षण्यं तद्यथा “असद्वा इदमग्र आसीद्”(छान्दो.उप.६।२।१) इति, क्वचित् “सदेव सौम्येदमग्र आसीद्”(तत्रैव) इत्यादिश्रुतीनां परस्परविरोधाद् ब्रह्म कारणं न भवति भवति वा इति संशये, शब्दावैलक्ष्येन श्रुतिविप्रतिषेधाद् ब्रह्मकारणं न भवति इति पूर्वपक्षे, सर्वशब्दवाच्यत्वाद् ब्रह्मणो असदादिशब्दवाच्यत्वमपि तस्यैव इति श्रुतिविप्रतिषेधाभावाद् ब्रह्मैव कारणम् इति सिद्धम्. यथा कंसादीनां मारकत्वेन असत्त्वेन च भावनात् तान् प्रति तादृशत्वाद् असच्छब्दवाच्योऽपि भवति, एवम् अव्याकृतत्वेन असत्तुल्यत्वादपि तादृशशब्दवाच्यत्वं ज्ञेयम् इति प्रकारभेदेन सर्वशब्दवाच्यत्वात् श्रुतिविप्रतिषेधो न अस्ति इति सिद्धम् ॥५॥

अथ षष्ठाधिकरणम्

“जगद्वाचित्वाद्” इत्यादिभिः त्रिभिः सूत्रैः. कौषीतकिब्राह्मणे षष्ठाध्याये बालाक्यजातशत्रुसम्वादे बालाकिनाम्ना ब्राह्मणेन आदित्यादिषु पुरुषेषु ब्रह्मत्वेन उक्तेषु राजा तं निराकृत्य स्वयम् आह “यो वै बालाके एतेषां कर्ता यस्य च एतत्कर्म स वेदितव्यः”(कौषी.उप.४।१८) इति. तत्र जीवाधिष्ठिता प्रकृतिः कारणं वा ब्रह्म इति संशये, प्रकृतिः इति पूर्वपक्षे, ब्रह्मैव कारणम् इति सिद्धम् ॥६॥

अथ सप्तमाधिकरणम्

“वाक्यान्वयाद्” इत्यादिभिः चतुर्भिः सूत्रैः. बृहदारण्यके षष्ठाध्याये याज्ञवल्क्यमैत्रेयीसम्वादे “न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु

कामाय पतिः प्रियो भवति” (बृहदा.उप.२।४।५) इत्यादि. तत्र जीवस्य प्रकरणित्वं ब्रह्मणो वा इति संशये, जीवस्य इति पूर्वपक्षे, ब्रह्मणएव प्रकरणित्वम् इति सिद्धम् ॥७॥

अथ अष्टमाधिकरणम्

“प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधाद्” इत्यादिभिः षड्भिः सूत्रैः. समवायिकारणं प्रकृतिः निमित्तकारणं ब्रह्म उत द्विविधमपि कारणं ब्रह्मैव इति संशये, समवायिकारणं प्रकृतिः निमित्तकारणं ब्रह्म इति पूर्वपक्षे, सर्वविधमपि कारणं ब्रह्म इति सिद्धम् ॥८॥

॥ इति प्रथमो अध्यायः ॥

॥ द्वितीयो अध्यायः ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादे प्रथमाधिकरणम्

“स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गाद्” इत्यादिसूत्रद्वयेन. प्रथमाध्याये वेदान्तवाक्यानां विवादास्पदानां ब्रह्मपरत्वेन समन्वयः प्रतिपादितः. अधुना श्रुतिस्मृत्यविरोधः प्रतिपाद्यते. अत्र अध्याये प्रथम-द्वितीयपादयोः अधिकरणरचना न स्पष्टा इति यथाकथञ्चिद् उह्या, प्रकृतिकारणताप्रतिपादक-कपिलस्मृत्या शुद्धब्रह्मकारणताप्रतिपादकश्रुतीनां ब्रह्मणि समन्वयो बाध्यते न वा इति संशये, भेदस्य धर्मे सावकाशत्वात् कपिलस्मृतेः मन्वादिस्मृतिवत् कर्मणि उपयोगो न अस्ति इति मोक्षमात्रोपयोगित्वात् तत्रापि अनवकाशे वैयर्थ्यापत्तेः साङ्ख्यस्मृत्या वैदिकः समन्वयो बाध्यते इति पूर्वपक्षे, “अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा” (भग.गीता.१०।८) इत्यादीनां शुद्धब्रह्मकारणताप्रतिपादकस्मृतीनाम् श्रुतिसम्वादीनाम् अनवकाशदोषप्रसङ्गात् साङ्ख्यस्मृत्या वैदिकः समन्वयो न बाध्यते इति सिद्धम्. कपिलादिमहर्षीणां साङ्ख्यादिशास्त्रनिर्माणे प्रवृत्तिस्तु शुद्धब्रह्मवादे अनधिकृतानां हीनाधिकारिणाम् आत्मानात्मविवेकद्वारा तत्तच्छास्त्रोक्तफलसम्पादनार्था, निषिद्धयोग-साङ्ख्ययोस्तु नरकएव फलम् एवम् अन्येषां शाक्तादिमतानामपि, एवं केषाञ्चित् शास्त्राणां मन्द-मध्यमाधिकारिभेदेन तथाविधफलसाध्यत्वं, सर्वथा निषिद्धशास्त्राणान्तु न केवलं वैयर्थ्यमेव प्रत्युत भगवद्विरोधाचरणाद् नरकपातोपि, एतत् सर्वं निबन्धे सर्वनिर्णयप्रकरणे विवेचितम् ॥१॥

अथ द्वितीयाधिकरणम्

“एतेन योगः प्रत्युक्तः” इति एकेन सूत्रेण. योगस्मृत्या वैदिकसमन्वयस्य

सङ्कोचो अस्ति न वा इति संशये अस्ति इति पूर्वपक्षे, न अस्ति इति सिद्धम् ॥२॥

अथ तृतीयाधिकरणम्

“विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दाद्” इत्यादिसूत्रत्रयेण. विलक्षणत्वाख्य-
तर्केण ब्रह्मणो जगत्कारणताबोधकश्रुतीनां समन्वयो बाध्यते न वा इति संशये, अचेतनं
जगत् चेतनाद् ब्रह्मणो न जायते विलक्षणत्वाद् इति पूर्वपक्षे, अचेतनाद् गोमयात्
चेतनस्य वृश्चिकस्य उत्पत्तेः चेतनात् पुरुषाद् अचेतनानां केशादीनाम् उत्पत्तेश्च
पूर्वोक्तव्याप्त्यव्यभिचारात् शुद्धतर्केण समन्वयो न बाध्यते इति सिद्धम् ॥३॥

अथ चतुर्थाधिकरणम्

“असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वाद्” इत्यादिभिः पञ्चभिः सूत्रैः. “असद्वा
इदमग्र आसीद्” (छान्दो.उप.६।२।१) इत्यादिश्रुत्या समन्वयो बाध्यते न वा इति
संशये, सतः कारणत्वोक्त्या सतो ब्रह्मणः कारणत्वासम्भवाद् ब्रह्मकारणताबोधक-
श्रुतीनां ब्रह्मणि समन्वयो बाध्यते इति पूर्वपक्षे, “कथम् असतः सज्जायेत”
(छान्दो.उप.६।२।२) इत्यादिश्रुत्या पूर्वोक्तवचनस्य निषेधार्थत्वबोधनात् समन्वयो न
बाध्यते इति सिद्धम् ॥४॥

अथ पञ्चमाधिकरणम्

“एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः” इति एकेन सूत्रेण. साङ्ख्यमतस्य
वैदिकप्रत्यासन्नत्वात् केषाञ्चित् शिष्टानां परिग्रहोऽपि अस्ति, अणुमायाकारणवादास्तु
सर्वथा न शिष्टैः परिगृह्यन्ते इति तेषां तर्काः पूर्वोक्तन्यायेन सुतरामेव निरस्ताः
वेदितव्याः. अत्र श्रीपुरुषोत्तमगोस्वामिनः आहुः भाष्यप्रकाशे, “इदं च केवलं सूत्रमेव न
अधिकरणं विषयादेः अस्फुटत्वाद् विचाराभावाच्च” इति. अन्येतु कणादादिस्मृतिभिः
समन्वयो बाध्यते न वा इति संशये, बाध्यते इति पूर्वपक्षे, न बाध्यते इति सिद्धान्तः
इत्यधिकरणं रचयन्ति ॥५॥

अथ षष्ठाधिकरणम्

“भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवद्” इति एकेन सूत्रेण. ब्रह्मणएव
समवायिकारणत्वे भोग्यस्य स्रक्चन्दनादेः भोक्तृत्वं भोक्तुश्च जीवस्य भोग्यत्वं स्याद्
इति आशङ्क्य यथा लोके कटक-कुण्डलादीनां सुवर्णकारणकत्वेन सुवर्णानन्यत्वेऽपि

न कटकस्य कुण्डलत्वं तथा न भोग्यस्य भोक्तृत्वम् इति समाहितम्. अत्र भाष्यप्रकाशे “अत्राधिकरणविभागस्त्वव्यवस्थितः, कैश्चित् क्वचिद् अन्यैः अन्यत्र तत्समाप्त्यङ्गीकारात्. आचार्यैस्तु, एषां सूत्रत्वमेव केवलम् अङ्गीक्रियते न अधिकरणत्वं, क्वचिदपि अधिकरणत्वावचनात्, “सूत्रत्रयम् आह” इति सूत्रत्वस्यैव कथनाच्च. तथापि, बोधसौकर्याय किञ्चिद् विषयैक्यम् आदाय ‘असत्सूत्राद् आरभ्य एतदवध्येकाधिकरणम् अङ्गीक्रियते इति अदोषः” इति पुरुषोत्तमगोस्वामिनः आहुः. मध्ये अधिकरणविभागस्तु विवक्षाभेदेन इति प्रतिभाति ॥६॥

अथ सप्तमाधिकरणम्

“तदनन्यत्वमारम्भणं शब्दादिभ्यः” इत्यादिभिः सप्तभिः सूत्रैः. छान्दोग्ये “वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिका इत्येव सत्यम्”(छान्दो.उप.६।१।४) इत्यत्र कार्यमात्रस्य आपाततो मिथ्यात्वं प्रतीयते, तत्रैव श्रुतौ यथा “सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं भवति”(तत्रैव) इति दृष्टान्तेन ब्रह्मणि समवायिकारणत्वं प्रतिपाद्यते, तत्र श्रुतिविरोधो भवति न वा इति संशये. भवति इति पूर्वपक्षे, विरोधो न भवति इति सिद्धम्. वाचारम्भणवाक्येषु कार्ये कारणानन्यत्वं बोध्यते नतु मिथ्यात्वम् इति. अत्रैव अधिकरणे “पटवच्च” इति सूत्रव्याख्याने यथा सम्वेष्टितः पटो न व्यक्तं गृह्यते विस्तृतस्तु गृह्यते, तथा आविर्भावानाविर्भावेन जगतोऽपि इति ॥७॥

अथ अष्टमाधिकरणम्

“इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः” इत्यादिसूत्रत्रयेण. ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे कदाचिद् जीवस्य हितं न करोति इति हिताकरणादिदोषो भवति न वा इति संशये, दोषो अस्ति इति पूर्वपक्षे, न अस्ति इति सिद्धम्. अत्रैव अधिकरणे “अश्मदादिवच्च तदनुपपत्तिः” इति सूत्रव्याख्याने “यथा पार्थिवत्वाविशेषेऽपि हीरक-माणिक्य-पाषाणानां पलाशचम्पकचन्दनानाम् उच्चनीचत्वम् एवं जीवस्य अंशत्वाविशेषेऽपि ब्रह्मादिस्थावरान्तानाम् उच्चनीचत्वम्” ॥८॥

अथ नवमाधिकरणम्

“उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि” इत्यादिभिः षड्भिः सूत्रैः. ब्रह्म एकमेव जगत्कारणं साधनान्तरसापेक्षं वा इति संशये, सापेक्षम् इति पूर्वपक्षे, एकमेव इति सिद्धम् ॥९॥

अथ दशमाधिकरणम्

“सर्वोपेता च दर्शनाद्” इत्यादिभिः अष्टभिः सूत्रैः. ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वं सम्भवति न वा इति संशये, निरिन्द्रियत्वाद् न सम्भवति इति पूर्वपक्षे, सर्वशक्तिमत्त्वात् सम्भवति इति सिद्धान्तः ॥१०॥

॥ इति द्वितीयाध्याये प्रथमः पादः ॥

अथ द्वितीयपादे प्रथमाधिकरणम्

“रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्” इत्यादिभिः षड्भिः सूत्रैः. साङ्ख्यमतसिद्धम् अचेतनं केवलं प्रधानं भूर्भुवरादिलोकानां कारणं भवति न वा इति संशये, भवति इति पूर्वपक्षे, न भवति इति सिद्धम् ॥१॥

अथ द्वितीयाधिकरणम्

“पुरुषाश्मवदिति चेत् तथापि” इत्यादिचतुर्भिः सूत्रैः. केवलप्रधानस्य कारणत्वाभावेऽपि पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं जगत्कारणं भवति न वा इति संशये, भवति इति पूर्वपक्षे, न भवति इति सिद्धम् ॥२॥

अथ तृतीयाधिकरणम्

“महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्” इत्यादिभिः सप्तभिः सूत्रैः. नैयायिकादिमतसिद्धपरमाणूनां द्वयणुकादिक्रमेण कारणत्वं सम्भवति न वा इति संशये, सम्भवति इति पूर्वपक्षे, न सम्भवति इति सिद्धम् ॥३॥

अथ चतुर्थाधिकरणम्

“समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः” इत्यादिभिः एकादशभिः सूत्रैः. अथ बाह्यादिमतानि निराक्रियन्ते, ते एवं मन्यन्ते, परमाणुसमूहो रूपादिस्कन्धपञ्चक-समुदायश्च इति समुदायद्वयं, स्कन्धपञ्चकन्तु रूपस्कन्धो, विज्ञानस्कन्धो, वेदनास्कन्धः, सञ्ज्ञास्कन्धः, संस्कारस्कन्धश्च इति, तत्समुदायद्वयसम्बन्धे जीवस्य संसारः तदपगमे मोक्षः इति. तत्र पूर्वोक्तसमुदायद्वयाद् जीवस्य संसारप्राप्तिः युक्ता न वा इति संशये, युक्ता इति पूर्व पक्षे, तन्मते सर्वस्य क्षणिकत्वे जीवमात्रस्य क्षणिकत्वे वा पूर्वोक्तसमुदायद्वयसम्बन्धाद् जीवस्य संसारप्राप्तिः न युक्ता इति सिद्धम्. अत्रैव अधिकरणे “नासतोदृष्टत्वाद्” इति सूत्रव्याख्याने “व्यासोऽपि कलहं कृत्वा शङ्करं

शप्त्वा तूष्णीमास, अतो अग्निना मया सर्वतः सदुद्धारार्थं यथाश्रुतानि श्रुतिसूत्राणि योजयता सर्वो मोहो निराकृतो वेदितव्यः” इति उक्तं भाष्ये ॥४॥

अथ पञ्चमाधिकरणम्

“नाभाव उपलब्धेः” इत्यादिसूत्रपञ्चकेन. विज्ञानवादिसम्मतं प्रपञ्चास-
त्यत्वं निराक्रियते, विज्ञानातिरिक्तः प्रपञ्चो न अस्ति अस्ति वा इति संशये, न अस्ति
इति पूर्वपक्षे अस्ति इति सिद्धम् ॥५॥

अथ षष्ठाधिकरणम्

“नैकस्मिन्नसम्भवाद्” इत्यादिभिः चतुर्भिः सूत्रैः. विवसनानां सिद्धान्तो
निराक्रियते. तेषां मते जीवो अजीवश्च इति द्वौ पदार्थौ. तत्र जीवः चेतनः, अजीवः
षड्विधः. महीमहीधरादिः एकः, आस्रवसम्बर-निर्जरबन्धमोक्षाख्याः पञ्च च, इति सप्त
पदार्थाः. तेषां साधकः सप्तभङ्गीन्यायः. स्याद् अस्ति, स्याद् न अस्ति, स्याद् अस्ति च
न अस्ति च, स्याद् अवक्तव्यः, स्याद् अस्ति च अवक्तव्यश्च, स्याद् न अस्ति च
अवक्तव्यश्च, स्याद् अस्ति च न अस्ति च अवक्तव्यश्च इति सप्तभङ्गीन्यायः. स्यात्
शब्दो अभीष्टवचनः. तत्र जीवादिषु पदार्थेषु एकैकस्मिन् पदार्थे सप्तभङ्गीनयो
अवतारणीयः इति तेषां मतम्. तत्र एकस्मिन् सप्तप्रकारयोजनं युक्तं न वा इति संशये,
युक्तम् इति पूर्वपक्षे, न युक्तम् इति सिद्धम् ॥६॥

अथ सप्तमाधिकरणम्

“पत्युरसामञ्जस्याद्” इत्यादिभिः पञ्चभिः सूत्रैः. तार्किकमतसिद्धो
जीवभिन्नेश्वरवादो युक्तो न वा इति, संशये, युक्तः इति पूर्वपक्षे, न युक्तः इति
सिद्धान्तः ॥७॥

अथ अष्टमाधिकरणम्

“उत्पत्यसम्भवाद्” इत्यादिभिः चतुर्भिः सूत्रैः. पञ्चरात्रमते किञ्चिद् अंशं
निराकरोति, वासुदेवात् सङ्कर्षणाख्यो जीवः उत्पद्यते, सङ्कर्षणात् प्रद्युम्नाख्यं मनः,
प्रद्युम्नाद् अनिरुद्धाख्यो अहङ्कारः इति मतं युक्तं न वा इति संशये, युक्तम् इति
पूर्वपक्षे, न युक्तम् इति सिद्धम् ॥८॥

॥ इति द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः ॥

अथ तृतीयपादे श्रुतिवाक्येषु परस्परविरोधः परिह्रियते

तत्र प्रथमाधिकरणम्

“न वियदश्रुतेः” इत्यादिभिः सप्तभिः सूत्रैः. अत्र आकाशम् उत्पद्यते न वा इति संशये, न उत्पद्यते इति पूर्वपक्षे, उत्पद्यते इति सिद्धान्तः ॥१॥

अथ द्वितीयाधिकरणम्

“एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः” इति एकेन सूत्रेण. वायोः उत्पत्तिः न अस्ति अस्ति वा इति संशये, न अस्ति इति पूर्वपक्षे, अस्ति इति सिद्धम् ॥२॥

अथ तृतीयाधिकरणम्

“असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः” इति एकेन सूत्रेण. सतो ब्रह्मणः उत्पत्तिः अस्ति न वा इति संशये, अस्ति इति पूर्वपक्षे, न अस्ति इति सिद्धम् ॥३॥

अथ चतुर्थाधिकरणम्

“तेजोऽतस्तथा ह्याह” इति एकेन सूत्रेण. तेजः किं साक्षाद् ब्रह्मजन्यम् उत वायुद्वारा इति संशये, साक्षाद् ब्रह्मजन्यम् इति पूर्वपक्षे, वायुभावापन्नमेव ब्रह्म तेजोजनकम् इति सिद्धम् ॥४॥

अथ पञ्चमाधिकरणम्

“आपः” इति एकेन सूत्रेण. अपां सृष्टिः साक्षाद् ब्रह्मणो वा तेजोद्वारा इति संशये, साक्षाद् ब्रह्मणः इति पूर्वपक्षे, तेजोभावापन्नादेव ब्रह्मणो अपां जन्म इति सिद्धम् ॥५॥

अथ षष्ठाधिकरणम्

“पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः” इति एकेन सूत्रेण. छान्दोग्ये “ता अन्नमसृजन्त” (छान्दो.उप.६।२।४) इत्यत्र अद्भ्यो अन्नजन्म श्रूयते. तत्र अन्नशब्देन लोकप्रसिद्धं व्रीहि-यवादिकं ग्राह्यं वा अन्नशब्दार्थः पृथिवी इति संशये, व्रीह्यादिकम् इति पूर्वपक्षे, पृथिवी इति सिद्धम् ॥६॥

अथ सप्तमाधिकरणम्

“तदभिध्यानादेवतु तल्लिङ्गात् सः” इति एकेन सूत्रेण. तैत्तिरीये “आका-

शाद् वायुः” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यादौ आकाशादयः स्वतन्त्राएव वाय्वाद्युत्पादकाः वा इति संशये, स्वतन्त्राः इति पूर्वपक्षे, ब्रह्माधीनाएव इति सिद्धम् ॥७॥

अथ अष्टमाधिकरणम्

“विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते” इति एकेन सूत्रेण. सृष्टिक्रमेण प्रलयो ज्ञेयो वा विपरीतक्रमेण इति संशये, सृष्टिक्रमेण इति पूर्वपक्षे, सृष्टिविपरीतेन पृथिव्यादिक्रमेण प्रलयः इति सिद्धम् ॥८॥

अथ नवमाधिकरणम्

“अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषाद्” इत्यादि-सूत्रद्वयेन. तैत्तिरीये आकाशाद्यन्नपर्यन्तम् उत्पत्तिम् उक्त्वा अन्नमयादयो निरूपिताः, तत्र अन्नमयस्य प्राणमयस्य च सामग्री पूर्वम् उत्पन्नोक्ता, आनन्दमयस्तु परमात्मा, मध्ये विज्ञानमनसी विद्यमाने क्वचिद् उत्पन्ने अनुत्पन्ने वा इति संशये, उत्पन्ने इति पूर्वपक्षे, विज्ञानमयस्य जीवत्वाद् मनोमयस्य च वेदत्वाद् भूतभौतिकप्रवेशाभावाद् न तयोः उत्पत्तिः वक्तव्या इति सिद्धम् ॥९॥

अथ दशमाधिकरणम्

“नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः” इति एकेन सूत्रेण. जीवोऽपि उत्पद्यते न वा इति संशये, उत्पद्यते इति पूर्वपक्षे, न उत्पद्यते इति सिद्धम् ॥१०॥

अथ एकादशाधिकरणम्

“ज्ञोऽत एव” इति एकेन सूत्रेण. जीवः चैतन्यस्वरूपो भवति न वा इति संशये, चैतन्यवानपि न चैतन्यस्वरूपः इति पूर्वपक्षे, चैतन्यस्वरूपो भवति इति सिद्धम्. भाष्ये एतत्सूत्रव्याख्याने मायावादिनो माध्यमिकावतारत्वम् उक्तं, “माध्यमिकस्यैव अयम् अपरावतारो नितरां सद्भिः उपेक्ष्य” इति. भाष्यप्रकाशेतु “शङ्करः शङ्करः साक्षाद्” इति आख्यायिकया शिवावतारत्वेऽपि माध्यमिकोऽपि तत्र आविष्टः इति उभयावतारत्वं तस्य इति व्याख्यातं, माध्यमिकः चतुर्विधेषु बौद्धेषु निबन्धे गणितः ॥११॥

अथ द्वादशाधिकरणम्

“उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्” इत्यादिभिः चतुर्दशभिः. जीवो अणुः व्यापको वा इति संशये, व्यापकः इति पूर्वपक्षे, अणुरेव इति सिद्धम् ॥१२॥

अथ त्रयोदशाधिकरणम्

“कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वाद्” इत्यादिभिः अष्टभिः सूत्रैः. साङ्ख्यवत् प्रकृतिगतमेव कर्तृत्वं जीवे तत्सम्बन्धाद् व्यपदिश्यते वा स्वाभाविकम् इति संशये, कर्तृत्वम् इति सिद्धम् ॥१३॥

अथ चतुर्दशाधिकरणम्

“परात्तु तच्छ्रुतेः” इत्यादिसूत्रद्वयेन. जीवस्य यत् कर्तृत्वं तत् स्वातन्त्र्येण वा ब्रह्माधीनमेव इति संशये, स्वातन्त्र्येण इति पूर्वपक्षे, ब्रह्माधीनमेव कर्तृत्वम् इति, कर्ता कारयिता भगवानेव इति सिद्धम् ॥१४॥

अथ पञ्चदशाधिकरणम्

“अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके” इत्यादिभिः एकादशभिः सूत्रैः. जीवो भगवदंशो भवति न वा इति संशये, न भवति इति पूर्वपक्षे, भवति इति सिद्धान्तः ॥१५॥

॥ इति द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः ॥

अथ चतुर्थपादे प्रथमाधिकरणम्

“तथा प्राणः” इत्यादिभिः पञ्चभिः सूत्रैः. अत्र प्राणशब्दः इन्द्रियवाची, प्राणस्य नित्यत्वम् अनित्यत्वं वा इति संशये, अनित्यत्वम् इति पूर्वपक्षे, जीववद् नित्यत्वम् इति सिद्धान्तः. अत्र मतान्तरे विपरीताधिकरणरचना, प्राणशब्दवाचकानाम् इन्द्रियाणां नित्यत्वं पूर्वपक्षीकृत्य अनित्यत्वं सिद्धान्तितं, तत्तु न प्रामाणिकम् इति ॥१॥

अथ द्वितीयाधिकरणम्

“हस्तादयस्तु स्थिते अतो नैवम्” इति एकेन सूत्रेण. प्राणशब्दवाच्यानि इन्द्रियाणि सप्त एकादश वा इति संशये, सप्त इति पूर्वपक्षे, एकादशैव इन्द्रियाणि इति सिद्धम् ॥२॥

अथ तृतीयाधिकरणम्

“अणवश्च”(‘अणवच्च’ इत्यपि पाठः) इति एकेन सूत्रेण. सर्वे प्राणाः व्यापकाः अणवो वा इति संशये, व्यापकाः इति पूर्वपक्षे, अणवः इति सिद्धम् ॥३॥

अथ चतुर्थाधिकरणम्

“श्रेष्ठश्च” इत्यादिसूत्रद्वयेन. मुख्यः प्राणो नित्यो अनित्यो वा इति संशये, अनित्यः इति पूर्वपक्षे, नित्यः इति सिद्धम्. गतिमान् अणुपरिमाणश्च इति च ॥४॥

अथ पञ्चमाधिकरणम्

“चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः” इत्यादिभिः चतुर्भिः सूत्रैः. सः प्राणः स्वतन्त्रः परतन्त्रो वा इति संशये, स्वतन्त्रः इति पूर्वपक्षे, मुख्यपक्षे भगवदधीनो व्यवहारे जीवाधीनः इति सिद्धम् ॥५॥

अथ षष्ठाधिकरणम्

“ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननाद्” इति एकेन सूत्रेण. वागादीनां देवताद्यधिष्ठितानां प्रवृत्तिः वा स्वतएव वा इति संशये, स्वतएव प्रवृत्तिः इति पूर्वपक्षे, देवताधिष्ठितानामेव प्रवृत्तिः इति सिद्धान्तः ॥६॥

अथ सप्तमाधिकरणम्

“प्राणवता शब्दाद्” इत्यादिसूत्रद्वयेन. अग्न्यादीनां यद्वागाद्यधिष्ठातृत्वं तत् किं स्वतएव अन्यसहितानां वा इति संशये, स्वतएव इति पूर्वपक्षे, प्राणसहितानामेव अग्न्यादीनाम् अधिष्ठातृत्वम् इति सिद्धम् ॥७॥

अथ अष्टमाधिकरणम्

“तदिन्द्रियाणि तद्व्यपदेशाद्” इत्यादिसूत्रद्वयेन. इन्द्रियाणि प्राणवृत्तिरूपाणि तत्त्वान्तराणि वा इति संशये, प्राणवृत्तिरूपाणि इति पूर्वपक्षे, तत्त्वान्तराण्येव इति सिद्धान्तः ॥८॥

अथ नवमाधिकरणम्

“सज्ज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशाद्” इति एकेन सूत्रेण. नामरूपप्रपञ्चस्य कर्ता जीवो वा भगवान् वा इति संशये, जीवः इति पूर्वपक्षे, भगवानेव इति सिद्धान्तः ॥९॥

अथ दशमाधिकरणम्

“मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च”* इत्यादिसूत्रद्वयेन. “अन्नमयं हि

सौम्य मनः आपोमयः प्राणः तेजोमयी वाग्” (छान्दो.उप.६।५।४) इति, “एतस्माद् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च” (मुण्ड.उप.२।१।३) इति श्रुतिविप्रतिषेधात् संशयः, तत्र वाक्प्राणमनांसि किं भौतिकानि आहोस्वित् स्वतन्त्राणि इति संशये, भौतिकानि इति पूर्वपक्षे, स्वतन्त्राणि इति सिद्धान्तः. अन्नादिभिः कृत्वा मनःप्रभृति सम्यक् स्वकार्यक्षमं भवति नतु अन्नमयाद्येव इति ॥१०॥

(*“...मितयोश्च” इत्यपि पाठः)

॥ इति द्वितीयो अध्यायः ॥

॥ तृतीयो अध्यायः ॥

अथ तृतीयाध्यायप्रथमपादे प्रथमाधिकरणम्

“तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्” इत्यादिभिः सप्तभिः सूत्रैः. जीवस्य ब्रह्मज्ञानोपयोगिशरीरनिष्पत्यर्थं या गतिः, सा किं केवलस्य संस्कृतैः भूतैः सहितस्य वा इति संशये, केवलस्यैव गच्छति इति पूर्वपक्षे, संस्कृतैः भूतैः सहैव गच्छति इति सिद्धान्तः. तथाहि निष्कामयज्ञकर्ता स्वर्गम् आरुह्य यागस्य अवान्तरफलं भुक्त्वा पञ्चाग्निविद्याप्रकारेण मोक्षोपयोगिदेहं प्राप्नोति. पञ्चाग्नि-विद्याप्रकारस्तु छान्दोग्ये सप्तमप्रपाठके उक्तः. तद्यथा प्रवाहणाख्यस्य राज्ञः सभां प्रविष्टं श्वेतकेतुं पञ्चाग्निविद्याप्रकारं जानन्नेव राजा प्रपच्छ “वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति”() इति. एवम्पृष्टः श्वेतकेतुः, पितरं गौतमम् आगत्य उवाच एवं राजा अहं पृष्टो अस्मि तस्य उत्तरं न जानामि इति. सच गौतमः स्वयमपि अज्ञः सन् राजसमीपं गत्वा, तां विद्यां ब्रूहि इति उवाच. एवम् उक्तस्य राज्ञो गौतमं प्रति पञ्चाग्निविद्योपदेशः,

“असौ वाव लोको गौतमाग्निः तस्यादित्येव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिः चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः तस्मिन् एतस्मिन् अग्नौ देवाः श्रद्धां जुहवति तस्याः आहुतेः सोमो राजा सम्भवति ॥१॥ पर्जन्यो वाव गौतमाग्निः तस्य वायुरेव समिदध्रं धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्यादुनयो विस्फुलिङ्गाः तस्मिन् एतस्मिन् अग्नौ देवाः सोमं राजानं जुहवति तस्याः आहुतेः वर्षं सम्भवति ॥२॥ पृथिवी वाव गौतमाग्निः तस्याः सम्वत्सरएव समिदाकाशो धूमो रात्रिर्चिर्दिशो अङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः तस्मिन् एतस्मिन् अग्नौ देवा वर्षं जुहवति तस्याः आहुतेः अन्नं सम्भवति ॥३॥ पुरुषो वाव गौतमाग्निः तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो

जिह्वार्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः तस्मिन् एतस्मिन् अग्नौ देवा
अन्नं जुह्वति तस्याः आहुतेः रेतः सम्भवति ॥४॥ योषा वाव गौतमाग्निः
तस्याः उपस्थएव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चियदन्तः करोति ते
अङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः तस्मिन् एतस्मिन् अग्नौ देवा रेतो जुह्वति
तस्याः आहुतेः गर्भः सम्भवति' (छान्दो.उप.५।४।१) इति.

तदग्रे तु “पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति”(तत्रैव) इति.
“पुरुषवचसो भवन्ति” इत्येतस्य पुरुषशब्दवाच्याः भवन्ति इति अर्थः. प्रथमाहुतिवाक्ये
श्रद्धां जुह्वति इत्यत्र श्रद्धाशब्देन आपः उच्यन्ते. यद्यपि अन्यान्यपि भूतानि हूयन्ते
तथापि अपामेव ग्रहणे भूयस्त्वं हेतुः. तच्च शुद्धत्वं पयःसोमादिरूपबहुहेतुकत्वं
वृष्ट्यन्तरेतःशोणितरूपेण बहुधा परिणतत्वं द्रव्यभूयोवरेण द्रव्यभूयस्करत्वादिरूपञ्च
ज्ञेयम्. एवं पञ्चाग्निविद्याप्रकारेण मोक्षपथोपयोगिशरीरनिष्पत्तिः, तस्मात्
तादृशशरीरप्राप्त्यर्थं या जीवस्य गतिः, सा, न केवलस्य, किन्तु संस्कृतैः भूतैः
सहितस्यैव इति सिद्धम् ॥१॥

अथ द्वितीयाधिकरणम्

“कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च” इत्यादिभिः चतुर्भिः
सूत्रैः. जीवः स्वर्गं गत्वा तत्र यज्ञस्य अवान्तरफलम् उपभुज्य ततो अवरोहणे सर्वमेव
अवान्तरफलं भुक्त्वा फलावशेषरहितो अवरोहति तत्सहितो वा इति संशये,
निरवयवशेषो अवरोहति इति पूर्वपक्षे, सावशेषः इति सिद्धम् ॥२॥

अथ तृतीयाधिकरणम्

“अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम्” इत्यादिभिः पञ्चभिः सूत्रैः. पापिनां
सुकृतिनां च सर्वेषामेव आहुतिसम्बन्धेन सोमभावो वा केषाञ्चित् सुकृतिनामेव इति
संशये, सर्वेषामेव इति पूर्वपक्षे, पापिनां यमलोकप्राप्तिः, केषाञ्चित् सुकृतिनामेव
पूर्वोक्तप्रकारः इति सिद्धम् ॥३॥

अथ चतुर्थाधिकरणम्

“विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वाद्” इत्यादिभिः चतुर्भिः सूत्रैः.
अर्चिरादिमार्ग-धूमादिमार्गाभ्याम् अतिरिक्तः तृतीयो यममार्गो न अस्ति अस्ति वा इति
संशये, न अस्ति इति पूर्वपक्षे अस्ति इति सिद्धान्तः ॥४॥

अथ पञ्चमाधिकरणम्

“तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य” इत्यादिसूत्रत्रयेण. वृष्टेः अन्नं भवति इति असङ्गतं न वा इति संशये, असङ्गतम् इति पूर्वपक्षे, सङ्गतम् इति सिद्धम् ॥५॥

अथ षष्ठाधिकरणम्

“अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलाषाद्” इत्यादिसूत्रद्वयेन. अन्नस्य रेतोभावो युक्तो न वा इति संशये, न युक्तः इति पूर्वपक्षे, युक्तः इति सिद्धम् ॥६॥

अथ सप्तमाधिकरणम्

“रेतःसिग्योगोथ” इति एकेन सूत्रेण. अत्र रेतसो होम्यत्वम् उपपद्यते न वा इति संशये, न उपपद्यते इति पूर्वपक्षे, उपपद्यते इति सिद्धान्तः ॥७॥

अथ अष्टमाधिकरणम्

“योनेः शरीरम्” इति एकेन सूत्रेण. तस्याः आहुतेः गर्भः सम्भवति इति उच्यते, तत्र सन्देहः गर्भशब्देन योनौ अन्तःस्थितमेव उच्यते बहिः निर्गतं वा इति, तत्र अन्तःस्थितमेव गर्भशब्देन उच्यते, ततः च षण्मासानन्तरं गर्भे ज्ञानसम्भवाद् जननानन्तरं न गुरूपसत्यादिकर्तव्यम् इति पूर्वपक्षे, योनेः निर्गतं शरीरमेव गर्भशब्देन उच्यते इति सिद्धान्तः. एवञ्च उत्पत्तिसमये वैष्णव्या मायया तस्य ज्ञानस्य तिरोधानाद् न गुरूपसत्यादिवैयर्थ्यं, तस्माद् योग्यदेहः साधनसहितो ब्रह्मज्ञानार्थं निरूपितः ॥८॥

॥इति तृतीयाध्याये प्रथमः पादः ॥

अथ द्वितीयपादे प्रथमाधिकरणम्

“सन्ध्ये सृष्टिराह हि” इत्यादिभिः षड्भिः सूत्रैः. अत्र स्वप्नसृष्टिः सत्या मायामात्रं वा इति संशये, सत्या इति पूर्वपक्षे, मायामात्रम् इति सिद्धान्तः ॥९॥

अथ द्वितीयाधिकरणम्

“तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च” इति एकेन सूत्रेण. अत्र सुषुप्तावपि प्रपञ्चनिर्माणम् अस्ति न वा इति संशये अस्ति इति पूर्वपक्षे, न अस्ति इति सिद्धम् ॥१०॥

अथ तृतीयाधिकरणम्

“अतः प्रबोधोऽस्माद्” इत्यादिसूत्रत्रयेण. द्विविधा हि सुषुप्तिः, जीवस्य

कासुचिद् नाडीषु प्रवेशे भगवत्समीपगमने वा पुनः जागरणे सन्देहः, नाडीभ्यो हृदयदेशं गत्वा भगवतः सकाशाद्वा समागत्य जागर्ति आहोस्विद् यत्र स्थितः ततएव जागर्ति इति, तत्र हृदयदेशम् आगत्य जागर्ति इति पूर्वपक्षे, यत्रैव तिष्ठति ततएव प्रबोधः इति सिद्धम्. अत्रैव अधिकरणे सएवतु “कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः” इति सूत्रव्याख्याने सुप्तएव जीवः प्रबुध्यते अन्यो वा इति संशयं प्रदर्श्य, सएव प्रबुध्यते इति निर्णीतम्. ततो “मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः परिशेषाद्” इति सूत्रविवरणे प्रबुध्यते इति निर्णीतम् ॥३॥

अथ चतुर्थाधिकरणम्

“न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि” इति सूत्रत्रयेण. इदानीं विषयनिर्धारार्थं ब्रह्मस्वरूपं विचार्यते पादशेषेण. तत्र प्रथमम् अन्योन्यविरुद्धवाक्यानां निर्णयः क्रियते. तत्र स्वगतधर्माणाम् अविरुद्धानाम् अग्रिमपादे विचारः, जडजीवधर्मत्वेन प्रतीयमानानाम् अत्र विचारः क्रियते. तत्र क्वचिद् जडजीवधर्माः बोध्यन्ते क्वचिद् निषिध्यन्ते, यथा “सर्वकर्मा सर्वकामः” (छान्दो.उप.३।१४।४), यथाच “निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्” (छान्दो.उप.६।१९) इत्यादि. अत्र केचित् प्रकारान्तरेण विरोधं परिहरन्ति तन्मतम् अनूद्य दूषितं भाष्ये. तथाच स्थानभेदेन ब्रह्मणः उभयधर्मवत्त्वं न सम्भवति इति सिद्धान्तः ॥४॥

अथ पञ्चमाधिकरणम्

“अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वाद्” इत्यादिभिः पञ्चभिः सूत्रैः. अत्र जडजीवधर्माः ब्रह्मणि सन्ति न वा इति संशये, सन्ति इति पूर्वपक्षे, सर्वकामत्वादयो धर्माः न सन्ति इति सिद्धान्तः इति एकदेशिमतम् ॥५॥

अथ षष्ठाधिकरणम्

“अम्बुवदग्रहणात् न तथात्वम्” इत्यादिभिः चतुर्भिः सूत्रैः. मुख्यसिद्धान्तं वक्तुम् एकदेशिमतं दूषयति, सर्वकामत्वादयो धर्माः ब्रह्मणि उपाधिसम्बन्धाद् औपचारिकाः वा ब्रह्मधर्माएव इति संशये, औपचारिकाः इति पूर्वपक्षे, विरुद्धधर्माश्रयत्वाद् ब्रह्मधर्माएव इति सिद्धान्तः. अत्रैव अधिकरणे “प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः” इति सूत्रविवरणे परमार्थतो विरोधं परिहृत्य युक्त्याऽपि प्रतिषेधति, सर्वत्र लौकिकं प्रतिषेधति अलौकिकं विधत्ते इति युक्त्या निर्णयः, तस्माद् युक्त्यापि अविरोधः ॥६॥

अथ सप्तमाधिकरणम्

“तदव्यक्तमाह हि” इत्यादिसूत्रद्वयेन. विरुद्धवाक्यानि उदाहृत्य चिन्त्यते, “न चक्षुषा गृह्यते” (मुण्ड.उप.१।३।८) “कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद् नापि वाचा” (कठोप.२।१।१), “सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति” (कठोप.२।१।५), “अप्राप्य-मनसा सहः” (तैत्ति.उप.२।४), “मनसैवैतदाप्तव्यं” (कठोप.४।१।१), “अस्पर्शम् अगन्धमरसं” (सुबालोप.३।१), “सर्वरूपः सर्वगन्धः सर्वरसः” (छान्दो. उप.३।१।४।४) “अपाणिपाद” (श्वेता.उप.३।१।९) इत्यादि “विश्वतः चक्षुः” (श्वेता. ३।३) इत्यादि, एतेषु विरुद्धवाक्येषु एकस्य स्वार्थे प्रामाण्यम् अपरस्य उपचरितार्थत्वं युक्तं वा उभयविधानामपि स्वार्थे प्रामाण्यम् इति संशये, एकस्य स्वार्थे प्रामाण्यम् अन्यस्य उपचरितार्थत्वं इति पूर्वपक्षे, उभयविधानामपि स्वार्थे प्रामाण्यम् इति सिद्धम् ॥७॥

अथ अष्टमाधिकरणम्

“प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासाद्” इत्यादिसूत्रत्रयेण. पुनः प्रकारान्तरेण पूर्वोक्तमेव स्थिरीकर्तुम् अधिकरणारम्भः. अत्र भगवति विरुद्ध-धर्माश्रयत्वं निर्णीतम् ॥८॥

अथ नवमाधिकरणम्

“प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वाद्” इत्यादिभिः त्रिभिः सूत्रैः. ब्रह्मधर्माः किं ब्रह्मणो भिन्नाः कार्यरूपाः आहोस्विद् ब्रह्मैव इति संशये, धर्माः प्रपञ्चवद् ब्रह्मकार्याः इति पूर्वपक्षे, ब्रह्मस्वरूपाएव इति सिद्धम् ॥९॥

अथ दशमाधिकरणम्

“परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यदेशेभ्यः” इत्यादिभिः सप्तभिः सूत्रैः. ब्रह्मणः सकाशात् परम् अन्यद् उत्कृष्टं फलम् अस्ति न वा इति संशये, अस्ति इति पूर्वपक्षे, न अस्ति इति सिद्धम् ॥१०॥

अथ एकादशाधिकरणम्

“फलमत उपपत्तेः” इत्यादिभिः चतुर्भिः सूत्रैः. फलदाता भगवान् वा देवान्तरं वा कर्म वा इति संशये, अन्यस्मादेव फलम् इति पूर्वपक्षे, भगवानेव फलदाता इति सिद्धान्तः ॥११॥

अथ तृतीयपादे प्रथमाधिकरणम्

“सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषाद्” इत्यादिभिः आत्मशब्दाच्च इत्यन्तैः पञ्चदशभिः सूत्रैः. पूर्वपादे जडजीवधर्मनिराकरणेन शुद्धसच्चिदानन्दविग्रहवत्त्वं ब्रह्मणो निरूपितम्. इहतु, ब्रह्मगताएव धर्माः विचार्यन्ते. ते चेद् एकस्मिन् वाक्येव सर्वे पठिताः भवेयुः तदा न विचारणीयाः भवेयुः विरोधाभावात्. पठिताश्च तत्तदुपासनप्रकरणेषु. क्वचित् तएव क्वचिद् भिन्नाः. यथा वाजसनेयिनः पञ्चाग्निविद्यां प्रस्तुत्य षष्ठम् अन्यम् अग्निं पठन्ति “तस्याग्निरेवाग्निः”(बृहदा.उप.६।२।१४) इति. छन्दोगास्तु पञ्चसङ्ख्ययैव उपसंहरन्ति, “अथ य एतानेवं पञ्चाग्नीन वेद” (.....) इति. तथा प्राणसम्वादे मुख्यप्राणाद् अन्यान् चतुरः प्राणान् वाक्-चक्षुःश्रोत्र-मनांसि पठन्ति. वाजसनेयिनस्तु तमपि पञ्चमं पठन्ति. अपरञ्च, अथर्वोपनिषत्सु क्वचिद्गोकुलवृन्दाकाननसञ्चरद्गोपरूपम् इत्यादि, क्वचित् कोदण्डमण्डित-भुजदण्डखण्डित-प्रचण्डदशमुण्डम् इत्यादिरामस्वरूपम्. क्वचिद् “अतिकरालवदनवित्रासिते”त्यादिनृकेसरिरूपम्. क्वचिद् उरुक्रमादिरूपञ्च निरूप्यते. अत्र सर्वेषाम् उपासनाविषयाणां भेदाद् अब्रह्मत्वम् अभेदाद् ब्रह्मत्वं वा इति संशये, अब्रह्मत्वम् इति पूर्वपक्षे, अभेदाद् ब्रह्मत्वमेव इति सिद्धान्तः. ब्रह्मणो अनन्तरूपत्वेपि यानि यानि रूपाणि विविधैः जीवैः उपासितुं शक्यानि तानि तानि रूपाणि तैः तैः वेदैः निरूप्यन्ते इति तावद्रूपात्मकम् एकमेव ब्रह्म इति अर्थः. यथा एकस्मिन् अग्निष्टोमे शाखाभेदेऽपि चोदना तथैव भवति “अग्निष्टोमेन यजेत”(.....) इति, तथा इहापि सर्वेषु वेदान्तेषु ब्रह्मत्वेनैव उपासना विधीयते इति. तथाच यथा शाखाभेदेन बहुप्रकारकोऽपि अग्निष्टोमः एकएव, तथा तावद्रूपात्मकम् एकमेव ब्रह्म इति अर्थः. अत्रैव अधिकरणे “भेदान्नेति चेदेकस्यामपि” इति सूत्रव्याख्याने “यत्र एकस्मिन् उपास्ये रूपे अन्यस्माद् रूपाद् अधिकाः गुणाः उच्यन्ते तत्र तेषाम् उपसंहारो युक्तः इति भावः”. अत्र अयं विशेषो ज्ञेयः, उपासनाविषयेषु अखिलेषु अविशिष्टं ब्रह्मत्वं ज्ञात्वा तेषु एकतरं रूपं यः उपास्ते तस्य तत्र सर्वे गुणाः उपसंहर्तुम् उचिताः, यस्तु अनन्तेषु विभूतिरूपेषु “ओमित्येतदक्षरं ब्रह्म”(अथर्वशि.उप.१) इति ज्ञात्वा उपास्ते तस्य शाखान्तरीया अपि एतदक्षरोपासनप्रकरणोक्ताएव उपसंहर्तव्या न अन्ये, तद्रूपम् अधिकृत्यैव तेषां गुणानां कथनाद् अन्यथा अतिप्रसङ्गात्. इयन्तु उपासनादिमार्गीया व्यवस्था उक्ता. भक्तिमार्गीया तु एतद्विलक्षणा सा अग्रे वाच्या इति अस्मिन्नेव

अधिकरणे “स्वाध्यायस्य तथात्वेन समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः” इति सूत्रव्याख्याने यथा सर्वेषां शाखिनां स्व-स्वशाखोक्तकर्मण्येव अधिकारो न परशाखोक्तेपि, अतिरिक्तकरणे प्रायश्चित्तश्रवणात्, प्रकृतेपि यद्रूपोपासनाप्रकरणे यावन्तो धर्माः उक्ताः तस्मिन् रूपे तावद् धर्मवत्वेनैव उपासना कार्या तद्वोधकप्रमाणानुरोधाद्, नतु रूपान्तरोपासनप्रकरणोक्ता साधारणधर्मवत्त्वेनापि, तथा सति मत्स्योपासकस्य चापशरादिकमपि भावनीयं स्यात्, पुरुषरूपोपासकस्य च लक्षयोजनायाम् अशृङ्गादिकम्.

ननु अथर्वोपनिषत्सु श्रीरामोपासनायां मत्स्य-कूर्माद्यवताररूपत्वम् उच्यते, सत्यम् उच्यते, तत्र अयम् अभिसन्धिः, परमकाष्ठापन्नं ब्रह्मस्वरूपम् इदम् इति ज्ञात्वा हि उपासना कार्या, तेन एतस्यैव अन्ये अवताराः तत्तद्रूपेण तानि तानि कर्माणि अयमेव कृतवान् इति ज्ञेयं, परं, नतु तस्मिन्नेव रूपे अन्यावतारधर्मरूपत्वमपि इति. तथाच तस्मिन् तस्मिन् अवतारे तत्तद्धर्मवान् इति श्रुत्या बोद्धव्यते नतु सर्वत्रापि. तत्र बाधकम् उक्तमेव, प्राणाद्युपासनासु एतावान् विशेषः, यथा कर्मण्यतिरेके प्रायश्चित्तश्रवणं बाधकं श्रीरामस्वरूपाद्युपासनासु च तेन अवतारेण अकृततत्कर्मणः तत्र भावने अपराधो बाधको “योन्यथा सन्तम्” (महाभा. २५५।४) इति वाक्यं च, न तथा प्राणाद्युपासनासु अधिकगुणस्य इतरत्र उपसंहारे किञ्चिद् बाधकं दृश्यते इति सत्कर्तुं शक्यते इति. ननु अन्येषाम् अवताराणां मध्ये श्रीकृष्णावतारस्य श्रेष्ठ्यं निरूप्यते “एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्” (भाग.पुरा. १।३।२८) इत्यादिवचनैः, पूर्वोक्तरीत्यातु सर्वतुल्यता प्रतीयते इति न एकतरनिर्धारः सम्भवति, किञ्च, ब्रह्मणो निरवयवत्वेन एकस्य अंशित्वम् अन्येषाम् अंशत्वम् इत्यपि वक्तुम् अशक्यम् इति प्राप्ते अभिधीयते, “सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिः” (.....) “विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तम्” (.....) इत्यादिवाक्यैः अप्राकृतो भगवत्स्थानभूतः ‘सत्त्वं’नामा भगवद्धर्मरूपएव कश्चन अस्ति, यादृशेन रूपेण भगवान् कार्यं कर्तुम् इच्छति तादृग्रूपं तं प्रकटीकृत्य तस्मिन् स्वयम् आविर्भूय अयःपिण्डे वह्निवत् तत्तत्कार्याणि करोति, यस्मिन्-यस्मिन् अवतारे सः-सो अंशः इति उच्यते, तत्र हि विग्रहः तत्र आविर्भूतं ब्रह्मस्वरूपञ्च प्रतीयते, विग्रहस्य सत्त्वात्मकत्वेन धर्मरूपत्वात् तत्र आविर्भूतस्यैव ब्रह्मत्वात् समुदितस्य अवतारत्वेन गणनात् तत्र एकस्यैव अंशस्य तद्रूपत्वं यत्तदेव अंशत्वं, यत्र अधिष्ठानम् अनपेक्ष्य स्वयमेव शुद्धं साकारं ब्रह्म आविर्भवति भक्तार्थं, सः स्वयं पूर्णो भगवान् उच्यते, एतदेव श्रेष्ठ्यम्. अतएव सर्वतः पाणिपादान्तत्वं स्वस्मिन् स्फुटं ज्ञापयितुं तोकादिभावेन आविर्भवूव, तेन यादृग् यादृग् लीलाविशिष्टं

यद्यद्बालपौगण्डाद्यवस्थाविशिष्टं तत्तद्रूपं नित्यमेव इति वयं जानीमः. मन्त्राद्यधिष्ठातृरूपाणितु विभूतिरूपाणि. विभूतित्वञ्च हीनाधिकारिणां तत्तत्फल-दानार्थम् ऐश्वर्यादिरूपेण तत्र तत्र स्थितत्वमेव. ननु किमर्थं नानाविधप्राकट्यम् इति चेद् उच्यते, प्राकट्यं हि भक्तिनिमित्तकम्. सातु, बहुविधा इति, तदनुरूपं प्राकट्यमपि बहुविधम्. सर्गादिकार्येषु अधिकृतानां भक्तानाम् इतरासक्तिरपि अस्ति इत्युपाध्यन्तरितस्नेहवत्वाच्च अनन्तरूपत्वेन मत्स्यादिरूपोऽपि तदर्थं तद्व्यवहितएव प्रकटीभवति. येतु भगवत्स्वरूपमात्रासक्ताः तदर्थं स्वयमेव सत्वाव्यवधानेन प्रादुर्भवति. एतेनैव निराकारत्वशङ्कापि निरस्ता. एतेन सोपधिस्नेहवदर्थमेव मत्स्यादिरूपप्राकट्यस्य प्रमाणसिद्धत्वाद् निरुपधिस्नेहवदर्थमेव श्रीव्रजनाथप्राकट्यस्यापि तथात्वात्. इदं श्रैष्ठ्यं, अत्रैव अधिकरणे “उपसंहारो-ऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत् समाने च” इति सूत्रे यथा अग्निहोत्रादीनाम् अग्निहोत्रत्वादि-लक्षणे समानेऽपि सति स्व-स्वशाखोक्त-प्रकारस्यैव करणं न अन्यशाखोक्तधर्मोक्त-संहारः एवम् इहापि तत्तदवतारोपासकस्य तत्तदसाधारणधर्मवत्वेनैव उपासनं न अन्यावतारधर्मवत्वेनापि इति अर्थः. “न वा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिवद्” इति सूत्रे व्यवस्थितविकल्पम् आह न वा इत्यादिना, सर्वेषु अवतारेषु भगवदवतारत्वेन साधारणी भक्तिः यस्य सः सर्वत्र उपसंहारं करोतु नाम, यस्तु एकान्ती तस्य स्नेहोत्कर्षेण अन्तःकरणम् एकस्मिन्नेव रूपे पर्यवसितम् इति रूपान्तरम् अन्तःकरणरूढं न भवत्येव इति न उपसंहारसम्भावनापि इति तदेतद् उच्यते न वा इत्यन्तेन. तत्र हेतुः प्रकरणभेदाद् इति. अत्रैव अधिकरणे “आत्मशब्दाच्च” इति सूत्रे एतेन यत्परम्परासम्बन्धैरपि विभूतिरूपाणाम् उपास्यत्वं तदस्य महत्त्वं कियदवधि वाच्यम् इति ज्ञाप्यते. एवं सति उपासनामार्गीयोपास्यं विभूतिरूपं नतु मूलरूपम् इति ज्ञेयम् ॥१॥

अथ द्वितीयाधिकरणम्

“आत्मगृहीतिरितरवदुत्तराद्” इत्यादिसूत्रद्वयेन. अन्नमयादिषु आनन्दमयस्य जीवत्वं ब्रह्मत्वं वा इति संशये, जीवत्वम् इति पूर्वपक्षे, ब्रह्मत्वम् इति सिद्धम् ॥२॥

अथ तृतीयाधिकरणम्

“कार्याख्यानादपूर्वम्” इत्यादिषड्भिः सूत्रैः. तैत्तिरीयके “तस्माद् वा एतस्माद् आत्मनः”(तैत्ति.उप.२।१।१) इत्यारभ्य महाभूतसृष्टिम् उक्त्वा आम्नायते “पृथिव्या ओषधयः ओषधीभ्यो अन्नं अन्नात्पुरुषः स वा एषः पुरुषो अन्नरसमयः”

(तत्रैव) इति. एतद् अग्रे “ये अन्नं ब्रह्मोपासत” इति उच्यते. तत्र “स वा एषः पुरुषो अन्नरसमयः” इत्यत्र पूर्वोक्तएव उच्यते उत तदिभन्नः इति भवति संशयः, पूर्वोक्तएव इति पूर्वपक्षः, सिद्धान्तस्तु “अन्नात्पुरुषः” इत्यनेन आधिभौतिकः, “स वा एषः पुरुषो अन्नरसमयः” इत्यनेन आध्यात्मिको ब्रह्मरूपः इति. अथवा वाजसनेयिशाखायाम् “आत्मात्मन्येव उपासीत” (बृहदा.उप.१।४।७) इति उपक्रम्य “तदेतत्प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयो अन्यस्मात् सर्वस्माद् अन्तरं यद् अयम् आत्मा” (बृहदा.उप.१।४।८) इति एतद् अग्रे अन्यस्य प्रियत्वं निराकृत्य इश्वरो हि तथा स्याद् आत्मानमेव प्रियम् उपासीत इति पठ्यते. अत्र आत्मपदेन जीवात्मनएव आत्मत्वेन उपासना विधीयते उत ईश्वरपदात् परमात्मनः इति संशये, जीवात्मनः इति पूर्वपक्षे, पुरुषोत्तमस्यैव प्रियत्वं भवितुम् अर्हति इति सिद्धम्. तेन अविकृतत्वपरमानन्दत्वादयो धर्माः उपसंहर्तव्याः. अत्रैव अधिकरणे “सम्बन्धादेवम् अन्यत्रापि” इति सूत्रे अन्यत्रापि जीवेऽपि एवं ब्रह्मणीव उपासना कार्या, तत्र हेतुः सम्बन्धाद् इति, अयोगोलके वह्नेरिव तस्मिन् आवेशलक्षणः सम्बन्धो अस्ति इति. अत्र एवं ज्ञेयम्. अयन्तु जीवो अत्र आविष्टं भगवन्तम् अहम् उपासत इति जानाति चेत् तदा न सा जीवगामिन्युपासना, किन्तु ब्रह्मगामिन्येव. तत्र अखिलधर्मोपसंहारे न किञ्चिद् बाधकम्. यत्र ब्रह्मत्वेनैव ज्ञात्वा उपास्ते तत्रापि “तं यथा यथा उपासते तथैव भवति तद्धैतान् भूत्वावति” (मुद्र.उप. ३।३) इति श्रुतेः गुर्वादौ जीवत्वबुद्धिनिषेधाच्च. तथा तत्र यादृग् उपासकः तदुपासनासिद्ध्यर्थं तत्फलदानार्थञ्च तादृग्रूपो भगवान् आविशति इति च तथा. यस्तु अन्तरङ्गभगवद्भक्तं हृद्याविर्भूतभगवत्कं ज्ञात्वा तद्भजनेन अहं भगवन्तं प्राप्स्यामि इति ज्ञात्वा तमेव भजते सः प्रेम-विश्वासयोः उत्कर्षाद् भक्तिमार्गीयः इति. भक्त-हृद्याविर्भूतेऽपि रूपे उपसंहारो धर्माणां तेन न कार्यः इति अग्रिमे पठति “न वाविशेषाद्” इति. अस्य भक्तत्वेन तद्भजनरसास्वादानेन विस्मृततदाविष्टभगवत्कत्वेन तन्निरपेक्षत्वेन वा तदाविष्टभगवति गुणोपसंहारे अनुपसंहारे वा भक्तोपासनायां विशेषाभावाद् इति अर्थः. “विशेषादिति वा” ‘नञ्’प्रश्लेषरहितः पदच्छेदः. पूर्वं विहितत्वेन भगवदाकारादिषु भजनं कुर्वन्नपि उक्तरूपभक्तसङ्गेन तद्भजनेन च पूर्वस्माद् विशिष्टं रसम् अनुभूतवान् इति रसास्वादे विशेषाद् गुणोपसंहारं सः न करोति इति अनुवादः. विहितत्वेन गुणोपसंहार-पूर्वकोपासनायां नीरसत्वेन अनादरज्ञापनाय वा शब्दः. अपिच उपसंहारो हि तत्र अनुक्तानाम् अन्यत्र उक्तानां गुणानां तत्र सत्वेन ज्ञानमात्रं, उक्तरूपभक्तायतु तद्भजनीये भक्तएव अलौकिकान् अनुभावान् भगवान् प्रत्यक्षं दर्शयति इति न तत्र उपसंहारापेक्षागन्धोऽपि इति ॥३॥

अथ चतुर्थाधिकरणम्

“पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानाद्” इति एकेन सूत्रेण. तैत्तिरीयके “सहस्रशीर्षा पुरुषः” (ऋग्वेद १०।१०।१) इत्यादिना पुरुषविद्या निरूप्यते. तत्रैव “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१।१) इति प्रपाठके “स वा एषः पुरुषो अन्न-रसमयः” (तत्रैव) इत्यारभ्य प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमयानन्दमयाख्यं ब्रह्मस्वरूपं निरूप्यते. तत्र सर्वत्र सच “पुरुषविधेः” इति पठ्यते. अत्र अन्नमयादिषु पुरुषसूक्ते च पुरुषपदश्रवणाद् अन्नमयादिषु सहस्रशीर्षवत्त्वाद्युपसंहारः कर्तव्यो न वा इति संशये, विद्यैक्याद् न कर्तव्यः इति पूर्वपक्षे, पुरुषपदमात्रसाधर्म्येऽपि विद्याभेदाद् न उपसंहारः कर्तव्यः इति सिद्धम्. “सहस्रशीर्षा पुरुषः” इत्यत्र पुरुषपदं ब्रह्मपरम्, अन्नमयादिषु विज्ञानमयान्तेषु पुरुषपदं विभूतिपरम्, अतएव भृगूपाख्याने अन्नमयादिब्रह्मज्ञानेऽपि जिज्ञासैव उक्ता, भृगोः आनन्दरूपपरब्रह्मज्ञानेतु न उक्ता, तेन अशेषगुणपूर्णं ब्रह्म इति उक्तं भवति अतः उत्तमाधिकारिभिः तदेव उपासनीयं न विभूतिरूपम् इति ज्ञापितम् ॥४॥

अथ पञ्चमाधिकरणम्

“वेधाद्यर्थभेदाद्” इत्यादिसूत्रद्वयेन. भगवत्सम्बन्धाभावे दोषसम्बन्धम् उक्त्वा तथा सति गुणहानिं च वदन् तत्र विशेषम् आह, “हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानवत्तदुक्तम्” इति सूत्रे “तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यम् उपैति” (मुण्ड.उप.३।१) इति आथर्वणिकैः मुण्डके पठ्यते. परमपदेन ब्रह्म उच्यते. तत्र कतिपयधर्मैः साम्यं वा अशेषतन्निष्ठधर्मैः इति संशये अशेषधर्मैः इति पूर्वपक्षे, कतिपयधर्मैरेव साम्यम् इति सिद्धान्तः. ये धर्माः जीवनिष्ठाः आनन्दांशैश्वर्यादयो भगवदिच्छया तिरोहताः ते ब्रह्मसम्बन्धे सति पुनराविर्भूताः इति तैरेव साम्यम् इति अर्थः ॥५॥

अथ षष्ठाधिकरणम्

“सम्पराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये” इत्यादिसूत्रद्वयेन. वाजसनेयि-शाखायां “स एष नेति नेति” (बृहदा.उप.३।१।२६) इति उपक्रम्य “सर्वं पाप्मानं तरति” (तत्रैव) इति पठ्यते. अत्र पाप्मतरणादिरूपं ब्रह्मज्ञानमाहात्म्यम् उच्यते, ज्ञानस्य संसारमुक्तिहेतुत्वात्. अथर्वणोपनिषत्सु “परब्रह्मैतद्यो धारयति” (गोपा.पू.ता.उप. १।१) इत्यारभ्य “भजति सो अमृतो भवति” (तत्रैव) इति भगवद्भक्तेः मुक्तिहेतुत्वम्

उच्यते. अत्र एतावान् सन्देहः, “य एवं वेद सः पाप्मानं तरति” (.....) इति वचनाद् ज्ञानदशायामपि पापसत्त्वं वाच्यम् अन्यथा तरणासम्भवापत्तेः. एवं सति भक्तिदशायामपि एवमेव न वा इति भवति संशयः. तत्र भक्तिदशायामपि एवमेव इति पूर्वपक्षे, न एवम् इति सिद्धान्तः. ज्ञानमार्गे अक्षरप्राप्त्या भक्तिमार्गे पुरुषोत्तमप्राप्त्या तस्माद् विशेषम् अत्र ज्ञापयितुम् एवं कथनम्, अतो भक्तेः पूर्वमेव पापनाशो युक्तः इति भावः. ननु भक्तिमार्गीयाणामपि गोपस्त्रीणां “दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः, ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गला” (भाग.पुरा.१०।२९।१०) इति वचनेन दुष्कृतसुकृतयोरपि हानिश्रवणात् पूर्वोक्तवचनैः विरोधः इति आशङ्क्यायाम् उत्तरं पठति “छन्दत उभयाविरोधाद्” इति सूत्रे. एवं सति भक्तेः पूर्वमेव पापनाशः औत्सर्गिकः, सः क्वचिद् विशेषेच्छया अपनोद्यत इति भावः. अत्र इच्छाविशेषे किञ्चिद् उच्यते, चिकीर्षितलीलामध्यपातिभक्ताः न सोपाधिस्नेहवत्यो न वा सगुणविग्रहाः न वा सुकृतादियुक्ताः इति ज्ञापयितुं कतिपयगोपीः तद्विपरीतधर्मयुक्ताः कृत्वा तस्यां दशायां स्वप्राप्तौ प्रतिबन्धं कारयित्वा स्वयमेव तां दशां नाशयित्वा स्वलीलामध्यपातिनीः कृतवान् इति. नहि एतावता सार्वदिकेव अयं भावो भवति. नहि मन्त्रप्रतिबद्धशक्तिः अग्निः अदाहक इति स्वभावत्वमेव तस्य सार्वदिकम् इति वक्तुं शक्यम् ॥६॥

अथ सप्तमाधिकरणम्

“गतेरर्थवत्वमुभयथान्यथा हि विरोधः” इति एकेन सूत्रेण. ननु “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्” (तैत्ति.उप.२।१) इति, “तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय” (तैत्ति.आर.३।१।३) इत्यादिश्रुतिभिः ब्रह्मज्ञाने सत्येव मोक्षः इति उच्यते. “यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः” (मुण्ड.उप.३।२।३) इति श्रुत्या आत्मीयत्वेन अङ्गीकारात्मकवरणस्य भक्तिमार्गीयत्वात् तस्मिन् सति भक्तिमार्गे प्रवेशाद् भक्त्यैव मोक्षः इति उच्यते. किञ्च, “भक्त्या माम् अभिजानाति” (भग.गीता १८।५५) इति उक्त्वा “ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्” (तत्रैव) इति भगवता उक्तम् इति भक्तिमार्गेऽपि पुरुषोत्तमज्ञानेनैव मोक्षः इति उच्यते. ज्ञानमार्गे तु अक्षरज्ञानेन इति विशेषः. “तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः, न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह” (भाग.पुरा.११।२०।३१) इति वचनेन भक्तिमार्गीयस्य ज्ञाननैरपेक्ष्यम् उच्यते. तथाच एवं मिथः श्रुत्योः स्मृत्योश्च विरोधाद् न एकतरनिर्धारः सम्भवति. अपरञ्च “मत्कामा रमणं जारम्” (भाग.पुरा. ११।१२।१३) इति वाक्याद् ज्ञानमार्गीय-भक्तिज्ञानमार्गीय-ज्ञानरहितानामपि भगवत्प्राप्तेः तत्साधनत्वनिरूपक-

श्रुतिविरोधः. तथाच क्वचिद् ज्ञानं मुक्तिसाधनत्वेन उच्यते, क्वचिद् भक्तिः, क्वचिद् न उभयमपि इति एकतरसाधनानिश्चयाद् मुक्तिसाधने मुमुक्षोः प्रवृत्त्यसम्भवः इति प्राप्ते आह ‘गतेरर्थवत्वम्’ इत्यादि. ज्ञान-भक्तिभ्यां मुक्तिः मर्यादा, तद्रहितानामपि स्व-स्वरूपबलेन स्वप्रापणं पुष्टिः इति उच्यते. तथाच, यं जीवं यस्मिन् मार्गे अङ्गीकृतवान् तं तत्र प्रवर्तयित्वा तत्फलं ददाति इति सर्वं सुस्थम्. अत्र अयं विवेकः, मर्यादायाम् अङ्गीकृतानां मुक्तीच्छयैव श्रवणादौ प्रवृत्तिः तद्दातृत्वेनैव भगवति प्रेमापि, नतु निरुपधिः अतो मर्यादामार्गे मुक्तिरेव भवित्री. अस्मिन् मार्गे श्रवणादिभिः पापक्षये प्रेमोत्पत्तिः ततो मुक्तिः. पुष्टिमार्गे अङ्गीकृतेस्तु अनुग्रहसाध्यत्वात् तत्र पापादेः न प्रतिबन्धकत्वम्. अत्र श्रवणादिकमपि फलरूपमेव स्नेहेनैव क्रियमाणत्वाद् न विधिविषयो अतः पापादेः न पुष्टिमार्गे प्रतिबन्धकत्वम्. तद् उक्तं श्रीभागवते “स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य” (भाग.पुरा.११।५।४२) इत्यादि ॥७॥

अथ अष्टमाधिकरणम्

“उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेलोकवद्” इति एकेन सूत्रेण. मर्यादा-मार्गीयाणां सर्वत्र मुक्तेरेव फलत्वम् उच्यते. पुष्टिमार्गीयभक्तानान्तु तदनपेक्षितत्वात् पुरुषोत्तमप्राप्तिरेव फलम् इति उच्यते. तत्र श्रौतत्व-भगवत्सम्बन्धित्वयोः अविशेषात् कतमो गरीयान् इति संशये, मुमुक्षोः सकाशाद् रहस्यभजनकर्तैव श्रेष्ठः इति सिद्धम् ॥८॥

अथ नवमाधिकरणम्

“अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम्” इति एकेन सूत्रेण. अथर्वणोपनिषत्सु गोपालतापनीये पठ्यते “परब्रह्मैतद्यो धारयति रसति भजति ध्यायते प्रेमति शृणोति श्रावयति उपदिशति आचरति सो अमृतो भवति सो अमृतो भवति” (गोपाल.पू.ता.उप.१) इति. अत्र धारणादीनां समुदितानामेव अमृतसाधकत्वम् उत प्रत्येकमपि इति संशये, समुदितानाम् इति पूर्वपक्षे, प्रत्येकमपि अमृतसाधकत्वम् इति सिद्धान्तः ॥९॥

अथ दशमाधिकरणम्

“यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्” इति एकेन सूत्रेण. “यस्मिन् जीवे यत्कार्यसाधनार्थम् अधिकारो भगवता दत्तः तत्कार्यसाधनक्षमाः तस्मिन् ये धर्माः

भगवता स्थापिताः ते आधिकारिकाः इति उच्यन्ते” तैः धर्मैः मुक्तिः भवति न वा इति संशये, भवति इति पूर्वपक्षे, तेषां धर्माणां यावद् अधिकारं स्थितिः नियमेन तेषां न मुक्तिसाधकत्वं, किन्तु तेषामपि भक्त्यैव मुक्तिः इति सिद्धान्तः ॥१०॥

अथ एकादशाधिकरणम्

“अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्” इत्यादि-सूत्रद्वयेन. ननु उक्तार्थवर्णोपनिषद्वाक्यैः भगवद्धर्माणां मुक्तिसाधनत्वम् उच्यते, श्रुत्यन्तरेषु “तमेव विदित्वा अतिमृत्युम् एति न अन्यः पन्था विद्यते अयनाय” (श्वेता.उप.३।८) इत्यादिषु ज्ञानस्यैव मुक्तिसाधनत्वम् उच्यते, श्रुतित्वाविशेषाद् उभयोः तथात्वे कारणवैजात्ये कार्यवैजात्यस्य आवश्यकत्वाद् मुक्तौ च वैजात्यासम्भवाद् “भक्त्या मामभिजानाति” (भग.गीता १८।५५) इति वाक्याद् भक्तौ ज्ञानस्यापि सम्भवाद् ज्ञानेनैव मुक्तिः इति पूर्वपक्षे, ज्ञानसाधनत्वनिरूपकश्रुतितात्पर्यं निरूपयन् पुरुषोत्तमप्राप्तेरेव मुक्तिपदवाच्यत्वाद् भजनस्यैव तत्प्रापकत्वम् इति हृदि कृत्वा आह ‘अक्षरधियाम्’ इत्यादि. ज्ञानमार्गीयाणाम् अक्षरप्राप्तिः भक्तिमार्गीयाणां पुरुषोत्तमप्राप्तिः इति वैलक्षण्यम्. तत्रापि मर्यादाभक्तिमार्गीयाणां पुरुषोत्तमसायुज्यं पुष्टिस्थानां भजनानन्दानुभवः इति विवेकः ॥११॥

अथ द्वादशाधिकरणम्

“अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनः” इत्यादिसूत्रत्रयेण. अथ ज्ञानमार्गे यथा स्वात्मत्वेन ब्रह्मणो ज्ञानं तथा भक्तिमार्गेऽपि भक्त्या पुरुषोत्तमज्ञाने स्वात्मत्वेन पुरुषोत्तमज्ञानं भवति न वा इति संशये, भवति इति पूर्वपक्षे, न भवति इति सिद्धान्तः. स्वात्मत्वेन ज्ञानस्य भजनानन्दान्तरायरूपत्वाद् भगवता तद् न सम्पाद्यते, किन्तु “सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः” (बृहदा.उप.४।४।२२) इत्यादिश्रुतिभिः एवमेव सर्वेश्वरत्वादिना भक्तानां ज्ञानम् इति. अत्रैव अधिकरणे “अन्यथाभेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवद्” इति सूत्रे क्वचिद् उद्धवादिषु यो ज्ञानोपदेशः तस्य फलन्तु न ज्ञानमार्गीयं ज्ञानं, किन्तु, यथा योगाख्यसंस्कारसंस्कृतं योगिवपुः न अग्न्यादिभिः उपहतं भवति, तथा ज्ञानाख्यसंस्कारसंस्कृतं भक्तशरीरं विप्रयोगाग्निना न अन्यथा भवति इति ज्ञानोपदेशफलम्. अन्यथा उपदेशानन्तरं बदरीं गच्छन् विदुरं प्रति “इहागतोऽहं विरहातुरात्मा” (भाग.पुरा.३।४।२०) इति न वदेत्. एवमेव अन्येष्वपि भक्तेषु ज्ञेयम्. अथवा पुरुषोत्तमे निरुपधिस्नेहः तत्सम्बन्धित्वेन आत्मनि स्नेहसिद्ध्यर्थम् आत्मत्वेन

उपदेशः. अग्रे जीवनसम्पत्तिरेव उपदेशकार्यं नतु तेन पूर्वभावोपमर्दः सम्भवति इति सारं, तेन ज्ञाने सर्वाधिक्यं मन्वानाय भक्तिबलप्रदर्शनं च सिद्धयति. अत्रैव “व्यतिहारो विशिषन्ति हीतरवद्” इति सूत्रे क्वचिद् भक्तानामपि “कृष्णोऽहं पश्यत गतिम्” (भाग.पुरा.१०।३०।१९) इत्याद्यभेदज्ञानम्. रसात्मकत्वाद् भक्तेः संयोग-विप्रयोगा-त्मकत्वाद् द्वितीयभावोद्रेके यथा इतरे अश्रुव्यपलापादयो व्यभिचारिभावाः तथा अतिविगाढभावेन तदभेदस्फूर्तिरपि एको विगाढभावो, नतु सार्वदिकः इति आशयेन, रसमार्गीयं नतु ज्ञानमार्गीयम् इति ज्ञेयम्. एवं सति ज्ञानमार्गे मुख्यं यद् अद्वैतज्ञानं तद् भक्तिभावैकदेशव्यभिचारिभावेषु एकतरद् इति सर्षपस्वर्णाचलयोरिव ज्ञान-भक्त्योः तारतम्यं कथं वर्णनीयम् इति भावः॥१२॥

अथ त्रयोदशाधिकरणम्

“सैव हि सत्यादयः” इत्यादिसूत्रद्वयेन. प्राप्तभक्तेः पुरुषस्य शमदमादयो विधीयन्ते न वा इति संशये, विधीयन्ते इति पूर्वपक्षे तादृशस्य शमदमादयो न विधीयन्ते इति सिद्धम्. तत्र हेतुः, हि यस्माद् हेतोः, सैव भक्तिरेव सत्यादिसर्वसाधनरूपा, तस्यां सत्यां सत्यादयो ये ज्ञानमार्गे विहितत्वात् कष्टेन क्रियन्ते मुमुक्षुभिः ते भक्तहृदि भगवत्प्रादुर्भावात् स्वतएव भवन्ति इति न विधिम् अपेक्षन्ते इति अर्थः. अत्रैव अधिकरणे “कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः” इति सूत्रे भक्तिवद् भगवद्विषयक-कामादीनामपि मुक्तिसाधकत्वम्. एवं गृहेषु भगवत्सेवां कुर्वतां गृहेभ्योऽपि मुक्तिः भवति. आदिपदेन स्त्री-पुत्र-पश्वादयः सङ्गृह्यन्ते. एतेन ज्ञानमार्गाद् उत्कर्षः उक्तो भवति. बाधकानामपि साधकत्वात् ॥१३॥

अथ चतुर्दशाधिकरणम्

“आदरादलोपः” इत्यादिसूत्रद्वयेन. ननु नित्यानां वर्णाश्रमधर्माणां भगवद्धर्माणाञ्च एककाले प्राप्तौ युगपद् उभयोः करणासम्भवाद् अन्यतरबाधे प्राप्ते कस्य बाधः स्याद् न कस्य इति स्यात् संशयः, तत्र कर्मणां स्व-स्वकाले विहितानाम् अकरणे प्रत्यवायश्रवणाद् इतरत्र प्रत्यवायाश्रवणाद् अन्यदापि भगवद्धर्मकृतिसम्भवात् सावकाशत्वेन तेषामेव बाधो युक्तो नतु निरवकाशानां कर्मणाम् इति पूर्वपक्षः, तत्र सिद्धान्तम् आह ‘आदराद्’ इति. “तावत्कर्माणि कुर्वीत”(.....) इत्यादिवचनैः वर्णाश्रमधर्मेभ्यो भगवद्धर्मेभ्यो आदरश्रवणात् तयोः युगपद् उपस्थितौ बलाबलविचारे क्रियमाणे बलवत्त्वात् पूर्वं भगवद्धर्मान् कृत्वा ततो अवकाशं प्राप्य

अथ पञ्चदशाधिकरणम्

“तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः” इति एकेन सूत्रेण. अथ इदं विचार्यते, पुरुषोत्तमविदः कर्म कर्तव्यं न वा इति संशये, न कर्तव्यम् इति पूर्वपक्षे, यथाधिकारं कर्तव्यमेव इति सिद्धान्तः. तथाहि, भक्तिमार्गे मर्यादापुष्टिभेदेन अस्ति द्वैविध्यम्. एवं सति उभयविधानां मध्ये मम कर्मकरणे प्रभोः इच्छा अस्ति इति यो निर्धारयति सः करोति. यस्तु इच्छा न अस्ति इति निर्धारयति सः न करोति यथा जडादिः, एवं सति इच्छाज्ञानवता तत्सन्देहवता च कर्म कर्तव्यम् इति सिद्धम्. तत्फलन्तु पुष्टिमार्गीयस्य वेदमार्गरक्षा लोकसङ्ग्रहश्च. द्वितीयस्य तु मध्यमाधिकारात् कामसङ्गादिजनितचित्त-मालिन्येन भगवत्सान्निध्ये प्रतिबन्धः स्यात्, तन्निवृत्तिः मर्यादामार्गीयकृतकर्मणः फलम् इति अर्थः. अथवा सर्वात्मभाववतो भक्तस्य “न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद्” (भाग.पुरा.११।२०।३१) इति वचनाद् विधेयाभावाच्च कर्म-ज्ञानयोः विहितभक्तेश्च करणं न भवति इति तस्य सर्वात्मभाववतः किं फलम् इति आकाङ्क्षापूरणाय तद् अनुवदति “तन्निर्द्धारणे”त्यादिना. एतादृशस्य प्रभुसङ्गममात्रम् अपेक्षितम् इति, प्रासङ्गिकम् एतत्सूत्रम् ॥१५॥

अथ षोडशाधिकरणम्

“प्रदानवदेव तदुक्तम्” इति एकेन सूत्रेण. सर्वात्मभावो हि विहितकर्म-ज्ञानभक्तिसाध्यो न वा इति संशये साध्यः इति पूर्वपक्षे, न साध्यः इति सिद्धान्तः. क्वचिद् उद्धवादिषु साधनोपदेशस्तु वरवद् यथा वरेण असाध्यमपि सिद्ध्यति ॥१६॥

अथ सप्तदशाधिकरणम्

“लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि” इत्यादिभिः दशभिः सूत्रैः. प्रतिबन्धक-कालादृष्टादिसद्भावेऽपि सर्वात्मभावरूपं वरणकार्यं स्याद् उत प्रतिबन्धकनिवृत्तौ इति संशये, प्रतिबन्धकाभावस्य सर्वत्र हेतुत्वात् तन्निवृत्तावेव वरणकार्यं भवति इति पूर्वपक्षे, सर्वतो अधिकत्वात् तद्वरणं सर्वतः कालादेः बलीयः इति सिद्धान्तः. सामोपनिषत्सु नवमप्रपाठके सनत्कुमार-नारदसम्वादे “यो वै भूमा तत्सुखम्” (छान्दो.उप.७।२३।१) इत्यादि भूम्नः स्वरूपजिज्ञासायाम् आह “यत्र न अन्यत्पश्यति न अन्यच्छृणोति न अन्यद्विजानाति सः भूमा” (छान्दो.उप.७।२४।१) इति, एतेन सर्वात्मभावस्वरूपमेव

उक्तं भवति. तत्र विरहभावेतिविगाढभावेन सर्वत्र तदेव स्फुरति इति “स एव अधस्तात् स उपरिष्ठाद्”(तत्रैव ७।२५।१) इत्याद्युक्तं, तद्वरणं विना न भवति इति वरणमेव सर्वतः कालादेः बलीयः इति ॥१७॥

अथ अष्टादशाधिकरणम्

“व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वाद् नतूपलब्धिवद्” इत्यादिभिः त्रिभिः सूत्रैः. ननु “ब्रह्मविदाप्नोति”(तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुत्या अक्षरब्रह्मविदः परब्रह्मप्राप्तिः उच्यते, तत्र इतरसाधनसापेक्षं ब्रह्मज्ञानं परं प्रापयति उत तन्निरपेक्षं इति संशये इतरसाधननिरपेक्षम् इति पूर्वपक्षे इतरसाधनसापेक्षमेव इति सिद्धान्तः. तथाहि, “यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः”(मुण्ड.उप.३।२।३) इति श्रुतेः भगवद्वरणेन गुहायां यदा आविर्भूतं परमं व्योम पुरुषोत्तमगृहात्मकं व्यापिवैकुण्ठं भवति तदा तत्र भगवान् आविर्भवति इति. तथाच ज्ञानिनां गुहासु परमव्योमाविर्भावो न भवत्येव. अन्यथा ज्ञानिनामपि पुरुषोत्तमप्राप्तिः स्यात्. किञ्च, ज्ञानिज्ञानविषयभक्तगुहाविर्भूताक्षरयोः भेदो अस्ति न वा इति संशयः, तत्र एवं निर्णयः, एकत्वेऽपि सच्चिदानन्दत्वादिना ज्ञानिनाम् अक्षरविज्ञानं, भक्तानामेव पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वेन इति विज्ञेयम्. “मल्लानामशनिः” (भाग.पुरा.१०।४३।१७) इति श्लोकोक्तरीत्या पुरुषोत्तमस्येव प्रभुणा ये यथा विचारिताः सन्ति ते तथा भवन्ति इति तद्विचारएव सर्वेषाम् अधिकाररूपः इति निर्णयः, अस्मिन् अर्थे कैमुतिकन्यायेन निदर्शनम् आह “अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम्”(ब्रह्मसू.३।३।५७) इति सूत्रे, “यागे तत्तदृत्विङ्नियतकर्तव्यानि अन्वाधानाद्यङ्गानि, तत्र अवबद्धाः सर्वेऽव ऋत्विजो यजमानेन. अवबन्धनं नाम “अध्वर्यु त्वां वृणे होतारं त्वां वृणे उद्गातारं त्वां वृणे”(.....) इत्यादिरूपं वरणमेव. अन्यथा सर्वकर्मविदुषां तत्कृतिपटूनाम् ऋत्विजाम् एकत्र अधिकारो न अन्यत्र इति नियमो न स्यात्. तस्य तस्य तथा वरणेतु यजमानेच्छैव हेतुः. ते च तदा न सर्वासु शाखासु विहितानि अङ्गानि कर्तुं सर्वे शक्ताः किन्तु यजमानवरणनियमिताएव कुर्वन्ति. तत्र हेतुम् आह, हि यतः कारणात्, प्रतिवेदं नियमितानि अङ्गानि “हौत्रं ऋचा आध्वर्यवादि यजुषा औद्गात्रं साम्ना” (.....) इति.

तथाच अलौकिके वैदिके कर्मणि जीवेच्छा नियामिका यत्र तत्र किमुं वाच्यं प्रतिलोमकूपं सावकाशम् अमितब्रह्माण्डस्थितिम् अतः तदीशितुः इच्छैव नियामिका तत्तत्साधनफलसम्पत्तौ इति ॥१८॥

अथ एकोनविंशाधिकरणम्

“भूमनः ऋतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति” इत्यादिसूत्रद्वयेन. छान्दोग्ये नवमप्रपाठके, “यो वै भूमा तत्सुखम्”(छान्दो.उप.७।२३।१) इति श्रुतौ भूमपदेन मुक्तिः वा सर्वात्मभावो वा इति संशये, मोक्षः इति पूर्वपक्षे, सर्वात्मभावएव भूमशब्देन उच्यते इति सिद्धान्तः. सर्वात्मभावस्य दुःखहेतुत्वेऽपि अनन्यलभ्यसाक्षात्पुरुषोत्तमानन्दप्राप्तिहेतुत्वेन सुखरूपत्वम् उच्यते इति अन्येभ्यः सर्वेभ्यो ज्यायस्त्वं मन्तव्यम् इति अर्थः. अत्र उपपत्तिम् आह “तथाहि दर्शयति” इति सूत्रे. सर्वात्मभावस्य लौकिकत्वम् अलौकिकत्वं वा इति संशये, लौकिकत्वम् इति पूर्वपक्षे, अलौकिकत्वम् इति सिद्धान्तः. सर्वात्मा लीलास्थभक्तेष्वेव न अन्यत्र लौकिकपुरुषे नार्या वा रसाभासो रसशास्त्रे निरूप्यते, तद्दृष्टान्तेन भगवद्भावविशिष्टभक्तीतिभावनार्थं, न ऋषीणां लौकिके तात्पर्यं भवितुम् अर्हति ॥१९॥

अथ विंशाधिकरणम्

“नाना शब्दादिभेदाद्” इति एकेन सूत्रेण. अथ मत्स्याद्यवताराणां भगवदवतारत्वम् अविशिष्टम् इति सर्वेषां समस्योपासना कार्या उत पार्थक्येन इति विचारयति. तत्र उपास्याभेदेऽपि रूपभेदाद् एकत्र उपासकस्य अन्यत्र अनुपासन-लक्षणावज्ञासम्भवाद् अस्यापि असिद्धिसम्भवादपि समस्यैव कार्या इति प्राप्ते सिद्धान्तम् आह सर्वेषु अवतारेषु नानैव उपासना कार्या, तत्र हेतुः ‘शब्दादिभेदाद्’ इति, तत्तत्स्वरूपवाचकशब्दानां मन्त्राणाञ्च आदिपदाद् आकारकर्मणाञ्च भेदाद् इति अर्थः. एतेनैव मिथोविरुद्धानाम् आकारकर्मणाम् एकत्र भावनस्य अशक्यत्वम् अयुक्तत्वञ्च इति भावः सूचितः ॥२०॥

अथ एकविंशाधिकरणम्

“विकल्पोविशिष्टफलत्वाद्” इत्यादिसूत्रद्वयेन. पार्थक्येन उपासनानि कर्तव्यानि इति स्थिते विचार्यते, किं दर्शपूर्णमासादिवद् एषां समुच्चयः उत विकल्पः इति, तत्र विधि-फलयोः समानत्वात् समुच्चयः इति प्राप्ते निर्णयम् आह उपासनानां विकल्पएव, तत्र हेतुः अवशिष्टफलत्वाद्, मुक्तिफलत्वं हि सर्वेषाम् उपासनानाम् अविशिष्टम्, एवं सति एकेनैव मुक्तिसिद्धौ अपरस्य अप्रयोजकत्वाद् अग्निहोत्रादिवद् नित्यताबोधकश्रुत्यभावाद् मुक्त्यर्थिनो विकल्पएव. अत्रैव अधिकरणे “काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन् न वा पूर्वहेत्वभावाद्” इति सूत्रे येषुतु उपासनेषु भिन्नानि

भिन्नानि फलानि उच्यन्ते तत्रतु अनेकफलार्थिनः तत्तत्फलोपासनानि समुच्चीयेरन्, अविशिष्टफलत्वाभावाद्, यत्रतु एकस्यैव उपासनस्य स्वकामितानेकफलत्वं श्रूयते, तत्र तथैव चेद् उपासनं करोति तदा न समुच्चीयेरन्नपि, तथापि न विकल्पः, स्वकामितेषु फलेषु एकतरस्य फल-तदन्यफल-वैशिष्ट्येन अविशिष्टफलत्वरूपस्य विकल्पहेतोः अभावाद् इति. समुच्चयपक्षे, समुच्चयाभावपक्षे, च विकल्पाभावहेतुबोधकं पूर्वहेत्वभावाद् इति पदं श्लिष्टप्रयोगाभिप्रायेण उक्तम् इति ज्ञेयम्. अथवा कामैक्ये नियतफलकानि तानि न समुच्चीयेरन् तत्र विकल्पाभावे हेतुः स्पष्टः. तथाच कर्ममार्गीये परोपासनेषु त्रैविध्यं, विकल्पः समुच्चयः तदभावे तन्मात्रोपासनञ्च इति ॥२१॥

अथ द्वाविंशाधिकरणम्

“अङ्गेषु यथाश्रयभावः” इत्यादिसूत्रद्वयेन. प्रधानेषु निर्णयम् उक्त्वा अङ्गेषु तम् आह, उपासनाङ्गानां तदेव आश्रयः तथाच यद् अङ्गं यद् उपासनाश्रितं तत्रैव तस्य भावः सत्ता इति अर्थः. अत्र हेतुम् आह “शिष्टेश्च” इति सूत्रे, तदुपासनं तत्तदङ्गविशिष्टमेव वेदे शिष्यते इति तथा इति अर्थः. चकाराद् अतिरिक्तकरणे प्रायश्चित्तोक्तिरपि बाधिका इति सूच्यते ॥२२॥

अथ त्रयोविंशाधिकरणम्

“समाहाराद्” इत्यादिसूत्रद्वयेन. कर्ममार्गीयोपासने निर्णयम् उक्त्वा ज्ञानमार्गीयोपासने तम् आह, अथर्वोपनिषत्सु नृसिंहोपासनादिषु मत्स्यकूर्मादि-रूपत्वेनापि स्तुतिः श्रूयते, श्रीभागवते च “नमस्ते रघुवर्याय” (भाग.पुरा.१०।४०।२०) इत्यादिरूपा ब्रजनाथे. एवं सति रूपभेदेऽपि भगवदवतारत्वस्य अविशिष्टत्वाद् एकस्मिन् रूपे रूपान्तरसमाहारो दृश्यते इति सर्वरूपत्वेन एकत्र उपासनमपि साधु इति अर्थः. “गुणसाधारण्यश्रुतेश्च” इति सूत्रे ऐश्वर्यादिगुणानां सर्वेषु अवतारेषु साधारण्यं श्रूयते, तेन धर्मि-धर्माणाम् ऐक्यात् पूर्वोक्तं साधु इति अर्थः ॥२३॥

अथ चतुर्विंशाधिकरणम्

“न वा तत्सहभावाश्रुतेः” इत्यादिसूत्रद्वयेन. ननु एवं सर्वरूपत्वेन एकत्र उपासनं नित्यम् उत वैकल्पिकम् इति संशये उक्तरीत्या नित्यत्वे प्राप्ते तन्निषेधम् आह न इति. किन्तु, वा विकल्पएव एवम् उपासने ऐच्छिकः तत्र हेतुम् आह “सहभावाश्रुतेः” इति. नियमतः तेषां रूपाणां सहभावश्रवणं चेत् स्यात् तदा स्यात्

तथा उपासनस्य नित्यता, नतु एवम् अतो विकल्पएव इति अर्थः. “दर्शनाच्च” योऽपि रूपान्तरसमाहारपूर्वकम् उपास्ते सोऽपि एकं रूपम् उपास्यत्वेन मत्वा तत्तथा उपास्ते इति फलं तस्य एकस्यैव रूपस्य दर्शनं, नतु सर्वेषाम् इतोऽपि हेतोः विकल्पएव इति अर्थः. एतद्दृष्टान्तेन यस्मिन् रूपे यादृग् धर्मवत्त्वं श्रूयते तादृग्धर्मविशिष्टमेव एकं रूपम् उपास्यम् इति व्यासहृदयम् इति ज्ञायते, उपासनानिर्णयान्ते दर्शनात्मकहेतूक्त्या सर्वोपासनानां भगवत्साक्षात्कारः फलम् इति ध्वन्यते माहात्म्यज्ञापनार्थम्. परं सर्वावताररूपत्वं यथार्थमेव कैश्चिद् ज्ञाप्यते यथार्थत्वात् तदपि अविरोधीति ज्ञेयम् ॥२४॥

॥ इति तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

अथ चतुर्थपादे प्रथमाधिकरणम्

“पुरुषार्थो अतःशब्दादिति बादरायणः” इत्यादिचतुर्विंशतिसूत्रैः. उपासनाभेदेऽपि उपास्याभेदात् शाखान्तरोक्तगुणानामपि उपसंहारः कर्तुम् उचितः इति पूर्वपादे निरूपितम् इति तन्न्यायेन उत्तरकाण्डप्रतिपाद्यब्रह्मफलकसर्वात्मभावेऽपि पूर्वकाण्डप्रतिपादितकर्मणाम् उपसंहारः प्राप्नोति न वा इति संशये, प्राप्नोति इति पूर्वपक्षे, सर्वात्मभावस्यैव फलसाधकत्वम् इति सिद्धान्तः. अग्रे ज्ञानस्य कर्मशेषत्वम् आशङ्क्य परिहृतं बहुविस्तरेण उपमर्दञ्च इति सूत्रे. द्वैतभाने हि यथाकथञ्चित् कर्मकृतिसम्भावनापि, यस्यतु अखण्डब्रह्माद्वैतभानं ब्रह्म इत्येव नतु इदं ब्रह्म इति सखण्डम्. अत्र उद्देश्यत्वेन प्रपञ्चस्यापि भानात् सखण्डत्वम्. तथाच अखण्डतद्भाने कर्मतदधिकारादेः उपमर्दं च एके शाखिनः पठन्ति इति न ब्रह्मज्ञानस्य कर्मशेषत्वसम्भावनापि इति अर्थः ॥१॥

अथ द्वितीयाधिकरणम्

“सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववद्” इत्यादिभिः षड्भिः सूत्रैः. उक्तन्यायेन ज्ञानं प्रति कर्मणः फलोपकारित्वाभावेऽपि स्वरूपोपकारित्वम् अस्ति न वा इति संशये, न अस्ति इति पूर्वपक्षे, अस्ति इति सिद्धान्तः. अत्रैव अधिकरणे “सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनाद्” इति सूत्रे “चाक्रायणः किलर्षिरापद्रुत इभ्येन सामिखादितान् कल्माषांश्चखाद” (छान्दो.उप.१।१०।१) इति छान्दोग्यश्रुतेः आपद्रुतस्यैव सर्वान्न-भक्षणानुमतिः, अनापदितु ज्ञानिनोऽपि विहितत्यागो अविहितकरणञ्च चित्तमालिन्य-जनने ज्ञानतिरोधायकम् इति श्रुत्यभिमतम् इति ज्ञाप्यते. एषा ज्ञानमार्गीयज्ञानवतो

व्यवस्था इति ज्ञेयम्. भक्तिमार्गीयस्य एवम् आपदसम्भवाद्, “अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्”(भग.गीता.९।२२) इति भगवद्वाक्यात् ॥२॥

अथ तृतीयाधिकरणम्

“विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि” इत्याद्यष्टभिः सूत्रैः. जातज्ञानस्य आश्रमकर्म कर्तव्यं न वा इति संशये, न कर्तव्यम् इति पूर्वपक्षे, कर्तव्यमेव इति सिद्धान्तः. अत्रैव सर्वथापि तएव “उभयलिङ्गाद्” इति सूत्रे भगवद्धर्माणाम् आत्मधर्मत्वेन अन्तरङ्गत्वाद् आश्रमधर्माणां बहिरङ्गत्वात् तदविरोधेनैव कर्तव्यम् इति स्थितम्. अत्रैव अग्रे “अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः” इति सूत्रे भगवद्धर्मेभ्यः आश्रमधर्माः हीनाः इत्यपि अल्पम् उच्यते अपितु तस्मिन् पुरुषोत्तमे दृष्टिः यस्य पुंसः तस्य आश्रमधर्माः अन्तरा च फलसिद्धौ अन्तरायरूपाः च इति “किं प्रजया करिष्यामः”(बृहदा.उप.४।४।२२) इत्यादि-श्रुतिभिः. प्रजायाः अभीष्टत्वेऽपि तदुत्पादनव्यासङ्गेन भगवदानन्दानुभवे अन्तरायो भविष्यति इति दृष्ट्या तत्र उपेक्षां दर्शयति “अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च” इति सूत्रे. मुक्तानान्तु आत्मस्वरूपमात्रम्. भक्तानान्तु भजनानन्दोपयोग्यलौकिक-देहादिकमपि. अतो मोक्षादपि भगवदीयत्वमेव श्रेष्ठम् इति ॥३॥

अथ चतुर्थाधिकरणम्

“तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्तद्रूपाभावेभ्यः” इति एकेन सूत्रेण. तदीयानामपि कदाचित् सायुज्यमुक्तिः अस्ति न वा इति संशये, अस्ति इति पूर्वपक्षे, न अस्ति इति सिद्धान्तः. पञ्चमस्कन्धे “भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्त-सर्वार्था”(भाग.पुरा.५।) इति वचनात् ॥४॥

अथ पञ्चमाधिकरणम्

“नचाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगाद्” इत्यादिसूत्रद्वयेन. पुष्टिमागीर्येभ्यो ध्रुवायेव ब्रह्मादिलोकाधिकारं दत्वा तत्सम्बन्धिफलं ददाति न वा इति संशये, ददाति इति पूर्वपक्षे, न ददाति इति सिद्धान्तः ॥५॥

अथ षष्ठाधिकरणम्

“बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च” इत्यादिसूत्रचतुष्टयेन. प्रचुरभगवद्-

भावमात्रवतः साक्षात्स्वरूपभोगवतो वा भक्तस्य गृहत्यागः कर्तव्यो न वा इति संशये, फलस्य सिद्धत्वाद् न कर्तव्यः इति पूर्वपक्षे, “त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु, मर्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग्विचरस्व गाम्” (भाग.पुरा.११।७।६) इति भगवद्वाक्यरूपस्मृतेः उद्धवस्य तथाचाराच्च गृहत्यागः आवश्यकः इति सिद्धान्तः. गृहस्य प्रभुरसास्वादे प्रतिबन्धकत्वेन त्यागस्य विप्रयोगरसानुभावकत्वेन च सः कर्तव्यः ॥६॥

अथ सप्तमाधिकरणम्

“सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवद्” इति एकेन सूत्रेण. ननु ‘यमेव’ इति श्रुतिः, साधनान्तरनिषेधपूर्वकं वरणस्यैव साधनत्वम् आह, “तस्मादेवम्विच्छान्तो दान्त उपरतिस्तिक्षुः” (बृहदा.उप.४।४।२३) इत्यादिश्रुतिः साधनान्तरमपि आह, एवं विरोधे श्रुतित्वाविशेषात् किम् आदरणीयं किं न इति संशये, साधनान्तरविधिरेव आदरणीयो अन्यथा शास्त्रवैयर्थ्यं स्याद् इति प्राप्ते उच्यते, मर्यादापुष्टिभेदेन वरणं द्विधा उच्यते, तत्र सहकार्यन्तरविधिस्तु मर्यादापक्षेण उच्यते, पुष्टौ तु न अन्यापेक्षा इति न विरोधगन्धोऽपि ॥७॥

अथ अष्टमाधिकरणम्

“कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः” इत्यादिसूत्रचतुष्टयेन. तादृग्भाववतैव त्यागः कार्यः तद्रहितेन तु गृहएव उक्तरीत्या भजनं कार्यं, तेनैव तल्लाभः इति व्यासहृदयम् इति ज्ञायते, उक्तभावाभावे त्यागधर्मानिर्वाहाद् इति. केचन भक्ताः भाषणादिलीलादर्शनं विना स्थातुम् अशक्ताः प्रचुरभावविवशाशया गृहान् त्यक्त्वा वने गच्छन्ति. “अनाविष्कुर्वन्नन्वयाद्” इत्यत्र भगवद्भावस्य रसात्मकत्वेन गुप्तस्यैव अभिवृद्धिस्वभावकत्वाद् आश्रमधर्मैरेव लोके स्वं भगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेत इति एतदाशयेन ते धर्माः उक्ताः. यावद् अन्तःकरणे प्रभोः साक्षात्प्राकट्यं न अस्ति तावदेव बहिः आविष्करणं भवति प्राकट्येतु तथा न सम्भवति इति ज्ञापितम् ॥८॥

अथ नवमाधिकरणम्

“एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थाविधृतेस्तदवस्थाविधृतेः” इति एकेन सूत्रेण. उक्तगृहस्थस्य पुरुषोत्तमलीलारसानुभवात्मकं फलं नियमेन भवति न वा इति संशये, अत्यनुग्रहेण पुष्टौ प्रवेशने सति कस्यचिदेव भवति इति सिद्धान्तः. तत्फलस्य भगवदिच्छाधीनत्वात्, साधनाप्राप्यत्वाद्, “मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः

सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने” (भाग.पुरा.६।१४।५) इति स्मृतेः मुक्तेः
फलं भक्तिरसानुभवएव इति ॥९॥

॥ इति तृतीयो अध्यायः ॥

॥ चतुर्थो अध्यायः ॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादे प्रथमाधिकरणम्

“आवृत्तिरसकृत्तदुपदेशाद्” इत्यादिसूत्रद्वयेन. “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः
श्रोतव्यः” (बृहदा.उप.२।४।५) इत्यादिवाक्यैः विहितं श्रवणादिकं किं सकृदेव कर्तव्यम्
उत असकृत् तदिति संशये सकृदेव इति पूर्वपक्षे श्रवणादीनाम् आवृत्तिः कर्तव्या इति
सिद्धान्तः ॥१॥

अथ द्वितीयाधिकरणम्

“आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च” इत्यादिसूत्रत्रयेण. ज्ञानिनो हि भगवन्तम्
आत्मत्वेनैव उपासते, एवं सति प्रारब्धसमाप्तौ देहापगमे तत्रैव प्रविष्टाः भवन्ति. तत्र इदं
चिन्त्यते “न स पुनरावर्तते” (छान्दो.उप.८।१५।१) इति श्रुतिः ज्ञानिनां सर्वथा
अनावृत्तिम् आह उत सावधिकीं ताम् अमरशब्देन मरणनिवृत्तिमिव इति संशये,
सावधिकीमेव इति पूर्वपक्षे, सर्वथा अनावृत्तिम् आह इति सिद्धान्तः. ननु “यतो वाचो
निवर्तन्ते” (तैत्ति.उप.२।४) “अग्राह्यो न हि गृह्यते” (बृहदा.उप.३।९।२६) इत्यादि-
श्रुतिभ्यो ब्रह्मज्ञानासम्भवाद् मुक्तिरेव न सम्भवति इति चेद् मा एवं, सर्वधर्माश्रयत्वेऽपि
यदा यं धर्मं पुरस्कृत्य लीलां करोति तत्कार्यमेव तदा सम्पद्यते, हितकारिस्वभावात् तस्य,
अग्राह्यत्वग्राह्यत्वविरोधापहारस्तु जीवसामर्थ्येश्वरेच्छाभ्यां पुरैव कृतः इति न अधिकम्
अत्र निरूपणीयम्. ननु आत्मत्वेन उक्तिः उपासनार्था इति न उक्तं साधीयः इत्यतः उत्तरं
पठति, “न प्रतीकेन हि सः” इति सूत्रे, अतद्रूपे तत्त्वेन उपासनं हि प्रतीकम् इति उच्यते.
तथाच तादृशेन तेन मोक्षो न भवति इति अर्थः. श्रुतिसिद्धत्वाद् न अस्ति मोक्षः इति न
वक्तुं शक्यम् इति भावः. तथाच भगवति आत्मत्वेन उपासनं, न प्रतीकोपासनं, तस्य
सर्वात्मकत्वात्, किन्तु आत्मरूपे भगवति अनात्मत्वं ज्ञात्वा यद् उपासनं तदेव
प्रतीकोपासनं, तादृशोपासनेन मोक्षो न भवति इति भावः ॥२॥

अथ तृतीयाधिकरणम्

“आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः” इत्यादिभिः पञ्चभिः सूत्रैः. छान्दोग्ये

“सत्ययज्ञं पौलुषिम्” (छान्दो.उप.५।११।१) इत्यादौ आदित्यवायुप्रभृतयः आत्मत्वेन उपासनाविषयाः उक्ताः. अत्र इदं चिन्त्यते, अत्र प्रतीकोपासनत्वम् अस्ति न वा इति, आदित्यादीनां पृथक् पृथग् उपासनोक्त्या ब्रह्मत्वासम्भवात् प्रतीकोपासनत्वम् अस्ति इति पूर्वपक्षे, आदित्यादीनां भगवदङ्गत्वात् “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” (छान्दो. उप.१।१४।१) इति श्रुतेः प्रतीकोपासनत्वं न अस्ति इति सिद्धान्तः. “ध्यानाच्च” इति सूत्रे भावनौत्कट्यदशायां व्यभिचारिभावात्मक-सततस्मृतिरूपध्यानादपि हृदि प्रकटः, सन् आसीनो भवति इति अर्थः. तेन स्थैर्यम् उक्तं भवति. एवं भक्तेच्छयैव स्वरूपप्राकट्यम् इति उक्त्वा लीलानाविष्करणम् आविष्करणञ्चापि तदिच्छयैव इति आह “अचलत्वं चापेक्ष्य” इत्यत्र, भक्तेच्छाम् अपेक्ष्य अचलत्वं चकारात् चलत्वमपि इति अर्थः ॥३॥

अथ चतुर्थाधिकरणम्

“यत्रैकाग्रता तत्राविशेषाद्” इति एकेन सूत्रेण. अत्र इदं विचार्यते, बहिः आविर्भावो येभ्यो भक्तेभ्यो येभ्यः च अन्तः तेषां तेषां च मिथः तारतम्यम् अस्ति न वा इति संशये, भावभेदाद् अस्ति इति पूर्वपक्षे, भगवत्स्वरूपे विशेषाभावाद् न तारतम्यम् अस्ति इति सिद्धान्तः ॥४॥

अथ पञ्चमाधिकरणम्

“आप्रायणान्तत्रापि हि दृष्टम्” इति एकेन सूत्रेण. उक्ते अर्थेऽयं अयं संशयः, अन्तःप्राकट्यवतो भक्तस्य यदा बहिः सम्वेदने सत्यपि पूर्वानुभूत-भगवत्स्वरूपानुभवः तदा पूर्वम् अन्तरम् अन्वभूवम् अधुना बहिः अनुभवामि इति अनुव्यवसायो भवति न वा इति संशये, वैलक्षण्याद् भवितुम् अर्हति इति पूर्वपक्षे, एकैव सैव अवस्था सार्वदिकी, नतु बहिःप्राकट्येऽपि बहिष्प्रेतानुसन्धानम् इति सिद्धान्तः. ततः तस्य तत्र सायुज्यं भवति न वा इति संशये, प्रभुणा समम् आलाप-श्रीचरण-नलिन-स्पर्शादिकं दृष्टमेव फलं नतु अदृष्टं सायुज्यम् इति निर्णयः ॥५॥

अथ षष्ठाधिकरणम्

“तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशाद्” इत्यादिभिः चतुर्भिः सूत्रैः. मर्यादामार्गीयस्य ज्ञानिभक्तस्य ज्ञानोदयानन्तरं कर्मसापेक्षा मुक्तिः वा ज्ञानादेव इति संशये, कर्मसापेक्षा इति पूर्वपक्षे, ज्ञानेनैव मुक्तिः इति सिद्धान्तः. “अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः” इति सूत्रे ज्ञानेन प्रारब्धेतरकर्मनाशो नतु प्रारब्धस्य, तस्य भोगादेव

नाशः, तत्र भगवदिच्छैव हेतुः, यत्र प्रारब्धस्यापि दहनेच्छा तत्र तथैव इति निगूढाशयः. एवं सति मणिमन्त्रादिप्रतिबद्धशक्तेः अग्नेरिव ज्ञानस्यापि अदाहकत्वे न काचिद् हानिः इति सर्वम् अनवद्यम्. तथा इच्छा च स्वकृतमार्यादापालनाय, पुष्टौ अङ्गीकृतेतु न तथा इति. अग्निहोत्रादितु तत्कार्यायैव “तद्दर्शनाद्” इति सूत्रे ब्रह्मविदां कर्मकरणन्तु अग्निहोत्रादिकारक-प्रारब्धनाशायैव इति ॥६॥

अथ सप्तमाधिकरणम्

“अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः” इत्यादिसूत्रत्रयेण. पुष्टिमार्गीयस्य विनैव भोगं प्रारब्धं नश्यति न वा इति संशये, न नश्यति इति पूर्वपक्षे, नश्यत्येव इति सिद्धान्तः. “भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यते” इति सूत्रे, इतरे अग्रे प्राप्य अलौकिकदेहाद् भिन्ने स्थूललिङ्गशरीरे क्षपयित्वा दूरीकृत्य अथ भगवल्लीलोपयोगि-देहप्राप्त्यनन्तरं भोगेन सम्पद्यते इति अर्थः ॥७॥

॥ इति चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

अथ द्वितीयपादे प्रथमाधिकरणम्

“वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च” इत्यादिभिः चतुर्भिः सूत्रैः. पूर्वपादे लौकिकशरीरे क्षपयित्वा अलौकिकं तत्प्राप्य फलेन सम्पद्यते इति निरूपितम्. अथ अत्र इदं चिन्त्यते. भक्तस्य सूक्ष्मशरीरस्य क्षपणं नाम किं तत्स्वरूपनाशनम् उत मणिस्पर्शा-दयसश्चामीकरत्वमिव तस्यैव अलौकिकत्वसम्पादनं भगवदनुग्रहाद् इति संशये, तस्यैव शरीरस्य अलौकिकत्वसम्पादनपक्षएव साधीयान् इति पूर्वपक्षे, प्राचीनदेहप्राणादेः साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धायोग्यत्वात् ते भगवत्येव लीनाः भवन्ति. तदनन्तरं पुरुषोत्तमात्मकतल्लीलोपयोगि-देहेन्द्रियादिसम्पत्त्या पुरुषोत्तमस्वरूपं प्राप्नोति इति निर्णयः इति. तत्र प्राणानां लयः एकदैव उत क्रमनियमो अस्ति इति संशये एकदैव इति पूर्वपक्षे, वाङ्मनसि सङ्गता सती भगवदानन्देन सम्पद्यते, ततः पश्चात् सर्वाणि इन्द्रियाणि मनसि सङ्गतानि भगवदानन्देन सम्पद्यन्ते, ततः सर्वेन्द्रिविशिष्टं मनः प्राणे सम्पद्यते, ततः च सर्वेन्द्रियविशिष्टमनोविशिष्टः प्राणो भगवति सम्पद्यते इति सिद्धान्तः ॥१॥

अथ द्वितीयाधिकरणम्

“भूतेषु तच्छ्रुतेः” इत्यादिसूत्रद्वयेन. ननु मर्यादामार्गीयाणामपि एवमेव वागादिलयः उत अन्यथा इति संशये निर्णयम् आह, तेषां वागादयो भूतेषु लीयन्ते नतु

भगवति. ननु वागादिरेतोन्तलयेन प्रारब्धस्यापि नाशात् शुद्धं जीवं विध्यविषयं कदाचित् पुष्टौ प्रवेशयति न वा इति संशये, मर्यादामार्गएव स्थितत्वाद् मुक्तएव भवति नतु पुष्टौ प्रविशति इति निर्णयः. ननु मर्यादामार्गीयो भक्तो ज्ञानी च भवतः, उक्तनिर्णयस्तु ज्ञानमार्गीयविषयएव, भक्तन्तु तादृशमपि कदाचित् पुष्टौ प्रवेशयति इति आशङ्क्य तन्निर्णयम् आह “नैकस्मिन् दर्शयतो हि” इति सूत्रे, एकस्मिन् ज्ञानिनि भक्ते वा मर्यादानियमो न, किन्तु उभयोरपि ॥२॥

अथ तृतीयाधिकरणम्

“समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य” इत्यादिभिः नवभिः सूत्रैः. साधनक्रमेण मोचनेच्छा हि मर्यादामार्गीया मर्यादा, विहितसाधनं विनैव मोचनेच्छायां मर्यादामार्गीयायाः मुक्तेः संसारः इत्येव व्यपदेशो भजनानन्दानुभवाभावात्. तर्हि ब्रह्मविदामिव तादृशानां भक्तानामपि स्वमार्गोपदेशनं क्वचित् श्रूयेत, नच एवं, अतः पूर्वोक्तं न साधीयः इति भातीति उत्सूत्रम् आशङ्क्य तत्र हेतुम् आह “नोपमर्देनातः” इति सूत्रे. ज्ञानिनामिव भक्तानां स्वास्थ्याभावाद् न उपदेशः सम्भवति, यतः तेषां विरहिदशा प्रियसङ्गमदशा च इति दशाद्वयमेव, पूर्वस्याः तस्यास्तु अतिदुःसहत्वेन सर्वेषां भावानाम् उपमर्देन तिरोधानेन उपदेशो न सम्भवति इति अर्थः. सङ्गमेतु पुरःप्रकटपरमानन्दाद् भगवतएव उपदेशो न सम्भवति. नहि भगवदग्रे उपदेशः सम्भवति इति भावः. “अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा” इति सूत्रे आनन्दात्मकरसात्मस्य अस्यैव ऊष्मा विरहतापः इति अर्थः. “स्पष्टो ह्येकेषाम्” इति सूत्रे “को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेषः आकाशः आनन्दो न स्याद्” (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुतौ नीलाम्बुदश्यामो अतिक्लेशवशाद् हृदयाद् अपगच्छतु इति भावेऽपि हृदयाद् न अपसारयितुं शक्यते इति ज्ञापनाय च आकाशत्वम् उक्तम् ॥३॥

अथ चतुर्थाधिकरणम्

“अविभागो वचनाद्” इति एकेन सूत्रेण. ननु लीलायाः नित्यत्वेन तन्मध्य-पातिनां तद्दर्शनं यथा नित्यं तथा तादृक्साधनाभावेऽपि निजानुकम्पया कदाचित् कमपि भक्तं तत्र नयति चेत्, तदा कञ्चित्कालं स्थापयित्वा ततः तं वियोजयति न वा इति संशये, तोषस्य कादाचित्कत्वात् तत्साध्या स्थितिरपि तथैव इति वियोजयति इति पूर्वपक्षे, “तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः” (कठोप.१।३।९) इत्यादिवचनाद् नैव वियोजयति इति सिद्धान्तः. एतेनापि लीलानित्यत्वं सिद्धयति. एतद्यथा तथा

अथ पञ्चमाधिकरणम्

“तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृति-
योगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया” इति एकेन सूत्रेण. पूर्वं मर्यादामार्गीयस्य
वागादिलयः उक्तो अधुना तस्य जीवात्मनः उत्क्रमणप्रकारः उच्यते. ज्ञानमार्गीयजीवस्य
उत्क्रमणप्रकारो लोकसाधारणो विलक्षणो वा इति संशये, लोकसाधारणः इति पूर्वपक्षे,
विलक्षणः इति सिद्धान्तः. तथाहि “शतं चैका च पुरुषस्य नाड्यः”(छान्दो.उप.
८।६।६) इत्यादिछान्दोग्योक्तप्रकारेण नाडीशतद्वाराम् उत्क्रमणम् अन्येषां विदुषान्तु
शताधिकतया नाड्यः इति भेदः ॥५॥

अथ षष्ठाधिकरणम्

“रश्म्यनुसारी” इत्यादिसूत्रचतुष्टयेन. “अस्मात् शरीराद् उत्क्रामति अथ
एतैरेव रश्मिभिराक्रमत”(छान्दो.उप.८।६।५) इति श्रुत्युक्तप्रकारेण जीवस्य शरीराद्
उत्क्रमणकाले यदादित्यरश्म्यानुसारित्वं विद्वद्विद्वत्साधारणं वा विदुषएव इति संशये,
सर्वसाधारणम् इति पूर्वपक्षे, विद्वानेव रश्म्यनुसारी निष्क्रामति इति सिद्धम्. अत्र
आदित्यशब्देन आदित्यांशभूतं तेजोरूपं पित्तं शरीरस्थं बोध्यम्. तस्य नाडीरूपरश्मिभिः
विदुषएव निष्क्रमणं न अन्यस्य इति सिद्धान्तः. “योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्ते च” इति
सूत्रे ज्ञानमार्गाद् योगमार्गो भिन्नः, तथाच योगिनम् उद्दिश्यैव कालविशेषस्य
गतिविशेषहेतुत्वं स्मर्यते, नतु ज्ञानमार्गीयश्रौतस्य, इतरनिरपेक्षत्वाद् इति ॥६॥

॥ इति चतुर्थाध्याये द्वितीयः पादः ॥

अथ तृतीयपादे प्रथमाधिकरणम्

“अर्चिरादिना तत्प्रथितेः” इत्यादिसूत्रचतुष्टयेन. ननु ज्ञानमार्गीयस्येव
मर्यादामार्गीयभक्तस्यापि अर्चिरादिमार्गेणैव गमनम् उत सद्योमुक्तिरेव भवति इति
संशये, यथा ज्ञानिनो नियमाभावः तथा अत्रापि इति पूर्वपक्षे, ज्ञानीएव तेन मार्गेण
गच्छति नतु भक्तोऽपि इति सिद्धान्तः ॥१॥

अथ द्वितीयाधिकरणम्

“आतिवाहिकास्तल्लिङ्गाद्” इत्यादिसूत्रत्रयेण. छान्दोग्ये “विद्युदनन्तरं

तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति” (छान्दो.उप.४।१५।५) इति पठ्यते. क्वचिद् विद्युल्लोकानन्तरं वरुणादिलोकगमनं श्रूयते. तत्र संशयः, उक्तश्रुतेः गमयित्रैव ब्रह्मप्राप्तिः इति निश्चीयते, सच विद्युल्लोकानन्तरमेव पठ्यते, एवं सति यस्य वरुणादिलोकागमनं तस्य वचनाभावेन गमयितृप्राप्त्यभावाद् ब्रह्मप्राप्तिः भवति न वा इति, वचनाभावेन सा न भवति इति पूर्वपक्षे, तत्रापि आतिवाहिको भगवदीयएव ब्रह्म प्रापयति इति सिद्धान्तः. अतिवहनम् अतिवाहः तत्सम्बन्धी आतिवाहिकः, अतिक्रम्य प्रापयिता, ते बहवः आतिवाहिकाः भगवत्सेवकाः सन्ति इति बहुवचनम्. “वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः” इति सूत्रे वाजसनेयके ब्रह्मलोकान् गमयति इति पठ्यते, छान्दोग्येतु ‘ब्रह्मेति’, तत्र अयं भावः, भक्तन्तु वैकुण्ठलोकं नयति ते बहुविधाः इति ब्रह्मलोकान् इति उक्तं, ज्ञानमार्गीयन्तु अक्षरं ब्रह्म प्रापयति इति ब्रह्म इति उक्तम् ॥२॥

अथ तृतीयाधिकरणम्

“कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः” इत्यादिभिः अष्टभिः सूत्रैः. “स एतान् ब्रह्म गमयति” (छान्दो.उप.४।१५।५) इत्यत्र ब्रह्मपदेन अविकृतं परब्रह्म उच्यते उत कार्यरूपो ब्रह्मलोकः इति संशये, कार्यरूपः इति पूर्वपक्षे, ब्रह्मपदेन परमेव ब्रह्म उच्यते इति सिद्धान्तः. “दर्शनाच्च” इत्यत्र ब्रह्मणि विशेषाणाम् औपाधिकत्वं जीवस्य पुरुषोत्तमाभेदश्च पुरस्तादेव निरस्तः इति उक्तम् ॥३॥

अथ चतुर्थाधिकरणम्

“अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा दोषात्तत्क्रतुश्च” इति एकेन सूत्रेण. अर्चिरादिलोकप्राप्तिः हि उपासनाफलम्. एवं सति अमानवः पुरुषः तान् सर्वानेव ब्रह्म प्रापयति उत कांश्चिदेव इति संशये, सर्वानेव इति पूर्वपक्षे, कांश्चिदेव इति सिद्धान्तः. उपास्येषु रूपेषु अब्रह्मत्वं ज्ञात्वा ये उपासते ते प्रतीकालम्बनाः इति उच्यन्ते, तेषां न ब्रह्मप्राप्तिः. किन्तु शुद्धब्रह्मत्वं ज्ञात्वा ये उपासते तेषामेव ब्रह्मप्राप्तिः इति बादरायणः आचार्यो मन्यते. भक्तस्यतु अमानवपुमपेक्षाभावात् स्वयमेव ब्रह्मलोकान् प्राप्नोति. ननु क्वचिद् विभूतिरूपेषु उत्तरोत्तरम् आधिक्यम् उच्यते, अतो न ब्रह्मत्वं सर्वेषाम् उपास्यानां वक्तुं शक्यम् इति चेद्, मा एवं विभूतिरूपाणां नियतफलदातृत्वाद् येन रूपेण अल्पफलदानं तत्र अधिकगुणप्राकट्ये प्रयोजनाभावात् तावन्मात्रगुणप्रकटनं, येन रूपेण ततो अधिकफलदानं तत्र ततो अधिकगुणप्रकटनम् इति पूर्वस्माद् आधिक्यम् उच्यते, एवमेव सर्वत्र. नियतफलदानन्तु स्वतन्त्रेच्छत्वाद्

लीलारूपम् इति न अनुपपन्नं किञ्चित्. प्रतिमादिषु आवाहने सन्निहिते विभूतिरूपे तद्भावनं पूजामार्गे. भक्तिमार्गेतु भक्त्या तत्र प्राकट्ये तथा, गुरौतु “शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मणि” (भाग.पुरा.११।३।२१) इति विशेषणवत्त्वेन भगवदावेशात् तत्र तद्भावनम् इति सर्वम् अवदातम् ॥४॥

अथ पञ्चमाधिकरणम्

“विशेषं च दर्शयति” इति एकेन सूत्रेण. अत्र इदं चिन्त्यते, ज्ञानमार्गीयाणां भक्तिमार्गीयाणाञ्च अविशेषेणैव परप्राप्तिः उत कश्चिद् विशेषो अस्ति इति संशये, न अस्ति विशेषः इति पूर्वपक्षे, अस्ति विशेषः इति सिद्धान्तः. तैत्तिरीयके पठ्यते “ब्रह्मविदाप्नोति परं तदेषाभ्युक्ता सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता” (तैत्ति.उप.२।१) इति. तत्पूर्वोक्तं प्रतिपाद्यत्वेन अभिमुखीकृत्य एषर्गुक्ता तदनुभवकर्तृभिः इति शेषः, ब्रह्मविदक्षर-ब्रह्मविदाप्नोति सान्निध्याद् अक्षरमेव आप्नोति, एतावान् अर्थो यो वेद इत्यन्तयर्चोक्तः. ‘अथ परमाप्नोति’ इत्यस्य अर्थः उच्यते निहितम् इत्यादिना. अतएव मध्ये क्रियापदम् उभयसम्बन्धित्वज्ञापकम् उक्तम्. तत्प्राप्तिश्च, मर्यादापुष्टिभेदेन द्वेधा. तत्र आदौ मर्यादायाम् उच्यते. इह अयम् आशयः, “नायमात्मा प्रवचनेन” (कठोप. ३।२।३) इति श्रुत्या भगवद्वरणातिरिक्तसाधननिरासः क्रियते पुरुषोत्तमप्राप्तौ. एवं सति अक्षरब्रह्मज्ञानस्य तत्साधनत्वे उच्यमाने तद्विरोधः स्यात् तेन एवम् अर्थो निरूप्यते. ज्ञानमार्गीयाणाम् अक्षरज्ञानेन अक्षरप्राप्तिः तेषां तदेकपर्यवसायित्वात्. भक्तानामेव पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वात्. तथाच ब्रह्मविदं चेद् भगवान् वृणुते तदा भक्तिः उदेति, तत्प्रचुरभावे सति स्वयं तद्बुद्धिं प्रकटीभविष्णुः स्वस्थानभूतं व्यापिवैकुण्ठं तद्गुहायां हृदयाकाशे प्रकटीकरोति तत्परमव्योमशब्देन उच्यते. तथाच गुहायां परमे व्योम्नि निहितं यो वेद स परमाप्नोति इति अर्थः सम्पद्यते. अथ शुद्धपुष्टिमार्गे अङ्गीकृतस्य व्यवस्थाम् आह ‘सोऽश्नुते’ इत्यादिना. अत्र अयम् अभिसन्धिः, यथा स्वयं प्रकटीभूय लोके लीलां करोति तथा अत्यनुग्रहवशात् स्वान्तःस्थितमपि भक्तं प्रकटीकृत्य तत्स्नेहातिशयेन तद्वशः सन् स्वलीलारसानुभवं कारयति इति सः भक्तो ब्रह्मणा परब्रह्मणा पुरुषोत्तमेन सह “सर्वान् कामान् अश्नुते” इति, चकाराद् उक्ता श्रुतिः स्मृतयश्च सङ्गृह्यन्ते. एवं सति ज्ञानमार्गीयाणाम् अक्षरप्राप्तिरेव, भक्तानामेव पुरुषोत्तमप्राप्तिः इति सिद्धम् ॥५॥

॥ इति चतुर्थाध्यास्य तृतीयः पादः ॥

अथ चतुर्थपादे प्रथमाधिकरणम्

“सम्पद्याविर्भावः स्वेन” इत्यादिचतुर्भिः सूत्रैः. “ब्रह्माविदाप्नोतिपरम्” इति उपक्रम्य “सह ब्रह्मणा विपश्चिता” (तैत्ति.उप.२।१) इति तैत्तिरीयके पठ्यते. तत्र इदं सन्दिह्यते, किम् अन्तःस्थितएव अश्नुते उत पुनर्जन्म प्राप्य इति, अन्तःस्थितएव इति पूर्वपक्षे, प्रभोः अत्यनुग्रहवशात् स्वरूपात्मकभजनानन्ददित्सायां तत्कृत आविर्भावो मुक्तानामपि भवत्येव इति सिद्धान्तः ॥१॥

अथ द्वितीयाधिकरणम्

“ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः” इत्यादिसूत्राष्टकेन. आविर्भूतो जीवः प्राकृतेन शरीरेण भजनानन्दं भुङ्क्ते उत अप्राकृतेन इति संशये, प्राकृतेन इति पूर्वपक्षे, अप्राकृतेनैव इति सिद्धान्तः. सत्यज्ञानानन्दात्मकेन शरीरेण भगवतैव सम्पादितेन पूर्वोक्तान् अश्नुते इति जैमिनिः आचार्यो मन्यते. अक्षरब्रह्मणः पुरुषोत्तमायतनरूपत्वात् तदात्मकमेव तस्य शरीरं वक्तुम् उचितं, नतु प्राकृतं, “चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वाद् इत्यौडुलोमिः” इति सूत्रे चिन्मात्रेण रूपेण कामान् भुङ्क्ते नतु विग्रहेण इति औडुलोमिः आचार्यो मनुते. “एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः” इति सूत्रे परमाचार्यो बादरायणस्तु न एवं मनुते, किन्तु ब्रह्मसम्बन्धयोग्यानि शरीराणि नित्यानि सन्त्येव, यथा अनुग्रहो यस्मिन् जीवे तादृशं तदाविश्य भगवदानन्दम् अश्नुते इति ॥२॥

अथ तृतीयाधिकरणम्

“तत्तत्त्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः” इत्यादिसूत्रद्वयेन. अत्र भगवच्छरीरे अप्राकृतत्वं निर्णीतं, स्वप्ने यथा वासनावशाद् अविद्यमानानामपि अर्थानां दर्शनं भवति, तथा भगवदिच्छावशात् तत्रापि प्राकृततुल्यत्वदर्शनम् इति ज्ञेयम्. भगवान् आसुराणां प्राकृतगुणे तमस्येव दुःखात्मके लयं चिकीर्षुः स्वस्मिन् प्राकृतबुद्धिसम्पादनाय तादृशीमिव लीलां प्रदर्शयति अतो न प्राकृतत्वशङ्कागन्धोपि अत्र. भगवति विपरीतलीलादर्शन्तु आसुरव्यामोहाय इति निश्चयः. एतच्च ब्रह्माण्डपुराणे नारदं प्रति ब्रह्मणा उक्तं, तथाहि,

“स्त्रीपुम्मलानुषङ्गात्मा देहो नास्य विजायते ।

किन्तु निर्दोषचैतन्यसुखनित्यां स्वकां तनुं ॥

प्रकाशयति सैवेयं जनिः विष्णोर्न चापरा ।

तथाप्यसुरमोहार्थं परेषां च क्वचित् क्वचित् ॥

दुःखाज्ञानश्रमादींश्च दर्शयेच्छुद्धसद्गुणः ।
 क्व व्रणादि क्व चाज्ञानं स्वतन्त्याचिन्त्यसद्गुणे ॥
 दौर्लभ्याच्चैव मोक्षस्य दर्शयैत्तानजो हरिः ।
 कृष्णो ह्यत्यक्तदेहोऽपि त्यक्तदेहस्य देहवत् ॥
 लोकानां दर्शयामास स्वरूपसदृशाकृतिम्” ।

इति ॥३॥

अथ चतुर्थाधिकरणम्

“प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति” इत्यादिसूत्रद्वयेन. ननु पूर्णज्ञानक्रिया-
 शक्तिमता ब्रह्मणा सह अतादृशस्य भक्तस्य भोगकरणम् अनुपपन्नम् इति आशङ्कायां
 भगवान् तस्मिन् आविशति यदा तदा अयमपि तथैव भवति इति सर्वम् उपपद्यते. यथा
 प्राचीनः प्रकृष्टो दीपः स्नेहयुक्तायां वर्त्याम् अर्वाचीनायाम् आविष्टः स्वसमानकार्यक्षमां
 तां करोति स्नेहाधीनस्थितिश्च भवति स्वयं तथा अत्रापि इति अर्थः. तथाच श्रुतिः
 “भर्ता सन् भ्रियमाणो बिभर्ति एको देवो बहुधा निविष्टः”(चित्युप.१४।१) इति.
 अतएव देवपदं स्वरूपानन्ददानाद् भावाद्दीपनात् पूतनामुक्तिदानेन स्वमाहात्म्यद्योतनाद्
 वैकुण्ठादिस्थितेश्च. तद् उक्तं निरुक्ते “दिवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो
 भवतीति वा यो देवः”(निरुक्त) इति. किञ्च, भक्तानां कामभोजनार्थं क्रीडाकरणात्
 क्रीडायामेव जयेच्छाकरणाद् भक्तैः सह व्यवहारकरणाद् भक्तेषु माहात्म्येच्छादि-
 द्योतनाद् “न पारयेहं” (भाग.पुरा.१०।२९।२२), “न त्वादृशीं प्रणयिनीम्” (भाग.
 पुरा.१०।६०।५५) इत्यादिभिः स्तुतिकरणात् भक्तप्रतिपत्तिदर्शनेन कालीय-दमनादौ
 मोदकरणात् तेष्वेव भक्तिमदकरणात् “ते स्वप्नेऽपि प्रियमेव पश्यन्ति”
 (.....) इति स्वप्नकरणात् तेषां कान्तिकरणाद् इच्छाकरणाद्वा तन्निकटे
 गमनादपि देवः. तद् उक्तं धातुपाठे “दिवु क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-
 स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु” (दिवादि १) इति ॥४॥

अथ पञ्चमाधिकरणम्

“जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च” इत्यादिषड्भिः सूत्रैः. ब्रह्मणा
 सह भोगकरणं लौकिकव्यापारयुतम् उत न इति संशये, तद्युतम् इति पूर्वपक्षे, तद्रहितम्
 इति सिद्धान्तः. अत्रैव “प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः
 इत्यादिसूत्रैः लीलानित्यत्वनिर्णयः. “अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दाद्” इति सूत्रे

अनावृत्तिः भक्तानां ज्ञानिनाञ्च उच्यते. तत्र पूर्ववाक्येन भक्तानाम् आह अनावृत्तिम्,
उत्तरवाक्येन च ज्ञानिनाम् इति ज्ञायते. पुष्टिमार्गीयभक्तविशेषप्रवर्तकनिवर्तक-
वेणुशब्दाद् भगवन्निकटगतौ अनावृत्तिः पूर्वेण उक्ता. मर्यादामार्गीयाणां वेदरूपात्
शब्दात् तदुक्तसाधनाद् अनावृत्तिः द्वितीयेन इत्यपि तात्पर्यविषयः श्लिष्टो अर्थो ज्ञेयः.
तथासति परमफलम् अग्रे स्वतएव भावीति भावः इत्यलं विस्तरेण॥

जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्ग-लालितम् ॥
तदन्यद् इति ये प्राहुः आसुरांस्तानहो बुधाः॥

॥ इति चतुर्थो अध्यायः ॥

नमामि श्रीमदाचार्य-पादपद्मं यदाश्रयात् ।
कालव्यालभयभ्रान्तो निर्भयत्वं जनोऽश्नुते ॥

इति श्रीमदखण्डवरपण्डितप्रसृतचण्डपाखण्डवाग्विखण्डन-
सुचण्डिमाधरणिमण्डलाखण्डलनमन्नृपतिमण्डलीमुकुटताण्डवमण्डित-
श्रीमदाचार्यचरणवंशावतंसगोस्वामिश्रीव्रजभूषणानुचर-
निर्भयरामेण रचितो अयम् अधिकरणसङ्ग्रहः समाप्तः

॥ मरीचिका ॥

प्रथमो अध्यायः

प्रथमः पादः

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यपादपद्मयुगं सदा ॥

तदीयभाष्यमार्गेण व्याससूत्रार्थ ईर्यते ॥१॥

अथ वेदान्तानां विचारः आरम्भणीयो न वा इति विषये साङ्गवेदाध्य-
यनादेव अर्थनिश्चयेन विचारे विशेषाभावाद्, वेदान्तवाक्यार्थज्ञानादेव ब्रह्मज्ञान-
स्यापि सम्भवाद्, विरुद्धवाक्यानामपि सर्वभवनसमर्थे ब्रह्मणि विरोधाभावेन
निर्धारसम्भवाद् अनारम्भणीयएव विचारः इति प्राप्ते, उच्यते. सन्देहवारणार्थं
विचारः आवश्यकः. अतएव भगवान् व्यासः तत्कर्तव्यत्वं प्रतिजानीते.

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥१॥

‘अथ’शब्दो अधिकारार्थः. ‘जिज्ञासा’पदं विचारार्थकम्. यस्मात्
कर्मादिभ्यो ब्रह्मज्ञानमेव पुरुषार्थसाधकम् अतः तज्ज्ञानाय विचारो अधिक्रियते
इति सूत्रार्थः. विचारस्य वेदान्तविषयकत्वात् त्रैवर्णिकएव अधिकारी. ‘ब्रह्मणः’
इति शेषषष्ठीसमासाद् ब्रह्मसम्बन्धि सर्वं विचार्यम् इति सिद्धम् ॥१॥

तद्ब्रह्म जगत्कर्तृ, आहोस्विद् अकर्तृ इति संदेहे फलवाक्ये “सत्यं
ज्ञानम्” इत्येव उक्तत्वात्, “तस्माद्वा एतस्माद् आत्मनः” (तैत्ति.उप.२।१),
“यतो वा इमानि भूतानि” (तैत्ति.उप.३।१) इत्यादिवाक्येषु अपवादार्थम्
आरोपेणापि कर्तृत्वकथनसम्भवाद् अकर्तृ इति प्राप्ते उच्यते.

जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात् ॥२॥

जन्म आद्यस्य आकाशस्य यतः, ब्रह्मणो विचार्यत्वात् तद् ब्रह्म इति
आयाति. “तस्माद्वा” (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुतिसिद्धम् आकाशस्य प्रथम-
कार्यत्वम्. एतेन “यतो वा इमानि” (तैत्ति.उप.३।१) इत्यादिश्रुत्युक्ताः सर्वएव
सृष्टिप्रकाराः सूचिताः. कुतः शास्त्रयोनित्वात्. शास्त्रोक्तकारणत्वाद् इति अर्थः.
वेदरूपशास्त्रस्य परमाप्तत्वेन अणुमात्रमपि अन्यथाकथनासम्भवात्
कर्तृत्वादिधर्माणां ब्रह्मणि विरोधाभावेन तत्कथनस्य अपवादार्थत्वेन वक्तुम्

अयुक्तत्वात् सर्वज्ञं सर्वशक्तिमत् सर्वकर्तृ ब्रह्म इति सिद्धम् ॥२॥

तद् ब्रह्म समवायिकारणं निमित्तं वा इति संशये, “यतो वा इमानि” (तैत्ति.उप.३।१) इत्यत्र पञ्चमीश्रवणात् समवायित्वस्य क्वापि अश्रवणाद् निमित्तमेव इति प्राप्ते, उच्यते.

तत्तु समन्वयात् ॥३॥

‘तु’शब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति. तद् ब्रह्मैव समवायिकारणं, कुतः. समन्वयाद्, अस्ति-भाति-प्रियत्वेन सच्चिदानन्दरूपेण सम्यग् अनुवृत्तत्वात्. अतः, “स आत्मानं स्वयम् अकुरुत” (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुतेः ब्रह्मणएव समवायित्वम्. निमित्तत्वन्तु सर्ववादिसम्मतम् अस्त्येव. एवं ब्रह्मजिज्ञासां प्रथमसूत्रेण प्रतिज्ञाय किं लक्षणकं ब्रह्म इति आकाङ्क्षायां ‘जन्मादि’सूत्रद्वयेन वेदप्रमाणकं जगत्कर्तृ समवायि च इति उक्तम्. एवं त्रिसूत्र्या जिज्ञासालक्षणविचारस्य कर्तव्यता सिद्धा ॥३॥

तत्र ब्रह्मणि चतुर्धा विचारः. स्वरूपसाधनफलप्रतिपादकवेदान्तवाक्यैः त्रिविधैः मतान्तरनिराकरणेन च. तत्र स्वरूपविचारानन्तरं मतान्तरनिराकरणं विना साधनफलयोः निरूपयितुम् अशक्यत्वात् क्रमेण एतच्चतुष्टयम् अध्यायचतुष्टयेन निरूप्यते. अतः प्रथमे अध्याये स्वरूपवाक्यानां विचारः. तानि पुनः सन्दिग्धास-न्दिग्धभेदाद् द्विविधानि. तत्र निःसन्दिग्धानाम् अविचार्यत्वात् सन्दिग्धानां कार्य-प्रतिपादकान्तर्यामिप्रतिपादकोपास्यस्वरूपप्रतिपादकप्रकीर्णकभेदेन चतुर्विधत्वात् प्रत्येकं क्रमेण चरणचतुष्टयेन प्रतिपाद्यप्रतिपाद्यते.

तत्र प्रथमपादस्य कार्यप्रतिपादकवाक्यनिर्णायकत्वात् सच्चिदानन्दरूपेण आकाश-वायु-तेजोवाक्यानि* षड्विधान्यपि निर्णीयन्ते. अन्यत्र अन्यवाचकान्यपि वेदान्तेषु भगवद्वाचकानि इति. तत्र लक्षणविचारएव सद्रूपाणां वाचकतायाः निर्णीतत्वात् चिद्रूपस्य ज्ञानप्रधानस्य निर्णयार्थं ज्ञानस्य सप्तद्वारत्वात् सप्तभिः सूत्रैः ईक्षत्यधिकरणम् आरभ्यते. तत्र ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वेन सर्वप्रमाणाविषयत्वाद्, “यतो वाचः” (तैत्ति.उप.२।४) इति श्रुतेः च विचारः कर्तुं न शक्यते, उत विरोधपरिहारेण कर्तुं शक्यते इति संशये ब्रह्मणः सर्वव्यवहारातीतत्वाद् विचारानर्हतेति आशङ्क्य आह.

*‘तेजोवाचकवाक्यानि’.

न विद्यते शब्दो यत्र इति अशब्दं सर्ववेदान्ताद्यप्रतिपाद्यं ब्रह्म न भवति. कुतः?. ईक्षतेः. “तदैक्षत” इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मणः ईक्षाप्रतिपादनात्. एवञ्च सर्वव्यवहारातीतोऽपि लोकसृष्टिद्वारा व्यवहार्यो भविष्यामि इति इच्छया ईक्षणाद् विचारविषयः इति सर्वं सुस्थम् ॥४॥

ननु “यतो वा इमानि” (तैत्ति.उप.३।१), “निष्कलं निष्क्रियम्” (श्वेता.उप.६।१९) इत्यादिश्रुतेः ब्रह्मणः कर्तृत्वम् अकर्तृत्वञ्च प्रतीयते. ततो विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वकल्पनापेक्षया अलौकिककर्तृत्वादेः बाधः उचितः. ईक्षत्यादिकन्तु प्रकृतिगुणसम्बन्धाद् भविष्यति इति आशङ्क्य परिहरति.

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥५॥

ईक्षत्यादियुक्तः परमात्मा गौणः प्रकृतिगुणतत्त्वसम्बन्धवान् इति चेद् न, कुतः आत्मशब्दात्. “आत्मा वा इदमेक एव” (ऐत.उप.१।१) इति उपक्रम्य, “स ऐक्षत” (बृहदा.उप.१।२।५) इति उक्तम्. आत्म शब्दः पुनः सर्वेषु वेदान्तेषु निर्गुणपरब्रह्मवाचकत्वेनैव सिद्धः. तद्वाच्यस्यैव जगत्कर्तृत्वम् अत्र उच्यते. अन्यतरबाधपक्षस्तु न युक्तः. तथा सति सगुणस्य कर्तृत्वापत्तौ ब्रह्मणः स्वातन्त्र्यं भज्येत. अतः स्वतःप्रमाणभूतश्रुतिबलात् सर्वभवनसामर्थ्यं विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वञ्च ब्रह्मणि मन्तव्यम् ॥५॥

ननु आत्मशब्दोऽपि यज्ञदत्तो मम आत्मा इतिवद् उपचाराद् अस्तु इति आशङ्क्य परिहरति.

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥६॥

“तदात्मानं स्वयमकुरुत” (तैत्ति.उप.२।७) इति उपक्रम्य, “यदा ह्येवैष एतस्मिन् अदृश्ये अनात्म्ये अनिरुक्ते अनिलयने अभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सो अभयं गतो भवति” (तैत्ति.उप.२।७) इति. लौकिकधर्मरहिते ब्रह्मणि जगत्कर्तारि परिनिष्ठितो मुक्तो भवति इति अर्थः. यदि जगत्कर्ता गौणः स्यात् तन्निष्ठस्य संसारएव स्याद् न मोक्षः ॥६॥

हेत्वन्तरम् आह.

हेयत्वावचनाच्च ॥७॥

यदि जगत्कर्ता सगुणः स्यात् तदा वेदान्तेषु साधनोपदेशप्रसङ्गे हेयत्वेन

पशुपुत्रादिवद् उपदिष्टः स्याद् नतु एवम्. अतः ईक्षत्यादयो न सगुणधर्माः.
पूर्वोक्तानाम् ‘ईक्षति’हेतुसाधकत्वबोधनार्थं चकारः ॥७॥

सृष्टिवाक्यानाम् ईक्षतिहेतूनां भगवत्परत्वम् उक्त्वा प्रलयवाक्यानां
तत्परत्वम् आह.

स्वाप्ययात् ॥८॥

ब्रह्मणो न व्यवहारातीतत्वं, कुतः? “यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति” (छान्दो.
उप.६।८।१) इति श्रुत्या स्वस्मिन् ब्रह्मणि जीवस्याप्ययाद् लयप्रतिपादनाद् इति
अर्थः ॥८॥

सुषुप्तिवाक्यानां ब्रह्मपरत्वम् उपपाद्य मुक्तिवाक्यानाम् आह.

गतिसामान्यात् ॥९॥

गतौ मोक्षे सामान्यात्. समानस्य भावः सामान्यम्. “यथा सर्वासामपां
समुद्र एकायनम्” (बृहदा.उप.४।५।१२) इत्यादिश्रुत्या सर्वस्य शुद्धब्रह्मसाम्य-
प्रतिपादनाद् इति अर्थः ॥९॥

किञ्च.

श्रुतत्वाच्च ॥१०॥

पूर्णमदः इति, “सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति” (कठोप.१।२।१५) इति च
श्रुत्या निःसन्दिग्धं ब्रह्मणः सर्वकार्यत्वं प्रतिपादितम् अतो ब्रह्मणः सर्वत्र
प्रतिपाद्यमानत्वाद् अशब्दत्वशङ्कानवकाशः इति सिद्धम्. अधिकरण-
सम्पूर्णत्वबोधकः चकारः ॥१०॥

एवं चिद्रूपस्य कारणत्वनिरूपणेन तत्प्रतिपादकश्रुतीनां ब्रह्मपरत्वं निरूप्य,
आनन्दरूपस्य कारणतानिरूपणेन तत्प्रतिपादकवाक्यानां ब्रह्मपरत्वं निरूप्यते,
‘आनन्दमया’द्यष्टभिः सूत्रैः. षडिन्द्रियस्वरूपद्वयानन्दभेदेन आनन्दस्य
अष्टविधत्वात्. तत्र तैत्तिरीयशाखायां ब्रह्मभृगुप्रपाठकद्वये श्रुतस्य ‘मयट्’-
प्रत्ययान्तस्य आनन्दमयपदस्य अब्रह्मवाचकत्वे सम्पूर्णप्रपाठकस्य ब्रह्मपरत्वं न
स्याद् इति तन्निराकरणार्थम् अधिकरणारम्भः. तत्र अब्रह्मान्नमयादितुल्यवचनात्
“प्रियमेव शिरः” (तैत्ति.उप.२।५) इत्यादिना सुखवाचकशब्दानामेव उक्तत्वाद्
अब्रह्मपरत्वम् उत आनन्दस्य जगत्कारणत्वेन ब्रह्मत्वप्रतिपादनार्थत्वात् फलत्वेन
उपपादनार्थत्वात् प्रपाठकस्य तस्य अब्रह्मत्वे प्रपाठकवैयर्थ्यापत्तेः ‘आनन्दमय’-

पदस्य ब्रह्मपरत्वमेव इति संशये, अन्नमयादिषु विकारार्थक'मयट्'प्रत्ययदर्शनात् तत्प्रायपाठाद् आनन्दमयस्यापि न ब्रह्मपरत्वम् इति प्राप्ते, उच्यते.

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥११॥

आनन्दमय शब्दवाच्यः परमात्मा, न अन्यः. कुतः अभ्यासात्. अभ्यसनं पुनः पुनः कीर्तनं तस्मात्. “यदेष आकाश आनन्दो न स्याद्, एष ह्येव आनन्दयाति” (तैत्ति.उप.२।७) इत्यादिषु अभ्यर्हितत्वेन फलत्वसूचकेन अभ्यासेन आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वं सूच्यते ॥११॥

ननु लोके मयटो विकारार्थकत्वदर्शनाद् आनन्दमयपदस्य न ब्रह्मपरत्वम् इति आशङ्क्य परिहरति.

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥१२॥

विकारवाची शब्दो 'मयट्'प्रत्ययो यस्मिन् तद् विकारशब्दम् आनन्दमयपदं तस्माद् ब्रह्मवाचकं तद् न भवति, ब्रह्मणो अविकारात्मकत्वाद् इति चेद् न अयं विकारे मयट्, किन्तु प्राचुर्यम् अतति प्राप्नोति इति प्राचुर्यात्. विकारार्थकमयटो, “द्वयचश्छन्दसि” (पाणि.सू.४।३।१५०) इति नियमेन वेदे द्वयज्व्यतिरिक्तस्थले विधानाभावात् “तत्प्रकृतवचने” (पाणि.सू.५।४।२१) अत्र मयड् इति अर्थः. प्राचुर्येण प्रस्तुतं वचनं तत्प्रकृतवचनं तस्मिन् मयड् इति उक्त्या आनन्दस्य अत्र, “को ह्येवान्याद्” (तैत्ति.उप.२।७) इत्यादिना स्तुतत्वेन तदर्थको अत्र मयड् इति भावः ॥१२॥

शब्दबलविचारेण मयटो विकारार्थकत्वं निवार्य अर्थबलविचारेणापि तदर्थकत्वं निराकरोति.

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥१३॥

“एष ह्येवानन्दयाति” (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुत्या तस्य आनन्दमयस्य अन्यानन्दं प्रति हेतुत्वेन व्यपदेशाद् इति अर्थः. एतस्यापि विकृतत्वे अस्यापि सत्कारणत्वाद् अन्यनिषेधपूर्वकम् एतस्यैव कारणत्वप्रतिपादकं वाक्यं व्यर्थं स्याद् इति भावः. अतो न आनन्दमयशब्दो विकारार्थकः ॥१३॥

ननु अन्नमयादिवद् उपासनापरत्वेनापि श्रुत्युपपत्तेः पक्षपुच्छादित्वेन मोदप्रमोदादीनाम् उक्तत्वाच्च ब्रह्मत्वेन सामान्यतः साधितमपि आवश्यको-पपत्यभावाद् न ब्रह्मपरत्वम् इति आशङ्क्य आह.

“सत्यं ज्ञानम्” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यारभ्य “ब्रह्मणा विपश्चिता” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यन्तो मन्त्रः. मन्त्रेण अभिधया मुख्यवृत्त्या प्रतिपाद्यं मान्त्रवर्णिकम्. तत्र, “सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यनेन ब्रह्मणा सह नानाविध-कामाशनात्मक-सायुज्यरूप-फलस्यैव मुख्यतया कथनात् तस्य ब्रह्मणएव आनन्दमयत्वेन सर्वकर्तृत्वेन सर्वान्तरत्वेन परमफलत्वेन सर्वस्मिन् प्रपाठके उपपादनं गम्यते. अतः आवश्यक-कोपपत्तिसद्भावाद् आनन्दमयः परमात्मैव इति सिद्धम्. चकारो विधिमुखविचारेण अधिकरणसम्पूर्णत्वबोधकः॥१४॥

निषेधमुखेन इदमेव पुनः चतुःसूत्या विचार्यते दाढ्याय. ननु ब्रह्मणा सह फलभोक्तृत्वाद् जीवएव आनन्दमयो अस्तु इति आशङ्क्य परिहरति.

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥१५॥

इतरो जीवः आनन्दमयो न भवति इति अर्थः. कुतः? अनुपपत्तेः आनन्दमयस्य जगत्कर्तृत्वेन अत्र उक्तेः तस्यच जगद्व्यापारवर्जम् इत्यनेन जीवे निषिध्यमानत्वाद् न आनन्दमयो जीवः ॥१५॥

अत्रैव हेत्वन्तरम् आह.

भेदव्यपदेशाच्च ॥१६॥

“रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति” (तैत्ति.उप.२।७) इति, “एष ह्येव आनन्दयाति” (तैत्ति.उप.२।७) इति जीवानन्दयोः भेदेन व्यपदेशाच्च न आनन्दमयो जीवः ॥१६॥

ननु आनन्दमयस्य जगत्कारणत्वेन निरूपणाद् मतान्तरे प्रकृतेरपि जगत्कारणत्वोक्तेः प्रकृतिरेव आनन्दमयशब्दार्थो भवतु इति आशङ्क्य परिहरति.

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥१७॥

आनन्दमयनिरूपणान्तरं, “सो अकामयत” (तैत्ति.उप.२।६) इति श्रुतत्वाद् जडायाः प्रकृतेः कामनासम्भवात्, चकारात् “स तपो अतप्यत” (तैत्ति.उप.२।६) इति श्रुत्युक्ततपसोऽपि असम्भवात् प्रकृतेः अपेक्षा न अस्ति इति अर्थः॥१७॥

हेत्वन्तरम् आह.

अस्मिन् आनन्दमये अस्य जीवस्य च “आनन्दमयम् आत्मानम् उपसंक्रामति” (तैत्ति.उप.२।८) इति श्रुत्या तेन रूपेण योगं शास्ति फलत्वेन कथयति. नहि जीवस्य जडापत्तिः युक्ता. अतः आनन्दमयशब्दवाच्यो न जीवो, नापि जडः, किन्तु ब्रह्मैव इति सिद्धम् ॥१८॥

“अथ य एषो अन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते” (छान्दो.उप. १।६।६) इत्यादि श्रूयते. तत्र त्रेधा संशयः सम्भवति. किम् अधिष्ठातृदेवताशरीरम् आहोस्विद् ब्रह्मणः शरीरम् उत परब्रह्मैव इति. तत्र हिरण्मयशब्दस्य सुवर्णविकारवाचित्वात्. केश-नखादीनां शरीरधर्माणां प्रतीयमानत्वाद् दृश्यते इति चाक्षुषत्वोक्तेः इन्द्रियवत्वश्रवणाच्च सूर्यमण्डलस्थो अधिकारी जीवएव कश्चिद् उपासनार्थम् अत्र उक्तः इति ज्ञायते. अथ उच्यते, “सर्वेभ्यः पाप्मभ्यः उदितः” (छान्दो.उप.१।६।७) इति अपहतपाप्मत्वादिश्रवणाद् न जीवः इति तर्हि ब्रह्मणएव कार्यविशेषार्थं परिगृहीतो देहो अस्तु एतद्वाक्यप्रतिपाद्य इति प्राप्ते, उच्यते.

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥१९॥

अन्तः दृश्यमानः परमात्मैव. कुतः? तद्धर्मोपदेशात्. अपहतपाप्मत्वरूपब्रह्मणो असाधारणधर्मोपदेशात्. वेदान्तेषु तत्तत्प्रकरणे एकोऽपि असाधारणो ब्रह्मधर्मो विद्यमानः शिष्टान् साधारणत्वेन सन्दिग्धान् धर्मान् तद्धर्मत्वेनैव निश्चिनोति इति मर्यादा. ब्रह्मणः शरीरम् इति पक्षस्तु असङ्गतः. सर्वकरणे स्वतः समर्थस्य ब्रह्मणः का वा अनुपपत्तिः येन स्वस्यापि शरीरं कल्पयेत्. आनन्दस्वरूपमेव लीलार्थं शरीरधर्मयुक्तं भासते. इच्छया तत् चाक्षुषमपि भवति. *‘हिरण्मय’शब्दस्य आनन्दवाचकत्वाद् मयटः प्राचुयार्थकत्वात्. परब्रह्मैव अत्र प्रतिपाद्यम् ॥१९॥

हेत्वन्तरम् आह.

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥२०॥

अन्तर्यामिब्राह्मणे “य आदित्ये तिष्ठन् आदित्याद् अन्तरः” (बृहदा. उप.३।७।९) इत्यादिश्रुत्या आधिदैविकस्य सूर्यमण्डल-तदभिमानिभ्यां भेदेन निर्देशात् सूर्यमण्डलस्थः परमात्मैव अस्मिन् वाक्ये प्रतिपाद्य इति सिद्धम् ॥२०॥

*‘हिरण्यशब्दस्य’.

“अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच” (छान्दो.उप.१।१।१।
१) इत्यादि श्रूयते. तत्र अस्य प्रकरणस्य सन्दिग्धत्वाद् भूताकाशः प्रतिपाद्यते, ब्रह्म
वा इति संशये, ‘आकाश’शब्दस्य भूताकाशे निरूढत्वात् सएव प्रतिपाद्य इति
प्राप्ते, उच्यते.

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥२१॥

‘आकाश’शब्दवाच्यः परमात्मैव, कुतः? तल्लिङ्गात् सर्वगतित्वादि-
ब्रह्मलिङ्गानाम् अस्मिन् प्रकरणे प्रतिपादनात् सर्वजगत्कारणत्वादिधर्माणां
भूताकाशे असम्भवाद् रूढिं बाधित्वा लिङ्गवशाद् ‘आकाश’शब्दस्य ब्रह्मपरत्वं,
ब्रह्मणः ‘सर्व’शब्दवाच्यत्वाद् न लक्षणा. तस्माद् अत्र ‘आकाश’शब्दो ब्रह्मपरः
इति सिद्धम् ॥२१॥

“प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता” (छान्दो.उप.१।११।४) इति
उपक्रम्य श्रूयते, “कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि,
भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जहते” (छान्दो.उप.१।११।४-५)
इत्यादि. तत्र आसन्नः प्राणो ब्रह्म वा इति विषये मुख्यप्राणेऽपि स्वापादौ
सर्वभूतसंवेशनस्य, “यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति” (शत.ब्राह्म.
१०।३।३।६) इत्यादिश्रुत्योपपादनात्. यथा प्राणविद्यायां न ब्रह्मपरत्वम् एवम्
अस्यापि वाक्यस्य इति *विशेषाशङ्काकाङ्क्षायां पूर्वोक्तन्यायम् अतिदिशति.

अत एव प्राणः ॥२२॥

अस्मिन्नपि प्रकरणे भूयसां ब्रह्मलिङ्गानां श्रवणात् ‘प्राण’शब्दवाच्यं
ब्रह्मैव इति सिद्धम् ॥२२॥

“अथ यदतः परो दिवो ज्योतिः दीप्यते, विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेषु
अनुत्तमेषु उत्तमेषु लोकेषु, इदं तावद्यदिदम् अस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः”
(छान्दो.उप.३।१३।७) इति श्रूयते. तत्र ज्योतिःशब्दवाच्यं प्राकृतं ज्योतिः ब्रह्म
वा इति संशये, अत्र असाधारणब्रह्मधर्माभावात् प्राकृतं ज्योतिरेव वाच्यम् इति
प्राप्ते, उच्यते.

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥२३॥

अत्र ‘ज्योतिः’शब्दवाच्यं ब्रह्मैव, कुतः? चतुष्पाद्ब्रह्मनिरूपणे ज्योतिषः

*‘विशेषाशङ्कायाम्’

चतुर्थचरणत्वेन अभिधानात्. अतः पादानां ब्रह्मधर्मत्वाद् ज्योतिषो ब्रह्मत्वम्॥२३॥

ननु न अत्र चतुष्पाद् ब्रह्म निरूप्यते. किन्तु “गायत्री वा इदं सर्वम्” (छान्दो.उप.३।१२।१) इति उपक्रमाद् गायत्रीछन्दः. ब्रह्मशब्दोऽपि तस्यैव प्रकृतत्वात् तत्परएव इति छन्दसएव पादाभिधानाद् न अत्र ब्रह्मधर्माः पादाः इति आशङ्क्य समाधत्ते.

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथाचेतोऽर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम् ॥२४॥

न एषः दोषः. “तथाचेतो अर्पणनिगदात्” “गायत्री वा इदं सर्वं यदिदं किञ्च” (छान्दो.उप.३।१२।१) इति गायत्रीद्वारा ब्रह्मणि चेतसो अर्पणं निगद्यते. वर्णसमाम्नायरूपगायत्याः सर्वत्वम् उपचारं विना न सम्भवति इति तद्वारा तत्प्रतिपाद्यब्रह्मणि बुद्धिप्रवेशार्थं तथा निरूपणम्. कस्माद् एवं प्रतिपाद्यते इति आशङ्क्य आह. **तथाहि दर्शनम्.** तथा तेनैव प्रकारेण दर्शनं ज्ञानं भवति. स्थूलाबुद्धिः न आहत्यैव ब्रह्मणि प्रविशेद् इति, हि युक्तम्. लोके दृष्टं सूचीसूत्रादौ, स्वतो यद् न प्रविशति, तद् उपायेन प्रवेश्यत इति॥२४॥

किञ्च.

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम्॥२५॥

भूतादयो भूत-पृथिवी-शरीर-हृदयानि चत्वारि पादाः व्यपदिश्यन्ते. नहि एतानि गायत्याः पादाः भवितुम् अर्हन्ति. ब्रह्मणस्तु उपपद्यन्ते. यावद् ब्रह्मपरत्वेन मुख्यम् उपपद्यते, न तावद् गौणं कल्पनीयम् इति. ‘गायत्री’शब्दस्य अर्थाः पादाः न भवन्ति इति चकारार्थः. अतः पादानां ब्रह्मधर्मत्वम्॥२५॥

ननु “त्रिपादस्य अमृतं दिवि” (छान्दो.उप.३।१२।६) इति मन्त्रे ‘दिवि’ इति सप्तम्याधारत्वं प्रतिपाद्यते. “अतः परो दिवो ज्योतिः दीप्यते” (छान्दो.उप.३।१३।७) इत्यत्र पञ्चम्यानाधारत्वं प्रतिपाद्यते इति उपदेशभेदात् पूर्वोक्तपरामर्शाभावाद् न ज्योतिषो ब्रह्मत्वम् इति आशङ्क्य परिहरति.

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥२६॥

न एषः दोषः. उभयस्मिन्नपि अविरोधात्. मन्त्रे दिव्येव उक्तम्, अस्मिन् वाक्ये सर्वत्र उच्यते. सर्वत्र विद्यमानस्य दिवि विद्यमानत्वं, न विरुद्ध्यते. मुद्रितपाठस्तु “अमृतं दिवि” इति सप्तम्याधारत्वम्” इति.

अतः परम् इत्यत्र अतः शब्देन न तत्र अविद्यमानत्वं, किन्तु ततोऽपि अन्यत्र सत्त्वं बोध्यते. तस्मात् सप्तमी-पञ्चमीनिर्देशौ न विरुद्धौ ॥२६॥

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि इन्द्रप्रतर्दनसंवादे इन्द्रेण प्रतर्दनाय वरदाने, “मामेव विजानीह्येतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये” (कौषी.उप.३।१) इति उपक्रम्य त्वाष्ट्रवधादिना आत्मानं प्रशस्य स्वोपासनायाः पापाभावं फलत्वेन प्रतिपाद्य, कः त्वम् इति विवक्षायां, “प्राणो वा अहम् अस्मि प्रज्ञात्मानं मामायुः अमृतम् इत्युपास्व” (कौषी.उप.३।२) इति उक्त्या आयुषः प्राणत्वम् उपपाद्य; अमृतत्वञ्च प्राणस्य उपपाद्य, “प्राणेन ह्येव अमुष्मिन् लोके अमृतम् आप्नोति” (कौषी.उप.३।२) इति फलं प्रतिपादितम्. तत्र प्राणः आसन्यो ब्रह्म वा इति संशये, अत्र साधकासाधारणधर्मस्य अभावाद् बाधकानाञ्च विद्यमानत्वात् प्राणशब्दवाच्यः आसन्येव इति प्राप्ते, उच्यते.

प्राणस्तथानुगमात् ॥२७॥

प्राणशब्दवाच्यः परमात्मैव, कुतः? तथानुगमात्. अस्मिन् वाक्ये पौर्वापर्येण आलोच्यमाने पदार्थानां समन्वयो ब्रह्मप्रतिपादनपरः उपलभ्यते. उपक्रमे “वरं वृणीष्व” (कौषी.उप.३।१) इति इन्द्रेण उक्तः प्रतर्दनः, “त्वमेव मे वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे” (कौषी.उप.३।१) इति परमपुरुषार्थं वरं वृतवान्. तस्मै हिततमत्वेन उपदिश्यमानः प्राणः कथं परमात्मा न स्यात्. नहि तदन्यद् हिततमम् अस्ति. “क्षीयन्ते चास्य कर्माणि” (मुण्ड.उप.२।२।८) इति श्रुतेः पापाभावोऽपि ब्रह्मज्ञानेव. प्रज्ञात्मत्वञ्च तस्यैव सम्भवति. उपसंहारेपि “आनन्दो अजरो अमृतः” (कौषी.उप.३।८) इति, “एष लोकाधिपतिः” (कौषी.उप.३।८) इत्यादि तस्यैव उपपद्यते. अतः सर्वत्र अनुगमात् प्राणः परमात्मा ॥२७॥

शङ्कते.

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥२८॥

यद् उक्तं, प्राणो ब्रह्म. तद् न, कुतः? वक्तुः आत्मोपदेशात्. वक्ता हि इन्द्रः आत्मानम् उपदिशति. “मामेव विजानीहि” (कौषी.उप.३।१) इति उपक्रम्य, “प्राणो वा अहम् अस्मि प्रज्ञात्मानं मामायुः अमृतम् इत्युपास्व” (कौषी.उप.३।२) इति. सः एषः प्राणो वक्तुः आत्मत्वेन उपदिश्यमानः कथं ब्रह्म

स्यात्. एवञ्च वाचो धेनुत्वोपासनवद् इन्द्रस्य प्राणत्वेन उपासना बोध्यते. अन्ये ब्रह्मधर्माः प्राणस्तावकाः इति न इदं ब्रह्मोपाख्यानम् इति चेद् न. **अध्यात्म-सम्बन्धभूमा हि अस्मिन्.** अस्मिन् प्रकरणे आत्मानम् अधिकृत्य यः सम्बन्धः आत्मनो धर्माः तेषां बाहुल्यं प्रतीयते, “**एष लोकपालः**” (कौषी.उप.३।८) इत्यादिना. यावत्प्रकरणस्य ब्रह्मपरत्वं सिद्ध्यति तावद् अन्यपरत्वं न युक्तम् इति हि शब्दार्थः ॥२८॥

ननु एवं, “**मामेव विजानीहि**” (कौषी.उप.३।९) इत्याद्यात्मोपदेशः कथं सङ्गच्छते इति आशङ्क्य आह.

शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत् ॥२९॥

व्यवहारदृष्ट्योपदेशो भवेदेव अयं दोषः. अत्रतु, ‘अहं ब्रह्म’ इति शास्त्रीयदर्शनेन **उपदेशः.** ननु “**तत्त्वमसि,**” (छान्दो.उप.६।९।४) “**अयम् आत्मा ब्रह्म**” (बृहदा.उप.२।५।१९) इत्यादिवाक्येभ्यः स्वात्मनि ब्रह्मत्वेन दर्शनं शास्त्रदृष्टिः नतु अन्यात्मनि अन्यस्य, तथाच प्रतर्दनस्य इन्द्रात्मनि ब्रह्मत्वदर्शनं न शास्त्रदृष्टिः इति आशङ्क्य आह. **वामदेववत्.** “**तद्वैतत् पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्च**” (बृहदा.उप.१।४।१०) इति, “**यएव प्रत्यबुध्यत सः सर्वं भवति**” (बृहदा.उप.१।४।१०) इत्यादिश्रुत्या वामदेवस्य यथा ज्ञानावेशात् सर्वधर्मस्फूर्तिः एवम् अत्रापि ब्रह्मावेशाद् **उपदेशः** इति ॥२९॥

ननु प्रकरणे अस्मिन् यद्यपि भूयांसो ब्रह्मधर्माः श्रूयन्ते, तथापि, “**न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्याद्**” (कौषी.उप.३।८) इत्यादिजीवधर्माः. तथा “**अथ खलु प्राणाएव प्रज्ञात्मा इदं शरीरं परिगृह्य**” (कौषी.उप.३।३) इति शरीरधारणात्मकमुख्यप्राणधर्मश्च प्रतीयते. अतः कथम् एकान्ततो अस्य ब्रह्मप्रकरणत्वम् इति आशङ्क्य परिहरति.

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति

चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥३०॥

न, कुतः? **उपासात्रैविध्यात्.** एतत्प्रकरणोक्तधर्माणां जीवधर्मत्वे मुख्यप्राणधर्मत्वे च स्वीक्रियमाणे ब्रह्मजीवमुख्यप्राणानां स्वातन्त्र्येण उपासनं त्रिविधं स्यात्. तद् वाक्यभेदप्रसङ्गाद् न युक्तम्. तर्हि प्रकरणोक्तानां तद्धर्माणां का गतिः इति आशङ्क्य आह. **आश्रितत्वाद् इह तद्योगात्.** जीवधर्माणां ब्रह्मणि

विरोधो न, जीवस्य ब्रह्माधारत्वात् तद्धर्माणामपि ब्रह्माश्रितत्वात्. इह इति उभयत्र सम्बद्धम्. मुख्यप्राणस्यतु ब्रह्मणि योगात् तद्धर्माणामपि तद्योगात्. अतः प्रकरणोक्तसर्वधर्माणां ब्रह्मणि सम्भवात् प्राणशब्दवाच्यं ब्रह्म इति सिद्धम्. “अत एव प्राणः” (ब्रह्मसू.१।१।२२). इत्यत्र प्राणशब्दमात्रे सन्देहः. अत्र अर्थेऽपि सन्देहः. बाधकधर्माऽपि वर्तन्ते इति तन्निर्णयार्थं पृथग् अधिकरणम् उक्तम् ॥३०॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तौ मरीचिकाख्यायां प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः.

॥ द्वितीयः पादः ॥

प्रथमे पादे कार्यप्रतिपादकानि वाक्यानि ब्रह्मपरत्वेन निर्णयि द्वितीये अन्तर्यामिप्रतिपादकानां तत्परत्वेन निर्णयः उच्यते. तत्र “अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः” (छान्दो.उप.३।१४।१) इत्यारभ्य, “स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राण-शरीरः” (छान्दो.उप.३।१४।१) इत्यादि श्रूयते. तत्र अग्रे सत्यसङ्कल्पादि-धर्मकथनात् किं विज्ञानमयो जीवो ब्रह्मत्वेन उपास्यः, उत ब्रह्मैव अन्तर्यामिरूपम् इति संशये, “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” (छान्दो.उप.३।१४।१) इति पूर्ववाक्ये जडस्य जगतो ब्रह्मत्वेन उपासनस्य उक्तत्वाद् जीवस्यापि तत्त्वेन उपासनं युक्तं, नतु मध्ये ब्रह्मनिरूपणस्य प्रसक्तिः इति जीवस्यैव ब्रह्मत्वेन उपासनोक्ता अस्मिन् वाक्ये इति प्राप्ते, उच्यते.

सर्वत्रप्रसिद्धोपदेशात् ॥१॥

“अथ खलु” (छान्दो.उप.३।१४।१) इत्यादि ब्रह्मवाक्यमेव. कुतः, ? सर्वत्र वेदान्तेषु प्रसिद्धस्य ब्रह्मणएव उपदेशदर्शनात्. एवञ्च, “क्रतुं कुर्वीत” (छान्दो.उप.३।१४।१) इति उपदेशो न उपासना. परम्, अशान्तस्य, निखिल-जगतो ब्रह्मत्वेन उपासनेन शुद्धान्तःकरणस्य मननात्मकब्रह्मोपदेशएव युक्तो, नतु जीवोपासना. अतो अत्र आनन्दात्मकप्राणशरीरादिरूपो अन्तर्यामी निरूप्यते, न जीवः ॥१॥

ननु “क्रतुमयः पुरुषः” (छान्दो.उप.३।१४।१) इत्यादिना यथाकामं लोकान्तरीयदेहकथनात् तदर्थम् अन्योपासना युक्ता, न ब्रह्मज्ञानस्य ईदृशं फलं युक्तम् इति आशङ्क्य समाधत्ते.

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥२॥

विवक्षितो गुणो लोकान्तरे तादृशफलप्राप्तिः. सा प्रकृतेऽपि भगवत्स्वरूपलाभाद् उपपद्यते इति तदर्थमपि न अन्यापेक्षा ॥२॥

ननु इदं न एकान्ततो ब्रह्मवाक्यत्वसाधकम्, उपपत्तेः जीवेऽपि सम्भवाद् इति आशङ्क्य आह.

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥३॥

जीवस्य तिरोहितानन्दत्वेन निराकारत्वाद् आनन्दात्मकप्राणशरीरादिरूपस्य अनुपपत्तेः न* अयं वाक्यार्थः ॥३॥

ननु प्राप्तव्यफलरूपानन्दात्मक-प्राणशरीरादेः जीवेऽपि उपपत्तेः न उक्तदोषः इति आशङ्क्य परिहरति.

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥४॥

“एतम् इतः प्रेत्य अभिसम्भवितास्मि” (छान्दो.उप.३।१४।४) इति फलवाक्ये, एतं प्राणशरीरादिरूपं कर्मत्वेन प्राप्तव्यत्वेन शारीरं जीवञ्च कर्तृत्वेन व्यपदिशति. अधिकरणसमाप्तिसूचकः चकारः ॥४॥

“यथा ब्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वा एवम् अयम् अन्तरात्मन् पुरुषो हिरण्मयः” (शत.ब्राह्म.१०।६।३।२) इति श्रूयते. तत्र उपक्रमबलीयस्त्वे जीवो वाक्यार्थः. उपसंहारबलीयस्त्वे ब्रह्म वा इति संशये, तत्र यत्र एकस्य अन्यपरत्वेन एकार्थवाचकत्वं भवति तस्य बलवत्त्वम् इति पूर्वतन्त्रे व्युत्पादितत्वात् चतुर्विधभूतनिरूपणार्थं जीवस्य आराग्रमात्रस्य अन्तर्हृदये प्रतिपादकत्वेन वा अन्यार्थोपपत्तेः जीवस्यैव फलदशायां हिरण्मयत्वाद् जीवैव वाक्यार्थो, न ब्रह्म इति प्राप्ते, उच्यते.

शब्दविशेषात् ॥५॥

हिरण्मयः पुरुषः परमात्मैव, न जीवः. फलदशायामपि नियमतः तादृश-मूर्तिलाभे प्रमाणाभावात्. अतः शब्देनैव विशेषस्य उक्तत्वाद् ब्रह्मैव वाक्यार्थः ॥५॥

ननु हृदयायतनत्वाद् जीवस्य सएव अत्र युक्तो वाक्यार्थः इति आशङ्क्य आह.

*“न जीवो वाक्यार्थः”.

“ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति” (भग.गीता १८।६१)
इत्यादिप्रमाणान्तरात् परमात्मैव वाक्यार्थः ॥६॥

उपक्रमप्राबल्याभिप्रायेण आशङ्क्य समाधत्ते.

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च

नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥७॥

ननु अर्भकम् ओको अल्पं हृदयात्मकं स्थानं यस्य तत्त्वाद्
ब्रीह्यादितुल्यत्वव्यपदेशाच्च जीवो वाक्यार्थो, न परमात्मा व्यापकत्वाद् इति
चेद्, न अल्पस्थानकथनं दूषणम् आवहति. निचाय्यत्वाद् हृदये ज्ञातुं शक्यत्वाद्
ब्रीह्यादितुल्यत्वव्यपदेशोऽपि न दोषाय. एवं व्योमवद् एवं ब्रीह्यादितुल्यत्वेन
यत्प्रतिपादनं तद्व्योमवत्, व्योमेव चतुर्विधभूतान्तरत्वज्ञापनार्थम् ॥७॥

ननु हृदयदेशे नित्यं भगवत्स्थितिः चेत् तदा जीववत् तस्यापि
सुखदुःखभोगापत्तिः इति आशङ्क्य परिहरति.

सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥८॥

न, कुतः? वैशेष्यात् सर्वरूपत्वानन्दमयत्वसर्वकर्तृत्वादिः विशेषः
तद्भावो वैशेष्यं तस्मात्. अतो हृदयस्थित्यविशेषेऽपि जीवस्यैव भोगो न ब्रह्मणः
॥८॥

“यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः” (कठोप.१।२।२५) इत्यादि-
कठवल्लीषु पठ्यते. अत्र ब्रह्म-क्षत्रयोः ओदनत्वकथनात् कश्चिद् भोक्ता उच्यते.
सः जीवो ब्रह्म वा इति संशये, ब्रह्मक्षत्रभोजनस्य अनुचितत्वाद् लौकिक-
भोक्तृवत्कथनात्, “क इत्था वेद यत्र सः” (कठोप.१।२।२५) इत्यनेन
स्थानाज्ञानकथनाच्च जीवएव कश्चिद् उपासनाविशेषलब्धसामर्थ्यो भोक्ता
भविष्यति, न ब्रह्म, उक्तधर्मासम्भवाद् इति प्राप्ते, उच्यते.

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥९॥

अत्ता भगवानेव. कुतः? चराचरग्रहणात्. चरः सर्वप्राणिमारणार्थं
परिभ्रमन् मृत्युः, अचरं केनापि अचाल्यं ब्रह्मक्षत्रं रूपं तयोः अतृत्वस्य जीवे
असम्भवात् परमात्मैव अत्ता. ब्रह्म-क्षत्रयोः मुक्तिदानेन स्वस्मिन् प्रवेशस्य
भोजनपदार्थत्वात्, सर्वत्र विद्यमानस्यापि सूक्ष्मत्वेन स्थानाज्ञानस्य युक्तत्वाद्,

बोधनार्थं लोकवत्कथनस्य युक्तत्वाद् ब्रह्मैव वाक्यार्थः ॥९॥

ननु जीवपरत्वेन सामञ्जस्येन वाक्यार्थोपपत्तौ किमिति ब्रह्मपरत्वं कल्प्यते इति आशङ्क्य आह.

प्रकरणाच्च ॥१०॥

अस्मिन् प्रकरणे, “आसीनो दूरं ब्रजति” (कठोप.१।२।२१) इत्यादिना ब्रह्मणएव माहात्म्यं प्रतिपाद्यते. अतः प्रकरणानुरोधाद् ब्रह्मैव वाक्यार्थः इति सिद्धम् ॥१०॥

“ऋतं पिबन्तौ” (कठोप.१।२।२०) इत्यादि तस्यैव अग्रे श्रूयते. तत्र अस्य वाक्यस्य उत्तरशेषत्वे जीवपरत्वं, पूर्वशेषत्वे ब्रह्मपरत्वम् इति. किम् अत्र जीवद्वयं निरूप्यते, उत जीवब्रह्मणी वा इति विषये ब्रह्मप्रकरणस्य सामान्यत्वेन, “यस्तु विज्ञानवान्” (कठोप.१।३।५) इत्यादिना अग्रे विद्वद्विद्वतोः जीवयोः वक्तव्यत्वात् प्रथममन्त्रेऽपि तयोः निर्देशः उचितः. अतो बद्ध-मुक्तजीवपरत्वेन वाक्यार्थोपपत्तेः जीवप्रकरणपाठाद् जीवएव वाक्यार्थः इति प्राप्ते, उच्यते.

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥११॥

गुहा हृदयाकाशः तत्र प्रविष्टौ जीव-परमात्मानावेव प्रतिपाद्यौ, न जीवौ, कुतः? तद्दर्शनात् तयोः जीव-ब्रह्मणोः दर्शनात् प्रतिपादितत्वात्. प्रश्ने, “ये अयं प्रेते” (कठोप.१।१।२०) इत्यादिना जीवः पृष्टः. “अन्यत्र धर्माद्” (कठोप. १।२।१४) इत्यादिना ब्रह्म पृष्टम्. तत्र ब्रह्म निरूप्य जीवनिरूपणे तस्य फलं निरूपयन् मध्ये तुल्यतया उभयोः स्वरूपं कथयति फलभोगयोग्य (“त्वाय” इति जू.पाठः)त्वात्. अतो ब्रह्मपरमेव इदं वाक्यम् ॥११॥

विशेषणाच्च ॥१२॥

“गुहां प्रविष्टौ” (ब्रह्मसूत्र.१।२।११) इत्यादिविशेषणानां जीवब्रह्म-परत्वेनैव सामञ्जस्यात् चकाराद् “आत्मानं रथिनं विद्धि” (कठोप.१।३।३) इत्याद्युत्तरग्रन्थपर्यालोचनादपि इदं ब्रह्मवाक्यमेव इति सिद्धम् ॥१२॥

“य एषो अक्षिणि पुरुषो दृश्यते” (छान्दो.उप.४।१५।१) इत्यादि श्रूयते. अत्र प्रतिबिम्बपुरुषस्य ब्रह्मत्वेन उपासनपरम् इदं वाक्यं, ब्रह्मपरं वा इति विषये ब्रह्मप्रकरणस्य समाप्तत्वाद् ‘दृश्यते’ इति वचनाच्च प्रतिबिम्बस्य ब्रह्मत्वेन उपासनपरमेव इदं वाक्यं, न ब्रह्मपरम् इति प्राप्ते, उच्यते.

अन्तरः अक्षिणि दृश्यत्वेन उक्तः परमात्मैव. कुतः? उपपत्तेः सर्वत्र ब्रह्मदृष्टेः तत्स्थानस्य उत्कृष्टत्वात् तत्र आर्षस्य ब्रह्मदर्शनस्य उपपत्तेः. अतः प्रतिबिम्बे पुरुषत्वनियमाभावाच्च ब्रह्मैव वाक्यार्थः ॥१३॥

स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥१४॥

“अक्षिणि पुरुषो दृश्यते” (छान्दो.उप.४।१५।१) इत्यारभ्य, “एतं संयद्राम इत्याचक्षत” (छान्दो.उप.४।१५।४) इत्यादिना कर्मफललयस्थानत्व-कर्मफलदातृत्व-^{*}सर्वलोकभानादिधर्माणां व्यपदेशात् तेषाम् अन्यत्र असम्भवाद् ब्रह्मैव वाक्यार्थः ॥१४॥

ननु उपासनापरमेव इदं वाक्यम् अस्तु, किम् अत्याग्रहेण ब्रह्मपरत्वोपपादनेन इति आशङ्क्य आह.

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥१५॥

“एतद् अमृतम् अभयम् एतद् ब्रह्म” (छान्दो.उप.४।१५।१) इत्यनेन अमृतशब्देन आनन्दमयत्वप्रतिपादनाद् ब्रह्मपरमेव इदं वाक्यम्. एषा मुख्योपपत्तिः इति सूचनार्थम् एवकारः ॥१५॥

स्वरूपतो ब्रह्मपरत्वं प्रतिपाद्य फलतोऽपि तत्परत्वम् आह.

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥१६॥

“अथ यदु चैवास्मिन् शव्यं कर्म कुर्वन्ति” (छान्दो.उप.४।१५।५) इत्यादिना ब्रह्मविदो देवयानाख्या या गतिः उक्ता सैव अक्षिपुरुषविदो अभिधीयते. श्रुता उपनिषद्विद्या येन तस्य गतेः अभिधानाद् इति अर्थः. अतो ब्रह्मपरमेव इदं वाक्यम् ॥१६॥

ननु तद्धर्मवत्त्वेन उपासनोपपत्तेः गौणवृत्त्या पूर्वोक्ताः उपपत्तयो अक्षिपुरुषपरत्वेनापि सङ्गच्छन्ते इति आशङ्क्य परिहरति.

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॥१७॥

इतरो अक्षिपुरुषो न अत्र वाक्यार्थः. कुतः? अनवस्थितेः अस्थिरत्वात्. अक्षिपुरुषस्य अन्यसांमुख्यएव सम्भवाद् उपासनाकाले एकान्ते तस्य अभावाद् अस्थिरत्वम्. किञ्च उपासनं हि मनसा भवति. तत्रच अक्षिपुरुषस्य

^{*}“लोकेषु भानादिधर्माणाम्”.

असम्भवएव. अतः सर्वत्र सदा विद्यमानत्वाद् भगवानेव वाक्यार्थः इति सिद्धम् ॥१७॥

“य इमञ्च लोकं परञ्च लोकं सर्वाणि च भूतानि अन्तरो यमयति” (बृहदा.उप.३।७।१) इति उपक्रम्य, “यः पृथिव्यां तिष्ठन्” (बृहदा.उप. ३।७।३) इत्यादि श्रूयते. तत्र अधिदैवम् अधिवेदम् अधियज्ञम् अधिभूतम् अध्यात्मञ्च अवस्थितो यमयिता अन्तर्यामी इति निरूप्यते. तत्र अधिदैवाद्याधारधर्माणां षण्णाम् एकस्मिन् उपचाराद् अधिदैवादिषु सर्वेषु एकएव अन्तर्यामी, उत अधिदैवादिनामभेदाद् भिन्नः इति विषये, देवादिकम् अधिकृत्य ये वर्तन्ते अभिमानेन तेषामेव तत्तच्छब्दवाच्यत्वात् तत्तत्संज्ञानां ब्रह्मविषयक-त्वासम्भवाद् अन्तर्यामिब्राह्मणं तत्तदभिमानिदेवतोपासनापरं, नतु ब्रह्मपरम् इति प्राप्ते अभिधीयते.

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥१८॥

अधिदैवादिषु अन्तर्यामी भगवानेव, न अन्यः. कुतः? तद्धर्म-व्यपदेशात्. तेषां तदभिमानिनां देवानां ये धर्माः तत्तदधिष्ठातृत्वादयः तेषां ब्रह्मणि व्यपदेशात्. तेषां तत्सामर्थ्यं भगवतएव अतः तैः धर्मैः भगवानेव व्यपदिश्यते. अतः इदं ब्रह्मवाक्यमेव ॥१८॥

ननु वेदान्तेषु अन्तर्यामिणो अप्रसिद्धत्वात् तस्यच कापिले प्रसिद्धत्वाद् अन्तर्यामिनिरूपणे कपिलमतस्य श्रौतत्वापत्तिः इति आशङ्क्य आह.

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥१९॥

स्मार्तं सांख्यस्मृतिसिद्धम् अन्तर्यामिरूपम् अत्र न उच्यते. कुतः? अतद्धर्माभिलापात् सत्वरजस्तमोरूपतद्धर्माणाम् अनभिलापात्, पृथिवी-शरीरादीनां तद्विरुद्धधर्माणाम् अभिलापाच्च ब्रह्मैव वाक्यार्थः ॥१९॥

ननु देवशरीराद्यधिष्ठातृत्वाद् जीवएव वाक्यार्थो अस्तु इति आशङ्क्य आह.

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥२०॥

शारीरो जीवः, ‘न’ इति अनुवर्तते, न वाक्यार्थो भवितुम् अर्हति. यतो “यो विज्ञाने तिष्ठन्” (बृहदा.उप.३।७।२२) इति काण्वाः, “यः आत्मनि तिष्ठन्” (श.प.१४।५।३०) इति माध्यन्दिना एनं जीवम् अन्तर्यामिभेदेन

अधीयते. अतो अन्तर्यामिब्राह्मणे ब्रह्मैव अर्थो न अन्यः इति सिद्धम् ॥२०॥

“अथ परा यया तदक्षरम् अधिगम्यते यत् तद् अदृश्यम् अग्राह्यम्” (मुण्डकोप.१।१।५,६) इत्यादिमुण्डके श्रूयते. तत्र साङ्ख्याभिमतप्रकृति-सर्वधर्माणां श्रवणात् कापिलमतविद्या, उत ब्रह्मविद्यैव इति संशये, अत्र भूतयोनित्वकथनाद् अग्रे, “दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः” (मुण्डकोप.२।१।२) इत्याद्युक्त्वा, “एतस्माद् जायते प्राणः” (मुण्डकोप.२।१।३) इत्यादिना सृष्टिकर्तृत्वं पुरुषस्य उक्तम्. एवं सति प्रकृति-पुरुषयोः सृष्टिकर्तृत्वोक्त्या सांख्यविद्यैव इति प्राप्ते, उच्यते.

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥२१॥

अदृश्यत्वादिगुणकः परमात्मैव. कुतः? “तथा अक्षरात् सम्भवति इह विश्वम्” (मुण्डकोप.१।१।७) इति जगत्कर्तृत्वरूपब्रह्मधर्मोक्तेः. नहि वेदान्तेषु ब्रह्मादपि अतिरिक्तस्य जगत्कर्तृत्वं क्वचित् श्रुतम् अस्ति. अतः इयं ब्रह्मविद्यैव ॥२१॥

ननु प्रकृतिपुरुषसम्बन्धि-सृष्टिप्रतिपादकत्वेनैव वाक्यार्थोपपत्तौ किमिति ब्रह्मपरत्वं कल्प्यते इति आशङ्क्य आह.

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥२२॥

इतरौ प्रकृतिपुरुषौ न अत्र वाक्यार्थभूतौ. कुतः? विशेषणभेद-व्यपदेशाभ्यां विशेषणभेदो व्यपदेशश्च ताभ्याम्. नहि अदृश्यत्व-सर्वज्ञत्व-पुरुषत्वादीनि विशेषणानि प्रकृतेः भवन्ति. नहि, “दिव्यो ह्यमूर्तः” इत्यत्र उक्तानि विशेषणानि साङ्ख्याभिमतपुरुषस्य भवन्ति. ब्रह्मविद्यैव एषा इति, सर्वत्र ब्रह्मविद्याम् इत्याद्युक्तेश्च व्यपदेशभेदः. अतो ब्रह्मपरत्वमेव युक्तम् ॥२२॥

रूपोपन्यासाच्च ॥२३॥

“अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ” (मुण्डको.२।१।४) इत्यादिरूपो-पन्यासस्य प्रकृति-पुरुषयोः असम्भवाद् जगदात्मकस्य ब्रह्मणएव सम्भवाद् ब्रह्मैव वाक्यार्थः इति सिद्धम् ॥२३॥

ब्रह्मणः साकारत्वम् उपपादयितुम् अधिकरणारम्भः. तत्र “को न आत्मा किं ब्रह्म” (छान्दो.उप.५।११।१) इति उपक्रम्य, “तस्य ह वा एतस्य आत्मनो

*“वाक्यार्थो न भवतः”.

वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः” (छान्दो.उप.५।१८।२) इत्याद्याम्नायते. तत्र वैश्वानरशब्दात् “संवत्सरो वा अग्निः वैश्वानरः” (तैत्ति.सं.२।२।६) इति, “संवत्सरो वै प्रजापतिः” (बृहदा.उप.१।५।१५) इति च श्रुतेः हिरण्यगर्भो-पासनपरम् इदं वाक्यं, किं वा उपक्रमे ब्रह्मात्मपदश्रवणात् तदेकवाक्यत्वेन ब्रह्मपरम् इति संशये, हिरण्यगर्भस्य समष्ट्यभिमानित्वेन लोकावयवत्वोपपत्तेः तदुपासकस्य अन्नभोजनात्मकफलस्यापि सम्भवाद् वेदगर्भत्वेन अग्नित्रयात्म-कत्वस्यापि युक्तत्वाद् हिरण्यगर्भोपासनपरम् इति प्राप्ते, उच्यते.

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥२४॥

‘वैश्वानर’पदवाच्यः परमात्मैव. कुतः? ये अस्मिन् वाक्ये हिरण्यगर्भ-साधारणशब्दाः श्रुताः तेभ्योऽपि प्रादेशमात्रस्यैव द्युमूर्धत्वादिरूपे विशेषाम्नानाद् विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वं सर्वभवनसमर्थपरमात्मनएव, न अन्यस्य सम्भवति. अतो ‘वैश्वानर’शब्दो ब्रह्मपरः ॥२४॥

एतद्वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वे प्रमाणान्तरम् उपन्यस्यति.

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥२५॥

“केचित् स्वदेहे हृदयावकाशे,” (भाग.पुरा.२।२।८) इति स्मर्यमाणं रूपं ज्ञापकं स्यात्. प्रादेशमात्रवैश्वानरस्य ब्रह्मत्वे श्रुतिभ्यः श्रुतस्य मननात्मक-स्मरणसम्भवात्. यदि प्रादेशमात्रवैश्वानरस्य ब्रह्मत्वं न स्यात्, तदा ईदृशं स्मरणं न उपपद्येत इति हेतोः प्रादेशमात्रवैश्वानरप्रतिपादकवाक्यस्य ब्रह्मपरत्वम् ॥२५॥

ननु स्मरणेनैव अर्थनिर्णये, स्मृतावपि “अहं वैश्वानरो भूत्वा” (भग. गीता १५।१४) इति उक्तत्वाद्, “अग्निर्वैश्वानरः” (बृहदा. उप.५।१।१) इति श्रौतशब्दाद् उपासनार्थं तस्यैव त्रेताग्निकल्पनात्, “पुरुषे अन्तःप्रतिष्ठितं वेद” (शत.ब्राह्म.१०।६।१।११) इति अन्तःप्रतिष्ठानाच्च जाठरो अग्निरेव वैश्वानरो, न ब्रह्म, विरुद्धधर्मदर्शनाद् इति आशङ्क्य परिहरति.

शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानान्नेति चेन्न,

तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात् पुरुषमपि चैनमधीयते ॥२६॥

न, कुतः? तथा दृष्ट्युपदेशात्. ब्रह्मणः सर्वभोक्तृत्वबोधनार्थं तथा दृष्टिः जाठरत्वेन दृष्टिः उपदिश्यते. ब्रह्मणः सर्वरूपत्वसम्भवात्. ननु एवं स्मृत्यनुरोधाद् जाठरएव वाक्यार्थो अस्तु इति आशङ्क्य आह. असम्भवात्. तत्र

द्युमूर्द्धत्वादिधर्माणाम् असम्भवात्. उपासनार्थं तद्धर्मकल्पनं भविष्यति इति आशङ्क्य आह. पुरुषमपि च एनम् अधीयते वाजसनेयिनः, “स एषो अग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैतमेवम् अग्निं वैश्वानरं पुरुषं पुरुषविधं पुरुषे अन्तःप्रतिष्ठितं वेद” (शत.ब्राह्म.१०।६।११) इत्यादि. अतः पुरुषत्वं पुरुषविधत्वं वा न जाठरस्य सम्भवतीति परमात्मैव वैश्वानरः ॥२६॥

ननु “वैश्वानरो न ऊत्या” (अथ.वेद ६।३५।१) इत्यादिमन्त्रैः देवतायाः महाभूताग्नेः वा वैश्वानरपदार्थत्वम् अस्ति इति आशङ्क्य परिहरति.

अत एव न देवता भूतं च ॥२७॥

अतएव पुरुषविधत्वासम्भवादेव देवता भूतं च न वैश्वानरपदवाच्यम् इति अर्थः. उपनिषद्वाक्यानां ब्रह्मपरत्वे सम्भवति अन्यकल्पना न युक्ता इति मुख्योपपत्तिः. अतो वैश्वानरो भगवानेव इति सिद्धम् ॥२७॥

अतः परं ब्रह्मणः प्रादेशमात्रत्वं स्वाभाविकं, कृत्रिमं वा इति परिमाणं विचार्यते. अस्मिन् सिद्धे पूर्वोक्तविचारः, सङ्गतो भवेद् इति. तत्र अस्मिन् विषये प्रकारभेदेन चत्वारः ऋषयो वेदार्थचिन्तकाः. तौल्येन शब्दार्थबलविचारको जैमिनिः. शब्दोपसर्जनेन अर्थविचारकः आश्वरथ्यः. केवलार्थबलविचारको बादरिः. केवलशब्दबलविचारकाः आचार्याः. तत्र आचार्यो विचाराविचारयोः दोषं पश्यन् विचारमपि वदन् तेषाम् अल्पबुद्धिख्यापनाय नामानि आह. तत्र जैमिनिमतम् उपन्यस्यति.

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥२८॥

साक्षादपि व्यापकस्य प्रादेशमात्रत्वे कल्पनां विनापि स्वरूपेणैव अविरोधं मन्यते जैमिनिः. आकाशवद् व्यापकं सर्वतः पाणिपादान्तं ब्रह्म. अतः साकारम् अनन्तमूर्तञ्च. अतः प्रादेशमात्रत्वं स्वाभाविकम् इति जैमिनेः मतम् ॥२८॥

अभिव्यक्तेरित्याश्वरथ्यः ॥२९॥

अभिव्यक्तेः हेतोः साकारं ब्रह्म, वस्तुतो निराकारत्वेऽपि मायापगमने तावति देशे साकारमिव सच्चिदानन्दं रूपं भाति इत्याश्वरथ्यो मन्यते ॥२९॥

अनुस्मृतेर्बादरिः ॥३०॥

“यद्यद् धिया त उरूगाय विभावयन्ति” (भाग.पुरा.३।९।१२) इति

वाक्यानुरोधेन अनुस्मृतेः हेतोः ब्रह्मणः साकारत्वं, वस्तुतो निराकारमेव. अतः
आकाराणाम् अतात्त्विकत्वं मन्यते बादरिः ॥३०॥

सम्पत्तेरिति जैमिनिः तथा हि दर्शयति ॥३१॥

जैमिनिमते ब्रह्मणः साकारत्वश्रवणात् तदेकदेशी नियतसाकारं मन्यमानो
नियमेन प्रादेशमात्रं ब्रह्मस्वरूपं जानाति. तन्निराकरणाय जैमिनिः, सम्पत्तेः इति
सम्पत्तिकृतं प्रादेशमात्रत्वं, न नियतम् इति वदति. ननु प्रादेशमात्रत्वस्य कथं
सम्पत्तिकृतत्वम् इति आशङ्क्य आह. तथाहि दर्शयति. वाजसनेयिब्राह्मणे,
“तथातु व एतान् वक्ष्यामि यथा प्रादेशमात्रमेव अभिसम्पादयिष्यामि”
(वाजसनेयिब्राह्मणे) इति श्रुतिः प्रादेशमात्रत्वं सम्पत्तिकृतम् इति दर्शयति. एवञ्च
सम्पत्तेरेव प्रादेशमात्रत्वं, नतु प्रादेशमात्रएव वैश्वानरः इति एकदेशिनं परिहरति
जैमिनिः ॥३१॥

मुख्यम् आचार्यमतम् आह.

आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥३२॥

एनं वैश्वानरम् अस्मिन् मूर्द्धचिबुकान्तराले जाबालाः समामनन्ति,
“एषो अनन्तो अव्यक्त आत्मा यो अविमुक्ते प्रतिष्ठिते इति, सो अविमुक्तः
कस्मिन् प्रतिष्ठिते” (श्रीरामोत्तर.उप.३।१) इत्यादिना, “भ्रुवोः प्राणस्य च यः
सन्धिः स एष द्यौर्लोकस्य परस्य च सन्धिः भवति” (श्रीरामोत्तर.उप.३।१) इति.
अतो अनन्तएव व्यापकएव प्रादेशमात्रः. अनवगाह्यमाहात्म्ये भगवति विरुद्धसर्व-
धर्माश्रये, न विरोधसम्भावनापि. अतो ब्रह्मस्वरूपविचारे प्रमाणमेव अनुसर्तव्यं, न
युक्तिः. युक्तिबलेन ब्रह्मस्वरूपविचारकाः भ्रान्ताएव. तस्य युक्त्यगोचरत्वात्.
अतः प्रादेशमात्रएव व्यापकः इति वैश्वानरपदवाच्यः परमात्मैव इति सिद्धम् ॥३२॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तौ मरीचिकाख्यायां प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥२॥

॥ तृतीयः पादः ॥

द्वितीयपादे ब्रह्मणः आधेयत्वं प्रतिपाद्य अस्मिन् पादे आधारत्वं
प्रतिपाद्यते, ‘सर्वं ब्रह्म’ इति बोधनाय. “यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षम् ओतं
मनः” (मुण्डकोप.२।२।५) इत्यादि श्रूयते. तत्र द्यु-पृथिव्यादीनाम् आधारं ब्रह्म?
उत पदार्थान्तरम्? इति संशये, द्युभवादीनां, सूत्रे मणिगणा इव प्रोतानां भारत्वेन

परमात्मनः तद्वाहकत्वासम्भवाद्, “अमृतस्यैषः सेतुः” (मुण्डकोप.२।२।५) इति उक्त्या सेतोः गतिसाधनत्वेन ब्रह्मणः फलत्वेन तदसम्भवात् स्मृतिप्रतिपाद्या प्रकृतिरेव एतद्वाक्यार्थो युक्तः इति प्राप्ते, उच्यते.

द्युम्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥१॥

“यस्मिन् द्यौः” (मुण्डकोप.२।२।५) इति वाक्योक्तानां द्युभ्वादीनाम् आयतनं ब्रह्मैव, कुतः स्वशब्दाद् आत्मशब्दाद् इति अर्थः. तथाच सर्वेषाम् आत्मत्वेन जगदाधारत्वेन भारासम्भवात् तज्ज्ञानेन अमृतप्राप्तेः उपचारेण सेतुत्वस्यापि सम्भवाद् ब्रह्मैव अत्र वाक्यार्थो, न अन्यः इति भावः ॥१॥

ननु अस्मिन् प्रकरणे एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानम् उपक्रम्य अन्यवाग्विमोककथनम् अनुपपन्नम् इति आशङ्क्य आह.

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥२॥

मुक्तानां देहाद्यध्यासत्यागेन जीवन्मुक्तानाम् उपसृप्यं ब्रह्म अस्मिन् प्रकरणे व्यपदिश्यते. तद् अन्यवाग्विमोकं विना सर्वाध्यासराहित्यं न भवति इति तत्कथनम् इति अर्थः. तत्रापि विकारस्य वाचारम्भणमात्रत्वाद् अन्यवाग्विमोकएव, नतु प्रपञ्चस्य. तस्य ब्रह्मरूपत्वाद् इति भावः ॥२॥

ननु अस्मिन् प्रकरणे, “अरा इव ब्रह्मपुरे मनोमयः” (मुण्डकोप. २।२।६-७) इत्यादिना जडधर्माणां जडदृष्टान्तानाञ्च निरूपणात् सांख्यनिरूपित-प्रकृतिपुरुषानुमापकमेव एतत् प्रकरणम् इति आशङ्क्य आह.

नानुमानमतच्छब्दात् ॥३॥

इदं प्रकरणं सांख्यमतानुमापकं न अस्ति. कुतः? अतच्छब्दात्. निःसन्दिग्धतया कोऽपि तन्मतख्यापकः शब्दो न अस्ति. आत्मसर्वज्ञानन्द-रूपादयस्तु ब्रह्मवादख्यापकाः बहवः शब्दाः सन्ति. तद्वशात् सन्दिग्धानामपि ब्रह्मपरत्वेनैव निर्णयः उचितः. अतो द्युभ्वाद्यायतनं ब्रह्मैव, न प्रधानम् ॥३॥

ननु “मनोमयः प्राणशरीरनेता” (मुण्डकोप.२।२।७) इति निःसन्दिग्ध-जीवप्रतिपादकवचनाद् जीवधर्माः जडधर्माश्च, तथा सर्वज्ञत्वादयोऽपि योगप्रभावाद् जीवविशेषधर्माः इति जडजीवविशिष्टः सांख्यवादो अत्र प्रतिपाद्य इति आशङ्क्य आह.

प्राणभृच्च ॥४॥

“न अतच्छब्दाद्” (ब्रह्मसू.१।३।३) इति अनुवर्तते. प्राणभृज्जीवोऽपि न वाक्यार्थः. तत्प्रतिपादकशब्दाभावात्. नहि साङ्ख्यमते आनन्दामृतरूपो जीवो भवितुम् अर्हति ॥४॥

भेदव्यपदेशात् ॥५॥

“तमेव एकं जानथ” (मुण्डकोप.६।२।५) इति कर्मकर्तृभावेन भेदेन व्यपदेशाद् न जीवो वाक्यार्थः ॥५॥

हेत्वन्तरम् आह.

प्रकरणात् ॥६॥

“ब्रह्मा देवानाम्” (मुण्डकोप.१।१।१) इत्यारम्भे, “स ब्रह्मविद्याम्” (मुण्डकोप.१।१।१) इति च तेषामेव एतां “ब्रह्मविद्याम्” (मुण्डकोप.१।१।१) इत्यन्ते च ब्रह्मविद्यायाएव निरूपणेन ब्रह्मप्रकरणाद् ब्रह्मैव अत्र प्रतिपाद्यम् इति अर्थः. “ब्रह्मैवेदम् अमृतं पुरस्ताद्” (मुण्डकोप.२।२।१) इत्यादौतु विस्पष्टं ब्रह्मैव प्रतिपाद्यते ॥६॥

अथापि संशये निश्चितं विशेषहेतुम् आह.

स्थित्यदनाभ्यां च ॥७॥

“द्वा सुपर्णा” (मुण्डकोप.३।१।१) इति वाक्ये, “अनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति” (मुण्डकोप.३।१।१) इत्यनेन परमात्मनः स्थितिमात्रं, जीवस्य च कर्मफलोपभोगो निरूप्यते. अतः स्थित्यदनाभ्यां जीव-परमात्मानौ परामृष्टौ साङ्ख्यप्रतिपाद्यवैलक्षण्यम् अत्र गमयतः. अतो विशेषोपपत्तेः सत्त्वात् सर्वहेतवो अत्र ब्रह्मवाक्यत्वसाधकाः दृढाः इति द्युभ्वाद्यायतनं ब्रह्मैव इति सिद्धम् ॥७॥

छान्दोग्ये, “यो वै भूमा तत्सुखम्” (छान्दो.उप.७।२३।१) इति सुखलक्षणम् उक्त्वा भूमलक्षणं वदति, “यत्र न अन्यत् पश्यति न अन्यद्विजानाति स भूमा” (छान्दो.उप.७।२४।१) इति. तत्र भूमशब्देन अत्र बाहुल्यम् उच्यते? ब्रह्म वा इति संशये अस्मिन् प्रपाठके “ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामि” (छान्दो.उप.७।१।१) इति सनत्कुमारेण नारदं प्रति उत्तरोत्तरं बाहुल्यकथनस्य प्रतिज्ञातत्वात् सुखपर्यन्तम् उत्तरोत्तरं भूयस्त्वम् उक्त्वा अग्रे सुखस्य फलत्वात् सुषुप्तावेव तस्य अभिव्यक्तेः सुषुप्तिरेव, “यो वै भूमा” (छान्दो.उप.७।२३।१) इति वाक्ये भूमत्वेन उच्यते. सुखाभिव्यञ्जकत्वेन सुखापेक्षयापि तस्याः अन्तरङ्गत्वाद् अतो न

ब्रह्मवाक्यम् इदम् इति प्राप्ते, उच्यते.

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥८॥

अत्र भूमा भगवानेव. कुतः? सम्प्रसादाद् अध्युपदेशात्. सम्प्रसादः सुषुप्तिः, तस्माद् अधि आधिक्येन उपदेशात्. “यत्र न अन्यत् पश्यति” (छान्दो.उप.७।२४।१) इत्यादिधर्माणां सुषुप्तिसाम्येऽपि, “स एव अधस्ताद्” (छान्दो.उप.७।२५।१) इत्यादिना सर्वरूपत्वादयो अधिकाः धर्माः उच्यन्ते. नहि ते सुषुप्तौ सम्भवन्ति. एवं सति अत्रत्य ‘आत्म’शब्दस्यापि सामञ्जस्यम्. प्रकरणस्य अन्यपरत्वे तत्र लक्षणा स्यात्. लोके बाहुल्यवाचकत्वेन भावशब्दत्वेऽपि भूमशब्दस्य, भगवतः सर्वरूपत्वाद् अत्र भगवद्वाचकत्वे न दोषः. अतो अत्र भूमा भगवानेव ॥८॥

धर्मोपपत्तेश्च ॥९॥

अस्मिन् प्रकरणे, “न अन्यत् पश्यति” (छान्दो.उप.७।२४।१) इत्यादिना अन्यादर्शनादयो गुणाः उक्ताः. ते भगवत्येव उपपद्यन्ते, न अन्यत्र. चकारात्, “स वा एष एवं पश्यन्” (छान्दो.उप.७।२५।२) इत्यारभ्य “सहस्राणि च विंशतिः” (छान्दो.उप.७।२६।२) इत्यन्तेन उक्तं फलमपि तस्य भगवद्विदएव उपपद्यते. तस्माद् भूमशब्दं ब्रह्मैव इति सिद्धम् ॥९॥

गार्गीब्राह्मणे, “कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च” (बृहदा. उप.३।८।७) इति, “स होवाच एतद्वै तदक्षरं गार्गी ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलम् अनणु” (बृहदा.उप.३।८।७,८) इत्यादि पठ्यते. तत्र ‘अक्षर’शब्देन पदार्थान्तरम् अत्र उच्यते? ब्रह्म वा इति संशये, अचेतनसाधारण्यस्य, ओतप्रोतत्वकथनेन, वर्णतुल्यत्वस्य च प्रतीतेः आकाशवद् अब्रह्मपरत्वमेव उचितम्. अत्र विरुद्धधर्माणाम् आशङ्क्य निराकरणाद् अदृश्यत्वाद्यधिकरणेन गतार्थत्वं न शङ्क्यम्. तत्र सन्दिग्धधर्माणामेव ब्रह्मधर्मत्वेन उपपादनात्. अतो भूतसूक्ष्मं वा, प्रकृतिः वा अत्र प्रतिपाद्यते. किञ्च अत्र प्रापञ्चिकसकल-धर्मराहित्यं ब्रह्मधर्मो अक्षरः उच्यते. तदुपासनार्थं भविष्यति. अतो ‘अक्षर’शब्देन अन्यदेव ब्रह्मधर्मयुक्तत्वेन उपास्यम् अत्र उच्यते इति प्राप्ते, उच्यते.

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥१०॥

अक्षरशब्दवाच्यम् अत्र परमात्मैव. कुतः? अम्बरान्तानां पृथिव्यादीनां

धारकत्वेन उक्तेः. नहि ब्रह्मातिरिक्ते सर्वधारकत्वं सम्भवति. अक्षरपदोक्तिः परोक्षेण ब्रह्मनिरूपणार्था. अन्यपरत्वसन्देहवारणार्थं ब्रह्मधर्मकथनम्. अतो अक्षरपदवाच्यं ब्रह्मैव ॥१०॥

ननु “यस्मिन् द्यौः पृथिवी च” (मुण्डकोप.२।२।५) इति वाक्ये, असाधारणब्रह्मधर्मान्तरदर्शनाद् विधारणं च ब्रह्मधर्म इति उक्तम्. नतु सर्वत्र तस्य ब्रह्मधर्मत्वे प्रमाणम् अस्ति इति आशङ्क्य आह.

सा च प्रशासनात् ॥११॥

सा च अम्बरान्तधृतिः अस्मिन्नपि वाक्ये ब्रह्मधर्मएव. कुतः? प्रशासनात्. “एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठतः” (बृहदा.उप.३।८।९) इति श्रुत्युक्तप्रशासनाद् हेतोः विधृतिः ब्रह्मधर्मएव. अप्रतिहताज्ञाशक्त्यात्मकप्रशानस्य ब्रह्मधर्मत्वात् ॥११॥

ननु उपासनार्थं ब्रह्मधर्मनिरूपणम् इति आशङ्क्य आह.

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥१२॥

अन्यस्य भावो अन्यभावः. अब्रह्मधर्मः इति यावत्. तस्य अत्र व्यावृत्तिः क्रियते, न अत्र तादृशो धर्मः उक्तो अस्ति, यो अब्रह्मणि उपासनार्थं भवेत्. “यो वा एतद् अक्षरम् अविदित्वा गार्गि” (बृहदा.उप.३।८।१०) इत्यादिना अस्मिन् प्रकरणे शुद्धब्रह्मप्रतिपादनमेव, नतु उपासनाप्रतिपादनम् इति चकारेण सूच्यते. अतो ‘अक्षर’शब्दवाच्यं ब्रह्मैव इति सिद्धम् ॥१२॥

प्रश्नोपनिषदि पञ्चमप्रश्ने, “एतद्वै सत्यकामः परञ्चापरञ्च ब्रह्म यदोङ्कारः” (प्रश्नोप.५।२) इत्यादिना एक-द्वि-त्रि-मात्रोपासनया फलविशेषं निरूप्य “अर्द्धचतुर्थमात्रोपासनया परं पुरुषम् अभिध्यायीत” (प्रश्नोप.५।५) इति उक्त्वा अग्रे “परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते” (प्रश्नोप.५।५) इति फलम् उक्तम्. तत्र ‘पुरुषम् अभिध्यायीत’ इत्यत्र ध्यानविषयो विराट् पुरुषो ब्रह्मा वा, परमात्मैव वा इति संशये पूर्वम् ओङ्कारोपासनाकथनेन अत्रापि अमुख्यप्रवाहपतितत्वाद् विराट् पुरुषः उपासनाविषयः. अथवा अग्रे ‘परात्परम्’ इति कथनात् सर्वेभ्यः परो *ब्रह्म परपुरुषएव अत्र उपास्यो अस्तु इति प्राप्ते, उच्यते.

*“परो ब्रह्मा वा अत्र उपास्यो”.

सः, अभिध्यानविषयः परपुरुषः परमात्मैव. कुतः? ईक्षतेः कर्मत्वेन व्यपदेशात्. जीवघनात् केवलजीवाधारभूताद् ब्रह्मलोकात् पररूपपुरुषदर्शनम् ईक्षति अर्थः. तत्कर्म ब्रह्मैव भवितुम् अर्हति. तदेव ध्यानकर्मत्वेनापि उच्यते. उभयोः एकत्वात्. ध्यानफलं परपुरुषदर्शनं ब्रह्मसाक्षात्कारः ईक्षतिना उच्यते. न तद् अन्यध्यानफलं भवितुम् अर्हति. अतो ध्यानविषयः परमात्मैव इति सिद्धम् ॥१३॥

“अथ यदिदम् अस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरो अस्मिन् अन्तराकाशः तस्मिन् यदन्तः तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्” (छान्दो.उप.८।१।१) इत्यादि छन्दोग्ये श्रूयते. तत्र दहराकाशो जीवो? ब्रह्म वा इति संशयः. तत्र स्पष्टार्थाग्रिमप्रजापतिप्रकरणे अमृताभयरूपत्वेन जीवस्यैव निरूपणाद् एतत्प्रकरणस्यापि तेन एकार्थत्वस्य उचितत्वाद् अत्रापि दहरशब्दार्थो जीवो भवितुम् अर्हति, न ब्रह्म. प्रजापतिप्रकरणाद् अर्थान्तरप्रसक्तेः इति प्राप्ते, उच्यते.

दहर उत्तरेभ्यः ॥१४॥

दहरः परमात्मा, न जीवः कुतः? उत्तरेभ्यः, उत्तरसूत्रेषु वक्ष्यमाण-हेतुभ्यः. तेषामपि ब्रह्मपरत्वस्य साधनीयत्वात् सामान्यरूपेण कथनम्. अतो अग्रिमप्रकरणस्यापि ब्रह्मपरत्वेनैव निर्णयाद् इदं प्रकरणद्वयं ब्रह्मपरं, नतु जीवस्य ब्रह्मत्वेन निरूपणपरम्. तस्माद् ब्रह्मैव दहरपदवाच्यम् ॥१४॥

उत्तरहेतुषु हेतुद्वयम् आह.

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च ॥१५॥

गतिः शब्दः च ताभ्याम्. गतिः ब्रह्मलोकगतिः, “एवमेव इमाः सर्वाः प्रजाः अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति” (छान्दो.उप.८।३।२) इति, “एष आत्मापहतपाप्मा सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः” (छान्दो.उप.८।१।५) इति केवलब्रह्मवाचकाः शब्दाश्च. ताभ्याम् अत्र दहरशब्दवाच्यं ब्रह्मैव. ननु अहरहः गमनं जीवस्यैव स्वप्नमायामनोरथादिषु युक्तम्. तथा अपहतपाप्मादयोऽपि जीवस्य ब्रह्मरूपत्वाद् जीवपराएव शब्दाः युक्ताः इति आशङ्क्य आह. तथाहि दृष्टम्. गतिशब्दौ ब्रह्मण्येव युक्तौ, न जीवे. “गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति”

(छान्दो.उप.८।३।२) इति कथनाद् ब्रह्मविषयिण्येव अत्र जीवानां गतिः प्रतिपाद्यते, न स्वप्नमायामनोरथादिगमनम्. सुषुप्तौ ‘सुखम् अहम् अस्वाप्सं न किञ्चिद् अवेदिषम्’ इत्यनुभवात्. जीवानां मायावेष्टनेन दोषयुक्तत्वाद् अपहतपाप्मत्वासम्भवश्च. जीवस्य ब्रह्मरूपत्वमपि न. “अंशो नानाव्यपदेशाद्” (ब्रह्मसू.२।३।४३) इत्यनेन भगवदंशत्वेनैव वक्ष्यमाणत्वात्. अतो गतिशब्दौ ब्रह्मविषयौ युक्तौ, न जीवपरौ. तथा लिङ्गं च वर्तते गतिशब्दयोः ब्रह्मपरत्वनिरूपणे. अत्र गतिविषयस्य ब्रह्मलोकशब्देन नित्यत्वनिरूपणाद् मनोरथादिकल्पितलोकानां, “यथैवेह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेव अमुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते” (छान्दो.उप.८।१।६) इति श्रुत्या क्षयिष्णुत्वकथनाद् ब्रह्मविषयिण्येव अत्र गतिः प्रतिपाद्यते. अपहतपाप्मब्रह्मलोकादयः शब्दाः ब्रह्मपराएव युक्ताः, न जीवपराः. “एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति” (छान्दो.उप.८।३।२) इति कथनात्. जीवस्य स्वज्ञानासम्भवात्. अतो लिङ्गादपि गतिशब्दयोः ब्रह्मपरत्वं युक्तम्. चकारात्, “तमेव विदित्वा” (श्वेता.उप.३।८) इति श्रुत्या ब्रह्मणो ज्ञानं मोक्षाय, नतु आत्मनो ब्रह्मत्वेन ज्ञानम् इति उक्तम्. अतो दहरशब्दवाच्यं ब्रह्मैव ॥१५॥

हेत्वन्तरम् आह.

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥१६॥

“अथ यः आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानाम् असम्भेदाय” (छान्दो.उप.८।४।१) इति श्रुत्युक्तविधारणं ब्रह्मणएव सम्भवति, न अन्यस्य. ‘च’कारात् सेतुत्वमपि तस्यैव. ननु परिदृश्यमानस्य जगतो महत्वाद् अतिसूक्ष्मत्वाद् आकाशस्य तद्धारणासम्भवाद् वासनारूपेण स्वस्मिन् जगतो विद्यमानत्वाद् अरूपं गौणं धारणं वाच्यम्. तच्च जीवएव सम्भवतीति, न धारणात्मकहेतोः ब्रह्मत्वसाधकत्वम् इति आशङ्क्य आह. अस्य धारणात्मकस्य महिम्नो अस्मिन् ब्रह्मण्येव उपलब्धेः. यदि *अत्र गौणं धारणम् उच्येच, तर्हि संसारिधर्मत्वेन तस्य महिमा न स्यात्. विरुद्धधर्माश्रयत्वन्तु ब्रह्मणि अनेकप्रमाणसिद्धत्वाद् भूषणताम् आवहति. अतः एतादृशमहिम्नो जीवे असम्भवाद् दहरः परमात्मैव ॥१६॥

प्रसिद्धेश्च ॥१७॥

*मुद्रित पाठस्तु “धारणम् उच्यते, तर्हि तस्य संसारिधर्ममहिमा न स्यात्”.

एतत्प्रकरणोक्तानाम् 'आकाश'शब्दवाच्यत्वापहतपाप्मत्वादिनिखिल-
धर्माणां ब्रह्मण्येव प्रसिद्धेः ब्रह्मैव दहरपदवाच्यं, न जीवः. विधिमुखेन
अधिकरणसमाप्तिसूचकः चकारः ॥१७॥

इतरनिषेधद्वारा पुनः विचारयति. ननु ब्रह्मस्वरूपं जीवस्वरूपञ्च
श्रुत्येकसमधिगम्यम् इति, यथा ब्रह्मणो असाधारणधर्मदर्शनाद् इदं प्रकरणं ब्रह्मणः
इति निर्णीयते, तथा अत्र जीवस्य असाधारणधर्मदर्शनात् तस्यैव इदं प्रकरणम् इति
निश्चिते, “यावान् वा अयम् आकाशः तावान् एषो अन्तर्हृदयमाकाशः”
(छान्दो.उप.८।१।३) इति आकाशतुल्यत्वादयो धर्माः जीवस्यैव भविष्यन्ति इति
न अस्मिन् प्रकरणे ब्रह्मप्रतिपादनम् इति सूत्रार्द्धेन आशङ्क्य समाधत्ते.

इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासम्भवात् ॥१८॥

इतरो जीवः, तस्य परामर्शाद् उपक्रमोपसंहारमध्येषु, “अथ य एष
सम्प्रसादो अस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूपं सम्पद्य स्वेन रूपेण
अभिनिष्पद्यते” (छान्दो.उप.८।३।४) इत्यादिषु अभिनिष्पत्तिकथनेन जीवस्यैव
परामर्शात् सः जीवएव अत्र प्रतिपाद्यते इति चेद् न. जीवे जगदाधारत्वादिधर्माणाम्
असम्भवात्. जीवपरामर्शस्तु अन्यार्थः इति अग्रे वक्ष्यति. अतो दहरशब्दवाच्यो न
जीवः ॥१८॥

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥१९॥

उत्तरात् प्राजापत्यप्रकरणात्. तत्र मनोरूपदिव्यचक्षुषि प्रतीयमानो
जीवएव अमृताभयरूपः उक्तः. तस्यैव जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्ति-साक्षित्वम् उक्त्वा
सर्वत्र तस्य अमृतरूपत्वं निरूपितम् इति जीवेऽपि तादृशधर्मसम्भवाद् उत्तरप्रकर-
णानुरोधाद् अत्रापि *जीवएव वाक्यार्थः इति आशङ्क्य आह. **आविर्भूत-
स्वरूपस्तु.** तुशब्देन पक्षं व्यावर्तयति. जीवे तादृशधर्मवत्त्वं न दूष्यते, किन्तु
अधिकं किञ्चिद् उच्यते इति नकारप्रयोगाभावः. जीवे यदा भगवदाविर्भावो भवति
तदा ते धर्माः आविर्भवन्ति, नतु सहजाः ते जीवे वर्तन्ते. अतः उपदेशावसरे
भगवदाविर्भावेन सर्वत्र भगवन्तं पश्यन् प्रजापतिः इन्द्रात्मन्यपि तथैव उक्तवान्.
एवम् अन्यत्रापि जीवे भगवद्धर्मकथनं भगवदावेशप्रयुक्तम् इति बोध्यम्. अतो न
जीवो दहरः ॥१९॥

*मुद्रित पाठस्तु 'जीवो'.

ननु तर्हि आदि-मध्यावसानेषु जीवपरामर्शस्य किं प्रयोजनम् इति आशङ्क्य आह.

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥२०॥

अन्यएव अर्थः प्रयोजनं यस्य परामर्शस्य सः तथा. एवञ्च स्वस्य ब्रह्मज्ञानेन ब्रह्मधर्मवत्त्वं भवति इति ज्ञाने सति ब्रह्मज्ञानार्थं प्रयत्नो भवति, तेन ब्रह्मात्मकत्वं फलञ्च भवति इति बोधनार्थं जीवपरामर्शः इति अर्थः. चकाराद् एतादृशप्रयत्ने भगवदाविर्भावो भवति इति सूचितम्. अतो जीवपरामर्शदर्शनाद् जीवप्रतिपादनम् अत्र इति न भ्रमितव्यम् ॥२०॥

ननु परामर्शवशेन प्रकरणोक्तधर्माणां जीवे उपपत्त्या च न प्रकरणस्य जीवपरत्वं कल्प्यते, किन्तु प्रकरणोक्तधर्माणां ब्रह्मणि अनुपपत्त्या जीवपरत्वकल्पनम् इति सूत्रेण आशङ्क्य समाधत्ते.

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥२१॥

अल्पे पुण्डरीके अवस्थानश्रुतेः ब्रह्मणो व्यापकत्वेन तत्र असम्भवाद् जीवस्यतु आराग्रमात्रत्वेन तत्र सामञ्जस्याद् जीवो अत्र निरूप्य इति चेत्. इदन्तु पूर्वम् उक्तं, “निचाय्यत्वाद् एवं व्योमवच्च” (ब्रह्मसू.१।२।७) इत्यत्र. हृदयकमले ब्रह्मणो निचाय्यत्वाद् द्रष्टुं शक्यत्वात्. तदायतनत्वेन निरूप्यते इति तस्य अर्थः. विरुद्धधर्माश्रयत्वन्तु भूषणमेव. अतो दहरशब्दवाच्यो भगवानेव इति सिद्धम् ॥२१॥

दहराकाशे अग्नि-वायु-सूर्यादीनां वर्तमानत्वं दहरस्वरूपनिरूपणे उक्तम् इति, तद्विरुद्धं वाक्यम् आशङ्क्य परिहरति. “न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतो अयम् अग्निः, तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति” (कठोप.२।२।१०) इति श्रूयते. तत्र यद्यपि अत्र ब्रह्मप्रकरणाद् इदं वाक्यं ब्रह्मपरम् इति ज्ञायते, तथापि दहरनिरूपणे सूर्यादीनां तत्र विद्यमानत्वम् उक्तम्. तत्रैव चेत् तेषाम् अभानं स्यात् तदा कुत्र भासन्ते इति न अस्मिन् वाक्ये ब्रह्मनिरूपणं, किन्तु सत्यलोकस्थितः तेजोविशेषः कश्चिद् अत्र निरूप्यो अस्ति यत्र सूर्यादीनाम् अभानम् इति प्राप्ते, उच्यते.

अनुकृतेस्तस्य च ॥२२॥

“तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वम्” (कठोप.२।२।१०) इत्यनेन सूर्यादि-

भानस्य भगवदनुकृतिनिरूपणार्थत्वाद् अस्मिन् वाक्ये ब्रह्मैव प्रतिपाद्यं, न अर्थान्तरम्. “न तत्र सूर्यो भाति” (कठोप.२।२।१०) इत्यादिना तेषां स्वतो भानं निषिद्धयते. किञ्च, “तस्य भासा सर्वमिदं विभाति” (कठोप.२।२।१०) इत्यनेन सूर्यादीनां स्वतो भानं न अस्ति इति उच्यते. सर्वोऽपि पदार्थो भगवद्भासनम् अनुकरोति सूर्यं रश्मयइव इति. अतः इदं ब्रह्मवाक्यमेव ॥२२॥

उक्ते अर्थे सम्मतिम् आह.

अपि स्मर्यते ॥२३॥

“न तद् भासयते सूर्यः” (भग.गीता१५।६) इति, “यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्, यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्” (भग. गीता१५।१२) इति च गीतायां स्मर्यते. अपीति समुच्चयः. अतः सर्वावभासको भगवानेव, तमेव सर्वम् अनुकरोति इति निरूपणाद् इदं वाक्यं ब्रह्मपरमेव इति सिद्धम् ॥२३॥

पुनर्बाधकान्तरम् आशङ्क्य परिहरति. “अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्ये आत्मनि तिष्ठति” (कठोप.२।१।१२), “ईशानो भूतभव्यस्य” (कठोप. २।१।१३) इति, “अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः” (कठोप..२।१।१३) इति च श्रूयते. तत्र “यावान् वा अयम् आकाशः” (छान्दो.उप.८।१।३) इति ‘दहर’पदवाच्यब्रह्मणो व्यापकत्वश्रवणाद् अत्रच अङ्गुष्ठमात्रश्रवणेन विरोधाद् लोकान्तरगमनयोग्यदेहयुक्तः उपासनार्थम् ईशानत्वादिधर्मवान् जीवएव अत्र प्रतिपाद्यो, न भगवान् इति प्राप्ते, उच्यते.

शब्दादेव प्रमितः ॥२४॥

अत्र ईशानः इति शब्दादेव अङ्गुष्ठप्रमितो भगवानेव उच्यते. यथा दहरवाक्ये सूक्ष्मस्यैव व्यापकत्वम् उक्तं, तथा अत्र अङ्गुष्ठमात्रस्यैव ईशानत्वम् उक्तम्. नहि एतादृशो अन्यो भवितुम् अर्हति. अतो अङ्गुष्ठमात्रो भगवान् इति सिद्धम् ॥२४॥

ननु श्रुतौ भगवतो माहात्म्यार्थं विरुद्धधर्माश्रयत्वम् अनेकरूपत्वञ्च उच्यते. तत्र प्रादेशमात्रत्वं ध्यानार्थम् उक्तम्. अङ्गुष्ठमात्रत्वस्यतु प्रयोजनं न पश्यामः इति आशङ्क्य आह.

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥२५॥

निष्प्रयोजनत्वव्यावर्तकः तुः. प्रयोजनम् आह. हृदि अङ्गुष्ठमात्रं निरूप्यते. तत्र हेतुः. अपेक्षया, “ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति” (भग.गीता१८।६१) इति स्मृत्युक्तनियमनात्मकेश्वरकार्यापेक्षया. ननु प्रादेशादि-मात्रेणैव नियमनं भविष्यति इति आशङ्क्य आह. मनुष्याधिकारत्वात्. मनुष्याधिकारेणैव मृत्यूपारख्यानप्रवृत्तेः मनुष्यहृदयस्य अङ्गुष्ठमात्रत्वात् तत्परि-माणमेव उक्तम्. अतो अङ्गुष्ठमात्रो अत्र परमात्मैव उच्यते इति सिद्धम् ॥२५॥

ननु मनुष्यहृदयापेक्षया ब्रह्मणो अङ्गुष्ठमात्रोक्तेः ब्रह्मविद्यायां मनुष्याणामेव अधिकारो, न देवादीनाम् इति आशङ्कायाम् आचार्यः स्वमतेन समाधत्ते.

तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ॥२६॥

तेषां मनुष्याणाम् उपरि विद्यमानानां साध्यादीनामपि ब्रह्मविद्यायाम् अधिकारं बादरायणो मन्यते. कुतः? तेषां सातिशय-धर्मज्ञानजनित-विशिष्टजन्मवत्त्वेन तादृशाधिकारस्य सम्भवात्. अत्र जैमिनिप्रभृतीनां विप्रतिपत्तेः स्वनामग्रहणम्. धर्मयुक्तत्रैवर्णिकेभ्यो हीनानान्तु वेदाध्ययनाभावादेव अनधिकारः सिद्धः. तदुपरितनानान्तु, “यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत सएव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्” (बृहदा.उप.१।४।१०) इति श्रुत्या ब्रह्मज्ञानेन मोक्षश्रवणात् तेषाम् अधिकारः सिद्धः ॥२६॥

ननु देवादीनाम् उत्तरकाण्डोक्तज्ञानाधिकारे स्वीक्रियमाणे पूर्वकाण्डोक्त-वेदाध्ययनोपनयनयज्ञादिष्वपि अधिकारो वक्तव्यः. सतु तेषां ब्राह्मण्याभावाद् देशद्रव्याभावाद् देवतान्तराभावाच्च न सम्भवति. तदभावेऽपि यागादौ क्रियमाणे वेदविरोधः इति सूत्रार्द्धेन आशङ्क्य परिहरति.

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥२७॥

न एवं वक्तुं शक्यते. श्रुतौ, “साध्या वै देवाः सत्रमायन्” (तैत्ति.संहि. ७।२।१) इत्यादिना अनेकानां प्रतिपत्तिः कर्मणि प्रवृत्तिः, तस्याः दर्शनात्. “एकशतं वर्षाणि प्रजापताविन्द्रो ब्रह्मचर्यम् उवास” (छान्दो.उप.८।११।३) इति श्रुत्या ज्ञानेऽपि प्रवृत्तिदर्शनाद् उपरितनानामपि ज्ञानकर्माधिकारः सिद्धः ॥२७॥

ननु देवादीनां कर्मकरणे विरोधाभावेऽपि शब्दे वैदिके विरोधो भविष्यति. वेदार्थज्ञानानन्तरं हि कर्मकरणं सम्भवति. तत्र साध्यादीनां कर्मकरणं वेदएव

उच्यते, तज्ज्ञात्वा साध्यादीनां कर्मकरणं विरुद्धम्. साध्यान्तरकल्पनेतु अनवस्था स्यात्. “सो अग्निष्टोमेन वसूनयाजयद्” (तैत्ति.संहि.७।२।१) इत्यत्र उत्पन्नानां वसूनां वृत्तान्तकथनेतु नित्यानित्यसंयोगविरोधाद् वेदस्यापि अनित्यत्वं स्याद् इति आशङ्क्य परिहरति.

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥२८॥

न, शब्दोक्तानां साध्यादिपदार्थानाम् अतः शब्दादेव प्रभवात् प्रकाशनात्. लौकिकघटादिपदार्थेभ्यो भगवदवयवभूताः सच्चिदानन्दात्मकाः वैदिकाः घटादयः पदार्थाः भिन्नाएव अङ्गीकर्तव्याः. तत्प्रतिपादकत्वाद् वेदस्य न नित्यानित्यसंयोगः. तत्र प्रमाणम् आह. प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्. इदानीमेव प्रत्यक्षं यजमानो यजमानकृत्यम् ऋत्विजोऽपि स्वकृत्यं वेदादेव जानन्ति. ‘जमदग्नीनां पञ्चावत्तम्’ इत्यत्रतु स्वस्मिन् जामदग्न्यत्वम् अनुमाय पुरोडाशादिषु पञ्चावत्तत्वं कुर्वन्ति. यजमानत्वं प्रत्यक्षगम्यं, जामदग्न्यत्वम् अनुमानगम्यम्. अतो वेदबोधितभगवदवयवात्मक-यजमानादीनां तत्तत्संस्कारैः स्वस्मिन् आवेशात् तत्तत्कार्यकरणं युज्यते. अतो अलौकिकपदार्थप्रतिपादकत्वाद् वैदिकशब्दे न विरोधः इति सिद्धम् ॥२८॥

विशेषोपपत्तिं पूर्वोक्तस्य उपष्टम्भिकाम् आह

अत एव च नित्यत्वम् ॥२९॥

अतः आधिदैविकपदार्थप्रतिपादकत्वादेव वेदस्य लौकिकप्रपञ्च-वैलक्षणेन नित्यत्वं ज्ञेयम्. चकारात् शब्दब्रह्म-वेदपुरुषादि-शब्दवाच्यत्वञ्च ज्ञेयम्. अतः आधिदैविकपदार्थनिरूपकत्वाद् वेदस्य नित्यत्वं सिद्धम् ॥२९॥

ननु वेदवाच्यानाम् आधिदैविकघटादीनाम् अतीन्द्रियत्वेन व्यवहार-विषयत्वाभावाद् वैदिकपदार्थेषु शक्तिग्रहार्थं लौकिकपदार्थो अपेक्षितः. लौकिकप्रपञ्चस्य वैदिकप्रपञ्चानुकारित्वात्. तथा सति लौकिकप्रपञ्चस्य सृष्टिप्रलयसत्त्वात् तथैव नित्यानित्यसंयोगदोषप्राप्तिः इति आशङ्क्य आह.

समाननामरूपत्वादावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ॥३०॥

यद्यपि लौकिकप्रपञ्चस्यापि ब्रह्मात्मकत्वात् तस्यापि आविर्भाव-तिरोभावावेव, नाशोत्पत्तिप्रतीतिः भ्रान्तेः तथापि लौकिकप्रतीत्यनुसारेण आवृत्तावपि उत्पत्तिप्रलयसत्त्वेऽपि समाननामरूपत्वात् प्रलये ब्रह्मणि लीनस्य

घटादिपदार्थस्य सृष्टिकाले तथैव नामरूपविशिष्टस्य उद्गमाद् भेदकान्तराभावाद् जलप्रवाहवद् नित्यत्वेन प्रतीतेः न नित्यानित्यसंयोगात्मको विरोधः. कुतः? दर्शनात्. वेद-पितृ-मातृ-स्त्रीशरीर-गङ्गादिषु तदेव इदम् इति व्यवहारदर्शनात्, “सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वम् अकल्पयद्” (ऋग्वेद१०।१९०।३) इत्यादि-श्रुतिदर्शनाच्च. “प्रजाः सृज यथापूर्वं याश्च मय्यनुशेरते” (भाग.पुरा.३।९।१४) इत्यादिस्मृतेश्च. ऋषीणां पूर्वचरित-स्मरणात्मक-सर्वस्मृतेश्च. अतो न शब्दे कोऽपि विरोधः ॥३०॥

अर्थबलविचारेण पूर्वपक्षम् आह.

मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ॥३१॥

ननु, “असौ वा आदित्यो देवमध्वि” (छान्दो.उप.३।१।१)त्यादिना उक्तमधुविद्यायां सूर्यस्य देवमधुत्वेन उपासनोक्तेः तदुपासनायां सूर्यस्य कर्तृत्वासम्भवाद् एवं देवतान्तरोपासनास्वपि. तत्तद्देवानां कर्तृत्वासम्भवात् सर्वत्र ज्ञाने कर्मणि च देवानाम् अनधिकारः इति जैमिनिः आचार्यो मन्यते ॥३१॥

ज्योतिषि भावाच्च ॥३२॥

सर्वेषां देवानां ज्योतिःचक्रे नक्षत्रादिरूपेण भोगकरणदर्शनाद्, “अग्निः पुच्छस्य प्रथमं काण्डम्” (तैत्ति.आर.२।१९) इत्यादिश्रुतेश्च तेषां प्राप्तैश्वर्याणां सर्वोपास्यानां ज्ञान-कर्मणोः उपयोगाभावाद् न अधिकारो देवानाम् इति प्राप्ते ॥३२॥

बादरायणः स्वमतेन सिद्धान्तम् आह.

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥३३॥

पूर्वपक्षव्यावर्तनार्थं तुः. भावं देवानां ज्ञानकर्माधिकारसद्भावं बादरायणः आचार्यो मन्यते. किम् अलौकिकज्ञानेन अधिकारं मनुते? तर्हि अलौकिकज्ञानं जैमिनेरपि अस्ति इति तुल्यबलत्वाद् विकल्पापत्तिः इति आशङ्क्य आह. अस्ति हि. “देवा वै सत्रमासत” (तैत्ति.संहि.२।३।३) इत्यादिभिः, “तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत सएव तदभवद्” (बृहदा.उप. १।४।१०) इत्यादिभिश्च श्रुतिभिः देवानामपि ज्ञानकर्माधिकारो अस्ति. हि युक्तो अयम् अर्थः. यत्र मध्वादिविद्यासु सूर्यादिदेवानाम् उपास्यत्वं दृश्यते, ते देवाः भगवदवयवभूताः आधिदैविकाः भिन्नाएव अतः तेषाम् उपासनम्

आधिभौतिकानाम् एतत्सूर्यादीनां युक्तमेव इति भावः. नच पूर्वकल्पीयाः वस्वादयः एतत्कल्पीयवस्वादीनाम् उपास्याः इति वाच्यम्. तेषाम् अनित्यत्वेन अनुपास्यत्वात् तेषाम् उपास्यत्वबोधकवेदस्य अनित्यत्वप्रसङ्गाच्च. अतो भगवदवयवात्मकाधिदेवानाम् उपास्यत्वबोधकदेवानामपि अधिकारो अस्ति इति सिद्धम् ॥३३॥

प्रसङ्गात् शूद्रस्य अधिकारम् आशङ्क्य परिहरति. छान्दोग्ये, “अह हारे त्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्तु” (छान्दो.उप.४।२।३) इति “शूद्रानेन मुखेन आलापयिष्यथा” (छान्दो.उप.४।२।५) इति च जानश्रुतिं शूद्रत्वेन सम्बोध्य रयिक्वः संवर्गविद्याम् उक्तवान्. अतो यथा, “एतया निषादस्थपतिं याजयेत्” (आप.श्रौ.सू.९।१४।१२), “हविष्कृदाधाव” (शुक्ल.य.वेद१।१५) इति शूद्रस्य इति लिङ्गात् कर्मविशेषे शूद्रस्य अधिकारः एवम् इहापि संवर्गविद्यायां शूद्रस्य अधिकारः इति आशङ्क्य परिहरति.

शुगस्य तदनादरश्रवणात् तदाद्रवणात् सूच्यते हि ॥३४॥

अस्य जानश्रुतेः, तदनादरश्रवणात्, “कंवरः एनम् एतत् सन्तं सयुग्वानमिव रयिक्वम् आत्थ” (छान्दो.उप.४।१।३) तस्माद् हंसाद् अनादरश्रवणात् शुक् शोको जातः. तेन किं जातम् इति आकाङ्क्षायाम् आह. तदाद्रवणात् तत् तदनन्तरम् आद्रवणात् शूद्रत्वं जातम् इति अर्थः. शुचम् अनु आद्रवति इति शूद्रः. पृषोदरादित्वात् सिद्धः. ननु योगापेक्षया प्रबलत्वाद् रूढेः जातिशूद्रवाचकत्वं कुतो न भवति इत्यतः आह. सूच्यते हि. क्षत्रियं प्रति परोक्षवादेन शूद्रसम्बोधनेन हंसवाक्यजनितशोकवत्वसूचनात् तद्वृत्तान्ताभिज्ञत्वेन स्वस्य सर्वज्ञत्वं सूच्यते. ब्रह्मविदां सर्वज्ञत्वं युक्तम् इति हि शब्दार्थः. अतः शुचं प्रत्याद्रवणाद् जानश्रुतिं प्रति शूद्रेति सम्बोधनं न जातिशूद्रत्वेन ॥३४॥

ननु जानश्रुतेः जातिशूद्रत्वाभावे किं नियामकम् अतः आह.

क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥३५॥

जानश्रुतेः गो-निष्क-रथ-कन्यादिपदार्थानां रयिक्वाय दानात् क्षत्रियत्वम् अवगम्यते. नहि क्षत्रियाद् अन्यो ब्राह्मणाय एतद् दातुम् अर्हति चकाराद् विद्योपदेशोऽपि अन्यस्य न सम्भवति इति. ननु गवादिपदार्थानाम् अन्यस्यापि (स्याव/स्याप्य?) वदान्यस्य धनवतो दानसम्भवाद् न इदम् एकान्ततः क्षत्रियत्व-

साधकम् इति आशङ्क्य आह. उत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात्. उत्तरत्र संवर्गविद्योपासने, “अथाह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिम्” (छान्दो.उप.४।३।५) इति क्षत्रिय-ब्राह्मणौ उक्तौ. अतो अत्रापि क्षत्रिय-ब्राह्मणावेव युक्तौ, न शूद्रब्राह्मणौ. कक्षा चित्रा सेना यस्य सः कक्षसेनः. तस्य अपत्यं काक्षसेनिः. सएव सूत्रे चैत्ररथशब्देन उक्तः. चित्रा रथा यस्य सः चित्ररथः, तस्य अपत्यं चैत्ररथः इत्यर्थात्. चैत्ररथस्य अभिप्रतारिणः क्षत्रियत्वन्तु, “एतेन वै चित्ररथं कापेया अयाजयन्” (ताण्ड्यब्राह्म.२०।१२।५) इति श्रुत्यन्तराद् बोध्यम्. शौनकः कापेयो याजकः. याज्यश्च चित्ररथः क्षत्रियः. नहि शूद्रो याज्यो भवति. तत्पुत्रश्च काक्षसेनिः अभिप्रतारी. अतः उत्तरब्राह्मणक्षत्रियौ गुरुशिष्यौ संवर्गविद्यायाम् उक्तौ. अतो अत्रापि तथैव भवितुम् अर्हति इति न जातिशूद्रस्य संवर्गविद्यायामपि अधिकारः ॥३५॥

किञ्च.

संस्कारपरामर्शात् तदभावाभिलापाच्च ॥३६॥

क्वापि विद्यायां शूद्रस्य अधिकारः चेत् संवर्गविद्यायाम् अधिकारः कल्प्येत. सर्वत्र विद्योपदेशे उपनयनाख्यः संस्कारः परामृश्यते. “तं होपनिन्ये” (शत.ब्राह्म.११।५।३।१३), “अधीहि भगव इति होपससाद” (छान्दो.उप. ७।१।१), “तान् हानुपनीय” (छान्दो.उप.५।११।७) इत्यादिवाक्येषु विद्याप्रदानम् उपनयनपूर्वकं दृश्यते. शूद्रस्यतु तदभावाभिलापात् संस्काराभावकथनात् “चतुर्थ एकजातिः शूद्रः” (.....) इति, “न शूद्रे पातकं किञ्चिद् न च संस्कारम् अर्हति” (मनुस्मृ.१०।१२) इत्यादिवाक्येभ्यः. “न शूद्राय मतिं दद्याद्” (मनुस्मृ.४।८०) इति निषेधोऽपि चकारेण समुच्चीयते ॥३६॥

किञ्च.

तदभावनिर्द्धारणे च प्रवृत्तेः ॥३७॥

“सत्यकामो ह वै जाबालः” (छान्दो.उप.४।४।१) इति वाक्ये गौतमस्य सत्यकामवचनं श्रुत्वा “न एतद् अब्राह्मणो विवक्तुम् अर्हति” (छान्दो. उप.४।४।५) इति शूद्राभावनिर्द्धारणे सति, चकाराद् वर्णित्वनिर्द्धारणे सति उपनयनार्थं प्रवृत्तेः. अतो न जातिशूद्रस्य क्वापि विद्यायाम् अधिकारः ॥३७॥

अथ विद्याधिकारचिन्ता दूरे, वेदश्रवणादीनामेव निषिद्धत्वाद् इति आह.

“अथास्य वेदम् उपशृण्वतः त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्” (गौत.ध.सूत्र२।३।४) इति. “यद्युवा एतच्छमशानं यच् छूद्रः” (व.ध.सू.१८।११,१२) तस्मात् शूद्रसामीप्ये न अध्येतव्यम् इति. “उदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः” (गौत.ध.सू.१२।४) इत्यादिना वेदस्य श्रवणम् अध्ययनम् अर्थज्ञानम् एतत्त्रयमपि तस्य प्रतिषिद्धम्. इदं, “वेदाक्षरविचारेण शूद्रः पतति तत्क्षणाद्” (पार.स्मृ.१।७३) इति स्मृतेरपि सम्मतम् इति आह. स्मृतेश्च. अधिकरणसम्पूर्णताबोधकः चः. स्मार्ते ज्ञाने पौराणिके च सच्छूद्राणाम् अधिकारो, नतु कर्मजातिशूद्राणाम्. अतः क्वचिदपि वैदिकविषये न शूद्राधिकारः इति सिद्धम् ॥३८॥

प्रासङ्गिकं परिहृत्य प्रकृतं समन्वयोपयोगिविचारम् आरभते. कठवल्ल्यां श्रूयते. “यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतं महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद् विदुः अमृताः ते भवन्ति” (कठोप.२।६।२) इति. तत्र प्राणशब्दाद् वज्रोद्यमन-शब्दाच्च किम् अत्र प्राणोपासना, इन्द्रोपासना वा प्रतिपाद्यते उत ब्रह्मप्रकरणत्वाद् ब्रह्मोपासना वा इति? विषये, बलवद्बाधकश्रवणात् प्रकरणस्य दुर्बलत्वात् प्राणाएव अत्र उपास्याः. प्राणशब्दस्य च प्रत्यक्षतः उपलभ्यमानत्वात्. “अमृतं वै प्राणाः” (तैत्ति.संहि.२।६।८) इति श्रुतेः अमृतप्राप्तिरपि प्राणोपासकस्य युक्ता. “वज्रम् उद्यतम्” इत्यपि वियोगेन मरणजननेन प्राणानां भयरूपत्वाद् युक्तम्. अथवा इन्द्रो अत्र उपास्यः. “वज्रम् उद्यतम्” इत्यस्य इन्द्रपक्षे सामञ्जस्यात्. प्राणशब्दवाच्यत्वमपि इन्द्रस्य बलाधिष्ठातृत्वाद् युज्यते. अतः इन्द्रएव अत्र वाक्यार्थो, न ब्रह्म इति प्राप्ते, उच्यते.

कम्पनात् ॥३९॥

“प्राण एजति” (कठोप.२।६।२) इति अस्मिन् वाक्ये कम्पनं प्रतीयते. “एजृ कम्पने” (धातुपा.भ्वादि.१०९) इति धात्वर्थात्. तच्च भगवतः सर्वजगद्भयजनकत्वेन कम्पजननाद् भगवद्धेतुकमेव भवितुम् अर्हति, न प्राणहेतुकम् इन्द्रहेतुकं वा. वज्रोद्यमनमपि भगवतः सम्भवति. सर्वकर्तृत्वात् सर्वायुधत्वाच्च. “नन्वेष वज्रस्तव शक्र तेजसा हरेर्दधीचेस्तपसा च तेजितः” (भाग.पुरा.६।११।२०) इति वाक्येन वज्रे विशेषतो भगवत्सम्बन्ध-कथनाच्च.

अतो भगवतएव मारकं रूपम् अत्र उच्यते. तस्मात् कम्पनाद् हेतोः ब्रह्मैव अत्र वाक्यार्थः. प्राणशब्दवाच्यत्वन्तु ब्रह्मणो व्युत्पादितमेव ॥३९॥

“य एष सम्प्रसादो अस्मात् शरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते” (छान्दो.उप.८।१२।३) इति श्रूयते. तत्र पर‘ज्योतिः’शब्दवाच्यं महाभूतात्मकं ज्योतिः ब्रह्म वा इति संशये, ज्योतिःपदस्य रूढ्या भौतिकतेजोवाचकत्वात् तद्वाचकमेव अत्र ज्योतिःपदम् इति प्राप्ते अभिधीयते.

ज्योतिर्दर्शनात् ॥४०॥

ज्योतिःशब्दं ब्रह्मैव. कुतः? दर्शनाद्, न्यायाद् इति अर्थः. सुषुप्त्यवस्थायां “सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे”(छान्दो.उप.६।१।२) इति, “अहरहः ब्रह्मलोकं गच्छन्ति” (छान्दो.उप.८।३।२) इत्यादिषु सर्वत्र ब्रह्मसम्पत्तिः उक्ता. तन्न्यायाद् अत्रापि ‘सम्प्रसाद’शब्देन सुषुप्तिकथनात् परज्योतिःसम्पत्तिः ब्रह्मप्राप्तिरेव इति ज्योतिःशब्देन ब्रह्मैव उच्यते, न भौतिकं तेजः. अतो यः कश्चन शब्दो ब्रह्मधर्मबोधकशब्दैः सह पठितः सः ब्रह्मवाचकएव इति बोध्यम् ॥४०॥

“आकाशो वै नामरूपयोः निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म” (छान्दो.उप. ८।१४।१) इति श्रूयते. तत्र आकाश-शब्देन रूढ्या भूताकाशो वा, प्रकरणाद् ब्रह्म वा इति सन्देहे भूताकाशएव अत्र ग्राह्यो ‘रूढेः बलीयस्त्वात्’. भूताकाशस्यापि अवकाशदानाद् नामरूपनिर्वाहकत्वं युज्यते. अतो भूताकाशएव अत्र प्रतिपाद्य इति प्राप्ते अभिधीयते.

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥४१॥

आकाशः परमात्मैव. कुतः? भूताकाशस्य श्रुतिसिद्धं यत् प्रयोजनं तस्माद् अर्थान्तरस्य प्रयोजनान्तरस्य व्यपदेशात् कथनाद् इति अर्थः. अवकाशदानेन नामरूपनिर्वाहकत्वं न माहात्म्यप्रतिपादकम्. अत्रतु, वै इति निश्चयवाचकपदकथनाद् माहात्म्यरूपं नामरूपनिर्वाहकत्वम् उक्तम्. तद्ब्रह्मणएव भवति इति आकाशशब्दवाच्यं ब्रह्मैव अत्र. एवम् अन्यत्रापि अतदीयाः उत्कृष्टधर्माः यत्र आम्नाताः तद् ब्रह्मैव भवति इति ज्ञेयम्. नामरूपनिर्वाहकत्व-रूपब्रह्मधर्मस्य अन्यत्र अनुक्तस्य कथनार्थम् इदम् अधिकरणम्. अतो अत्र

आकाशः परमात्मा इति सिद्धम् ॥४१॥

बृहदारण्यके ज्योतिर्ब्राह्मणे, “याज्ञवल्क्य किं ज्योतिः अयं पुरुषः”
(बृहदा.उप.४।३।२) इत्यारभ्य, “अभयं ह वै ब्रह्म भवति य एवं वेद”
(बृहदा.उप.४।४।२५) इत्यन्तं श्रूयते. तत्र इदं जीवस्य ब्रह्मत्वप्रतिपादनेन
जीववाक्यम्, आहोस्विद् ब्रह्मणो ज्ञेयत्वप्रतिपादनेन ब्रह्मवाक्यम् इति संशये,
आपाततो अत्र जीवस्य ब्रह्मभावप्रतिपादनाद् अन्यप्रतीतेः जीववाक्यमेव इदम् इति
प्राप्ते अभिधीयते.

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥४२॥

‘व्यपदेशाद्’ इति अनुषज्ज्यते. तथाच सुषुप्तिनिरूपणे उत्क्रान्तिनिरूपणे
च जीव-ब्रह्मणोः भेदेन व्यपदेशात् कथनाद् ब्रह्मणएव ज्ञेयत्वेन निरूपणेन
ब्रह्मवाक्यमेव इदम् इति युक्तम् ॥४२॥

किञ्च.

पत्यादिशब्देभ्यः ॥४३॥

“सर्वस्य वशी” (बृहदा.उप.४।४।२२) इत्यादिभ्यः शब्देभ्यः स्पष्टमेव
इदं प्रकरणं ब्रह्मणः इति निश्चीयते. अतो अत्र ब्रह्मैव प्रकरणार्थः इति सिद्धम्
॥४३॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तौ मरीचिकाख्यायां प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥३॥

॥ चतुर्थः पादः ॥

एवं सकलवेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वये प्रतिपादिते, केषांचिद्
वेदार्थाविदुषां क्वचिद् वेदे साङ्ख्यमतानुसारि-शब्ददर्शनात् तन्मतमपि
वेदमूलकमेव इति आशङ्का स्यात्, तन्निवारणं चतुर्थपादे क्रियते. तत्र
ईक्षत्यधिकरणे साङ्ख्यमतम् अशब्दम् इति उक्त्या निराकृतं, तद्वेदे प्रतिपादितम्
इति आशङ्क्य निराकरोति.

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥१॥

एकेषां कठशाखासु,

“इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः,

मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेः आत्मा महान् परः,

महतः परमव्यक्तम् अव्यक्तात् पुरुषः परः,
पुरुषात् न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः”

(कठोप.१।३।१०,११)

इति आनुमानिकं साङ्ख्यमतसिद्धं प्रकृत्यादिकं श्रूयते. बुद्धेः सकाशाद् आत्मा अहङ्कारः परः. ततो महान् महत्तत्त्वम्. ततो अव्यक्तं प्रकृतिः. ततः पुरुषः परः इति श्रुतेः अर्थः. अतो अहङ्कारादिपदार्थानां साङ्ख्यमतसिद्धानां श्रुतौ दर्शनात् साङ्ख्यमतमपि श्रौतं भवितुम् अर्हति इति चेद्, न एवं शब्दसादृश्येन तन्मतस्य वैदिकत्वसिद्धिः वक्तुं शक्या. तेषां शब्दानां प्रकृते भिन्नार्थकत्वात्. *सन्दिग्धपदानां पूर्वापरानुसारेण अर्थः कर्तव्यः.

पूर्वन्तु,

“आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु,
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च,
इन्द्रियाणि हयनाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्,
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः”

(कठोप.१।३।३,४)

इति उक्तम् अतः तदनुसारेणैव अस्य अर्थः उचितः. तदेव आह. शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः. शरीरसम्बन्धिनः इन्द्रियादयो रथादिषु रूपकभावेन पूर्वम्, “आत्मानं रथिनं विद्धि” (कठोप.१।३।३) इत्यादौ विन्यस्ताः. तेषामेव अत्र गृहीतेः ग्रहणात्. तत्र जीवस्य ब्रह्मप्राप्तौ मुख्यं साधनं शरीरं रथत्वेन रूपितम्. तन्निर्वाहकाणि इन्द्रियाणि हयाः. तन्नियामकः प्रग्रहो रश्मिः, सच सूताधीनः. तद्गतिस्तु मार्गाधीना. मार्गस्तु प्राप्याधीनः इति. एवं सम्यग् ज्ञात्वा प्राप्यदेशं प्राप्नोति इति पूर्वम् उक्तम्. तेषामेव अत्र ग्रहणं युक्तम्. तत्र इन्द्रियाणां नियामकाः विषयाः. तेषां तदधीनत्वात्. विषयाणां सम्यक्त्वेन मनसा भावनाद्, मनसा अभावितविषयाणाम् इन्द्रियाकर्षकत्वाभावाद् विषयेभ्यः परं मनः. बुद्धेः मनोनियामकत्वात् ततः परत्वम्. बुद्धेः सकाशाद् आत्मा विज्ञानं ब्रह्मविषयकत्वाद् महत् तत्परम्. महतो विज्ञानात् परम् अव्यक्तं, न व्यक्तम् अप्रकटं भगवत्कृपा तस्याः भगवदधीनत्वात्. ततः उत्कृष्टः पुरुषो भगवानेव इति पूर्ववाक्यसम्बन्धः.

*‘पदार्थानाम्’.

*एवमेव अर्थो एतद्वाक्यस्य उचितो नतु साङ्ख्यसिद्धपदार्थबोधकत्वम्. एतादृशमेव अर्थं श्रुतिः स्वयमेव अग्रे दर्शयति “एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते, दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः” (कठोप.१।३।१२) इति स्वयं दर्शयति. सूक्ष्मया उपनिष-दनुसारिण्या बुद्ध्या भगवान् दृश्यते प्राप्यते इति अर्थः. चकारेण, “ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्” (भग.गीता १८।५५) इति स्मृतेः ग्रहणम्. अतो ब्रह्मप्राप्तिसाधनबोधकम् इदं वाक्यं, न साङ्ख्यमतसिद्धपदार्थबोधकम् ॥१॥

ननु अत्र इन्द्रियादिरूपधर्मिप्रवाहाद् धर्मरूपा भगवत्कृपा अव्यक्तशब्देन ग्रहीतुम् अयुक्ता इति आशङ्क्य आह.

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥२॥

तुः पूर्वपक्षनिरासे. सूक्ष्मं तद् ब्रह्मैव, अव्यक्तमपि तदेव. धर्म-धर्मिणोः अभेदाद् भगवत्कृपापि सूक्ष्मशब्देन उच्यते. कुतः? अर्हत्वात् सूक्ष्मत्वाद् ‘अव्यक्त’शब्देन वक्तुं योग्यत्वात्. अतो अत्र भगवत्कृपैव अव्यक्तशब्दवाच्या ॥२॥

ननु अव्यक्तशब्दवाच्य-भगवत्कृपायाः भगवद्रूपत्वे पुरुषस्य ततः परत्वम् अनुपपन्नम्. नहि एकस्मिन्नेव परापरभावो भवति. धर्मरूपत्वेतु धर्मिप्रवाहपाठानुपपत्तिः इति आशङ्क्य आह.

तदधीनत्वादर्थवत् ॥३॥

धर्म-धर्मिणोः अभेदेऽपि कृपायाः तदधीनत्वाद् भगवतः ततः परत्वं युज्यते. ननु उक्तम् एकस्मिन् परापरभावानुपपत्तिः इति आशङ्क्य दृष्टान्तेन समाधत्ते. अर्थवत्. अर्थः पुरुषार्थः फलं, तद्वत्. यथा, “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१) इति वाक्ये एकस्यैव ब्रह्मणः सच्चिद्रूपेण साधनीभूत-ज्ञानविषयत्वं, तस्यैव आनन्दरूपेण फलत्वम् उक्तम्. तथा अत्रापि कृपाविष्टः साधनम्. आनन्दरूपः फलम् इति न उक्तदोषावकाशः. यद्वा अव्यक्तशब्देन अक्षरं ब्रह्म. महान् आत्मविषयकं विज्ञानम्. तस्य विषयाधीनत्वाद् अक्षरब्रह्मणः ततः परत्वम्. अतः, “इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थाः” (कठोप.१।३।१०) इति वाक्ये

* मुद्रितपाठस्तु “पूर्ववाक्यसम्बद्धएव अर्थः. ‘एष सर्वेषु...’ इति.

जू.पाठस्तु “पूर्ववाक्यसम्बद्धएवार्थ एतद्वाक्यस्य उचितो नतु साङ्ख्यसिद्धपदार्थबोधकत्वम्. एतादृशमेव अर्थं श्रुतिः स्वयमेव अग्रे दर्शयति “एष सर्वेषु...’ इति.

साङ्ख्यमतसिद्धः कोऽपि पदार्थो न अस्ति इति, न तन्मतं श्रुतिमूलकम् इति अर्थः
॥३॥

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥४॥

साङ्ख्यवादिनां प्रकृतिपुरुषान्तरं ज्ञेयत्वेन उक्तम्. अस्मिन् वाक्ये तु अव्यक्तादयः पदार्था एव उक्ताः, न तु तेषां ज्ञेयत्वम् उक्तम्. नहि पदार्थनिर्देशमात्रेण साङ्ख्यमते पुरुषार्थः सिद्ध्यति. चकारात् तेषां मते प्रकृति-पुरुषयोः संश्लिष्टत्वम्, अत्र तु परापरभावः उक्तः इत्यपि वैलक्षण्यं सूचितम्. अतः, पूर्वापरविचारेण पूर्वम् अर्थः उक्तः. अस्मिन् सूत्रे तु एतद्वाक्यार्थमात्रविचारेणापि साङ्ख्याभिमतो अर्थो न सिद्ध्यति इति उक्तम् ॥४॥

ननु ज्ञेयत्वमपि अत्र उच्यते. “इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः” (कठोप.१।३।१०) इति अस्मिन् वाक्ये पदार्थनिर्देशमात्रं कृत्वा अग्रे, “अशब्दम् अस्पर्शम् अरूपम् अव्ययं तथा अरसं नित्यम् अगन्धवच्च यद्, अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते” (कठोप.१।३।१५) इत्यनेन ‘निचाय्य’ दृष्ट्वा तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते इति कथनाद् ज्ञेयत्वं वदति इति आशङ्क्य परिहरति.

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥५॥

प्रकरणं हि वाक्यार्थे नियामकं, तच्च परमात्मन एव. अतो अस्मिन्नपि वाक्ये प्राज्ञः परमात्मैव निचाय्यो, न तु प्रधानम्. अतः प्रकरणस्य नियामकत्वाद् अशब्दम् इत्यपि वाक्यं ब्रह्मवाक्यमेव ॥५॥

ननु न अत्र सर्वम् एकं प्रकरणम्, अपितु “इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः” (कठोप.१।३।१०) इत्यारभ्य “नाचिकेतम् उपाख्यानम्” (कठोप.१।३।१६) इत्यन्तं प्रकृतिपुरुषनिरूपकं भिन्नमेव प्रकरणम्. तत्र “इन्द्रियेभ्यः परा” (कठोप.१।३।१०) इति वाक्ये पदार्थनिर्देशः. “एषः सर्वेषु भूतेषु” (कठोप.१।३।१२) इति वाक्ये पुरुषनिरूपणम्. अशब्दम् इतितु प्रकृतिनिरूपणम्. अतः एतावत् प्रकरणं साङ्ख्यमतनिरूपकम् अस्तु इति आशङ्क्य आह.

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥६॥

अत्र कठवल्ल्यां, “स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि” (कठोप.१।१।१३) इत्यादिना प्रथमम् अग्निप्रश्नः. “प्र ते ब्रवीमि” (कठोप.१।१।१४) इत्यादिना तद् उत्तरम्. “येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये” (कठोप.

१।१।२०) इति जीवविषयको द्वितीयः प्रश्नः. “देवैरत्रापि” (कठोप.१।१।२२) इत्यादिना उत्तरम्. “अन्यत्र धर्माद् अन्यत्राधर्माद्” (कठोप.१।२।१४) इति ब्रह्मविषयकः तृतीयः प्रश्नः. “सर्वे वेदा यत् पदम् आमनन्ति” (कठोप. १।२।१५) इत्यादिना उत्तरनिरूपणम्. एवं त्रयाणाम् अग्नि-जीव-ब्रह्मणाम् उपन्यासः कथनं, तेषामेव प्रश्नः च. कथने प्रश्नस्य हेतुत्वसूचनार्थं सूत्रे प्रश्नस्य पश्चाद् निर्देशः. यद्यत्र साङ्ख्यमतमपि निरूपणीयं स्यात् तदा चतुर्थस्यापि उपन्यासः प्रश्नश्च स्याद् अतः प्रकरणानुरोधात् प्राज्ञस्य ब्रह्मणएव अत्र निरूपणं, न मतान्तरीयपदार्थस्य इति ज्ञेयम् ॥६॥

ननु साङ्ख्यमते अन्यवाचकानां पदानां प्रकृते ब्रह्मवाचकत्वे प्रमाणाभावः इति आशङ्क्य आह.

महद्वच्च ॥७॥

“महान्तं विभुम् आत्मानं” (कठोप.१।२।२२), “वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्” (श्वेता.उप.३।८) इत्यादौ यथा महच्छब्दो यौगिकः सन् ब्रह्मवाचकः. एवम् अव्यक्तशब्दोऽपि अत्र अक्षरवाचकः. नहि वेदान्तेषु, प्रथमकार्यरूपं महत्तत्त्वं महच्छब्देन वक्तुं शक्यते. तस्यैव अस्वीकारात्. अतः, “इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः” (कठोप.१।३।१०) इति वाक्ये *साङ्ख्यपदार्थगन्धोऽपि न अस्ति इति, न तन्मतस्य वेदमूलकत्वम् इति सिद्धम्. अधिकरणसमाप्तिबोधकः चः ॥७॥

श्रुत्यन्तरे पुनः आशङ्क्य परिहरति. ननु पूर्ववाक्ये प्रकरणात् पदानाम् अन्यो अर्थः उक्तः. यद्वाक्यं प्रकरणापेक्षारहितं, तदेव साङ्ख्यमतमूलं भविष्यति. “अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः, अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः” (श्वेता.उप.४।५). “देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्” (श्वेता.उप.१।३) इति. “ज्ञाज्ञौ द्वौ अज्ञौ ईशानीशौ, अजा ह्येका भोक्तृ-भोग्यार्थयुक्ता” (श्वेता.उप.१।९). “ऋषिं प्रसूतं कपिलं यः तम् अग्रे ज्ञानैः बिभर्ति जायमानञ्च पश्येद्” (श्वेता.उप.५।२) इत्यादि श्वेताश्वतरोपनिषदि. अन्यत्रच कपिलप्रशंसकानि तन्मतीयपदार्थ-निरूपकाणि च वाक्यानि वर्तन्ते इति कापिलमतस्यापि वेदमूलकत्वम् इति आशङ्क्य परिहरति.

*‘साङ्ख्यीय’.

यथा “अर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्, तस्यासते ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना” (बृहदा.उप.२।२।३) इति मन्त्रे कर्मविशेषं कल्पयित्वा तत्र अर्वाग्विलचमसं कल्पयित्वा तस्मिन् यशोरूपं सोमं सप्त होतारो मन्त्रेण भक्षयेयुः इति विशेषः कल्पयितुं न शक्यते. किन्तु मन्त्रान्तरेण व्याख्यातएव अर्थो बुद्ध्यते. तथा अत्रापि लोहित-शुक्ल-कृष्णशब्देन सत्वरजस्तमांसि कल्पयित्वा तदनुसारेण सर्वं कापिलमतं वैदिकम् इति न कल्पयितुं शक्यते. कपिलर्षिस्तावकवाक्यस्यापि नित्यभगवदात्मकाधिदैविक-कपिलस्तावकत्वाद् न दोषः. अन्यथा नित्यानित्यसंयोगविरोधदोषः स्यात्. अतो मन्त्रमात्रेण प्रकरणादिकम् अनपेक्ष्य न विशेषः कल्पयितुं शक्यते ॥८॥

ननु, “अर्वाग्विलश्चमसः” (बृहदा.उप.२।२।३) इति मन्त्रस्य मन्त्रान्तरे व्याख्यानम् अस्ति. “शिरश्चमसः प्राणा वै यशः” (बृहदा.उप.२।२।३) “प्राणा वा ऋषयः” (बृहदा.उप.२।२।३) इति. ननु अजामन्त्रस्य तथा व्याख्यानम् अस्ति इति आशङ्क्य आह.

ज्योतिरूपक्रमात्तु तथा ह्यधीयत एके ॥९॥

तुः पक्षव्यावर्तकः. अजाशब्देन ज्योतिः अत्र उच्यते. भगवतः प्रथमोत्पन्ना ज्योतीरूपा देवता अजाशब्देन उच्यते. यथा सा अल्पदोग्ध्री तथा इयमपि उपासिता अल्पसुखदात्री इति ज्ञापनाय अजापदप्रयोगः. कुतः? उपक्रमात् “तदेव अग्निः तद्वायुः तदादित्यः तदु चन्द्रमाः” (श्वेता.उप.४।२) इति ज्योतिषोपक्रमात्. “द्वा सुपर्णा” (श्वेता.उप.(.४।६) इति वाक्यम् अग्रे उक्तम्. मध्यपठितो अयं मन्त्रः पूर्वोत्तरसम्बन्धमेव अर्थं वक्ति. जीवब्रह्मरूपम् अजद्वयम् उक्तम्. अस्मिन् प्रकरणे अयम् अर्थो न स्पष्टः इति श्रुत्यन्तरसम्मतिं दर्शयति. तथाहि इत्यादि. तथाहि, “यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुल्कं तदपां यत्कृष्णं तद् अन्नस्य” (छान्दो.उप.६।४।१) इति श्रुत्यन्तरे स्पष्टमेव एके अधीयते. अतः त्रिवृत्कृततेजसो रोहित-शुक्ल-कृष्णत्वं युक्तम्. अतः चमसवाक्यवद् अत्रापि श्रुत्यन्तरेण अर्थविशेषोक्तेः इदं वाक्यं न साङ्ख्यमतस्य मूलम् ॥९॥

ननु योग-रूढिभेदेन शब्दप्रवृत्तेः द्वैविध्यात्, प्रथमकार्यात्मकज्योतिषि,

न जायते इति अजा इति योगासम्भवाद् रूढेः छान्दोग्याप्रसिद्धत्वात् कथम् अजाशब्दस्य प्रथमकार्यवाचकत्वम् इति आशङ्क्य आह.

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः॥१०॥

यथा अजा वर्कसरसहिता सवत्सा च स्वामिहितं करोति दुग्धादिना, तथा इयमपि उपासिता हितं करोति इति ज्ञापनाय अजाकल्पतायाः उपदेशाद् न पूर्वपक्षे उक्तो विरोधः. चकाराद् देवानां परोक्षप्रियत्वात् परोक्षपादो अयम् इति सूचितम्. मध्वादिवत्. यथा, “आदित्यो वै देवमधु,” (छान्दो.उप.३।१।१) “वाचं धेनुम् उपासीत” (बृहदा.उप.५।८।१), द्युप्रभृतीनाम् अग्नित्वं पञ्चाग्निविद्योक्तम्. तथा अत्रापि कथनाद् न दोषः. अतो अजाशब्दमात्राद् न साङ्ख्यमतस्य वेदमूलकत्वम् इति सिद्धम् ॥१०॥

ननु, “यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः, तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मा अमृतो अमृतम्” (बृहदा.उप.४।४।१७) इति बृहदारण्यकोक्तमन्त्रे पञ्चपञ्चेतिसङ्ख्याश्रवणात् साङ्ख्यमतस्य सम्भवति वेदमूलकत्वम् इति आशङ्क्य परिहरति.

न सङ्ख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥११॥

यद्यपि अत्र पञ्चपञ्चेत्यनेन पञ्चानां पञ्चगुणत्वम् उच्यते. पञ्चशब्दस्य सङ्ख्यावाचित्वे पञ्चसङ्ख्यायाः पञ्चसङ्ख्येत्यर्थकथने सङ्ख्यायां सङ्ख्याभावेन अनन्वयात् षष्ठीसमासानुपपत्तेः पूर्वपञ्चशब्दस्य सङ्ख्येयपरत्वे द्वितीयस्य सङ्ख्यापरत्वे पञ्चसङ्ख्येयानां पञ्चसङ्ख्येत्यर्थात् पञ्चपदार्थानामेव बोधात् समीहितासिद्धेश्च. अतो अत्र पञ्चजनानां पञ्चत्वं पञ्चपञ्चेति वीप्सा वा यथासम्भवम् अर्थो भवति. तथापि अत्याग्रहेण सङ्ख्योपसंग्रहादपि न समीहितसिद्धिः. कुतः? नानाभावात्. साङ्ख्योपसङ्ग्रहे कश्चन धर्मः पञ्चानाम् अनुगतो वक्तव्यः. सच तन्मते न सम्भवति. तथा सति पञ्चैव तत्त्वानि भवेयुः. अतः तेषां नानाभावः स्वीकर्तव्यः. स्वीकृतेतु तस्मिन् प्रकृते समासानुपपत्तिः. किञ्च अत्र साङ्ख्यमतपदार्थानिरूपणम् अस्मिन् वाक्येव प्रतीयते. यतः आकाशो यस्मिन् इत्यधिकरणत्वेन उक्तः आत्मा च अतिरेकेण उच्यते इति आह. अतिरेकाच्च इति. अतः एतन्मन्त्रेणापि न साङ्ख्यमतस्य वेदमूलकत्वसिद्धिः

॥११॥

ननु मन्त्रार्थस्तु अवश्यं कश्चन वक्तव्यः. अतो लक्षणया ज्योतिःशास्त्रवत् शास्त्रीयपरिभाषया वा पञ्च-पञ्चशब्दस्य पञ्चविंशति-सङ्ख्याबोधकत्वात् पञ्चविंशतितत्त्वान्तर्गतात्माकाशयोरेव माहात्म्यार्थम् आधाराधेयभावप्रदर्शनाच्च एतन्मन्त्रस्यैव साङ्ख्यमते मूलत्वम् इति आशङ्क्य निराकरोति.

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥१२॥

पञ्चजनशब्दवाच्याः प्राणादयएव. कुतः? “प्राणस्य प्राणम् उत चक्षुषः चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रम् अन्नस्य अन्नं मनसो मनः” (बृहदा.उप.४।४।१८) इति वाक्यशेषात्. ननु अस्य वाक्यशेषत्वं कथम् इति चेद् उच्यते. “प्राणस्य प्राणम्” (बृहदा.उप.४।४।१८) इति वाक्ये करणात्मकाः प्राणादयः उक्ताः. ते ज्ञानक्रियात्मकं कार्यं स्वेन व्यापारेण जनयन्ति इति तेषां करणान्तरानपेक्षणात् “प्राणस्य प्राणम्” (बृहदा.उप.४।४।१८) इति कथनं बाधितं स्यात्. अतः एतद्वाक्यस्य पञ्चजनवाक्यशेषत्वम् अङ्गीकृत्य द्वयोः वाक्ययोः एको अर्थो वक्तव्यः. एवञ्च बुद्धेः संशय-विपर्यास-निश्चय-स्मृति-स्वापलक्षण-पञ्चवृत्तिजनकत्वात् पञ्चजनाः प्राणादयएव. तेषां तत्तत्कार्यजनकत्वं न स्वतः, किन्तु सर्वेषाम् आधिदैविकरूपभगवतएव इति प्राणादीनां प्राणादिरूपो भगवानेव इत्येवं द्वयोः वाक्ययोः एकवाक्यतया अर्थकरणे सर्वसामञ्जस्यम्. अतः प्राणादयएव पञ्चजनाइति, न तन्मतं सिद्ध्यति ॥१२॥

ननु काण्वपाठे “प्राणस्य प्राणम्” (बृहदा.उप.४।४।१८) इति वाक्ये, “अन्नस्य अन्नम्” (बृहदा.उप.४।४।१८) इति न अस्ति, तदा कथं पञ्चजनकत्वं तत्र आह.

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥१३॥

एकेषां काण्वानां पाठे अन्ने असति ज्योतिषा पञ्चसङ्ख्या-पूरणम्. यतः एतत्पूर्वं पठितमन्त्रे “तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः” (बृहदा.उप. ४।४।१६) इति उक्तम् अतः तेन ज्योतिषा अत्र सङ्ख्यापूर्तिः. अतः एतत्पञ्चजनमन्त्रस्यापि न साङ्ख्यमतमूलत्वम् इति सिद्धम् ॥१३॥

ननु, “तस्माद्वा एतस्माद् आत्मन आकाशः सम्भूतः” (तैत्ति.उप.२।१) इति, “तेत्तेजो असृजत” (छान्दो.उप.६।२।३) इति, “एतस्माज्जायते प्राणः”

(मुण्डकोप.५।१।३) इति, “इदं सर्वम् असृजत” (बृहदा.उप.१।२।५) इत्यादौ क्वचिद् आकाशादिकायाः क्वचित्तेजआदिकायाः क्वचित् प्राणादिकायाः क्वचिदक्रमिकायाः सृष्टेः प्रतिपादनाद् वस्तुनो द्वैरूप्यासम्भवेन सृष्टिप्रतिपादक-श्रुतिवाक्यानां परस्परं विगानदर्शनात् तेषां ब्रह्मोपासनविधेः स्तावकत्वेन अर्थवादत्वाद् न तैः ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं सिद्ध्यति. किन्तु दृश्यमानजगतः कारणविचारे अनेकेषु स्मार्तमतेषु कापिलमतस्य अभ्यर्हितत्वेन तदुक्तप्रकारेणैव कार्यकारणविचारः उचितः इति प्राप्ते, उच्यते.

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः॥१४॥

सृष्टिभेदेषु ब्रह्मणः कारणत्वे न विप्रतिपत्तिः अस्ति. कुतः? यथा व्यपदिष्टस्य एकत्र आकाशादिषु कारणत्वेन उक्तस्य अन्यत्रापि तस्यैव कारणत्वेन उक्तेः. अतः कार्यप्रकाराणाम् अनेकत्वेऽपि सर्वत्र कारणत्वेन ब्रह्मणएव उक्तेः कारणत्वे विगानं न अस्ति इति अर्थः. कार्यप्रकारेषु भेदेन निरूपणन्तु ब्रह्मणो माहात्म्याय. अनेकप्रकारेण जगत्कर्तृत्वबोधनात्. अतएव, “न तस्य कार्यकरणञ्च विद्यते”(श्वेता.उप.६।८) इत्यादिभिः लौकिककर्तृत्वनिराकरणम्. अतः श्रुतिषु परस्परं विरोधाभावात् तदुक्तप्रकारेण ब्रह्मणएव कारणत्वं युक्तं, नतु कापिलस्मृत्यभिमतप्रकृतेः इति सिद्धम्॥१४॥

ननु कार्योत्पत्तिप्रकारभेदानां ब्रह्मणो माहात्म्यबोधकत्वात् तन्निरूपक-श्रुतीनां परस्परं विगानाभावेऽपि कारणनिरूपिकाणाम्, “असद् वा इदम् अग्र आसीत्” (तैत्ति.उप.२।७), “सदेव सौम्येदमग्र आसीत्, तद्वैक आहुः असदेव इदम् अग्र आसीत्” (बृहदा.उप.१।४।३), “अव्याकृतम् आसीत्” (बृहदा.उप.१।४।३), “न असद् आसीद् नो सद् आसीत्” (तैत्ति.ब्राह्म.२।८।१।३), “तम् आसीद्”(छान्दो.उप.६।२।१) इत्यादीनां श्रुतीनाम् असदादीनां कारणत्वेन प्रतिपादकत्वाद् ब्रह्मणः कारणत्वे विगानम् अस्ति इति प्रकारान्तरेण आशङ्क्य परिहरति.

समाकर्षात् ॥१५॥

आकृष्यते स्वस्थानात् प्रच्याव्यत इति आकर्षः. एतेषां जगत्कारण-प्रतिपादकानाम् ‘असदा’दिपदानां लोकप्रसिद्धार्थात् समाकृष्य ब्रह्मपरत्वं कल्प्यते. यथा अनेकविरुद्धधर्माश्रयत्वं ब्रह्मणः तथा अनेकशब्दवाच्यत्वमपि. ब्रह्मणो

अनभिव्यक्तत्वाद् ‘असत्-तम’ इत्यादि-शब्दवाच्यत्वम्. एवंरीत्या एकवाक्यत्व-
सम्भवाद् अन्यार्थकरणम् अबोधविजृम्भितम्. अतः शब्दवैलक्ष्ण्येऽपि श्रुतीनाम्
एकार्थत्वाद् न विप्रतिषेधः इति सिद्धम् ॥१५॥

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि बालाक्यजातशत्रुसंवादे, “क्व एष एतद्
बालाके पुरुषो अशयिष्ट” (कौषी.उप.४।१९) इत्यादौ जीवं प्रक्रम्य तस्मात्
सर्वोत्पत्तिः निरूपिता. तत्र ब्रह्मणो अनुप्रवेशश्च उक्तः. तत्र ब्रह्मसहितो जीवएव
कर्ता ब्रह्मैव वा इति संशये अस्मिन् प्रकरणे ब्रह्मोपक्रम्य जीवपर्यवसानोक्त्या
ब्रह्मत्वेन उक्तो जीवएव कर्ता भवितुम् अर्हति. ब्रह्मत्वादयोऽपि जीवस्यैव धर्माः
राजत्वादिवत्. एवञ्च लोके जीवस्य कर्तृत्वं दृश्यमानं साहजिकमेव. तथाच
जीवस्य अणुत्वात् स्वतः कर्तृत्वासम्भवेन प्रकृतिद्वारकमेव कापिलमतोक्तरीत्या
भविष्यति इति प्राप्ते प्रोच्यते.

जगद्वाचित्वात् ॥१६॥

“एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य चैतत् कर्म” (कौषी.उप.४।१८) इति
एतत्प्रकरणोपक्रमवाक्ये जीववाचकपुरुषपदोक्त्या जीवकर्तृत्वं निरूप्य “यस्य च
एतत् कर्म” (कौषी.उप.४।१८) इत्यत्र, एतच्छब्दस्य जगद्वाचित्वात्
तत्कर्तृत्वम् अत्र उच्यते. एवञ्च जीवजडात्मकस्य जगतो ब्रह्मकर्तृत्वम् अन्यत्र
उक्तम् अत्रापि तदेव उच्यते इति भगवानेव जगत्कर्ता, न जीवः. तस्य
जगत्कर्तृत्वस्य अन्यत्र अश्रुतत्वाद् अश्रुतकल्पनापत्तेः. सुषुप्तावपि ब्रह्मण्येव
जीवस्य लयः ततएव सर्वम् इति ज्ञेयम्. प्राणादिशब्दवाच्यत्वं (जू.)तु (जू.)
ब्रह्मणि पूर्वं साधितमेव. अतो न जीवो, नापि तदधिष्ठिता प्रकृतिः जगत्कारणं,
किन्तु ब्रह्मैव ॥१६॥

ननु अत्र “क्व एष एतद् बालाके पुरुषो अशयिष्ट” (कौषी.उप.४।१९)
इति जीवं प्रक्रम्य तस्य शयनोत्थानादिधर्मान् उक्त्वा ब्रह्मत्वं जगत्कर्तृत्वञ्च
उच्यते. तज्जीवे स्वतो असम्भवात् प्रकृतिद्वारकं भविष्यति. अथवा “प्राणएव
एकधा भवति” (कौषी.उप.४।१९) इति मुख्यप्राणलिङ्गमपि अन्यत्र दृश्यते.
सुषुप्तौ तस्यैव वृत्तेः उपलम्भात् तस्यैव विद्यमानत्वात् ततएव उत्पत्तिप्रलयौ.
तस्यच प्रकृत्यंशत्वेन जडात् प्रधानादेव सृष्टिः उक्ता भवति. अतो अस्मिन्
प्रकरणे जीवात् प्राणाद्वा सृष्टिः उक्ता इति न ब्रह्मणो जगत्कारणत्वम् इति सूत्रेण

आशङ्क्य परिहरति.

जीवमुख्यप्राणलिङ्गादिति चेत् तद्व्याख्यातम् ॥१७॥

जीव-प्राणयोः कर्तृत्वकथनन्तु जीवस्य ब्रह्माश्रितत्वात् प्राणस्य ब्रह्मयोगाद् उक्तं, नतु तयोः स्वातन्त्र्येण जगत्कर्तृत्वं सम्भवति इति व्याख्यातं पूर्वमेव “आश्रितत्वादिह तद्योगाद्” (ब्रह्मसू.१।१।३०) इति सूत्रेण. जीवस्य ब्रह्माश्रितत्वाद् मुख्यप्राणस्य ब्रह्मणा सह योगाद् ब्रह्मकार्यमेव तयोः निरूपितं, नतु तयोः स्वातन्त्र्येण कार्यकर्तृत्वम् अस्ति इति अर्थः. अतः सर्वं कार्यं ब्रह्मणएव, न अन्यतः इति निरूपणाद् अस्मादपि वाक्याद् ब्रह्मकारणत्वमेव निरूपितं जगतो, न प्रकृतिकारणत्वम् इति सिद्धम् ॥१७॥

स्वमतेन जीवमुख्यप्राणलिङ्गसमाधानम् उक्त्वा जैमिनिमतेनाऽपि परिहारम् आह.

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥१८॥

स्वापप्रतिबोधौ जीवधर्मावेव. चक्षुरादिलयाश्रयत्वं प्राणधर्मएव. न एतौ ब्रह्मणि सम्भवतः इति नियतधर्मवादी जैमिनिः तयोः धर्मयोः कीर्तनम् अस्मिन् प्रकरणे **अन्यार्थम्** इति वदति. जीव-प्राणयोः ब्रह्मभेदे ब्रह्मनिरूपणे तन्निराकरणावश्यकत्वज्ञापनार्थं तुः. सुषुप्तौ पश्चाद् जीवलयोद्गमनिरूपण-वैलक्षण्येन ब्रह्मणो ज्ञानार्थं सुषुप्त्यवस्थायां मृतिवैलक्षण्यबोधनार्थं यत् प्राणनिरूपणं तदपि तदाश्रयब्रह्मज्ञानार्थम् इति **अन्यार्थं** जीवमुख्यप्राणधर्म-कीर्तनम् इति अर्थः. “यो वै बालाके एषां पुरुषाणां कर्ता” (कौषी.उप.४।१८) इति उपक्रमे मुख्यतया ब्रह्मैव निर्दिष्टम्. उपसंहारेतु तज्ज्ञानेन असुरजयः सर्वभूतश्रेष्ठ्यं स्वाराज्यम् आधिपत्यञ्च इति फलम् उक्तम्. नहि एतद् ब्रह्मज्ञानं विना अन्येन सम्भवति. अतः उपक्रमोपसंहाराभ्यामेव अवगम्यते, यद् अस्मिन् प्रकरणे मुख्यं ब्रह्मैव प्रतिपाद्यम् इति. अपिच प्रश्न-व्याख्यानाभ्यामपि ब्रह्मपरत्वं प्रकरणस्य ज्ञायते. “क्व एष एतद् बालाके पुरुषो अशयिष्ट” (कौषी.उप.४।१९) इति प्रश्नो जीवस्य ज्ञातत्वाद् अधिकरणात्मक-ब्रह्मविषयकएव. “यत्रैष एतद् बालाके पुरुषो अशयिष्ट” (कौषी.उप.४।१९) इति व्याख्यानमपि ब्रह्मपरमेव. ननु नाडीष्वपि सुप्तिसम्भवात् कथं ज्ञातव्यं नाडीव्यतिरिक्तः आत्मैव अत्र प्रतिपाद्यते इति आशङ्क्य तत्र प्रमाणम् उपन्यस्यति. एवम् एके शाखिनो

वाजसनेयिनः स्पष्टम् अधीयते. दृप्तबालाकिब्राह्मणे, “स होवाच अजातशत्रुः यत्रैषः एतत्सुप्तो अभूद् य एष विज्ञानमयः पुरुषः तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानम् आदाय, य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः तस्मिन् शेते” (बृहदा.उप.२।१।१७) इति. अत्र ‘आकाश’शब्देन ‘ब्रह्म’ उक्तम्. “सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति” (छान्दो.उप.६।८।१). “स्वमपीतो भवति” (छान्दो.उप.६।८।१) इति च इति अन्यत्रापि तथैव उक्तम्. अतो अत्र जीवमुख्यप्राण-लिङ्गानाम् आधारभूतब्रह्मज्ञानार्थत्वाद् न तेन प्रकृतिकारणवादः सिद्ध्यति इति ब्रह्मैव जगत्कारणम् इति सिद्धम् ॥१८॥

वाक्यान्तरे जीवब्रह्मवादेन प्रकृतिकारणवादम् आशङ्क्य परिहरति. बृहदारण्यके चतुर्थे षष्ठे च अध्याये याज्ञवल्क्य-मैत्रेयीसंवादे “यदेव अमृतत्व-कारणं तदेव मे ब्रूहि” (बृहदा.उप.२।४।३) इति मैत्रेय्या पृष्ठो याज्ञवल्क्यः तां स्तुत्वा ज्ञानम् उपदिदेश. तत्र प्रकरणी जीवो ब्रह्म वा इति विषये, “आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति” (बृहदा.उप.२।४।५) इत्यादिना आदिमध्यावसानेषु जीवनिरूपण-दर्शनाद् जीवएव अत्र प्रकरणी विज्ञायते. तस्यैव उत्कर्षार्थं ब्रह्मत्वं जगत्कर्तृत्वञ्च उच्यते. नतु ततो अतिरिक्तं ब्रह्म वक्तुं युक्तम्. अतो वेदे सृष्टिनिरूपकवाक्यानाम् एतन्न्यायेन अन्यपरत्वाद् न ब्रह्मणो जगत्कारणत्वप्रतिपादने तात्पर्यम् इति साङ्ख्याभिमतः प्रकृतिकारणवादएव अस्तु इति प्राप्ते, उच्यते.

वाक्यान्वयात् ॥१९॥

एतद्वाक्यस्य ब्रह्मण्येव अन्वयाद् न जीवस्य प्रकरणित्वं सम्भवति इति अर्थः. भगवत्सम्बन्धेनैव सर्वस्य जीवस्य च प्रियत्वम्. तस्यैव आनन्दमयत्वात्. “तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति” (श्वेता.उप.३।८), “आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते” (तैत्ति.उप.३।६), “सर्वएव आत्मानो व्युच्चरन्ति” (बृहदा.उप.२।१।२०), “एष ह्येवानन्दयाति” (तैत्ति.उप.२।७) इत्यादिश्रुतिभिः निःसन्दिग्धं ब्रह्मणः स्वरूपं तत्कार्यं तदंशाः जीवाः च निरूपिताः इति इदं वाक्यमपि तैः सह एकार्थं युक्तम्. नतु अस्य भिन्नरीत्या जीवनिरूपणपरत्वम्. एवञ्च सर्ववेदान्तानाम् अविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वं भवति. तथाच वाक्यान्वयाद् इदमपि वाक्यं ब्रह्मपरमेव, नतु जीवपरम् इति, न प्रकृतिकारणवादशङ्कावकाशः ॥१९॥

जीवधर्माः जीवएव नियताः, न ब्रह्माणि सम्भवन्ति इति ये एकदेशिनो मन्यन्ते, तेषां मतेन प्रकृते सिद्धान्तकथनार्थं तन्मतानि अनुवदति.

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥२०॥

भगवता स्वस्य लौकिकभोगसिद्ध्यर्थं यः स्वांशो विस्फुलिङ्गवत् पृथक् कृतः सः जीवः इति आश्मरथ्यमतेन जीवोपक्रमाद् जीवस्यैव इदं प्रकरणम् इति आशङ्कासमाधानम् आह. प्रतिज्ञासिद्धेः लिङ्गम् इति. एकविज्ञानेन सर्वविज्ञान-प्रतिज्ञा जीवस्य भगवदंशत्वेन तदभेदे सति सिद्ध्यति. तथाच तस्याः प्रतिज्ञायाः सिद्धेः इदं लिङ्गं, यथा जीवो भगवदंशः तथा जडोऽपि इति ज्ञापकः. अतो जीवोपक्रमेऽपि न दोषः ॥२०॥

उत्क्रमिष्यत एवम्भावादित्यौडुलोमिः ॥२१॥

चैतन्यमात्रं जीवो अनादिसिद्धएव वासनया देहादिसङ्घाते प्रविष्टो अतः चिद्रूपे ब्रह्माणि चिन्मात्ररूपेण प्रवेशे तस्य मोक्षः इति औडुलोमिमतेनापि जीवोपक्रमशङ्कासमाधानम् आह. उत्क्रमिष्यत एवम्भावाद् इति. अत्र जीवम् उपक्रम्य भगवतः श्रवण-कीर्तनादिकं निरूपितम्. तत्संसारभावाद् उत्क्रमिष्यतो जीवस्य लिङ्गं, मुक्तौ जीवो भगवानेव भविष्यति इति ज्ञापकम्. कुतः? एवम्भावाद्, मैत्रेय्याएव अमृतीभावात्. सर्वेषां जीवानां ब्रह्मत्वे अमृतत्वं सिद्धमेव इति तदर्थं ज्ञानादिप्रयासवैयर्थ्यं स्यात्. अतो ज्ञानेन संसाराद् उत्क्रमिष्यतो जीवस्य अमृतत्वम् इति ज्ञापनार्थं जीवोपक्रमः. अतो जीवो ब्रह्मभिन्नएव इति पक्षेऽपि न जीवोपक्रमे दोषः ॥२१॥

भगवतः आसक्त्यां विषयभोक्तृरूपं जीवः इति काशकृत्स्नमते जीवोपक्रमसंशयवारणम् आह.

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥२२॥

भगवतएव अवस्थाविशेषो जीवः इति=अवस्थितेः लिङ्गं जीवोपक्रमः. अतः संसारदशायामपि जीवो ब्रह्मैव इति तेन उपक्रम्य भगवच्छ्रवणादिविधानेऽपि न दोषः. अतो न मैत्रेयीब्राह्मणेनापि, जीवद्वारा प्रकृतिः कारणम् इति साङ्ख्यमतसिद्धिः इति सिद्धम् ॥२२॥

ननु श्रुत्युक्तकारणत्वाद् ब्रह्मणो निमित्तकारणत्वम् अस्तु, समवायिकारणन्तु प्रकृतिरेव कार्यानुरूपत्वात्. समवायि-निमित्तकारणयोः भेदो

अवश्यं युक्तः. अतो ब्रह्मवादेऽपि साङ्ख्यस्मृत्यभिमतता प्रकृतिः समवायि-
कारणत्वार्थम् अपेक्षितैव इति ‘अर्द्धजरतीय’न्यायेन ब्रह्मकारणत्वम् उपनिषदुक्तं,
प्रकृतिकारणत्वं स्मृतिसिद्धम् उभयमपि अस्तु इति आशङ्क्य आह.

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥२३॥

प्रकृतिः समवायिकारणं, चकाराद् निमित्तकारणञ्च ब्रह्मैव. कुतः?
“येन अश्रुतं श्रुतं भवति” (छान्दो.उप.६।१।२) इत्यादि प्रतिज्ञा. “यथा एकेन
मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्” (छान्दो.उप.६।१।४) इत्यादि दृष्टान्तः.
तयोः अनुपरोधाद् अबाधाद् इति अर्थः. तद् यदि ब्रह्मैव सर्वसमवायिकारणं
स्यात् तर्हि तज्ज्ञानेन सर्वं ज्ञातं भवति, न अन्यथा. अतो न प्रकृतिः
जगत्समवायिकारणं, किन्तु ब्रह्मैव ॥२३॥

अत्रैव हेत्वन्तरम् आह.

अभिध्योपदेशाच्च ॥२४॥

“सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय” (तैत्ति.उप.२।६) इति अभिध्यानस्य
उपदेशाद् ब्रह्मैव जगत्समवायिकारणं श्रुत्यभिमतम्. जडायाः प्रकृतेः
अभिध्यानासम्भवात्. चकारेण “इदं सर्वं यद् अयम् आत्मा” (बृहदा.उप.
२।४।६) इति श्रुत्युक्तं जगतो ब्रह्मत्वं ब्रह्मणएव समवायित्वे भवति, न अन्यस्य
समवायित्वे. यद्वा, “सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान् इति शान्त उपासीत” (छान्दो.
उप.३।१४।१) इत्यादौ सर्वस्य ब्रह्मत्वेन उपासनोपदेशो ब्रह्मणः सर्वसमवायित्वे
युक्तः इति. चकारेण “एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्” (भग.गीता
१।१५) इति स्मृतिः परिगृहीता ॥२४॥

किञ्च.

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥२५॥

“सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं
प्रत्यस्तं यन्ति” (छान्दो.उप.१।१।१) इति श्रुत्या, चकाराद्, “अहं सर्वस्य जगतः
प्रभवः प्रलयस्तथा” (भग.गीता ७।६) इति स्मृत्या च साक्षादेव उभयोः ब्रह्मणः
सकाशाद् ब्रह्मण्येव च सृष्टि-प्रलययोरेव आम्नानात् कथनाद् इति अर्थः. नहि
इदं ब्रह्मणो निमित्तकारणत्वे सम्भवति. अतो ब्रह्मैव समवायिकारणम् ॥२५॥

ननु, “स एव सर्वं सृजति स एवावति हन्ति च” (भाग.पुरा.४।११।२५)

इति श्रुतौ ब्रह्मणो निमित्तकारणत्वमात्रप्रतीतिः “आकाशदेव समुत्पद्यन्ते” (छान्दो.उप.१।९।१) इति वाक्यस्य औपचारिकत्वेनापि उपपत्तेः प्रकृतिसमवायि-
कारणवादएव युक्तः इति आशङ्क्य परिहरति.

आत्मकृतेः परिणामात् ॥२६॥

“तदात्मानं स्वयम् अकुरुत” (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुतौ आत्मनः
स्वस्यैव कृतेः करणाद् ब्रह्मैव जगत्कारणम् उक्तम् इति. आत्मकृतिः कथं
सम्भवति इति आशङ्क्य तत्र उपपत्तिम् आह. कार्याकारेण ब्रह्मणः परिणामात्.
ब्रह्मणः सर्वभवनसमर्थत्वाद् अविकृतमेव सुवर्णादिवत् कार्यरूपेण
परिणामसम्भवात्. अतो जगतो ब्रह्माविकृतपरिणामरूपकार्यत्वाद् ब्रह्मैव
समवायिकारणम् इति सिद्धम् ॥२६॥

ननु जडानां ब्रह्मकारणकत्वेऽपि चेतनेषु मनुष्यादिषु योनि-बीजयोः
समवायिकारणत्वदर्शनाद् जीवानां योन्यात्मकप्रकृतेः कारणत्वम् अस्तु इति
आशङ्क्य परिहरति.

योनिश्च हि गीयते ॥२७॥

जगतो योनिश्च ब्रह्मैव. चकारात् शाक्तवादनिरासः. अत्र युक्ति-श्रुती
प्रमाणम् इति आह. हि गीयते. “सदेव सौम्येदमग्र आसीद्, एकमेवाद्वितीयम्”
(छान्दो.उप.६।२।१) इत्यादिश्रुतिषु सृष्टेः पूर्वम् एकमेव उक्तम्. “आकाशादेव
समुत्पद्यन्ते” (छान्दो.उप.१।९।१), “आनन्दाद्भ्येव खल्विमानि भूतानि
जायन्ते” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यादिषु एवकारेण एकमेव ब्रह्म जगत्कारणम् उक्तम्
इति युक्तिः. गीयते च ब्रह्मणो योनित्वं, “कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं”
(मुण्डकोप.३।१।३), “यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः” (मुण्डकोप.१।१।६)
इत्यादिश्रुतिषु “मम योनिर्महद् ब्रह्म” (भग.गीता १४।३), “तासां ब्रह्म
महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता” (भग.गीता १४।४) इत्यादिस्मृतिषु च. अतो ब्रह्मैव
जगतो योनिः बीजं पुरुषो जीवश्च इति, “इदं सर्वं यद् अयम् आत्मा” (बृहदा.
उप.४।२।६) इति श्रुत्युक्तं भगवतः सर्वरूपत्वं सिद्धम्. अतो ब्रह्मवादे केनापि
अंशेन प्रकृतिप्रवेशाभावात् साङ्ख्यमतम् अशब्दम् इति सिद्धम् ॥२७॥

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥२८॥

एतेन ब्रह्मणो जगत्कारणत्वस्थापनेन ब्रह्मवादे स्थापिते साङ्ख्यमते

निराकृते च सति सर्वे पातज्जलादिवादाः व्याख्याताः. अवैदिकाः अनुपयुक्ताः
ते वादाः. अतः ते न आदर्तव्याः इति अर्थः. वैदिकानां वेदानुसारेण वस्तुविचारः
कर्तव्यः. तद्विरुद्धवादानाम् अप्रामाण्याद् ब्रह्मवादे न कोऽपि शङ्कावकाशः इति
सर्वं सुस्थम्. अतएव अग्रिमाध्याये विस्तरेण मतान्तराणि निराकरिष्यन्ते.
अध्यायसमाप्तिसूचिका सूत्रैकदेशावृत्तिः ॥२८॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तौ मरीचिकाख्यायां प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥४॥

॥ समाप्तो अयं प्रथमो अध्यायः ॥

॥ द्वितीयो अध्यायः ॥

प्रथमः पादः

प्रथमाध्याये वेदान्तवाक्यानां सन्दिग्धानां ब्रह्मपरत्वेन समन्वयो
निरूपितः. अतः परं स्मृतिविप्रतिषेधनिराकरणाय द्वितीयाध्यायः आरभ्यते.

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥१॥

ननु कपिलादिमहर्षिकृतसाङ्ख्यस्मृतौ प्रधानस्यैव जगत्कारणत्वम्
उक्तम्. सातु मोक्षैकोपयोगित्वेन धर्माद्युपयोगिमन्वादिस्मृतिभ्यो अन्तरङ्गा
जगत्कारणनिर्णये. तत्रापि अनिर्णायकत्वाङ्गीकारे वैयर्थ्यापत्तेः. अतो न ब्रह्म
जगत्कारणम् इति चेद् न. “अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा” (भग.गीता
७।६) इत्यादिशुद्धब्रह्मकारणताबोधकस्मृत्यन्तरानवकाशाद् न तथा अङ्गीकर्तव्यम्
इति अर्थः ॥१॥

इतरेषां चानुपलब्धेः ॥२॥

प्रकृतिव्यतिरिक्तानां महदादीनां लोके वेदे च अनुपलब्धेः न
साङ्ख्यमतम् अङ्गीकर्तव्यम् ॥२॥

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥३॥

साङ्ख्यस्मृतिनिराकरणेन योगस्मृतिरपि निराकृता ज्ञेया. योगशास्त्रस्य
वैदिकत्वशङ्कया तन्निराकरणार्थं पृथक् सूत्रारम्भः ॥३॥

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ॥४॥

ननु जगतो विलक्षणत्वाद् अचेतनत्वात् चेतनं न कारणम्.
विलक्षणत्वञ्च “विज्ञातञ्च अविज्ञातञ्च” (तैत्ति.उप.३।६) इति श्रुतिवाक्याद्

ज्ञेयम्. अतो अचेतना प्रकृतिरेव कारणत्वेन अङ्गीकर्तव्या ॥४॥

ननु न अस्य जगतः श्रुतिवाक्याद् अचेतनत्वं वक्तुं युक्तम्. “मृदब्रवीत्, आपो अब्रुवन्” (शत.ब्राह्म.६।१।३।२।४), “तत्तेज ऐक्षत” (छान्दो.उप. ६।२।३) इत्यादिश्रुतौ भूतेन्द्रियाणां चेतनत्वोक्तेः इति आशङ्क्य आह.

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥५॥

तु शब्दः पक्षव्यावर्तकः. तत्तदभिमानिदेवतानामेव चेतनत्वेन व्यपदेशः. कुतः? “विज्ञातं चाविज्ञातं च”(तैत्ति.उप.३।६) इति तत्रैव चेतनाचेतन-विशेषकथनात्. “अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्” (ऐत.उप.२।४) इत्यादौ चेतनानाम् अग्न्यादिदेवतानाम् अचेतनानुगतिनिरूपणाच्च. तथाच, न जगतः चेतनत्वम् इति अर्थः ॥५॥

अतो अचेतना प्रकृतिरेव जगत्कारणं, नतु चेतनं ब्रह्म इति प्राप्ते, उच्यते.

दृश्यते तु ॥६॥

तुः पक्षव्यावर्तनार्थः लोके केश-गोमय-वृश्चिकादौ कार्य-कारणयोः वैरूप्यं दृश्यते. तथापि कश्चित् कारणांशो अनुवर्ततएव इति चेत्, प्रकृतेऽपि ब्रह्मसत्तायाः सर्वत्र अनुवृत्तिः दृश्यतएव. अतो वैलक्षण्यानुरोधाद् न ब्रह्मकारणत्वं दूषणीयम् इति ॥६॥

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥७॥

ननु श्रुतौ जगत्कारणत्वेन “असद् आसीद्” (छान्दो.उप.६।२।१) इत्यादौ असद् उक्तम् इति चेद् न. इदं वचनं प्रतिषेधमात्रार्थम्. अग्रे “कथम् असतः सज्जायेत” (छान्दो.उप.६।२।२) इति कथनात् ॥७॥

शङ्कते.

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥८॥

कार्यस्य कारणे लये कार्यस्य स्थौल्यसावयवत्व-परिच्छिन्न-त्वाशुद्धत्वादिधर्मैः कारणस्यापि तद्धर्मवत्वप्रसङ्गाद् असमञ्जसं ब्रह्मकारणवचनम् इति प्राप्ते ॥८॥

परिहरति.

न तु दृष्टान्तभावात् ॥९॥

ब्रह्मकारणवादे न किञ्चिद् असामञ्जस्यम् अस्ति इति तु शब्दः.
स्वपक्षस्थापन-परपक्षनिराकरणयुक्तीनां सत्वात्. ततः उत्पन्नस्य तत्रैव लये कारणे
तद्धर्मसम्बन्धो न भवति. शराव-रुचकादीनां मृदिलयेऽपि मृदः तद्धर्मवत्त्वा-
दर्शनात्. अतो दृष्टान्ताभावाद् न अस्मन्मते दूषणलेशोऽपि ॥९॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥१०॥

एतएव दोषाः प्रतिवादिपक्षे दुष्परिहराः. निर्विशेषात् प्रधानात्
सविशेषकार्योत्पत्तिः लये तद्धर्मसम्बन्धप्रसक्तिः असत्कार्यवादाङ्गीकारः
एवमादिदोषाणां प्रतिवादिपक्षे सम्भवाद् न इदं मतं समीचीनम् इति अर्थः ॥१०॥

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः ॥११॥

किञ्च, वेदार्थे केवलतर्केण विचारो न युक्तः. तर्कस्य अप्रतिष्ठानात्.
तर्को हि स्वोत्प्रेक्षिता युक्तिः. सा एकेन उक्ता न अन्यैः अङ्गीक्रियते. ऋषीणां
स्वातन्त्र्येण बुद्धिवैलक्षण्यसम्भवाद्, वस्तुनि विकल्पासम्भवाद् नियामकस्य
एकस्य अभावाच्च. अतो न तर्कस्य प्रतिष्ठा. अत्र पूर्वपक्षी परिहरति.
अप्यन्यथानुमेयम् इति चेद्. एवमपि सति वयम् अन्यथा अनुमिमामहे, यथा
तर्के न अप्रतिष्ठादोषो भविष्यति. प्रतिष्ठितः कोऽपि तर्को न अस्ति इतितु न वक्तुं
शक्यम्. सकलव्यवहारबाधापत्तेः. “आर्षं धर्मोपदेशं च” (मनुस्मृ.१२।१०६)
इति स्मृतेश्च. अतः सदोषतर्कं परित्यज्य निरवद्यतर्केण निर्णयो भविष्यति इति
चेत्. एवमपि श्रुत्यनुसारिणां ब्रह्मवादीनां निरवद्यतर्कसद्भावेऽपि
प्रकृतिकारणवादिनः तर्कस्य दोषाविमोक्षप्रसङ्गः. नियामकप्रमाणाभावाद् ऋषीणां
परस्परं वैमत्यसम्भवाच्च. अतः तर्कमूलकसाङ्ख्यमतानुसारेण प्रकृतेः
जगत्कारणत्वं न अङ्गीकर्तव्यम् इति भावः ॥११॥

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥१२॥

एतेन साङ्ख्यमतनिराकरणेन शिष्टापरिग्रहाः अणुमायाकारणवादाः ये
सर्वथा शिष्टैः न परिगृहीताः ते निरस्ताः ज्ञातव्याः ॥१२॥

एवं ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे स्मृतिविरोधं परिहृत्य दोषान्तरम् आशङ्क्य
परिहरति.

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ॥१३॥

ननु निर्विशेषस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे भोक्तुः भोग्यत्वं, भोग्यस्य च

भोक्तृत्वं प्राप्नोति. अतः एकस्यैव भोक्तृ-भोग्यविभागो न सम्भवति इति चेत्, स्याद् लोकवत्. लोके यथा कटक-कुण्डलादीनां सुवर्णकार्यत्वेन सुवर्णाभेदेऽपि, न कटकस्य कुण्डलत्वम् एवमेव, न भोग्यस्य भोक्तृत्वम्. तथाच कार्याणां कारणात्मकत्वेऽपि परस्परं कार्यात्मकत्वाभावाद् न उक्तदोषः ॥१३॥

ब्रह्मकारणवादे श्रुतिविरोधं परिहरति.

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥१४॥

ननु, “वाचारम्भणं विकारः” (छान्दो.उप.६।१।४) इति श्रुत्या घट-पटादिविकाराणां वाङ्मात्रारब्धत्वेन वस्तुतो अभावात् कस्य ब्रह्म कारणं स्याद् इति आशङ्क्य ‘वाचारम्भण’श्रुतेः अर्थम् आह. आरम्भणशब्दादिभ्यः कार्यस्य कारणानन्यत्वम् उच्यते, नतु मिथ्यात्वम् इति ॥१४॥

भावे चोपलब्धेः ॥१५॥

भावएव विद्यमानएव घटे घटोपलब्धिः नतु अभावे. वाङ्मात्रारभ्यत्वेतु मिथ्यैव अत्र ‘घटो अस्ति’ इत्युक्ते घटः उपलभ्येत. चकारेण, “मृत्तिकेत्येव सत्यम्” (छान्दो.उप.६।१।४) इति श्रुतिरपि सत्यत्वप्रतिपादिका सङ्गृहीता. अतो घटादिकार्याणां सत्यत्वाद् ‘वाचारम्भण’श्रुतिः कारणानन्यत्वमेव प्रतिपादयति इति अर्थः ॥१५॥

सत्वाच्चावरस्य ॥१६॥

अवरस्य प्रपञ्चस्य सत्वात्. “यदिदं किञ्चन तत्सत्यमित्याचक्षते” (तैत्ति.उप.२।६), “सदेव सौम्येदमग्र आसीद्” (छान्दो.उप.६।२।१) इत्यादि-श्रुतिभ्यः त्रैकालिकत्वाद् ब्रह्मत्वं, नतु मिथ्यात्वम् ॥१६॥

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥१७॥

ननु, “असद्वा इदमग्र आसीद्” (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुत्या पूर्वं कार्यस्य असत्त्वम् उच्यते इति चेद् न. अव्याकृतत्वरूपधर्मान्तरेण तथा व्यपदेशः, “तदात्मानं स्वयम् अकुरुत” (तैत्ति.उप.२।७) इति वाक्यशेषाद् ज्ञातव्यः. तत्र हि स्वस्यैव क्रियमाणत्वम् उक्तम् ॥१७॥

युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥१८॥

समवेतमेव कार्यं सद् उत्पाद्यतइति युक्तम् समवायात्मकसम्बन्धस्य द्विनिष्ठत्वेन नित्यत्वेन च कार्यस्यापि कारणे स्थितिः अव्यक्तरूपेण सर्वदा

अङ्गीकर्तव्या. कुलालादीनां प्रवृत्तिस्तु अभिव्यक्त्यर्था. शब्दान्तरन्तु, सच्छब्दात्, “तदात्मानं स्वयम् अकुरुत” (तैत्ति.उप.२।७) इति ‘आत्म’शब्दः. अतो घटादिकार्यस्य सत्यत्वमेव युक्तं, न मिथ्यात्वम् ॥१८॥

ननु एवं घटादीनां नित्यत्वे प्रलयकालेऽपि उपलब्धिः स्याद् इति आशङ्क्य आह.

पटवच्च ॥१९॥

यथा संवेष्टितः पटो न व्यक्तं गृह्यते, विस्तृतस्तु सम्यग् गृह्यते. तथा आविर्भावानाविर्भावेन जगतोऽपि ग्रहणाग्रहणे ज्ञेये ॥१९॥

यथा च प्राणादिः ॥२०॥

यथा प्राणापानानां नियमने जीवनमात्रं सम्पद्यते. अनियमनेतु आकुञ्चनादिकमपि. न एतावता प्राणभेदो वक्तुं युक्तः. तथा जगतोऽपि पूर्वम् असत्त्वं न वक्तुं शक्यम्. ज्ञानक्रियाभेदात् सूत्रद्वयम् उक्तम् ॥२०॥

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥२१॥

ननु “अनेन जीवेन आत्मनानुप्रविश्य” (छान्दो.उप.१।२।९) इत्यादि-श्रुतिभिः इतरस्य जीवस्यापि ब्रह्मत्वेन व्यपदेशाद् ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे तद्धिता-करणदोषप्रसक्तिः. जीवहिताकरणन्तु जीवानां दुःखदर्शनाद् ज्ञायते इति प्राप्ते ॥२१॥ उच्यते.

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥२२॥

पूर्वपक्षव्यावर्तकः तुशब्दः. यदि ब्रह्म तावदेव स्यात् तदा अयं दोषः. तत्तु जीवाद् जडाच्च अधिकम्. “आत्मा द्रष्टव्यः” (बृहदा.उप.२।४।५) इत्यादिवाक्येषु कर्म-कर्तृभावेन भेदेन निर्देशाद् विज्ञानमय आनन्दमय इति भेदनिर्देशाद्वा. अतो अधिकस्य नियमेन अंशहितकरणादर्शनाद् अंशभूतजीवानां दुःखादिदर्शनेऽपि न ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे दोषः ॥२२॥

अश्मादिवच्च तदु (‘तदनुपपत्तिः’ इति जू.पाठः) पपत्तिः ॥२३॥

यथा हीरमाणिक्यपाषाणादीनां पलाश-चम्पक-चन्दनानां पार्थिवत्वा-विशेषेऽपि उच्चनीचत्वं दृश्यते. तथा जीवमात्रस्य ब्रह्मांशत्वेऽपि ब्रह्मादि-स्थावरान्तानाम् उच्चनीचत्वं कार्यवैलक्षण्यञ्च उपपद्यते ॥२३॥

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥२४॥

ननु लोके कुलालादीनां घटादिकार्यकरणे चक्रादिसाधनान्तरो-
पसंहारदर्शनाद् न केवलब्रह्मणो जगत्कारणत्वम् उपपद्यते इति चेद् न.
क्षीरवद्धि. यथा दुग्धं साधनान्तरम् अनपेक्ष्यैव दधि भवति तथा ब्रह्मापि
साधनान्तरनिरपेक्षं जगद्रूपं भवति इति अर्थः ॥२४॥

देवादिवदपि लोके ॥२५॥

स्वतो भिन्नकार्यकरणे दृष्टान्तः. यथा देवर्षिपितरो बाह्यनिरपेक्षाएव
योगसामर्थ्यात् सर्वं कुर्वन्ति. तथा ब्रह्मापि साधनान्तरनिरपेक्षमेव सर्वं करोति
॥२५॥

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥२६॥

ननु ब्रह्म साधनान्तरनिरपेक्षमेव स्वात्मानं जगत् कुर्यात् तदा कृत्स्नं ब्रह्म
एकमेव कार्यं स्यात्. यदि अंशभेदेन जगद् भवति, तदा “निष्कलं निष्क्रियं
शान्तम्” (श्वेता.उप.६।१९) इति निरवयवत्वश्रुतिविरोधः. अतो न जगतो
ब्रह्मकारणत्वं युक्तम् इति प्राप्ते ॥२६॥

उच्यते.

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥२७॥

तुः पक्षव्यावर्तकः. ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं निरवयवत्वञ्च उभयमपि
श्रूयते. श्रुतिसिद्धं च युक्त्या न बाधनीयम्. ब्रह्मणः शब्दमूलत्वात् शब्दैकसम-
धिगम्यत्वात्. “अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेद्” (महाभा.
भीष्म.५।२।१२) इति वाक्यात्. सर्वभवनसमर्थे ब्रह्मणि विरोधाभावाच्च ॥२७॥

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥२८॥

ब्रह्मणो जगत्सृष्टौ देशकालसापेक्षतापि न अस्ति. यतः आत्मन्येव सर्वं
सृजति. यतो अस्य विचित्राः शक्तयः श्रूयन्ते. यद्वा, “अनन्तरोऽबाह्यः” (बृहदा.
उप.४।५।१३) इति श्रुत्यनुरोधाद् बाह्यसृष्टिं पूर्वं निरूप्य आन्तरसृष्टिं निरूपयति.
आत्मनि इति ॥२८॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥२९॥

किञ्च. *प्रकृतिकारणवादिपक्षे कृत्स्नप्रसक्तिसावयवत्वादयोदोषाः
दुष्परिहराः, युक्तिविरोधात्. प्रमाणाभावेन तस्य अचिन्त्यत्व-

* मुद्रित पाठस्तु “प्रधानवादिनः स्वपक्षदोषाः दुष्परिहराः” इति.

कल्पनानुपपत्तेश्च ॥२९॥

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥३०॥

सर्वशक्तिभिः उपेता युक्ता परा देवता ब्रह्मैव. चकारात् सत्यत्वादिगुणयुक्ता च. “यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वकर्ता सर्वकामः” (मुण्डकोप.) इत्यादिश्रुतिषु तथा दर्शनात् ॥३०॥

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥३१॥

ननु लोके इन्द्रियवतएव कर्तृत्वदर्शनाद् ब्रह्मणो विकरणत्वाद् निरिन्द्रियत्वाद् न कर्तृत्वं सम्भवति इति चेद्, एतस्याः समाधानं पूर्वमेव, “श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वाद्” (ब्रह्मसू.२।१।२७) इति सूत्रेण उक्तम्. अनवगाह्य-माहात्म्ये ब्रह्मणि श्रुतिरेव प्रमाणम्. नतु कुतर्कावकाशः ॥३१॥

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥३२॥

ननु प्रयोजनवतो लोके कर्तृत्वदर्शनाद् ब्रह्मणः आप्तकामत्वेन प्रयोजनाभावाद् न कर्तृत्वं सम्भवति इति प्राप्ते ॥३२॥

उच्यते.

लोकवत्तु लीला कैवल्यम् ॥३३॥

तुः पक्षव्यावृत्तौ. इयं हि लोकवद् लीला. नहि लीलायां किञ्चित् प्रयोजनं दृष्टम्. लीलायाएव स्वतः फलरूपत्वात्. सा लीला कैवल्यं मोक्षरूपैव. ब्रह्मणो लीलायाएव अन्यस्य कीर्तने मोक्षः इति अर्थः. यद्वा सा लीलैव केवला, नतु अस्याः प्रयोजनान्तरम् इति अर्थः ॥३३॥

ननु जीवेषु सुख-दुःख-प्रलयकरणदर्शनाद् ईश्वरो विषमो निर्घृणश्च स्याद् इति आशङ्क्य परिहरति.

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति ॥३४॥

ईश्वरस्य सुखदुःखदाने कर्मसापेक्षत्वाद् न उक्तदोषः. यतः, “एष ह्येव साधु कर्म कारयति” (कौषी.उप.३।८) “पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा” (बृहदा.उप.३।२।१३) इत्यादिश्रुतिः तथा दर्शयति. कर्मसापेक्षतया करणेऽपि ईश्वरत्वं न विरुद्ध्यते. विरुद्धधर्माश्रयत्वाद् इति माहात्म्यम्. वस्तुतस्तु वादिबोधनाय एतद् उक्तम्. आत्मसृष्टेः वैषम्य-नैर्घृण्यसम्भावनैव अत्र न अवतरति ॥३४॥

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ॥३५॥

ननु कर्म न सम्भवति, अविभागात् पूर्वं कार्याणां विभागाभावाद् अतः कथं कर्मसापेक्षम् ईश्वरस्य सुखादिदानम् इति चेद् न. बीजाङ्कुरवत् प्रवाहस्य अनादित्वात्. अतो न कर्मणाम् अभावः इति भावः ॥३५॥

प्रवाहानादित्वे प्रमाणम् आह.

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥३६॥

प्रवाहस्य अनादित्वम् उपपद्यते. अन्यथा जीवानाम् अभावे कस्य संसारः स्यात्. कृतहानाकृताभ्यागमश्च स्यात्. अतो नियमार्थे कर्मणां प्रवाहस्य अनादित्वम् अङ्गीकार्यम्. श्रुति-स्मृत्योः उपलभ्यते च प्रवाहस्य अनादित्वम्. “अनेन जीवेन आत्मनानुप्रविश्य” (छान्दो.उप.१।२।९) इति श्रुतौ सर्गादौ जीवपदप्रयोगात् प्रवाहानादित्वं सूच्यते. “तपसैव यथापूर्वं स्रष्टा विश्वमिदं भवान्” (भाग.पुरा.३।१२।१८) इति स्मृतावपि तथा उक्तम् ॥३६॥

एवम् अखिलजगत्कारणत्वं ब्रह्मणः उपपाद्य उपसंहरति.

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥३७॥

वेदोक्ताः सर्वे धर्माः सर्वसमर्थत्वाद् ब्रह्मण्येव उपपद्यन्ते, न प्रधानादौ. अतः तस्य जगत्कारणत्वं निष्प्रत्यूहम् इति सिद्धम् ॥३७॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तौ मरीचिकाख्यायां द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥१॥

॥ द्वितीयः पादः ॥

स्वातन्त्र्येण अखिलविरुद्धवादनिराकरणार्थं पादारम्भः. तत्र प्रथमम् अनुपपत्त्या प्रकृतिकारणवादं निरस्यति.

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥१॥

भूर्भुवादिलोकानाम् अचेतनेन प्रधानेन रचनायाः अनुपपत्तेः न प्रधानं जगत्कारणम्. अतो न जगत्कारणान्यथानुपपत्त्या तदनुमातव्यम्. सर्वशक्तिमता चेतनेन ब्रह्मणा जगत्कारणसम्भवाद् अन्यथानुपपत्तिपरिक्षयाच्च ॥१॥

प्रवृत्तेश्च ॥२॥

यदि प्रधानमेव जगत्कारणं तदा तत्तत्कार्यार्थं जीवानां प्रवृत्तिः दृश्यमाना बाधिता स्यात्. सर्वस्यैव प्रधानपरिणामत्वात्. अतः प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या न प्रधानं

जगत्कारणम्. यद्वा प्रधानस्य जडत्वात् चेतनप्रेरणं विना तस्यैव प्रवृत्त्यसम्भवाद् न प्रधानकारणवादः उपपद्यते ॥२॥

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥३॥

ननु यथा पयः स्वतएव विचित्रफेनरचनां करोति, यथा वा नद्यादिजलं स्वतएव स्पन्दते, तथा प्रधानप्रवृत्तिरपि स्वतएव भविष्यति इति चेद् न. तत्रापि, पयसा विचित्रफेनरचनायां दोहनाधिश्रयणादौ चेतनप्रवृत्तिदर्शनाद् जलस्पन्दने वृष्टिकर्तृणां मेघानामेव चेतनानां सत्त्वाद् अतो अचेतनप्रधानप्रवृत्त्यसम्भवात् प्रधानकारणवादो न युक्तः ॥३॥

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥४॥

प्रधानस्य अनपेक्षत्वाद् अन्यापेक्षाभावाद् निरन्तरकार्यकरणमेव स्याद् नतु तद्व्यतिरेकेण अवस्थितिः. पुरुषाधिष्ठानस्यापि सत्त्वात्. तथा सति मोक्षानुपपत्तिः ॥४॥

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥५॥

ननु यथा तृणपल्लवजलानि स्वयमेव दुग्धादिभावेन परिणमन्ते तथा प्रधानपरिणामोऽपि युक्तो अङ्गीकर्तुम् इति चेद् अन्यत्र शृङ्गादौ वृषे च दुग्धात्मकपरिणामस्य अभावाद् न तथा नियमेन परिणामो अङ्गीकर्तव्यः. चेतनक्रियाऽपि तत्र सहकारिणी इति सूचनार्थं चकारः. अतो लोकदृष्टान्ता-सम्भवाद् अचेतनं प्रधानं जगत्कारणत्वेन न अङ्गीकर्तव्यम् ॥५॥

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥६॥

यथाकथञ्चित् प्रधानस्य कारणत्वे अङ्गीकृतेऽपि तस्य जडत्वेन प्रेक्ष्यकारित्वासम्भवाद् न पुरुषार्थसिद्धिः ॥६॥

एवं केवलप्रधानस्य जगत्कारणत्वम् इति मतं निरस्य पुरुषप्रेरितस्य तस्य कारणत्वं भविष्यति इति आशङ्क्य परिहरति.

पुरुषाश्मवदिति चेत् तथापि ॥७॥

यथा पङ्गुः पुरुषो अन्धम् आरुह्य परस्परोपकाराय गच्छति. यथा अयःकान्तः स्वसन्निधानमात्रेण लोहे क्रियाम् उत्पादयति. एवं पुरुषाधिष्ठितं तत्सन्निहितं वा प्रधानम्. तत्र प्रधानप्रेरकत्वं पुरुषस्य स्वतः तदा प्रधानस्य अप्रयोजकत्वं दोषः. यदि तत्प्रेरकत्वं प्रधानाधीनं तदा निरन्तरं कार्यकरणं स्यात्.

प्रकृतिपुरुषयोः नित्यसम्बन्धसत्वात् ॥७॥

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥८॥

यदि प्रकृति-पुरुषयोः अङ्गाङ्गित्वं स्यात्, सम्भवेत् सा प्रक्रिया. तदेव न सम्भवति. पुरुषस्य अङ्गित्वे ब्रह्मवादाङ्गीकारः आपद्येत. मतहानिश्च स्यात्. प्रकृतेः अङ्गित्वे अनिमोक्षः ॥८॥

अन्यथाऽनुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥९॥

ननु प्रकृतिः अन्यथानुपपत्त्या अनुमिता. तथाच तथैव अनुमातव्या यथा सकलदोषाणां परिहारो भवति इति चेत् तथापि तस्याः ज्ञशक्तिवियोगाद् ज्ञानशक्तेः अभावाद् न उक्तरीत्या दोषाणां परिहारः सम्भवति इति अर्थः ॥९॥

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥१०॥

साङ्ख्यमतानुवर्तिनां, केचित् षड्विंशतिं प्राहुः अपरे पञ्चविंशतिम् इति न्यायेन परस्परं विगानाद् असमञ्जसम् इदं दर्शनम्. वस्तुतस्तु जगत्कारण-निर्णयस्य अलौकिकत्वाद् वेदानुसारेणैव सः वक्तव्यो, नतु युक्त्याभासैः इति ॥१०॥

एवं साङ्ख्यमतं निरस्य अतः परं परमाणुकारणवादं निरस्यति.

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥११॥

एवं हि नैयायिकानां प्रक्रिया. परमाणुद्वयं संयुज्य स्थूलकार्यार्थं प्रथमं द्व्यणुकं भवति इति. तत्र परमाणोः उपर्यधोभावेन मिलने तद्विगुणपरिमाणेन द्व्यणुकं महत् स्यात् प्राक्पश्चाद्भावेन मिलने दीर्घवद् वा द्व्यणुकं स्यात्. यतः परमाणुपरिमाणं ह्रस्वं परितोमण्डलञ्च अङ्गीकृतम्. अनेन सूत्रेण तन्मतानुवादः उपहासार्थं कृतः ॥११॥

ततः किम् अतः आह.

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥१२॥

उभयथापि न द्व्यणुकं सम्भवति. परमाणुषु प्रदेशाभावेन उभयोः सङ्घटनाभावात् कल्पना मनोरथमात्रम्. यतः परमाणौ असंयुक्तांशाभावेन परमाणुद्वयसम्बन्धे एकैव परमाणुः स्यात्. किञ्च, संयोगजकर्मापि न सम्भवति. कारणान्तरासम्भवात्. प्रयत्नवद् आत्मसंयोगे अदृष्टवद् आत्मसंयोगे वा कारणत्वेन अभ्युपगम्यमाने पूर्वोक्तैव दोषः. प्रदेशाभावेन द्व्यणुकोत्प-

त्यसम्भवलक्षणः ॥१२॥

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥१३॥

परमाणु-द्वयणुकयोः समवायो अभ्युपगम्यते. सच नित्यो नित्यमेव सम्बन्धिनम् अपेक्षते. सम्बन्धस्य उभयनिष्ठत्वात्. अतोऽपि न द्वयणुकस्य उत्पत्तिः सम्भवति. किञ्च समवायस्य सम्बन्धत्वेन संयोगतुल्यत्वात् तस्यापि सम्बन्धान्तरापेक्षा. एवं तत्सम्बन्धस्यापि सम्बन्धान्तरापेक्षायाम् अनवस्था ॥१३॥

नित्यमेव च भावात् ॥१४॥

परमाणूनां कारणान्तरस्य च नित्यमेव भावात् सत्त्वात् सदैव द्वयणुकादिकार्यं स्यात् ॥१४॥

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययोदर्शनात् ॥१५॥

यद् रूपादिमत् तद् अनित्यम् इति व्याप्त्यङ्गीकारात् परमाणोरपि रूपादिमत्त्वाद् विपर्ययो अनित्यत्वं स्यात्. अपरमाणुत्वञ्च. नच इयं व्याप्तिः परमाण्वतिरिक्तविषया इति वाच्यम्. श्रुतिबलेन ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे सिद्धे तदर्थं परमाण्वङ्गीकारस्य अप्रामाणिकत्वात् ॥१५॥

उभयथापि च दोषात् ॥१६॥

परमाणूनां रूपादिमत्त्वे अनित्यत्वं दोषः. तेषां नीरूपत्वे कार्ये रूपानुपपत्तिः दोषः ॥१६॥

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥१७॥

वैदिकशिष्टानाम् अपरिग्रहात् सर्वथानपेक्षा अक्षपादीयदर्शने. अतः तद् उक्तं न आदर्तव्यम् इति भावः ॥१७॥

अतः परं बाह्यसमयं निराकरोति.

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥१८॥

एवं हि बाह्याः मन्यन्ते. परमाणुसमूहात्मकः पृथिव्यादिभूतसमुदायः एकः. रूपविज्ञान-वेदनासंज्ञा-संस्कारसंज्ञक-पञ्चस्कन्धसमुदायो अपरः. एतद् उभयसमुदायसम्बन्धे जीवस्य संसारः तस्य अपगमे मोक्षः इति. तत्र उच्यते. एवम् उभयहेतुकेऽपि समुदाये स्वीक्रियमाणे सर्वपदार्थानां क्षणिकत्वाद् जीवमात्रस्य क्षणिकत्वाद्वा जीवस्य तदप्राप्तिः स्यात्. कुतः तत्सम्बन्धे जीवस्य संसारः इति भावः ॥१८॥

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥१९॥

एतेषां क्षणिकत्वेऽपि पूर्वपूर्वस्य उत्तरोत्तरं प्रति कारणत्वात् सन्ततेरेव जीवजडरूपत्वाद् न उक्तदोषः इति चेद् न. एतेषाम् उत्पत्तिमात्रे निमित्तत्वम् अङ्गीक्रियते, नतु समुदाये. अतः स्थैर्याभावेन अनुसन्धानाभावात् समुदायानुपपत्तेश्च न उक्तदोषपरिहारः इति भावः ॥१९॥

किञ्च.

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥२०॥

अग्रिमस्य उत्पत्तिरपि न सम्भवति. उत्पन्नो हि उत्पादयति. उत्पत्तिक्षणैव तस्य नष्टत्वाद् न उत्तरोत्पादकत्वं सम्भवति. एकक्षणैव उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय-कार्य-करणादिसर्वाङ्गीकारे विरोधात् किमपि न स्यात् ॥२०॥

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥२१॥

सर्वं क्षणिकम् इति एका क्षणिकत्वप्रतिज्ञा. चतुर्विधान् हेतून् प्रतीत्य चित्तचैत्या उत्पद्यन्ते इति द्वितीया प्रतिज्ञा. तत्र पदार्थस्य क्षणान्तरसम्बन्धस्वीकारे क्षणिकत्वप्रतिज्ञा हीयेत. तदनङ्गीकारे द्वितीया प्रतिज्ञा नश्यति. वस्तुनः क्षणान्तरसम्बन्धाभावेन चतुर्विधहेतुसमुदायासम्भवात्. हेतुसमुदायः चेद् न अङ्गीक्रियते तदा नियामकाभावात् सर्वं सर्वतो युगपत् स्यात् ॥२१॥

प्रतिसङ्ख्याऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥२२॥

किञ्च, बुद्धिः बोध्यं त्रयाद् अन्यत्र संस्कृतं क्षणिकञ्च. त्रयन्तु निरोधद्वयम् आकाशञ्च इति बाह्याः कथयन्ति. तत्र निरोधद्वयाङ्गीकारं प्रत्याचष्टे. भावानां बुद्धिपूर्वको विनाशः प्रतिसङ्ख्यानिरोधः. अबुद्धिपूर्वको नाशो अप्रतिसङ्ख्यानिरोधः. एतन्निरोधद्वयमपि न प्राप्नोति. पदार्थानां सन्ततेः अविच्छेदात्. भावानां च क्षणिकत्वेन नाशकसम्बन्धाभावात् प्रथमनिरोधो अशक्यवचनः. द्वितीयनिरोधस्तु पदार्थानां क्षणिकत्वाङ्गीकारेणैव अनुक्तसिद्धो विशेषतो वक्तव्यः ॥२२॥

उभयथा च दोषात् ॥२३॥

ते हि मन्यन्ते, प्रतिसङ्ख्याऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधान्तर्गताविद्यानाशो मोक्षः इति. तत्र अविद्यायाः सपरिकरायाः निर्हेतुकनाशे मोक्षसाधननिरूपक-शास्त्रवैफल्यम्. अविद्या-तत्कार्यातिरिक्तस्य पदार्थस्य अनङ्गीकारात्

सहेतुकविनाशोऽपि न सम्भवति. बन्ध्यापुत्रकृत-रज्जुसर्पनाशवत्. अतः उभयथा
दोषाद् न इदं मतं समीचीनम् ॥२३॥

आकाशे चाविशेषात् ॥२४॥

यच्च तैः उक्तं, प्रतिसङ्ख्याऽप्रतिसङ्ख्यानिरोधद्वयम् आवरणाभावा-
त्मकम् आकाशञ्च एतत्त्रयमपि निरुपाख्यम् इति. तत्र आकाशेऽपि पदार्थान्तरवद्
वस्तुत्वव्यवहारस्य अविशेषाद् न अयम् अभ्युपगमः समीचीनः ॥२४॥

अनुस्मृतेश्च ॥२५॥

सएव अयं घटः इत्याद्यनुस्मरणदर्शनाद् अनुभव-स्मरणयोः एकाश्रयत्वाद्
एकविषयकत्वनियमाच्च सर्वोऽपि क्षणिकवादो बाधितो मन्तव्यः ॥२५॥

किञ्च, विनष्टाद् बीजाद् अङ्कुरोत्पत्तिदर्शनाद् न अनुपमर्द्य प्रादुर्भावं
वैनाशिकाः मन्यन्ते. तथा सति असतो अलीकाद् जगदुत्पत्तिः इति प्राप्ते, उच्यते.

नासतोऽदृष्टत्वात् ॥२६॥

असतो न कार्यम् उत्पद्यते. शश-शृङ्गादिभिः असद्भिः कार्योत्पत्तेः
अदृष्टत्वात् ॥२६॥

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥२७॥

अभावाद् भावोत्पत्तेः अङ्गीकारे उदासीनानामपि क्षेत्रादिकम्
अकुर्वतामपि धान्यादिसिद्धिः स्यात्. अभावस्य सुलभत्वात् ॥२७॥

एवम् असतः कारणत्वं निराकृत्य विज्ञानवादिसम्मतं प्रपञ्चस्य असत्यत्वं
निराकरोति.

नाभाव उपलब्धेः ॥२८॥

विज्ञानवादी हि विज्ञानमयएव प्रपञ्चो, नतु बाह्यः कश्चन पदार्थो अस्ति
इति मनुते. तत्र आह. अस्य बाह्यपदार्थजातस्य अभावो न अङ्गीकर्तुं शक्यः.
उपलब्धेः. बाह्यप्रपञ्चः सर्वोऽपि उपलभ्यते. यस्तु पदार्थम् उपलभन्नेव न
उपलभे इति वदति सः कथम् आप्तः स्यात् ॥२८॥

ननु यथा स्वाप्लिकपदार्थः उपलभ्यते, नच असौ सत्यः इति वक्तुं शक्यः
कालान्तरे बाधात्. एवम् असन्नेव बाह्यः पदार्थः उपलभ्यतइति न उपलब्धिमात्रेण
वस्तुसत्त्वं वक्तुं शक्यम् इति आह.

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥२९॥

स्वाग्निकपदार्थानां स्वप्ने स्वप्नान्ते वा अन्यथाभावोपलम्भाद् न स्वाग्निकपदार्थवद् बाह्यो घटादिः ज्ञातव्यः. वर्षानन्तरं दृष्टो घटादिः तथैव दृश्यते. न तथा स्वाग्निको घटादिः. चकारात् स्वस्य मोक्षे प्रवृत्तिव्याघातश्च स्याद् इति ॥२९॥

यच्च तैः उच्यते, बाह्यपदार्थं विनापि वासनावैचित्येण ज्ञानवैचित्यं भवति इति. तत्र आह.

न भावोऽनुपलब्धेः ॥३०॥

वासनानां न भावः सम्भवति. तव मते बाह्यार्थस्य अनुपलब्धेः. उपलब्धस्य हि वासनाजनकत्वं दृष्टम्. वासनानाम् अनादित्वस्वीकारेतु अन्धपरम्पराप्रसक्तिः. अर्थं विना वासनायाः असम्भवात्. वासनां विना अर्थोपलब्धेः दृष्टत्वाद् अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां बाह्यार्थसिद्धिः अप्रत्यूहैव ॥३०॥

क्षणिकत्वाच्च ॥३१॥

आलयविज्ञानस्य क्षणिकत्वाद् वासनायाः आधारोऽपि न सम्भवति ॥३१॥

सर्वथानुपपत्तेश्च ॥३२॥

बाह्यमतं यथा यथा विचार्यते तथा तथा अनुपपन्नैव भाति इति कियद् दूषणं वक्तव्यम् इति अर्थः. चकाराद् वेदविरोधो मुख्यो दोषः सूचितः. एवं सौत्रान्तिक-विज्ञानवादिनौ प्रत्युक्तौ. माध्यमिकस्तु अत्यन्तासम्बद्धभाषित्वेन उपेक्षितः सूत्रकारेण ॥३२॥

इदानीं दिगम्बरमतं निरस्यति. ते हि अन्तर्निष्ठाः बाह्यवस्तुन्युदासीनाः बाह्यवस्तुनिराकरणार्थं सप्तभङ्गी-न्यायं प्रतिवस्तु योजयन्ति. स्याद् अस्ति, स्याद् न अस्ति, स्याद् अस्ति च न अस्ति च, स्याद् अवक्तव्यः, स्याद् अस्ति च अवक्तव्यः, स्याद् न अस्ति च अवक्तव्यश्च, स्याद् अस्ति च स्याद् न अस्ति च अवक्तव्यश्च इति सप्तभङ्गी-न्यायः. अत्र स्याच्छब्दः तिङन्तप्रतिरूपको निपातो अनेकान्तद्योतकः. तन्मतं दूषयति.

नैकस्मिन्नसम्भवात् ॥३३॥

अयं सप्तभङ्गीन्यायो न एकस्मिन् योजयितुं शक्यः. अस्ति-नास्ति-शब्दप्रतिपादितयोः भावाभावयोः एकत्र असम्भवात् ॥३३॥

ननु बाह्यपदार्थे औदासीन्याद् न अस्य एकत्र असम्भवलक्षणो दोषः
इत्यतः आह.

एवञ्चात्माकात्स्न्यम् ॥३४॥

एवं सत्यपि च आत्मनो वस्तुपरिच्छेदाद् अकात्स्न्यं सर्वत्वाभावः
स्यात्. यद्वा तैः शरीरपरिमाण आत्मा अङ्गीक्रियते. तथा सति शरीराणां
तुल्यत्वाभावाद् आत्मनो, न कात्स्न्यं कृत्स्नशरीरतुल्यत्वाभावः प्राप्नोति ॥३४॥

नच पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥३५॥

ननु शरीराणाम् अवयवोपचयापचयानुसारेण आत्मनोऽपि अवयवोपच-
यापचयाङ्गीकारेण तत्तुल्यत्वात् पर्यायाद् अविरोधः इति चेद् न. एवं सति
आत्मनो विकारित्वं स्यात्. आत्मनः सङ्कोचविकासाङ्गीकारेऽपि विकारित्वं
दुष्परिहरमेव ॥३५॥

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥३६॥

अन्त्यावस्थितिः मोक्षसामयिक-परिमाणावस्थितिः तस्याः अङ्गीकारात्
पूर्वोक्तदोषपरिहारार्थञ्च उभयनित्यत्वं महत्परिमाणम् अणुपरिमाणं चेद्
अङ्गीक्रियते, तर्हि उभयथापि शरीरपरिमाणव्याघाताद् मतान्तरप्रवेशाच्च न
नास्तिकाभिमततात्मसिद्धिः ॥३६॥

एवं बाह्यमतानि निरस्य तार्किकाद्यभिमतम् ईश्वरं निराकरोति.

पत्युरसामञ्जस्यात् ॥३७॥

ईश्वरो जीवेभ्यो भिन्नः तेषां नियामकः चेद् अङ्गीक्रियते, तदा वैषम्य-
नैर्घृण्यात्मकासामञ्जस्य प्रसक्तेः नैव अङ्गीकर्तव्यः. कर्मसापेक्षत्वे
स्वातन्त्याभावाद् अनीश्वरत्वं प्रसज्येत. अतः शुष्कतर्केण न एवम् ईश्वरो
अङ्गीकर्तव्यः ॥३७॥

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥३८॥

जीव-ब्रह्मणोः विभुत्वेन अजसंयोगानङ्गीकारात् सम्बन्धाभावेन
नियामकत्वानुपपत्तिः. तुल्यत्वादपि न नियामकत्वं सम्भवति इति सूचनार्थं
'च'कारः ॥३८॥

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥३९॥

जगत्कर्तृत्वेन कल्प्यमानः ईश्वरो लौकिकन्यायेन अधिष्ठितएव कार्यं

करोति इति कल्पनीयम्. तथाच ईश्वरस्यापि अधिष्ठाने कल्प्यमाने मतविरोधो
अनवस्थाप्रसक्तिश्च स्यात्. अतो अधिष्ठानानुपपत्तेः न तन्मतसिद्धस्य ईश्वरस्य
कर्तृत्वं सम्भवति इति अर्थः ॥३९॥

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥४०॥

ननु असम्बन्धदोषपरिहारार्थं ब्रह्म करणवद् अङ्गीकर्तव्यम् इति चेद् न.
तथा सति सुखदुःखभोगादिकं प्रसज्येत. करणवतो भोगनियमात् ॥४०॥

अन्तवत्वमसर्वज्ञता वा ॥४१॥

प्रकृतेः जीवस्य च नियमनार्थम् ईश्वरः स्वीकृतः. नियमनञ्च एतयोः
परिच्छेदे सति सम्भवति. तथाङ्गीकारे जीव-प्रकृत्योः अन्तवत्त्वं भवेत्. तथाच
अनित्यत्वे मोक्षशास्त्रवैफल्यं प्रसज्येत. एतद्दोषनिरासाय तयोः विभुत्वे नित्यत्वे
च अङ्गीकृते सम्बन्धाभावाद् ईश्वरस्य असर्वज्ञता वा स्यात्. अतो असङ्गतः
तार्किकसमयः ॥४१॥

अतः परं पाञ्चरात्रिकमतेऽपि विरुद्धांशनिराकरणार्थम् अधिकरणान्तरम्
आरभते. ते हि वासुदेवात् सङ्कर्षणः तस्मात् प्रद्युम्नः तस्माद् अनिरुद्धः इति
चतुर्व्यूहोत्पत्तिं वदन्ति. तद् दूषयति.

उत्पत्त्यसम्भवात् ॥४२॥

सङ्कर्षणस्य जीवत्वाङ्गीकाराद् जीवस्य उत्पत्तेः असम्भवाद् न इदं मतं
युक्तम् इति अर्थः. जीवस्य उत्पत्त्याङ्गीकारेण तस्य अनित्यत्वप्रसक्त्या
मोक्षशास्त्रवैफल्यं प्रसज्येत ॥४२॥

नच कर्तुः करणम् ॥४३॥

यदपि तैः अङ्गीक्रियते, कर्तुः सङ्कर्षणनामकजीवात् प्रद्युम्नसंज्ञकं मनः
उत्पद्यते इति. इदं लोके अप्रसिद्धम्. कुलालादिभ्यः कर्तृभ्यो दण्डादिकरणानाम्
उत्पत्तेः अदर्शनात् ॥४३॥

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥४४॥

यदि एते सर्वे परमेश्वराः विज्ञानादिमन्तः इति उच्यते, तथा सति सर्वेषु
ईश्वरत्वस्य अप्रतिषेधः. तथाच अनेकेश्वरत्वदोषप्रसक्तिः इति अर्थः ॥४४॥

विप्रतिषेधाच्च ॥४५॥

अस्मिन् मते कल्पनाबाहुल्याद् वेदनिन्दादर्शनाच्च विप्रतिषेधः.

चकाराद् वेदप्रक्रियाविरोधश्च सूचितः. अतो असमञ्जसम् इदं दर्शनम् ॥४५॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तौ मरीचिकाख्यायां द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः.

॥ तृतीयः पादः ॥

एवं पूर्वपादे वेदविरुद्धानि मतानि निराकृत्य ब्रह्मवादे जडजीव-
निरूपकश्रुतिषु विरुद्धांशनिराकरणाय तृतीयः पादः आरभ्यते. तत्र वेदान्ते सृष्टिः
द्विधा निरूप्यते. “एतस्माद् जायते प्राणः” (मुण्डकोप.२।१।३) इति
श्रुत्यनुरोधेन भूतभौतिकं सर्वं ब्रह्मणएव विस्फुलिङ्ग-न्यायेन जायते इति एकः
प्रकारः. अपरस्तु वियदादिक्रमेण सृष्टिः जायते इति. तत्र क्रमसृष्टिनिरूपणे
छान्दोग्ये, “तत्तेजो असृजत” (छान्दो.उप.६।२।३) इति तेजोऽबन्नानां सृष्टिः
उक्ता, न वाय्वाकाशयोः. तैत्तिरीयोपनिषत्सु, “आकाशः सम्भूतः” (तैत्ति.
उप.२।१) इत्यादिना तयोरपि सृष्टिः उक्ता. वाक्यद्वयस्यापि क्रमसृष्टि-
निरूपकत्वाद् एकवाक्यत्वं युक्तम्. अतः आकाशस्य उत्पत्तिः अस्ति न वा इति
संशये पूर्वपक्षी न इति आह.

न वियदश्रुतेः ॥१॥

विमतम् आकाशं न उत्पद्यते. छान्दोग्ये सृष्टिनिरूपणे तदुत्पत्तेः
अश्रवणात् ॥१॥

अस्ति तु ॥२॥

तुः पक्षव्यावर्तकः तैत्तिरीयके वियदुत्पत्तिः अस्ति. तथाच
तदेकवाक्यतायै छान्दोग्येऽपि सा अङ्गीकर्तव्या इति अर्थः ॥२॥

शङ्कते.

गौण्यसम्भवात् ॥३॥

तैत्तिरीयोपनिषदुक्ता वियदुत्पत्तिः गौणी. आकाशस्य निरवयवत्वाद्
व्यापकत्वाच्च मुख्योत्पत्तेः असम्भवात् ॥३॥

शब्दाच्च ॥४॥

“वायुश्च अन्तरिक्षं चैतदमृतम्” (.....) इति,
“आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः” (शत.ब्राह्म.१०।६।३।२१) इत्यादिशब्दाद्
आकाशस्य नित्यत्वबोधनादपि तदुत्पत्तिः गौणी वक्तव्या ॥४॥

ननु “आकाशः सम्भूतः” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यत्र एकस्यैव ‘सम्भूत’-
शब्दस्य अग्न्यादौ मुख्योत्पत्तिवाचकत्वम्, आकाशे गौणोत्पत्तिवाचकत्वम् इति
युगपद् वृत्तिद्वयविरोधाद् न अङ्गीकर्तुं युक्तम् अतः आह.

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥५॥

एकस्यापि पदस्य क्वचिद् मुख्या वृत्तिः, क्वचिद् गौणी इति स्यात्. यथा
“तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म” (तैत्ति.उप.३।२) इति श्रुतौ
प्रथम‘ब्रह्म’शब्दो मुख्यार्थको, द्वितीयस्तु गौणार्थकः. एवं ‘सम्भूत’शब्दोऽपि इति
न आकाशस्य पृथिव्यादिवद् मुख्योत्पत्तिः इति प्राप्ते ॥५॥

उच्यते.

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥६॥

यदि आकाशस्य उत्पत्तिः न अङ्गीक्रियेत, तर्हि एकविज्ञानेन
सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा हीयते. अव्यतिरेकाद् आकाशस्य अनुद्गमात्. अतः
आकाशस्य अलौकिकत्वेन तज्ज्ञानस्य सर्वज्ञतायाम् अपेक्षितत्वाद् लौकिकत्वेन
जीववद् ब्रह्मरूपत्वानङ्गीकाराच्च एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञासिद्ध्यर्थं
तदुत्पत्तिः अङ्गीकार्या इति अर्थः. ननु आकाशस्य अनुद्गमेऽपि जीववैलक्ष्येऽपि
वस्तुसामर्थ्येन एतादृशमपि एकं ब्रह्मरूपम् अस्ति इति स्वीकाराद् न प्रतिज्ञाहानिः
अतः आह. शब्देभ्यः. “येन अश्रुतं श्रुतं भवति” (छान्दो.उप.६।१।३) इति
शब्दात् प्रकृतिविकारभावेनैव श्रुतिः एक विज्ञानं व्युत्पादयति इति न वस्तुसामर्थ्येन
तादृशं ब्रह्मरूपम् अङ्गीकर्तव्यम् इति अर्थः ॥६॥

यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥७॥

आकाशोत्पत्तौ असम्भावनानिरासकः तुशब्दः. यत्किञ्चिद् विकृतं तस्य
सर्वस्य विभागः उत्पत्तिः दृष्टा. आकाशमपि लौकिकव्यवहारविषयत्वाद् विकृतम्.
अतो अस्यापि उत्पत्तिः युक्ता. एवम् आकाशोत्पत्तौ श्रुतिसिद्धायाम्,
“आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः” (शत.ब्राह्म.१०।६।३।२१) इत्यादिश्रुतयः
आकाशनियामकतदाधिदैविकरूपब्रह्मप्रतिपादिकाः बोध्याः ॥७॥

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥८॥

आकाशोत्पत्तिस्थापनेन वायोः उत्पत्तिः समर्थिता. “सैषा अनस्तमिता
देवता” (बृहदा.उप.१।५।२२) इत्यादिश्रुतिः आधिदैविकवायुपरा ॥८॥

ननु यथा आकाशोत्पत्तिः समर्थिता तन्नित्यत्वप्रतिपादकश्रुतीनाम्
अन्यार्थप्रतिपादनेन, तथा ब्रह्मणोऽपि उत्पत्तिः अस्तु इत्यतः आह.

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥९॥

तुः पक्षव्यावर्तकः. सन्मात्रस्य ब्रह्मणः उत्पत्तेः असम्भवः. नहि
कार्योत्पत्तौ कारणस्य उत्पत्तिः अङ्गीक्रियते. कुण्डलोत्पत्तौ कनकोत्पत्तेः
अनभ्युपगमात्. ब्रह्मणः उत्पत्तिः स्वतो न सम्भवति. अन्यतः चेद् अनवस्था.
यत्सर्वस्य मूलं तदेव ब्रह्म इति स्वीकारात्. अतो अनुपपत्तेः ब्रह्मणः उत्पत्तेः
असम्भवः ॥९॥

तेजोऽतस्तथा ह्याह ॥१०॥

अतो वायुभावापन्नब्रह्मणः तेजः उत्पन्नम्. तथाहि, “वायोरग्निः”
(तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुतिः आह ॥१०॥

आपः ॥११॥

“अग्नेरापः”(तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुतेः तेजोरूपब्रह्मणः आपो जाताः.
सर्वश्रुतीनाम् अविरोधः इति सूचनार्थम् एकम् इदं सूत्रं श्रुतिसिद्धार्थानुवादकम्
उक्तम् ॥११॥

“ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति, ता अन्नमसृजन्त”
(छान्दो.उप.६।२।४) इति श्रूयते. अत्र अन्नशब्देन व्रीह्यादयः उत पृथिवी इति
संशये, तैत्तिरीये, “अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्याः ओषधयः ओषधीभ्यो अन्नम्”
(तैत्ति.उप.२।१) इति श्रवणाद् “अन्नमयं हि सौम्य मनः” (छान्दो.उप. ६।५।४)
इत्यादौ तेजोऽब्रह्मणः सहचारोपलम्भात् पृथिव्योषध्यन्नानां मध्ये अभेदविवक्षया
यत्किञ्चिद् निरूपणीये अन्नम् उक्तम् इति प्राप्ते, उच्यते.

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥१२॥

अत्र अन्नशब्देन पृथिवी. यतो अधिकारो भूतानामेव, नतु भौतिकानाम्.
नीलं च रूपं पृथिव्याएव सम्भवति. “अद्भ्यः पृथिवी” (तैत्ति.उप.२।१) इति
शब्दान्तरम्. एभ्यो हेतुभ्यो अन्नशब्देन पृथिव्येव उच्यते, नतु अन्नम् ॥१२॥

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् सः ॥१३॥

कार्यरूपाद् आकाशाद् वाय्वादीनाम् उत्पत्तिं तुशब्दो वारयति. किन्तु,
तदभिध्यानाद् तस्य ब्रह्मणो अभिध्यानं तत्तत्कार्योत्पादनार्थं तस्य आलोचनं,

ततः तदात्मकत्वं, तेन तच्छब्दवाच्यत्वं तस्मात् तद्भावापन्नब्रह्मणएव कार्यं, नतु आकाशादिभ्यः केवलेभ्यः. तल्लिङ्गात् सर्वकार्यकर्तृत्वं लिङ्गं ब्रह्मणएव इति सर्ववेदान्तेषु निश्चितम् अतः तस्मादेव कार्योत्पत्तिः नतु केवलेभ्यो भूतेभ्यः. तस्मात् सएव सर्वं सृजति इति अर्थः ॥१३॥

उत्पत्तिक्रमं विचार्य लयक्रमं विचारयति.

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते ॥१४॥

उत्पत्तिक्रमेण न लयः, किन्तु तद्विपर्ययेण. अतः उत्पत्त्यनन्तरं प्रलयः. यतः तथैव उपपद्यते. प्रवेशविपर्ययेण निर्गमनदर्शनात्. इदञ्च क्रमसृष्टौ बोध्यम् ॥१४॥

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ॥१५॥

ननु तैत्तिरीयके अन्नमयादयः पञ्च कोशाः निरूपिताः. तत्र अन्नमय-प्राणमयोः सामग्री पृथिवीवायुरूपा पूर्वं निरूपिता. आनन्दमयः परमात्मैव. अतो अन्तरा मध्ये विज्ञानमनसी उक्ते, ते क्रमेण प्रातिलोम्यक्रमेण उत्पन्ने वक्तव्ये. तयोः अग्रे कथनात्मकाद् लिङ्गात्. अतः तयोः उत्पत्तिः वक्तव्या इति चेद् न. अविशेषात् नामरूपात्मकविशेषयुक्तानामेव उत्पत्तिः उच्यते. एतयोस्तु विशेषाभावाद् न उत्पत्तिः उक्ता. विज्ञानमयस्य जीवत्वात्, मनोमयस्य च वेदात्मकत्वात्, अतो भूतभौतिकसृष्टौ प्रवेशाभावाद् न तयोः उत्पत्तिः वक्तव्या इति अर्थः ॥१५॥

ननु विज्ञानमयस्य जीवस्य उत्पत्त्यनङ्गीकारे “जातो देवदत्तः” इत्यादि-सकलव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः इति आशङ्क्य आह.

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥१६॥

तुः पक्षव्यावर्तकः. चराचरे स्थावर-जङ्गमे शरीरे तयोः विशेषेण अपाश्रयः आश्रयः. शरीरसम्बन्धः, सतु स्यात्. नतु स्वतो जीवस्य उत्पत्तिः अस्ति. ननु जीवस्य अनुत्पत्तौ जातकर्माद्यनुपपत्तिः अतः आह. तद्व्यपदेशः इति. शरीरजन्म-मरणादिना जीवस्य तद्व्यपदेशो जन्ममरणादिव्यपदेशो भाक्तो लाक्षणिकः. तद्भावभावित्वात् शरीरान्वयव्यतिरेकेण जीवोपलब्ध्यनुपलब्धी. अतो लक्षणया देहधर्मो जीवे उच्यते. नतु मुख्या जीवस्य उत्पत्तिः ॥१६॥

ननु जीवस्यापि उत्पत्तिः अस्तु, किमिति लाक्षणिकत्वं स्वीक्रियते इति

आशङ्क्य आह.

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः॥१७॥

आत्मा न उत्पद्यते, कुतः? अश्रुतेः. नहि आत्मनः उत्पत्तिः कुत्रचिदपि श्रूयते. देवदत्तो जातः इति देहोत्पत्तिरेव, नतु जीवोत्पत्तिः उच्यते. विस्फुलिङ्गवद् उच्चरणन्तु न उत्पत्तिः. नामरूपसम्बन्धाभावात्. किञ्च, ताभ्यः श्रुतिभ्यः, “अयमात्मा अजरो अमरः” (.....), “न जायते म्रियते वा” (भग.गीता २।२०) इत्यादिभ्यः आत्मनो नित्यत्वादपि न उत्पत्तिः ॥१७॥

आत्मनो गुणान्निरूपयन् प्रथमतः चैतन्यगुणम् आह.

ज्ञोऽत एव ॥१८॥

अतएव, “विज्ञानमयः” (बृहदा.उप.४।४।५) इत्यादिश्रुतिभ्यः आत्मा ज्ञः चैतन्यरूपो ज्ञेयः ॥१८॥

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥१९॥

‘अतएव’ इति अनुवर्तते. “स यदा अस्माच्छरीराद् उत्क्रामति” (कौषी.उप.३।४) “चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति” (कौषी.उप.१।२), “तस्माद् लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे” (बृहदा.उप.४।४।६) इत्यादिश्रुत्युक्तानाम् उत्क्रान्तिगत्यागतीनां जीवसम्बन्धिनीनां श्रवणाद् यथायोग्यं तस्य परिमाणम् अङ्गीकर्तव्यम्. यद्यपि “आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः” (श्वेता.उप.५।८) इति श्रुतौ परिमाणम् उक्तं. तथापि बहुवादिविप्रतिपत्तिनिरासाय युक्तिभिः साध्यते ॥१९॥

स्वात्मना चोत्तरयोः ॥२०॥

“ऊर्णनाभिर्यथा तन्तून् सृजते सञ्चरत्यपि, जाग्रत्स्वप्ने तथा जीवो गच्छत्यागच्छते पुनः” (ब्रह्मोपपिषत्) इति श्रुत्युक्तयोः उत्तरयोः गत्यागत्योः स्वात्मना स्वरूपेणैव सम्भवात् तदनुरोधेन अणुत्वं तस्य स्वीकर्तव्यम् इति अर्थः. उत्क्रमणे तु देहेन्द्रियादिभिः सम्बन्धोऽपि अस्ति. अतो निःसन्दिग्धत्वाय गत्यागतिकथनम्. अतो व्यापके गत्यागत्योः असम्भवाद् मध्यमपरिमाणत्वे अनित्यत्वप्रसक्तेः अणुपरिमाणो जीवः इति अङ्गीकर्तव्यम् इति अर्थः ॥२०॥

शङ्कते.

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥२१॥

ननु, “स वा एष महानज आत्मा” (बृहदा.उप.४।४।२५) “योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु” (बृहदा.उप.४।३।७) इत्यत्र अतच्छ्रुतेः अणुत्वविपरीत-व्यापकत्वश्रुतेः न अणुः जीवः इति चेद् न. इतराधिकाराद् इतरस्य परब्रह्मणो अधिकारात्. अतो ब्रह्मनिरूपणमेव अस्मिन् वाक्ये कृतं, नतु जीवस्वरूपनिरूपणम् इति अर्थः ॥२१॥

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ॥२२॥

“स्वयं विहृत्य स्वयं निर्माय” (बृहदा.उप.४।३।९) इत्यादिश्रुतौ स्वशब्दो अणुपरिमाणं जीवस्य ज्ञापयति. स्वप्ने व्यापकस्य शरीरपरिमाणस्य वा विहरणासम्भवात्. “बालाग्रशतभागस्य” (श्वेता.उप.५।९), “आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः” (श्वेता.उप.५।८) इत्यादौ च उन्मानम्. चकारेण स्वप्न-प्रबोधयोः सन्धा वा गतिदर्शनम्. एतैः हेतुभिः जीवस्य अणुत्वमेव सिद्ध्यति इति अर्थः ॥२२॥

ननु जीवस्य अणुत्वे सकलशरीरव्यापि चैतन्यं न सम्भवति इति आशङ्क्य आह.

अविरोधश्चन्दनवत् ॥२३॥

चन्दनं यथा एकदेशस्थितं सकलदेहसुखं करोति, अतितप्ततैलस्थितं वा तापनिवृत्तिं करोति. तथा जीवोऽपि एकदेशस्थितः सकलदेहे चैतन्यं सम्पादयति इति अर्थः ॥२३॥

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्बुद्धि हि ॥२४॥

ननु चन्दने अवस्थितिवैशेष्याद् अनुपहतत्वचि सम्यक्तया अवस्थानरूपात् त्वचः एकत्वात् तत्र सकलशरीरे सुखम् उपपद्यते, नतु अत्र तथा सम्भवति इति, चेद् न. जीवस्यापि स्थानविशेषाभ्युपगमात्. किं तत् स्थानम् इत्यतः आह. हृदि हि. जीवस्य हृदि स्थितिः उक्ता. हि शब्देन “गुहां प्रविष्टौ” (ब्रह्मसू.१।२।११) इति युक्तिः सूचिता ॥२४॥

गुणाद्वा लोकवत् ॥२५॥

यद्वा जीवस्य स्वरूपतो अणुत्वेऽपि सकलशरीरव्यापिचैतन्यगुणात् शरीरव्यापकत्वम्. लोकवत्. लोके यथा मणेः अल्पत्वेऽपि तत्कान्तिः बहुदेशं व्याप्नोति, तद्वत् ॥२५॥

ननु गुणिनं विहाय गुणस्य अधिकदेशे अवस्थितिः क्वापि न दृष्टा इति आशङ्क्य दृष्टान्तम् आह.

व्यतिरेको गन्धवत् ॥२६॥

यथा चम्पकादिपुष्पाणां गन्धः तद्व्यवहितदेशेऽपि उपलभ्यते तथा जीवस्य चैतन्यगुणोऽपि इति अर्थः. “यथा वृक्षस्य सम्पुष्पितस्य दूराद् गन्धो वाति” (महाना.उप.८।२) इति वेदोक्त्या अस्य दृष्टान्तत्वं युक्तम् ॥२६॥

तथा च दर्शयति ॥२७॥

जीवस्य हृदयस्थानत्वम् अणुपरिमाणञ्च उक्त्वा “आलोमभ्य आनखाग्रेभ्यः” (छान्दो.उप.८।८।१) इति तस्य चैतन्यगुणेन सकलशरीर-व्यापित्वं दर्शयति ॥२७॥

ननु चैतन्यस्य जीवगुणत्वे किं प्रमाणम् अतः आह.

पृथगुपदेशात् ॥२८॥

“प्रज्ञया शरीरं समारुह्य” (कौषी.उप.३।६) इति श्रुतौ प्रज्ञायाः करणत्वेन पृथगुपदेशात् चैतन्यस्य गुणत्वम् ॥२८॥

ननु ‘तत्त्वमस्या’दिवाक्यैः परं ब्रह्मैव जीवः इति कथं तस्य अणुत्वं सम्भवति इति आशङ्क्य आह.

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥२९॥

तुः पक्षव्यावर्तकः. तद्गुणसारत्वात् तस्य ब्रह्मणो गुणाः प्रज्ञाद्रष्टृत्वादयः तएव जीवे साराः जडवैलक्षण्यकारिणः इति हेतोः तद्व्यपदेशः, अमात्ये राजपदप्रयोगवद् जीवे भगवद्व्यपदेशो मैत्रेयीब्राह्मणादौ. ननु निरूपणस्थले उपचारासम्भवात् कथम् अन्यस्य अन्यधर्मवत्त्वेन कथनं, तत्र आह. प्राज्ञवत्. यथा, “तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दो अपहतपाप्मा” (बृहदा.उप.३।२१) इत्यादिना प्राज्ञस्वरूपम् उक्तम्. नहि सुषुप्तिसाक्षिणः प्राज्ञस्य एतादृशं स्वरूपं सम्भवति. अपहतपाप्मादीनां ब्रह्मलिङ्गत्वात्. अतो ब्रह्माभेदेन एतद् उक्तम् इति ज्ञेयम्. एवमेव ब्रह्माभेदविवक्षया शारीरस्य जीवस्यापि ब्रह्मधर्मनिरूपिकाः श्रुतयो ज्ञेयाः ॥२९॥

ननु जीवस्य अत्यन्तम् अपकृष्टस्य सर्वोत्कृष्टत्वेन व्यपदेशो अत्यन्तप्रत्ययिततरे वेदे अयुक्तः. नच ब्रह्मणः आनन्दांशप्राकट्यात्

तद्गुणसारत्वेन व्यपदेशः इति वाच्यम्. तथा सति प्राज्ञे यथा आनन्दांशः तिरोहितो भवति तथा अत्रापि स्याद् अतो अयुक्तः तद्व्यपदेशः इति आशङ्क्य आह.

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥३०॥

यावद् अयम् आत्मा आनन्दांशप्राकट्येन ब्रह्म भवति तावद् अयं व्यपदेशः. पश्चात्तु ब्रह्मधर्माणाम् आविर्भावाद् ब्रह्मत्वं युक्तमेव इति भावः. अतो न पूर्वोक्तदोषो, यतः तदानीं ब्रह्मधर्माणां स्वस्मिन् दर्शनम् अस्ति. चकाराद् जीवस्यापि आनन्दांशः प्रकटितः इति सूचितम्. यद्वा, अयं व्यपदेशो न अत्यन्तम् अयुक्तस्य, किन्तु राजज्येष्ठपुत्रवद् ब्रह्मभावयोग्यस्य. तथाच न पूर्वोक्तो दोषः. तद् उक्तं निबन्धे,

“व्यापकत्वश्रुतिस्त्वस्य भगवत्त्वेन युज्यते ।

आनन्दांशाभिव्यक्तौ तु तत्र ब्रह्माण्डकोटयः ॥

प्रतीयेरन् परिच्छेदो व्यापकत्वं च तस्य तदिति ।”

(शा.प्र.का.५३-५४) ॥३०॥

पुंस्त्वादिवत्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥३१॥

जीवस्य संसारदशायामपि आनन्दांशस्य न अत्यन्ताभावः. किन्तु पुंस्त्वादिवत्. यथा सेकादिसामर्थ्यलक्षणं पुंस्त्वं बाल्ये विद्यमानमेव यौवने प्रकटीभवति. तथा आनन्दांशस्यापि संसारदशायां तिरोहितस्य ब्रह्मभावे सति अभिव्यक्तियोगः आविर्भावः इति अर्थः ॥३१॥

ननु जीवस्य संसारावस्थायां सच्चित्प्राकट्यमेव. मोक्षे आनन्दांशस्यापि प्राकट्यम् इति कथम् एवं वैरूप्यं स्वीक्रियते इति आशङ्क्य आह.

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा ॥३२॥

यदि संसारावस्थायामपि जीवस्य आनन्दांशः प्रकटः इति उच्येत, तथा सति आनन्दांशस्य नित्यम् उपलब्धिः स्यात्. तथाच संसारावस्थायाः असम्भवः स्यात्. अथ जीवस्य सर्वदैव आनन्दांशस्य अनुपलब्धिः स्वीक्रियेत, तथा सति मोक्षदशा न स्यात्. अथ अन्यथानुपपत्त्या अन्यतरनियमः स्वीक्रियेत, जीवो निरानन्दएव, ब्रह्मतु आनन्दमयम् इति. तथाच, “ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति” (बृहदा.उप.४।४।६) इति श्रुतिविरोधः प्राप्नोति. अतः पूर्वोक्तएव प्रकारो अङ्गीकर्तव्यः इति सिद्धम् ॥३२॥

अतः परं साङ्ख्यानां मते कर्तृत्वं प्रकृतिगतमेव इति, तन्मतनिरासाय जीवगतकर्तृत्वव्यवस्थापनार्थम् अधिकरणान्तरम् आरभ्यते.

कर्ताशास्त्रार्थवत्वात् ॥३३॥

कर्ता जीवएव. ज्योतिष्टोमादिविधायकशास्त्राणाम् अर्थवत्वात्. अन्यथा ब्रह्मणः कर्मणाम् अनुपयोगाद् जडस्य अशक्यत्वात् कर्मविधयो व्यर्थाः स्युः ॥३३॥

विहारोपदेशात् ॥३४॥

“यद्यत्कामयते तत्तद् भवति” (.....) इति श्रुत्या जीवस्यैव गान्धर्वादिलोकेषु विहार उपदिष्टः. तथाच “साधुकारी साधुर्भवति” (बृहदा.उप.४।४।५) इति श्रुतौ कर्तृत्व-भोक्तृत्वयोः सामानाधिकरण्याद् जीवएव कर्ता सिद्ध्यति ॥३४॥

ननु इन्द्रियैः कर्मकरणदर्शनात् तेषामेव कर्तृत्वम् अस्तु इति आशङ्क्य आह.

उपादानात् ॥३५॥

“तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय” (बृहदा.उप.२।१।१७) इति श्रुत्युक्ताद् जीवेन सर्वप्राणानां विज्ञानोपादानाद् जीवएव कर्ता. इन्द्रियाणान्तु करणत्वमेव. अतः स्वातन्त्र्याद् जीवएव कर्ता ॥३५॥

व्यपदेशाच्च क्रियायां नचेन्निर्देशविपर्ययः ॥३६॥

“विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च” (तैत्ति.उप.२।५) इति श्रुतौ यागादिक्रियायां विज्ञानात्मकजीवस्यैव कर्तृत्वेन व्यपदेशात् तस्यैव कर्तृत्वम् इति अर्थः. साङ्ख्यमते तु कर्मणि बुद्ध्यादीनामेव कर्तृत्वं, भोगे तु जीवस्य. साङ्ख्यमताग्रहेण पूर्वोक्तव्यपदेशाङ्गीकारो न चेत् तर्हि, “विज्ञानं यज्ञं तनुते” (तैत्ति.उप.२।५) इति श्रुतौ, “विज्ञानेन विज्ञानमादाय” (बृहदा.उप. २।१।१७) इति श्रुतिवद् निर्देशस्य विपर्ययः स्यात्. “विज्ञानेन यज्ञं तनुते” (तैत्ति.उप.२।५) इति निर्देशः स्याद् इति अर्थः ॥३६॥

ननु जीवस्य कर्तृत्वं चेत् तर्हि स्वस्य हिताकरणादिदोषप्रसङ्गः इति आशङ्क्य आह.

उपलब्धिवदनियमः ॥३७॥

चक्षुषा यथा इष्टम् अनिष्टञ्च उपलभते तथा इन्द्रियैः कर्म कुर्वन् जीवः
इष्टम् अनिष्टं वा प्राप्नोतीति न हिताकरणनियमः इति अर्थः ॥३७॥

ननु एवमपि जीवस्य क्रियायां स्वातन्त्र्यलक्षणं कर्तृत्वं चेत् स्वस्य अहितं
न कुर्याद् इति आशङ्क्य आह.

शक्तिविपर्ययात् ॥३८॥

जीवस्य शक्तेः विपर्ययात् तथा सामर्थ्याभावाद् न हितकरणनियमः इति
अर्थः ॥३८॥

शक्तिविपर्यये हेतुम् आह.

समाध्यभावाच्च ॥३९॥

जीवस्य क्रियाज्ञानशक्ती योगेन भवतः. समाधेः अभावात् शक्त्यभावः.
चकाराद् मन्त्रसामर्थ्याभावोऽपि सूचितः ॥३९॥

ननु कर्मकर्तॄणां पाचकादीनां कर्तृत्व-भोक्तृत्वयोः भेदो दृश्यते तथा
अत्रापि भविष्यति इत्यतः आह.

यथा च तक्षोभयथा ॥४०॥

यथा तक्षा स्वयं रथं निर्माय तत्र आरुह्य विहरति. परार्थनिर्माणे स्वयं तेन
न विहरति च. तथा जीवोऽपि स्वार्थं परार्थञ्च करोति कारयति च इति अर्थः. नच
कर्तृत्वस्य दुःखरूपत्वाद् जीवे तद् न अङ्गीक्रियते इति वाच्यम्. पयःपानादि-
कर्तृत्वस्य सुखरूपस्य दृष्टत्वात् ॥४०॥

तत्कर्तृत्वं जीवधर्मो वा, ब्रह्मधर्मो वा इति संशये निर्णयम् आह.

परात् तच्छ्रुतेः ॥४१॥

कर्तृत्वं ब्रह्मधर्मएव. पराद् ब्रह्मणएव तत्कर्तृत्वं जीवे समायाति. तस्य
ब्रह्मांशत्वाद् ऐश्वर्यादिवत्. कुतः? तच्छ्रुतेः. “यमधो निनीषति” (कौषी.उप.
३।९), “सर्वकर्ता सर्वभोक्ता सर्वनियन्ता” इति तस्यैव कर्तृत्वश्रुतेः. ब्रह्मणः
सर्वरूपत्वाद् न कश्चिद् दोषः शङ्क्यः ॥४१॥

ननु ब्रह्मणः सर्वकर्तृत्वे वैषम्यं नैर्घृण्यञ्च स्याद् जीवानां दुःखदातृत्वात्
तदनुकूलकर्मकारणाच्च इति आशङ्क्य आह.

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ॥४२॥

पूर्वपक्षव्यावर्तकः तुशब्दः. भगवान् फलदाने जीवकृतप्रयत्नापेक्षः.

अतो जीवस्य यादृशप्रयत्नाभिनिवेशं पश्यति तादृशं कर्म कारयति इति न भगवति दोषः. अन्यथा विहित-प्रतिषिद्धयोः वैयर्थ्यं स्यात् ॥४२॥

अधुना जीवस्य ब्रह्मसम्बन्धिरूपम् आह.

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथाचापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ॥४३॥

जीवो ब्रह्मणो अंशएव. “सर्व एवात्मानो व्युच्चरन्ति” (बृहदा.उप. २।१।२०) “कपूयचरणा रमणीयचरणाः” (छान्दो.उप.५।१०।७) इत्यादि-नानाव्यपदेशात्. ननु ब्रह्मणो निरवयवत्वाद् जीवस्य अंशत्वं न सम्भवति इति चेद् न. ब्रह्मणः स्वरूपं न लोकसिद्धं, किन्तु श्रुतिसिद्धमेव तत्. तथाच यथा श्रुतिः वदति तत् स्वरूपं तथैव इति मन्तव्यं, नतु कुकल्पनाभिः प्रत्यवस्थातव्यम्. ननु जीवस्य ब्रह्मांशत्वे तत्सजातीयत्वम् आयाति. “ब्रह्मदाशा ब्रह्मे कितवा उत” (आथर्वणिकश्रुतिः) इति श्रुत्यन्तरेतु एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानाद् दाशादीनां ब्रह्मत्वं प्रतीयते. तत्कार्यत्वएव समञ्जसं स्याद् इति चेद् न. अन्यथा प्रकारान्तरेणापि शरीरत्वेन च प्रकारेण एके शाखिनो दाशकितवादित्वम् अधीयते. तथाच आनन्दांशस्य तिरोहितत्वाद् न जीवस्य ब्रह्मसाजात्यम्. चिद्रूपेणतु साजात्याङ्गीकारे इष्टापत्तिः इति भावः ॥४३॥

मन्त्रवर्णात् ॥४४॥

“पुरुष एवेदं सर्वम्” (शु.यजुर्वे.३१।२) इति उपक्रम्य, “पादोऽस्य विश्वाभूतानि” (शु.यजुर्वे.३१।३) इत्यनेन भूतानां जीवानां पादत्वं, पादेषु स्थितत्वेन वा अंशत्वम् उक्तम् इति तदेव जीवस्य स्वरूपम् इति अर्थः ॥४४॥

अपि स्मर्यते ॥४५॥

“ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः” (भग.गीता १५।७) इति जीवस्य अंशत्वं स्मर्यतेऽपि इति अर्थः ॥४५॥

ननु जीवस्य ब्रह्मांशत्वे तद्दुःखेन ब्रह्मणोऽपि दुःखित्वं स्याद्, हस्तादिवेदनया शरीरस्येव इति आशङ्क्य आह.

प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥४६॥

परो भगवान् एवं जीवदुःखेन दुःखी न. प्रकाशादिवत्. ‘नाग्नेर्हि तापो न हिमस्य तत्स्याद्’ इति न्यायेन यथा प्रकाशादिरूपाणाम् अग्न्यादीनाम् अन्यस्य तापकत्वेऽपि स्वस्य न तापादि. तथा द्वैतबुद्ध्यांशस्य दुःखित्वेऽपि परस्य भगवतो

दुःखित्वं न इति अर्थः. यद्वा, यथा प्रकाशादिकं प्रकाशदोषेण न दुष्यति तथा ब्रह्मापि अंशदोषेण न दुष्यति इति अर्थः ॥४६॥

स्मरन्ति च ॥४७॥

“तत्र यः परमात्मा हि सः नित्यो निर्गुणः स्मृतः ।

न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

कर्मात्मा ह्यपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः”

(भाष्यकारिका) इत्यादिना सर्वेऽपि ऋषयो अंशिनो दुःखासम्बन्धम् अंशस्य च दुःखसम्बन्धं स्मरन्ति. चकारेण, “तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति” (मुण्डकोप. ३।१।१) इति श्रुतिः परिगृहीता ॥४७॥

ननु जीवस्य भगवदंशत्वेन विधिविषयत्वाभावात् कर्मसम्बन्धो अनुपपन्नः. किञ्च एकस्यैव जीवस्य अनेकदेहसम्बन्धाद् अयं शूद्रो अयं पतिः इयं स्त्री इति ज्ञानम् (“...अपि” इति जू.पाठः) अशक्यम्. अतः कर्ममार्गीयनियमस्य असम्भवाद् जीवस्यापि दुःखित्वं न सम्भवति इति आशङ्क्य आह.

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥४८॥

अनुज्ञापरिहारौ विधि-निषेधौ जीवस्य देहसम्बन्धात्. यदा यो देहो गृहीतः तत्सम्बन्धात्. ज्योतिरादिवत्. यथा शवाग्निः चण्डालभाण्डस्थितं जलं तदघटादिकञ्च परिहियते. उत्कृष्टं ज्योतिरादिकं च गृह्यते. एवं जीवोऽपि उत्कृष्टापकृष्ट-शरीरसम्बन्धाद् विधिनिषेधौ भजतः इति न उक्तदोषः ॥४८॥

ननु शरीरस्यापि बाल्य-कौमाराद्यवस्थाभेदेन भेदात् कर्मकाले ब्राह्मणत्वादि कथम्. उपनयनकालीनशरीरस्य तदानीम् अभावात्. नच जीवैक्याद् इदम् उपपन्नम् इति वाच्यम्. देहान्तरेऽपि तस्यैव जीवस्य सत्त्वात् चण्डालदेहेऽपि ब्राह्मणत्वं स्याद् इति आशङ्क्य आह.

असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॥४९॥

बाल्यादिषु शरीराणां भेदेऽपि सन्ततेः ऐक्याद् एकत्वं विवक्षितम्. जन्मान्तरेतु सन्ततेः भेदाद् न पूर्वोक्तो व्यतिकरः. अतो न कर्मणां साङ्कर्यम् इति भावः ॥४९॥

ननु ब्रह्मणः सच्चिदानन्दमयत्वात् तदंशो जीवोऽपि तथा भवितुम् अर्हति

इति कथं तस्य संसारित्वम् अतः आह.

आभास एव च ॥५०॥

आनन्दांशतिरोधानाद् जीवो ब्रह्माभासः इति उच्यते. नतु आभासोक्त्या तस्य मिथ्यात्वं बोध्यम्. व्यापकस्य सर्वत्र विद्यमानस्य च ब्रह्मणः प्रतिबिम्बासम्भवात्. अतो अस्य संसारित्वम् उपपन्नम् इति भावः ॥५०॥

ब्रह्मणो नियामकत्वप्रतिपादनाय नैयायिकाद्यभिमतं जीवरूपं निराकरोति.

अदृष्टानियमात् ॥५१॥

नैयायिकादिभिः हि, 'नानात्मानो व्यवस्थात' इति उक्त्या भोगव्यवस्थासिद्ध्यर्थं जीवनानात्वं स्वीकृतम्, अदृष्टस्य भोगनियामकत्वं च. स्वभोग्यवस्तूनां देशान्तरे उत्पत्त्यान्यथानुपपत्त्या जीवस्य व्यापकत्वञ्च उरीकृतम्. इदं सर्वथा अनुपपन्नम्. सर्वेषामेव व्यापकानां जीवानाम् अनेकदेहसम्बन्धस्य सत्वाद् एतज्जीवस्य इदम् अदृष्टम् एतस्य न इति नियमो न स्यात्. अतो अदृष्टस्य अनियमाद् न तार्किकाद्यभिमतं जीवस्वरूपं युक्तम् इति अर्थः ॥५१॥

ननु मनःप्रभृतीनां करणानां नियामकत्वेन अङ्गीकारात् तेषां च ईश्वरेच्छया नियतत्वाद् यदीयं यत्र मनः तच्छरीरावच्छेदेन तदीयम् अदृष्टं तत्र उत्पद्यते इति नियमाद् न उक्तदोषः इति आशङ्क्य आह.

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॥५२॥

अभिसन्ध्यादिषु ईश्वरेच्छामनःप्रभृतिषु नियामकत्वेन अङ्गीक्रियमाणेष्वपि एवं पूर्वोक्तदोषप्रसक्तिः. आत्मनां व्यापकत्वेन सर्वत्र सम्बन्धसम्भवाद् अस्य इदं मनो अस्य न इति नियमाभावाद् इति अर्थः. तदभिमतेश्वरनिराकरणं च, "पत्युरसामञ्जस्याद्" (ब्रह्मसू. २।२।३७) इति सूत्रेण पूर्वं कृतमेव. अतो न ईश्वरेच्छयापि नियमसिद्धिः ॥५२॥

ननु आत्मनो विभुत्वेऽपि तस्मिन् तादृशः प्रदेशविशेषो अस्ति येन अदृष्टनियमादिकं सम्भविष्यति इति कल्पने न उक्तदोषापत्तिः इति आशङ्क्य परिहरति.

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥५३॥

अन्यस्य आत्मनोऽपि प्रदेशस्य तत्र अन्तर्भावाद् न प्रदेशकल्पनेनापि दोषपरिहारः सम्भवति. यद्वा तद्देहस्यैव देशान्तरगमने पूर्वदेशस्य त्यक्तत्वात् सः

प्रदेशो अन्तर्भवेत् तिरोभवेद् इति अर्थः. अतो न इदं मतं समीचीनम् इति भावः॥५३॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तौ मरीचिकाख्यायां द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः.

॥ चतुर्थः पादः ॥

पूर्वपादे जीवस्वरूपं विचार्य तच्छरीरवर्तिनां प्राणादीनां विचारार्थम् अग्रिमः चरणः आरभ्यते.

तथा प्राणः ॥१॥

प्राणाः इन्द्रियाणि. यथा जीवः उत्क्रान्त्यादिधर्मवान् तथा तेऽपि बोध्याः. इन्द्रियाणां प्रियत्वसूचनाय प्राणशब्दः उक्तः. मनसो मुख्यत्वात् तदभिप्रायेण प्राणः इति एकवचनम्. जीवे आनन्दमात्रांशस्य तिरोभावो, जडेषु प्राणेन्द्रियेषु चिदंशस्यापि तिरोभावात् पृथक्तया तन्निरूपणं कृतम्. नच जीवः इव प्राणेषु ब्रह्मव्यपदेशाभावाद् न तेषु जीवधर्मातिदेशो युक्तः इति शङ्क्यम्. “ये प्राणं ब्रह्मोपासते” (तैत्ति.उप.२।३) इति श्रुतौ तत्रापि तद्व्यपदेशस्य सत्त्वात् ॥१॥

ननु इन्द्रियाणाम् उत्क्रान्तिश्रुतिः गौणी भविष्यति इति आशङ्क्य आह.

गौण्यसम्भवात् ॥२॥

इन्द्रियाणाम् उत्क्रमणश्रुतिः गौणी न सम्भवति. एकस्याएव श्रुतेः जीवे मुख्यत्वस्य इन्द्रियेषु गौणत्वस्य च असम्भवात् ॥२॥

तत्प्राक् श्रुतेश्च ॥३॥

सृष्टेः प्राक् पूर्वमपि प्राणादीनां स्थितिश्रुतेरपि तेषां नित्यत्वम् इति अर्थः. श्रुतिश्च, “असद्वा इदमग्र आसीत्” (तैत्ति.उप.२।७), तद् आहुः इति उपक्रम्य, “प्राणा वा ऋषयः” (बृहदा.उप.२।२।३) इत्यादिका ज्ञेया. प्राणानां जडत्वेन जीवविचारापेक्षया आधिक्येन अत्र विचारः क्रियते. नच प्राणानां पूर्वं सत्त्वे “सदेव सौम्येदमग्र आसीद्” (छान्दो.उप.६।२।१) इति श्रुतिविरोधः स्याद् इति वाच्यम्. “असद्वा इदमग्र” (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुतौ प्राणानाम् उत्पत्तिरेव निषिध्यते, जीवस्येव उद्गमस्तु न निषिध्यते. अतः उद्गमात् पूर्वावस्थानिरूपिका, “सदेव सौम्ये” (छान्दो.उप.६।२।१)ति श्रुतिः इति न विरोधावकाशः. चकाराद् मोक्षे सम्पत्तिश्रुतिः परिगृहीता ॥३॥

तत्पूर्वकत्वाद् वाचः ॥४॥

“मनः पूर्वरूपं वाग् उत्तररूपम्” (ऐत.१।१।२) इति श्रुतेः वाचो मनःपूर्वकत्वाद् वेदात्मकवाचो यत्र नित्यत्वं तत्र तत्पूर्वरूपमनसो नित्यत्वं सुतरामेव इति अर्थः ॥४॥

सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ॥५॥

“तमुत्क्रामन्तं प्राणो अनूत्क्रामति” (बृहदा.उप.४।४।२) इति श्रुतौ सप्तानां चक्षुरादीनां गतिश्रवणाद् एकीभावश्रुतौ च सप्तानां गतिभिः जीवगतेः विशेषितत्वाद् जीवगत्या सप्तानां गतीनां विशेषितत्वाच्च तेषां जीवतुल्यत्वम् इति अर्थः. चकारेण तत्तदुपाख्यानेषु चक्षुरादीन्द्रियाणां देवतात्वं संवादश्च परस्परम् उक्तः सः सङ्गृहीतः. अतः सर्वथा जीवतुल्यत्वम् एतेषु ज्ञेयम् ॥५॥

केचित्तु इदं सूत्रम् अग्रिमसूत्रपूर्वपक्षनिरूपकं व्याचख्युः. तथाहि. ते प्राणाः किं ते इति अपेक्षायां “सप्त प्राणाः प्रभवन्ति” (मुण्डकोप.२।१।८) इति, “अष्टौ ग्रहा अष्टौ अतिग्रहाः” (बृहदा.उप.३।२।१) इति “सप्त वै शीर्षण्याः प्राणा द्वाववाञ्चौ” (तैत्ति.सं.५।३।२।५) इति “नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी” (.....) इति “दश वै पशोः प्राणा आत्मैकादशे” (.....)त्यादिश्रुतिषु अनेकविधसङ्ख्यानां प्रतीतेः किं युक्तम् इति संशये सप्त प्राणाः इति अर्थः. कुतः? गतेः, “सप्त इमे लोकाः” (मुण्डकोप.२।७) इति श्रुतौ सप्तानामेव गतिश्रवणाद् जीवस्य उत्क्रमणसमये सप्तानामेव विशेषितत्वाच्च. अन्ये भेदास्तु एतेषामेव वृत्तयः इति प्राप्ते, उच्यन्ते.

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥६॥

पूर्वसूत्रस्य प्रथमोक्तरीत्या व्याख्यानेतु पूर्वपक्षः उत्सूत्रं ज्ञेयः. तुः पूर्वपक्षव्यावर्तकः. “हस्तौ चादातव्यं च उपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च” (प्रश्नोप.४।८) इति श्रुतौ हस्तादयः चत्वारः इन्द्रियत्वेन गणिताः. एवञ्च हस्तादीनां चक्षुरादितौल्ये स्थिते सति, अतो हेतोः न एवं, सप्तैव इति न, किन्तु एकादशैव इन्द्रियाणि इति सिद्धम् ॥६॥

अणवश्च ॥७॥

सर्वे प्राणाः अणुप्रमाणाः ज्ञेयाः. गतिमत्त्वे सति नित्यत्वस्य अणुत्वं विना असिद्धेः ॥७॥

श्रेष्ठो मुख्यप्राणः, सोऽपि नित्यगतिशीलो अणुपरिमाणः च ज्ञेयः ॥८॥

ननु “यः प्राणः स वायुः, एष वायुः पञ्चविधः प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानः” (.....) इति श्रुतेः, “सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च” () इति साङ्ख्योक्तेश्च मुख्यप्राणो वायुः इन्द्रियाणां क्रिया वा अस्तु इति आशङ्क्य आह.

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥९॥

“एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च” (मुण्डकोप.२।१।३) इति श्रुतौ प्राण-वाय्वोः पृथगुपदेशाद् मुख्यः प्राणो, वायुः क्रिया वा न भवति इति अर्थः ॥९॥

अथ मुख्यः प्राणः स्वाधीनः पराधीनो वा इति संशये, “सुप्तेषु वागादिषु प्राण एको मृत्युना अनाप्तः प्राणः संवर्गः” (.....) इत्यादिश्रुत्या प्राणः स्वतन्त्रः इति प्राप्ते, उच्यते.

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥१०॥

तुः पूर्वोक्तशङ्कानिरासार्थः. चक्षुरादिवत् प्राणोऽपि अस्वतन्त्रः मुख्यतया भगवदधीनः. व्यवहारेतु जीवाधीनः. कुतः? चक्षुरादिभिः सह शासनात्. अतः प्राणः पराधीनो, न स्वतन्त्रः ॥१०॥

ननु प्राणस्य जीवकरणत्वे व्यापारो अपेक्षितः. तत्र वृत्तयस्तु एकादशैव. “एकादशामी मनसो हि वृत्तयः” (.....) इति वाक्यात्. अतो अस्य व्यापारान्तरम् अपेक्षितम् इति आशङ्क्य आह.

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथाहि दर्शयति ॥११॥

प्राणस्य अकरणत्वाद् न पूर्वोक्तो दोषः शङ्क्यः, करणस्यैव व्यापारवत्वनियमात्. अन्यस्य उपकारकस्यतु कार्यमात्रम् अपेक्षितम्. तथाहि श्रुतिरेव शरीरस्थितिलक्षणं कार्यं प्राणस्य दर्शयति, “तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे” (प्रश्नोप.२।४) इत्यादिना. अतो व्यापाराभावेऽपि स्वरूपस्थितिमात्रेण तस्य उपकारित्वं सिद्धम् ॥११॥

ननु व्यापारं विना उपकारित्वं न सम्भवति इति आशङ्क्य आह.

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ॥१२॥

“अहमेव एतत् पञ्चधात्मानं विभज्य एतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामि” (प्रश्नोप.२।३) इति श्रुतौ प्राणस्य पञ्चवृत्तिश्रवणाद् मनोवत् च अयं व्यपदिश्यते. यथा मनसः स्वरूपतएव द्वारभेदेन एकादशवृत्तयः एवमेव प्राणस्यापि “पञ्चधा आत्मानं विभज्य” कार्यकरणं व्यपदिश्यते. अतो न पूर्वोक्तो दोषः ॥१२॥

अणुश्च ॥१३॥

आसन्यप्राणो अणुः. प्राणानाम् उक्तमपि अणुत्वं “पञ्चधा आत्मानं विभज्य” (प्रश्नोप.२।३) इति वचनाद् मुख्यप्राणे सन्दिग्धम् अतः पुनः उच्यते. चकारात् पूर्वोक्तधर्माणां समुच्चयः ॥१३॥

अथ वागादीन्द्रियाणां देवताधिष्ठानयुक्तानां वदनादिकार्ये प्रवृत्तिः उत जीवाधिष्ठानभगवत्प्रेरणयोः सत्वात् स्वतएव इति संशये विशेषकार्यान्तरस्य अदर्शनाद् न देवतान्तरापेक्षा इति प्राप्ते, उच्यते.

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥१४॥

तुः पक्षव्यावर्तकः. वागादीन्द्रियाणां ज्योतिरादि अग्न्यादिकम् अधिष्ठानम् अङ्गीकर्तव्यम्. “अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्” (ऐत.उप.२।४) इति श्रुतौ तदामननात् कथनाद् इति अर्थः ॥१४॥

अथ यद् अग्न्यादीनां वागाद्यधिष्ठातृत्वम् उक्तं तत् स्वतएव उत अन्यसहितानां वा इति संशये केवलाग्न्याद्यधिष्ठानेनैव कार्यसिद्धेः तस्यापि नियामकान्तरकल्पने अनवस्थाप्रसक्तेः तेषां स्वतो अकिञ्चित्करत्वे देवतात्वव्याघाताच्च स्वतएव नियामकत्वम् इति प्राप्ते, उच्यते.

प्राणवता शब्दात् ॥१५॥

वागादिकं प्राणवता अग्न्यादिना अधिष्ठितम् अङ्गीकर्तव्यम्. “सो अयम् अग्निः परेण मृत्युम् अतिक्रान्तो दीप्यते” (बृहदा.उप.१।३।१२) इत्यादिशब्दात्. अत्र परेण अपहतपाप्मना प्राणेन युक्तो अग्निः दीप्यते इति उक्त्या दीप्यमानस्यैव अधिष्ठातृत्वात् प्राणसहितस्य अग्नेः अधिष्ठातृत्वम् उक्तं, नतु केवलस्य इति अर्थः ॥१५॥

ननु प्राणसहितस्य अधिष्ठातृत्वे सर्वदा अधिष्ठातृत्वं न स्याद् अतः आह.

तस्य च नित्यत्वात् ॥१६॥

अग्न्यादीनां प्राणसम्बन्धस्य नित्यत्वात् सर्वदैव अधिष्ठातृत्वम् इति
अर्थः. चकारात् प्राणस्यापि नित्यत्वं पूर्वम् उक्तं सूचितम् ॥१६॥

अथ इन्द्रियाणां प्राणाधीनव्यापारत्वात् प्राणशब्दवाच्यत्वाच्च प्राणस्यैव
वृत्तिरूपाणि इन्द्रियाणि तत्त्वान्तराणि वा इति संशये लाघवात् प्राणवृत्तिरूपाण्येव
इति प्राप्ते, उच्यते.

तदिन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥१७॥

तानि इन्द्रियाणि तत्त्वान्तराण्येव. कुतः? तद्व्यपदेशात्. “एतस्माद्
जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च” (मुण्डकोप.२।१।३) इति इन्द्रियशब्देन
व्यपदेशात्. अतः क्वचित् प्राणशब्दवाच्यत्वेऽपि तेषां न एकत्वम्. ननु तर्हि
भेदव्यपदेशाद् आसन्नोऽपि तत्त्वान्तरं स्याद् अतः आह. अन्यत्र इति. श्रेष्ठाद्
मुख्यप्राणाद् अन्यत्र भेदः. मुख्यप्राणेतु तत्त्वान्तरत्वं न अस्ति इति अर्थः ॥१७॥

भेदश्रुतेः ॥१८॥

यत्रापि इन्द्रियेषु प्राणशब्दः प्रयुक्तः, “तमुत्क्रामन्तं प्राणो अनूत्क्रामति,
प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति” (बृहदा.उप.४।४।२) इत्यादौ तत्रापि
भेदेन श्रुतेः न एकत्वम् इति अर्थः ॥१८॥

वैलक्षण्याच्च ॥१९॥

प्राणस्य इन्द्रियाणाञ्च वैलक्षण्यादपि न एकत्वम्. वागादिषु सुप्तेषु
प्राणस्य जागरणं सर्वेन्द्रियाणां स्वामित्वं च इत्याद्यनेकविधं वैलक्षण्यं ज्ञेयम् ॥१९॥

इदानीं भूतभौतिकानां सृष्टिः परब्रह्मणएव इति निर्णय
नामरूपव्याकरणमपि ततएव इति निर्णयार्थम् अधिकरणान्तरम् आरभ्यते. तत्र
घटादिपदार्थानां नामरूपनिर्माणं जीवादेव उत ब्रह्मणः इति संशये लोके
घटादिपदार्थानां नामरूपनिर्माणस्य कुलालादिभ्यो दर्शनाद् अलौकिकेऽपि
स्थावरजङ्गमे मयूरादिसंज्ञामूर्तिश्च* हिरण्यगर्भात्मकजीवादेव भविष्यति इति
प्राप्ते, उच्यते.

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥२०॥

पूर्वपक्षव्यावर्तकः तुशब्दः. पदार्थानां संज्ञामूर्त्योः क्लृप्तिः नाम-

*‘संज्ञा’ ‘मूर्ति’ इति.

रूपयोः निर्माणं, तत् त्रिवृत्कुर्वतएव, यः त्रिवृत् करोति तस्मादेव. कुतः? उपदेशात्. “सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकं करवाणि” (छान्दो.उप.६।३।१-२) इति श्रुतौ नामरूपव्याकरणत्रिवृत्करणयोः समान-कर्तृकत्वेन उपदेशात्. त्रिवृत्कर्ता तु परमेश्वरएव. जीवस्य देहसम्बन्धानन्तरमेव कर्तृत्वात् त्रिवृत्करणे असामर्थ्यात्. अतो नामरूपव्याकरणमपि तत्कर्तृकमेव इति सिद्धम् ॥२०॥

अथ “अन्नमशितं त्रेधा विधीयते” (छान्दो.उप.६।५।१) इत्यादिश्रुतेः वाक्प्राणमनांसि भौतिकानि, उत, “एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च” (मुण्डकोप.२।१।३) इति श्रुतेः स्वतन्त्राणि इति संशये, पूर्वपक्षम् आह.

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥२१॥

पुरीषमांसादिकं भौमं तेजोऽबन्नप्रकृतिकं ज्ञेयम्. तत्र हेतुः यथाशब्दम्. “अन्नमशितम्” (छान्दो.उप.६।५।१) इत्यादिश्रुत्या निःसन्दिग्धं प्रतिपादनात्. ततः किम् अतः आह. इतरयोश्च. इतरयोः मनः प्राणयोरपि यथाशब्दं भौतिकत्वं ज्ञेयम्. “एतस्माज्जायते प्राणः” (मुण्डकोप.२।१।३) इति उद्गमश्रुतिस्तु तेषां स्तुतिपरा. पूर्वोक्तोपपादकश्रुतिबाधात्. अतो भौतिकान्येव मनः आदीनि इत्येवं प्राप्ते ॥२१॥

उच्यते.

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥२२॥

मनआदि अन्नादिभिः विशेष्यते कार्यक्षमं क्रियते इति. अतो वैशेष्यादेव हेतोः मनः प्रभृतिषु अन्नमयत्वादिवादः. ननु कथं ज्ञायते, वैशेष्याद् गौणो अयं वादः इति. अत्र उच्यते. “अथात्मनो अन्नाद्यमागायद्” (बृहदा.उप.१।३।१७) इति श्रुतौ प्राणः सर्वस्य अन्नस्यात्ता निर्दिष्टः. सः कथं तत्परिणामकार्यम् इति वक्तुं युक्तम्. सृष्टौ प्रथमतो निर्दिष्टा वागादयोऽपि तत्र अन्नभोगार्थम् अनुप्रविष्टाः. अतो मनःप्रभृतीनां न भौतिकत्वं, किन्तु तत्त्वान्तराण्येव एतानि इति सिद्धम्. तद्वादपदवीप्सा अध्यायसमाप्तिबोधनार्था ॥२२॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तौ मरीचिकाख्यायां द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः

॥ समाप्तो अयं द्वितीयो अध्यायः ॥

॥ तृतीयो अध्यायः ॥

प्रथमः पादः

तृतीये अध्याये साधनानां विचार्यमाणत्वात् साधनेषु अन्तरङ्गत्वात् प्रथमम् अधिकारिणः पञ्चाग्निप्रक्रमेण जन्म विचार्यते. तत्र ब्रह्मज्ञानौपयिक-शरीरान्तरनिष्पत्तये अस्मात् शरीरात् केवलएव जीवो निर्गच्छति, संस्कृत-भूतसहितो वा इति संशयः. तत्र अलौकिके अर्थे श्रुत्यनुसरणस्य उचितत्वात्, तत्र ते “देवाः श्रद्धां जुह्वति” (बृहदा.उप.६।२।९) इति वाक्ये श्रद्धारूपायामेव होमश्रवणात् केवलएव गच्छति इति प्राप्ते, उच्यते.

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥१॥

तस्य ब्रह्मज्ञानलक्षणस्य फलस्य अन्तरे या प्रतिपत्तिः तस्यां साधनीयायां, ब्रह्मज्ञानौपयिकजन्मार्थम् इति यावत्, संस्कृतैः भूतैः सम्परिष्वक्तः सहितो रंहति गच्छति. कुतः? प्रश्ननिरूपणाभ्याम्. “वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति” (छान्दो.उप.५।३।३) इति प्रश्नः. “असौ वा व लोकः” (छान्दो.उप.५।४।१) इति निरूपणम्. प्रश्ने अपां पुरुषत्वेन कथनाद् उत्तरे च आहुतिफलत्वेन कथनात् तेषाञ्च पाञ्चभौतिकत्वाद् आगन्तुकभूतानां फलत्वासम्भवात् संस्कृतभूतसहितो गच्छति इति सिद्धम् ॥१॥

ननु संस्कृतपञ्चभूतैः सह गमने प्रश्नोत्तरयोः अपामेव ग्रहणं कुतः इति आशङ्क्य आह.

त्र्यात्मकत्वात् भूयस्त्वात् ॥२॥

तु शब्दो अदिभरेव सहितः इति शङ्का अपाकरणार्थः. *त्र्यात्मकत्वात्. तासां त्रिवृत्कृतत्वात् तद्ग्रहणे त्रयाणां ग्रहणं तर्हि त्रिवृत्कर-णाविशेषाद् अन्यदेव कुतो न उक्तम्? तत्र आह. भूयस्त्वात्. अपां बहुधा-परिणामाद् द्रव्यभूयःकरत्वाच्च. एवंनियामकभूयस्त्वाद् अपां ग्रहणम्* ॥२॥

लौकिकयुक्त्याऽपि अपामेव ग्रहणं युक्तम् इति आह.

प्राणगतेश्च ॥३॥

“तमुत्क्रामन्तम्” (बृहदा.उप.४।४।२) इति श्रुत्या प्राणस्य गतेः उक्तत्वाद्, “आपोमयाः प्राणाः” (छान्दो.उप.६।५।४) इति अपां प्राण-

**चिह्नान्तर्गतो पाठः जू.पुसस्तके अर्थिकोपलब्धः.

पोषकत्वश्रवणात् प्राणो गच्छन् स्वाप्यायकं गृहीत्वा गच्छति इति युक्तम् अपां ग्रहणम् ॥३॥

ननु प्राणस्य जीवसङ्गे गमनं न उपपद्यते, “यत्र अस्य पुरुषस्य” (बृहदा. उप.३।२।१३) इति श्रुत्या वाक्प्राणादीनाम् अग्निवायुभावश्रवणाद् इति आशङ्क्य समाधत्ते.

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥४॥

अग्निवायुभावबोधकश्रुतेः मुक्तविषयत्वाद् उत्क्रमणश्रुतेः अमुक्त-विषयत्वेन भाक्तत्वाद् गौणत्वाद् इति अर्थः. अतो अग्न्यादिभावावेदकश्रुत्या उत्क्रमणश्रुतेः अबाधः इति ॥४॥

ननु “देवाः श्रद्धां जुह्वति” (बृहदा.उप.६।२।९) इति प्रथमाहुति-बोधकश्रुतौ अपाम् अश्रवणात् कथं ताभिः परिष्वक्तो गच्छति इति आशङ्क्य परिहरति.

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥५॥

ताएव आपः श्रद्धाशब्देन उच्यन्ते. हि युक्तम्. “श्रद्धा वा आपः” (तैत्ति.ब्राह्म.३।२।४।१) इति श्रुतेः. किम् उपचारेण? न इति आह. उपपत्तेः. उपक्रमोपसंहारयोः अपां श्रवणाद् मध्ये श्रुतः ‘श्रद्धा’शब्दोऽपि तत्परत्वएव उपपद्यते. निष्कामकर्मकर्तुः संस्कारार्थं भूतानामेव श्रद्धाविषयत्वात् ‘श्रद्धा’पदप्रयोगः. तस्माद् भूतैः सम्परिष्वक्तो रंहति इति सिद्धम् ॥५॥

अथ सर्वे जीवाः सम्परिष्वक्ताः रंहन्ति उत ज्ञानाधिकारिणएव इति विचार्यते. तत्र पञ्चाहुतिनिरूपणे न अधिकारिणः श्रुताः. अतो विशेषाश्रवणात् सर्वेषामेव पञ्चाहुतिप्रकारेण जन्म इति आशङ्क्य परिहरति.

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥६॥

न. इष्टादिकारिणो हि धूमादिमार्गेण गच्छन्तः प्रथमं सोमभावं प्राप्नुवन्ति इति उक्तम्. सो अत्रापि प्रथमं सोमभावः उच्यते. अतः श्रुतिसाम्यादपि इष्टादिकारिणः सम्परिष्वक्ता गच्छन्ति इति सिद्धम् ॥६॥

ननु, “तं देवा भक्षयन्ति” (छान्दो.उप.५।१०।४) इति श्रुतौ तेषां

+ “तत्र प्रतीयन्ते. ‘श्रद्धा’पदेन देवकर्तृत्वेन च सोमभावसाम्याच्च. इष्टादिकारिणो हि” इति फक्किका जू. पुस्तके मार्जिनोपरि पञ्चमसूत्रवृत्तौ अधिका उपलभ्यते.

सोमभावे भक्षणोक्तेः पञ्चाहुत्यभावः इति उत्सूत्रम् आशङ्क्य परिहरति.

भाक्तं वाऽनात्मवित्वात् तथाहि दर्शयति ॥७॥

वाशब्देन शङ्का निराक्रियते. तेषां भक्षणं भाक्तं गौणम्. कुतः? अनात्मवित्वात्. अन्नभावे सति मुख्यं भक्षणं भवेत्. सतु सर्वभवनश्रुतेः आत्मविदएव सम्भवति, नतु अन्यस्य. तथाहि श्रुतिरेव शब्दस्य गौणभावं दर्शयति. न सः वेद यथा पशुः इत्यत्र यथा पशुशब्दः पोषकपरः एवम् अत्र भक्षणं भोग्यभावपरम्. देवाः तं स्वसेवां कारयन्ति इति अर्थः ॥७॥

सफलां प्रथमाहुतिं विचार्य द्वितीयाहुतिं विचारयितुम् अधिकरणान्तरम् आरभ्यते. तत्र सोमलोके कर्मफलं भुङ्क्ते इति निश्चितं, किं सर्वं फलं भुक्त्वा वृष्टिः भवति उत सदाचारार्थं सानुशय इति संशयः. तत्र सावशेषफलभोगे प्रमाणाभावाद् उत्तमशरीरादेव सदाचारसिद्धेः निरनुशयएव अवरोहति इति प्राप्ते, उच्यते.

कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेत मनेवं च ॥८॥

कृतस्य सोमभावस्य अत्यये नाशे सति, अनुशयवान् अवान्तरफलसाधकसुकृतफललेशसहितो वृष्टिभावं प्राप्नोति. कुतः? दृष्ट-स्मृतिभ्याम्. दृष्टं हि भोगसाधकमूलधननाशेऽपि तादृशवस्त्रोपकरणादिसहितएव तत्स्थानाद् अपगच्छति. तथा अत्रापि सानुशयो अवरोहति. स्मृतिः च, “यद्यत्र नः स्वर्गसुखावशेषितम्” (भाग.पुरा.५।१९।२८) इत्यादि. तर्हि न अदिभः परिष्वक्तः स्याद् इति आशङ्क्य आह. यथेतं, यथागतम्. अन्यथा प्रश्नोत्तरयोः बाधः स्यात्. *तर्हि अवान्तरफलसाधकसहितः स्याद् अतः आह. अनेवं च. अनुशयलेशसहितो भिन्नप्रकारादिभः परिष्वक्तः. चकाराद् वैराग्यसहितो अवरोहति इति सिद्धम् ॥८॥

ननु, “तद्य इह रमणीयचरणाः” (छान्दो.उप.५।१०।७) इत्यादि श्रुतेः तस्य रमणीयचरणादेव सम्यग्जन्मसिद्धेः किम् अनुशयसहभावेन इति आशङ्क्य परिहरति.

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥९॥

* *एतच्चिह्नितं जू.पुस्तके अधिकोपलभ्यते.

+ “तर्हि तावद् अनुशयसहितः स्याद्” इति जू. पाठः.

चरणश्रुतौ या योनिः उक्ता सा उपलक्षणार्था, अनेन पूर्वजन्मनि समीचीनं कृतम् इति ज्ञापिका. नतु अग्रिमजन्मनि समीचीनकरणे नियामिका. ततो अनुशयो अपेक्षते ज्ञानार्थम् इति **काष्णाजिनिमतम्**. वस्तुतस्तु चरणश्रुतेः प्रकरणान्तरीयत्वात् तदनुरोधेन पञ्चाग्निविद्यायाम् आशङ्कानुदयात् समाधानवैयर्थ्यं नाम्ना सूच्यते ॥९॥

ननु चरणश्रुतेः मार्गान्तरेऽपि पूर्वजन्मकृतकर्मज्ञापने प्रयोजनाभावाद् वैयर्थ्यापत्तिभिया विधायकत्वं वाच्यम्. ततएव अग्रिमदेहे रमणीयत्वप्राप्तेः न अनुशयो अपेक्ष्यते इति आशङ्क्य परिहरति.

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥१०॥

धूमादिमार्गस्य तच्छ्रुत्यपेक्षत्वात् काम्यकर्मिणः सुकृतफलभोगानन्तरं न्यायतो दुष्कृतभोगस्य उपस्थितत्वाद् असमीचीनयोनिप्राप्तिः मा भवतु इति लोकन्यायं बाधित्वा रमणीयं जन्म बोध्यते. अतः सार्थकत्वाद् न अनुशयाभाव-
बोधिका श्रुतिः ॥१०॥

मतान्तरेण अनुशयपदार्थम् आह.

सुकृतदुष्कृतएवेति तु बादरिः ॥११॥

विहितनिषिद्धकर्मणी अनुशय इति बादरिः आचार्यो मन्यते. स्वमते तु फलांशएव अनुशयः ॥११॥

ननु, “ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयान्ति” (कौषी.उप.१।२) इति श्रुतौ सर्वपदाद् इष्टादिकारिव्यतिरिक्तानामपि सोमभावप्राप्तिः श्रूयते. तस्मात् सर्वेषामपि सोमभावानन्तरं जन्म इति शङ्कते.

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥१२॥

परिहरति.

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥१३॥

तुशब्दः शङ्काम् अपनुदति. इतरेषां विहितव्यतिरिक्तकर्तृणां संयमने यमसन्निधाने सुखं-दुःखं वा अनुभूय, आरोहावरोहौ विशेषानुभवार्थम् आरोहो अनुभूय अवरोहः. कुतः? तद्गतिदर्शनात्. “वैवस्वते विविच्यन्ते” (तैत्ति. आर.६।५) इति श्रुतौ तेषां विलक्षणगतेः दर्शनात् ॥१३॥

स्मरन्ति च ॥१४॥

व्यासादयोऽपि “यमेन पृष्टस्तत्राहम्” (भाग.पुरा.१०।६४।२२)
इत्यादिना यमगतिं स्मरन्ति. चकाराद् लोकप्रसिद्धिः ॥१४॥

अपि सप्त ॥१५॥

पापभोगार्थं यमलोकगमनम् अवश्यम् अङ्गीकर्तव्यम्. यतो नरकाः तत्र
सप्त सन्ति रौरवादयः ॥१५॥

ननु नरकेषु चित्रगुप्तादयो यमादिभन्नाएव अधिकारिणः श्रूयन्ते. तेषां
स्वातन्त्ये पक्षान्तरं स्याद् इति आशङ्क्य समाधत्ते.

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥१६॥

चित्रगुप्तादीनां यमायत्तत्वात् तत्रापि नरकेष्वपि तस्यैव यमस्यैव
व्यापाराद् न पक्षान्तरप्राप्तिलक्षणो विरोधः इति अर्थः ॥१६॥

ननु पञ्चाग्निविद्यानिरूपणे, अर्चिरादिमार्गनिरूपणे च गत्यन्तरस्य
अनुक्तत्वाद् न यमगतिः अस्ति इति आशङ्क्य आह.

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥१७॥

तुशब्दः पक्षव्यावर्तकः. “विद्यया देवयानं कर्मणा सोमभावः” ()
इति श्रुत्या तत्र तयोरेव प्रकृतत्वात् कारणत्वेन कथनाद् न यममार्गः उक्तः. न
एतावता तस्य बाधः. श्रुत्यन्तरसिद्धत्वात् ॥१७॥

ननु, “जायस्व”(छान्दो.उप.५।१०।८) इत्यादिश्रुत्या यः तृतीयः
प्रवाहमार्गः उक्तः तत्रैव यममार्गः कुतो न निविशते इति आशङ्क्य आह.

न तृतीयेऽतथोपलब्धेः ॥१८॥

तृतीये प्रवाहमार्गे तथा यमलोकवत् सुखदुःखोपलब्ध्यभावाद् न तस्मिन्
अन्तर्भावः इति अर्थः. “कीटः पतङ्गो यदि दन्दशूक” (बृहदा. उप.६।२।१६)
इति श्रुत्या तत्तद्योनौ निर्वृतेः विद्यमानत्वात् तथा दुःखोपभोगाभावात्,
तत्तच्छारीरदुःखस्यापि सत्त्वात् तथा सुखोपभोगाभावाच्च ॥१८॥

स्मर्यतेऽपि च लोके ॥१९॥

मूर्च्छादिषु यमलोकगमनसम्भाषणादिकं लोकेऽपि स्मर्यते इति ॥१९॥
साधकान्तरम्.

दर्शनाच्च ॥२०॥

यमपुरुषाणाम् अजामिलप्रभृतिभिः दर्शनात्. चकारात् तेषां

वाक्यादिश्रवणादपि यममार्गे न विवदितव्यम् ॥२०॥

ननु तृतीयाहुतौ “वृष्टेरन्म्” (मैत्रा.उप.६।३७) इति श्रुतम्. तत्, लोके बीजं विना केवलवृष्टेः अन्नानुपलब्धेः बाधितम् इति आशङ्क्य आह.

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥२१॥

संशोकजस्य, “तस्माद् यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते” (छान्दो.उप.६।२।३) इति श्रुतेः कारणभूतजलस्य तृतीय-शब्दावरोधः, तृतीयाहुतौ शब्देन वृष्टिशब्देन अवरोधो ग्रहणम्. “तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठम् अन्नं भवति” (तत्रैव ६।२।४) इति श्रुतेः देवहोमात् कारणशक्तियुक्ताभ्यो अद्भ्यो बीजान्तरनिरपेक्षाभ्यो अन्नं भवति इति अर्थः।२१।

ननु समानधूममार्गश्रुतौ “तस्मिन् यावत्सम्पातम् उषित्वा अथैतमेवमध्वानं पुनर्निवर्तन्ते” (छान्दो.उप.५।१०।५) इति उक्तेः, “यथेतम्” (छान्दो.उप.५।१०।५) इति “वायुर्भूत्वा धूमो भवति” (छान्दो.उप. ५।१०।५) इत्यादि, “आकाशात् चन्द्रमसम्” (छान्दो.उप.५।१०।४) इति उक्तत्वात् कार्यरूपवाय्वादिसहभावेन कार्यरूपवृष्टिभावः प्रतीयते, न कारणरूपः इति आशङ्क्य परिहरति.

साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥२२॥

सा वाय्वादिरूपापत्तिः आभाव्यापत्तिरेव वाय्वादिवद् आभानमेव, नतु मुख्यं वाय्वादित्वम्. कुतः? उपपत्तेः. गौणत्वेन अन्यस्य अन्यभावबोधकस्य “वायुः भूत्वा” (छान्दो.उप.५।१०।५) इत्यस्य तथैव उपपत्तेः. तस्माद् न कार्यरूपवृष्ट्यादिभावः ॥२२॥

नातिचिरेण विशेषात् ॥२३॥

वृष्टेः अन्नरूपता च न अतिचिरेण. कुतः? विशेषात्. “अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्” (छान्दो.उप.५।१०।६) इति श्रुत्या अन्नभावापन्नस्यैव विलम्बश्रवणाद् बहुकालस्थितौ हि कार्यरूपवृष्टित्वम् ॥२३॥

ननु, “संसर्गजैः कर्मदोषैः याति स्थावरतां नरः” (मनुस्मृ.१२।९) इति उक्तेः अस्य अधिकारिणो अन्नत्वासम्भवः इति आशङ्क्य आह.

अन्याधिष्ठितेऽपूर्ववदभिलापात् ॥२४॥

अन्यैः जीवैः अधिष्ठिते ब्रीह्यादौ अपूर्ववत् तद्भावापत्तिः.

अतिथिवत्. कुतः? अभिलापात्. “ब्रीहियवा ओषधिवनस्पतयः” (छान्दो. उप.५।१०।६) इत्यादिना जगति स्थितब्रीह्यादिभावस्यैव अभिलापात्. अतो अन्यजीवाधिष्ठितब्रीह्यादौ सम्बन्धमात्राद् न उक्तदोषः इति भावः ॥२४॥

ननु अन्याधिष्ठाने अङ्गीक्रियमाणे अधिष्ठातृजीवानाम् अशुद्धत्वाद् अन्नस्य अशुद्धत्वे तेन योग्यदेहानुपपत्तिः इति आशङ्क्य परिहरति.

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥२५॥

न, शब्दात्. “देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुते रेतः सम्भवति” (बृहदा.उप.६।२।१२) इति श्रुतेः देवहोमात्मकसंस्कारेणैव अन्नस्य शुद्धत्वाद् न उक्तदोषः इति अर्थः ॥२५॥

ननु पुरुषभक्षणमात्रादेव न अन्नस्य रेतोभावो दृश्यते. बाल्यकौमार-
वार्द्धकेषु व्यभिचारात्. अतः *श्रुत्युक्तपुरुषे देवैः अन्नहोमाद् रेतोभावस्य
अनुपपत्तिः इति आशङ्क्य समाधत्ते.

रेतः सिग्योगोऽथ ॥२६॥

अत्र श्रुतौ पुरुषशब्देन मन्त्रवद् रेतःसेचनसमर्थः उच्यते. तद् योगो अत्र
विवक्षितः. कथं ज्ञायते, तत्र आह. अथ. आनन्तर्यात्. पूर्वत्र देवैः होमे कृते
फलस्य जातत्वात् कथं चतुर्थ्येव आहुतिः अफला स्यात् ॥२६॥

फलं निरूपयति. “तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति” (छान्दो.उप.५।८।२)
इति श्रुतम्. तत्र योनौ अन्तःस्थितमेव फलं बहिर्निर्गतं वा इति संशयः. तत्र
गर्भशब्दस्य अन्तःस्थितवाचकत्वात् शरीरपरत्वे लक्षणाप्रसङ्गः. ततः च गर्भस्यैव
आहुतिफलत्वेन कथनात् षण्मासानन्तरं गर्भे ज्ञानसम्भवात् तादृशस्य अधिकारिणो
गुरूपसत्यादिकम् अग्रे न कर्तव्यम् इति प्राप्ते, उच्यते.

योनेः शरीरम् ॥२७॥

योनेः निर्गतं शरीरं गर्भशब्दो बोधयति, नतु अन्तःस्थितम्. अग्नेः
उत्थितस्य फलत्वात्. शरीरपदाद् वैराग्यादिसाधनसम्पत्तिः सूचिता. अग्रे
ब्रह्मज्ञानान्तरङ्गसाधनं गुरूपसत्यादिकन्तु कर्तव्यमेव. तदर्थमेव
एतादृशशरीरसम्पादनात् ॥२७॥

॥ इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तौ मरीचिकाख्यायां तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

*‘श्रुतस्य’ इति मुद्रितपाठः.

॥ द्वितीयः पादः ॥

पूर्वस्मिन् पादे पञ्चाग्निप्रकारेण मोक्षान्तरङ्गसाधनज्ञानभक्तिसिद्ध्यर्थम् अधिकारिणो योग्यदेहो निरूपितः. अस्मिन् पादे मुक्तियोग्यता निरूपणीया. तत्र उपनिषत्सु स्वाप्लिकसृष्टेरपि उक्तत्वात् तस्याः सत्यत्वे तत्कृतगुणदोषसम्बन्धेन मुक्तौ प्रतिबन्धः स्याद् अतः स्वप्नसृष्टेः मिथ्यात्वनिरूपणेन प्रतिबन्धकत्वाभावो निरूप्यते. तत्र सूत्रद्वयेन पूर्वपक्षम् आह.

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॥१॥

सन्ध्ये स्वप्ने. “तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोकस्थानं च सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्” (बृहदा.उप.४।३।९) इति श्रुतेः *सृष्टिं श्रुतिः आह. अतः तत्र सृष्टिः अस्ति इति अर्थः. नच जाग्रत्सृष्टेरेव तत्र भानम् इति शङ्क्यं “न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते” (बृहदा.उप.४।३।१०) इत्यादिना तन्निषेधात्, सृजत इत्युक्तेश्च ॥१॥

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥२॥

“एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः, तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म” (कठोप.२।२।८) इत्यादिना काठकचतुर्थवल्लीया एके शाखिनो भगवन्तं निर्मातारं वदन्ति. यद्यपि, “न तत्र रथा न रथयोगा” (बृहदा.उप.४।३।१०) इत्यपि ब्रह्मप्रकरणं, तथापि तत्र जीवस्यापि कर्तृत्वप्रतीतेः निःसन्दिग्धं वचनम् उदाहृतं, “एष सुप्तेषु जागर्ति” (कठोप.२।२।८) इत्यादि. तत्र ‘जागर्ति’ इत्यनेन कर्तुः अभ्रान्तत्वात् सृष्टेः सत्यत्वम् उक्तम्. “कामं कामम्” (कठोप.२।२।८) इत्यनेन सृष्टेः इच्छापूर्वकत्वम् उक्तम्. “शतायुषः पुत्रपौत्रान्” (कठोप. १।१।२३) इत्यादिना कामविषयाः पुत्रादयः उक्ताः. ते च परलोकसाधकाः इति लोकत्रयपरिकरः उक्तः. सूत्रे चकारद्वयेन कारणकार्यधर्माः सर्वे स्वप्नसृष्टौ उक्ताः. यद्यपि, “एष सुप्तेषु” (कठोप.२।२।८) इति स्वप्नसृष्टिप्रतिपादकवाक्यस्य ब्रह्मप्रकरणीयत्वाद् जीवः पृथक्त्वेन स्वसृष्टिकर्ता न अस्ति, तथापि जीवस्यापि भगवदभेदेन तत्सृष्टिकर्तृत्वं सम्भवति. तथा स्वप्नसृष्टिः जीवाधिष्ठानत्वेऽपि जीवाभेदेन ब्रह्मापि अधिष्ठानं भवत्येव. “सुषुप्त्युत्क्रान्त्योरेव भेदेन” *मुद्रितपाठस्तु “इति श्रुतेः. तत्र “न रथा...सृजत” इत्यादिना...”.

(ब्रह्मसू.१।३।४२) व्यपदेशाद् अन्यत्र भगवदभेदेनैव जीवस्य अवस्थानात्. अतः स्वप्नसृष्टेः विद्यमानत्वात् तत्कृतगुणदोषसम्बन्धेन जीवस्य मोक्षप्रतिबन्धः स्याद् इति प्राप्ते ॥२॥

उच्यते.

मायामात्रं तु कात्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥३॥

तुः पक्षव्यावर्तकः. स्वप्नसृष्टिः **मायामात्रम्**. तत्र हेतुः, **कात्स्न्येन** इत्यादि. यद्वस्तुनो यादृशदेशकालसापेक्षं रूपं तद्रूपेण तस्य अभिव्यक्तिः कात्स्न्येन अभिव्यक्तिः तदभावात्. स्वप्ने पदार्थानां विशकलिततया भानात् सा सृष्टिः मायामात्रमेव. किञ्च. यथा, “**ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यम्**” (छान्दो.उप. ६।८।७) इत्यादिश्रुतौ प्रपञ्चस्य सत्यत्वं निरूप्यते, न तथा क्वापि स्वप्नप्रपञ्चस्य सत्यत्वं निरूप्यते. अतः प्रदर्शनार्थत्वाद् मायिकत्वमेव. तस्य लोकप्रतिच्छायरूपत्वाद् जीवतां मृतानाञ्च दर्शनम् उपपद्यते. अतः स्वप्नसृष्टेः मायामात्रत्वाद् न जीवस्य तत्कृतगुणदोषसम्बन्धेन मोक्षप्रतिबन्धः. स्वप्ने दीक्षितस्य अन्नभोजनादिप्रायश्चित्तन्तु, वचनबलादेव तत्र तदानीं जीवस्य कर्तृत्वारोपाद् दोषसम्बन्धं कल्पयित्वा तन्निरासाय विधीयते. अन्यत्रतु स्वप्ने जीवस्य कर्तृत्वाभावाद् न गुणदोषसम्बन्धः. तत्र जीव-ब्रह्मणोः विद्यमानत्वाद् देवताज्ञादिरपि युक्ता. स्वप्नपदार्थानान्तु अलौकिकत्वात् क्वचिद् न संवादः, क्वचिद् भगवदावेशेन ईषत्संवादोऽपि भवति. अतः स्वप्नस्य मायामात्रत्वम् इति सिद्धम् ॥३॥

ननु किमर्थं तर्हि स्वप्नसृष्टिः अत्र आह.

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥४॥

स्वप्नः शुभाशुभफलस्य **सूचको** भवति. चकारेण क्वचिद् आज्ञा-विशेषदानमपि तत्र दृश्यते. कलिकालाद्यनुरोधात् प्रत्यक्षतः आज्ञाद्यसम्भवात्. प्रातः स्वप्नपदार्थदर्शनेऽपि तत्सूचितफलस्य दृष्टत्वात्. अस्य अर्थस्य युक्तत्वं हि शब्देन द्योत्यते. अत्र प्रमाणम् आह. “**यदा कर्मसु काम्येषु**” (छान्दो.उप.५।२।८) इत्यादिश्रुतेः. किञ्च **तद्विदः** स्वप्नाध्यायविदोऽपि तस्य, आरोहणं गो-वृष-कुञ्जराणाम् इत्यादिना सूचकम् **आचक्षते**. अतः शुभाशुभफलसूचनार्थं स्वप्नदर्शनम् ॥४॥

ननु जीवार्थं भगवान् सृष्टिं करोति, स्वस्य सर्वा लीलाञ्च तस्मै

प्रदर्शयति, भगवदंशः च अयं जीवः. तथासति एतस्य दुःखित्वाद्यनुपपत्तिः इति आशङ्क्य आह.

पराभिध्यानात् तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥५॥

तुः पक्षव्यावर्तकः. अस्य जीवस्य पराभिध्यानात् परस्य भगवतो अभिध्यानं स्वस्य एतस्य जीवस्य च भोगेच्छा तस्मात् तिरोहितम् ऐश्वर्यादि. अतो भगवदिच्छया जीवस्य ऐश्वर्यादिषड्गुणतिरोभावाद् यथासङ्ख्यं दीनत्व-सर्वदुःखसहनसर्वहीनत्व-जन्माद्यापद्विषयत्व-देहाद्यहम्बुद्धिविषयासक्त्यादयो भवन्ति. अतो बन्धविपर्ययौ एतस्य जातौ. हि युक्तः च अयम् अर्थः. एकस्य जीवस्य एकांशप्राकट्येऽपि तद्धर्मदर्शनात्. आनन्दांशस्तु पूर्वमेव तिरोहितो यतो जीवभावः. अतएव अस्य काममयत्वम्. आनन्दस्य अकामरूपत्वात्. निद्रायाश्च सुतरां भगवद्धर्मतिरोभावकत्वम्. अतो भगवतः ऐश्वर्यादिलीलासिद्ध्यर्थं जीवस्य ऐश्वर्यादितिरोभावः उक्तः. अत्र अयं भावः. भगवतः परमकारुणिकत्वात् तदिच्छया जीवस्य बन्धो असम्भावितः. अतो जीवस्य भोगेच्छयैव भगवदिच्छायाः उत्तेजनम्. अथवा जीवस्य भगवदभिन्नत्वाद् भगवदिच्छयैव जीवेच्छा. तथा एतस्य बन्धविपर्ययौ. अत्र आनन्दतिरोभावरूपो अनादिबन्धो देहादिषु अहम्बुद्ध्यादिरूपः पूर्वसिद्धएव. जन्यस्तु बन्धो जीवस्य भोगेच्छया भगवदिच्छाकृतः इति ज्ञेयम्. तस्माद् न पूर्वोक्तो दोषः ॥५॥

एवं स्वमतेन जीवस्य ऐश्वर्यादिधर्मतिरोभावं निरूप्य मतान्तरेण निरूपयति.

देहयोगाद्वा सोऽपि ॥६॥

देहयोगादेव अस्य सर्वतिरोभावो विपर्ययो वा. अपिशब्दाद् अन्यदपि ज्ञातव्यम्. अस्मिन् पक्षे देहवियोगएव पुनः ऐश्वर्यादिप्राप्तिः. पूर्वकल्पे विद्यमानेऽपि इति विशेषः ॥६॥

एवं प्रसङ्गाद् जीवस्य अज्ञानं निरूप्य सुषुप्तौ केवलम् अज्ञानं वक्तुं स्थानस्वप्नाभावौ निरूपयति.

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥७॥

नाडीः अनुक्रम्य, “तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यति, अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति” (कौषी.उप.४।१९) इति, तथा

“प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्” (बृहदा.उप.४।३।२१) इति श्रूयते. तत्र स्वप्नवत् प्रपञ्चसृष्टिमपि भगवान् मायिकीं करोति, न वा इति संशयः. तत्र, “एष सुप्तेषु जागर्ति” (कठोप.२।२।८) इत्यत्र जीवस्वापमात्रे भगवत्सृष्टेः कथनात् “स्वप्नं न कञ्चन पश्यति” (कौषी.उप.४।१९) इत्यत्र दर्शनमात्रनिषेधाद् “न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्” (बृहदा.उप.४।३।२१) इति जागरणस्वप्नप्रपञ्चयोः अविशेषेण अदर्शनकथनात् सुषुप्तावपि प्रपञ्चनिर्माण-सम्भवाद् मुक्तावपि तत् स्यात्. परं सुषुप्ताविव अज्ञानमात्रम्. तथा सति सुषुप्तिवत् पुनर्बन्धप्रसङ्गः इति प्राप्ते, उच्यते. नाडीषु आत्मनि च तस्य स्वप्नस्य अभावः. कुतः? तच्छ्रुतेः प्रपञ्चाभावश्रुतेः. कामनया हि प्रपञ्चनिर्माणम्. सुषुप्तेस्तु “तद्वा अस्यैतदात्मकामम्” (बृहदा.उप.४।३।२१) इत्यादिना अकाम-रूपश्रवणात्. तत्र तद् न सम्भवति इति अर्थः. नाडीषु आत्मनि च इति कथनात् सुषुप्तेः द्विरूपत्वं सूच्यते. अतएव बृहदारण्यकषष्ठे, “ता वा अस्यैता हिता नाड्यः, तद्वा अस्यैतदात्मकामम्” (बृहदा.उप.४।३।२१) इति भेदेन सुषुप्तिम् आह. अतः सुषुप्तौ प्रपञ्चसृष्टेः अभावाद् न सर्वदा प्रपञ्चनिर्माणम्. तेन न उक्तदोषः ॥७॥

प्रबोधे विचार्यते. तत्र नाडीभ्यो भगवतो वा हृदयदेशं समागत्य जागर्ति, उत यत्र स्थितः ततएव इति संशये, “प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव” (बृहदा.उप.४।३।१६) इति ब्रह्मप्रकरणीयश्रुतेः हृदयदेशम् आगत्य जागर्ति इति प्राप्ते, उच्यते.

अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥८॥

नाडीषु सुप्तौ, अतो नाडीभ्यएव प्रबोधः ‘प्रतियोन्याद्रवण’श्रुतिस्तु ब्रह्मप्रकरणीयत्वाद् भगवतः प्रबोधव्यवस्थाम् आह. तस्माद् यत्र स्थितः ततएव प्रबोधः इति सिद्धम् ॥८॥

ननु प्रिययेव प्राज्ञेन आत्मना परिष्वक्तस्य प्रबोधेन ज्ञाने जाते मुक्तिरेव स्याद् न पुनरागमनम्. देहनिर्वाहार्थन्तु भगवदिच्छया अन्यो जीवः समायाति. नाडीभ्यः प्रबोधेतु मुक्त्यसम्भवात् सएव जीवः समायाति. तथाच भगवति सुप्तस्य ततएव मुक्त्यसम्भवाद् मोक्षार्थं प्रयत्नो व्यर्थः इति आशङ्क्य परिहरति.

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥९॥

तुः शङ्कानिरासे. भगवतोपि प्रबोधे सएव. कुतः? कर्मानुस्मृति-
शब्दविधिभ्यः. सामिकृतस्य लौकिककर्मणः समापनं दृश्यते. अतः सएव इति
जानीमः. अनुस्मृतिरपि अनुभवितुरेव न अन्यस्य सम्भवति. शब्दश्च “पुण्यो वै
पुण्येन कर्मणा” (बृहदा.उप.३।२।१३) इत्यादि. विधयश्च, “श्वोभूते ब्रह्माणं
वृणीत” (आप.श्रौत.४।४।१) इत्याद्या अन्यस्य अनुपपद्यमाना सएव इति
ज्ञापयन्ति. अतः पूर्वपक्षयुक्तीनां दुर्बलत्वात् सएव प्रतिबुद्ध्यते इति सिद्धम् ॥९॥

ननु यत्र कर्मानुस्मृत्यादिहेतवो न सम्भवन्ति मुग्धादिषु तत्र सएव इत्यत्र
नियामकाभावाद् अन्यो भविष्यति इति ^१आशङ्क्य परिहरति.

मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः परिशेषात् ॥१०॥

मुग्धे मुग्धभावे अर्द्धसम्पत्तिरेव, न सर्वा. मुग्धस्य यागादौ अनधिकारात्.
लौकिकव्यवहारस्यापि अपूर्वस्य असाधनत्वाद् जीवनाधिकारप्राप्तकर्ममात्र-
करणाद् अर्द्धसम्पत्तिरेव ज्ञेया. परिशेषात्. सएव वा, न वा इति निश्चय-
प्रमाणाभावात् सन्देहो अवशिष्यते. अत्र जीवावस्थानामेव विचार्यत्वात् प्राणायन-
विधातकृता मूर्च्छा न इह विचार्यते. अतः एकएव जीवः स्वप्नादिदोषसम्बन्धरहितः
पञ्चाग्निसाधितदेहयुक्तो भगवज्ज्ञानरहितो ज्ञानाधिकारी इति सिद्धम् ॥१०॥

अथवा^२ ज्ञानविषयनिर्णयाय ब्रह्मस्वरूपं विचार्यते. तत्र प्रथमम् अन्योन्यं
विरुद्धवाक्यानां निर्णयः क्रियते. तत्र पूर्वाध्यायद्वयेन ^३समन्वयाविरोधाभ्याम्
एकमेव ब्रह्म सर्वत्र वेदान्तेषु प्रतिपाद्यते इति सिद्धम्. एवञ्च यथा कार्यविरोधः
परिहृतः तथा ब्रह्मणि धर्मविरोधः परिहर्तव्यः अन्यथा वेदान्तानाम् अबोधकत्वं
प्रसज्येत. तत्र विरुद्धानां स्वगतधर्माणाम् अग्रिमे पादे विचारः. जडजीवधर्मत्वेन
प्रतीतास्तु अत्र विचार्यन्ते. तत्र क्वचिद् जडजीवधर्माः भगवति बोध्यन्ते,
“सर्वकर्मा सर्वकामः” (छान्दो.उप.३।१४।४) इत्यादिना. क्वचित्तु ‘अस्थूला’-
दिवाक्ये प्रापञ्चिकधर्माः निषिद्ध्यन्ते. नच सर्वकामादयो जीवधर्माः न इति
वाच्यम्. तेषां जीवगतत्वेन प्रतीतेः. नच ते धर्माः कारणत्वेन ब्रह्मणि सन्ति इति
वाच्यम्. “नेतरोऽनुपपत्तेः” (ब्रह्मसू.१।१।१६) इत्यादिना सर्वत्र जीववैलक्षण्यस्य
उक्तत्वाद् ब्रह्मणि तद्धर्माणां निषेधाच्च. एवं वेदान्तेषु ब्रह्मवाक्यानां परस्परविरोधे

१. “...शङ्कायाम् आह”. २. ‘वा’ इति जू.पुस्तके नास्ति.

३. मुद्रितपाठस्तु “समन्वयविरोधः परिहृतः”.

प्राप्ते केषाञ्चिन्मतेन अविरोधम् आशङ्क्य परिहरति.

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥११॥

सर्वत्र कारणत्वेन भगवतो विद्यमानत्वाद् अस्थूले अस्थूलो अनणौ अनणुः उच्चावचकर्तरि उच्चावचकर्ता उच्चावचकामे उच्चावचकामः पृथिव्यां गन्धो जलादौ अगन्धः. एवं स्थानतः परस्य ब्रह्मणः उभयलिङ्गत्वम् उपपद्यते. अपिशब्देन अवच्छेदभेदेन अचिन्त्यसामर्थ्याद्वा उभयलिङ्गत्वं सम्भवति इति सङ्गृह्यते. तत्र, कुतः? सर्वत्र हि. सर्वत्रैव हि ब्रह्मवाक्येषु एतादृशमेव ब्रह्मस्वरूपं निरूप्यते. अतः स्थानभेदेन उभयविधवाक्यसमाधानं न सम्भवति इति अर्थः. ब्रह्मवाक्यानाम् अनुवादकत्वे वैयर्थ्यात् स्वरूपप्रतिपादकत्वं युक्तम् इति हि शब्दार्थः. अचिन्त्यसामर्थ्याङ्गीकारे ज्ञानानुदयप्रसङ्गः. अतः एतन्मतानुसारेण स्थानतः उभयलिङ्गवाक्यानां विरोधो न परिहर्तुं शक्यः ॥११॥

प्रकारान्तरेण अविरोधम् आशङ्क्य परिहरति.

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥१२॥

भेदात् प्रपञ्चधर्मविशिष्टं ब्रह्म भिन्नं, तद्धर्माभावविशिष्टञ्च भिन्नम् इति सर्वत्र कारणकार्येषु भेदाङ्गीकाराद् न पूर्वोक्तो विरोधः इति चेद् न मधुब्राह्मणे, “अयमेव स योऽयम्” (बृहदा.उप.२।५।१) इति प्रत्येकम् अभेद-वचनाद् न अनेनापि प्रकारेण विरोधपरिहारः ॥१२॥

अपि चैवमेके ॥१३॥

एके शाखिनः एवं भेदनिषेधेन अभेदमेव वदन्ति. “नेह नानाऽस्ति किञ्चन, मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति” (बृहदा.उप.४।४।१९) इति. अत्र इवशब्दो “बहु स्याम्” (तैत्ति.उप.२।६) इति इच्छया प्रतीतस्य भेदस्य व्यावृत्त्यर्थः ॥१३॥

अतो भेददर्शनस्य प्रत्युत निषिद्धत्वात् तदङ्गीकारेण विरोधपरिहारा-सम्भवाद् उपनिषद्वाक्येषु परस्परं विरोधे प्राप्ते, एकदेशिमतेन परिहारम् उच्यते.

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥१४॥

रूप्यते निरूप्यते व्यवहियते इति रूपं सर्वव्यवहारविषयत्वं, तद्युक्तं रूपवद् जगत्. ब्रह्मतु तद्विलक्षणम्. ननु जगतः कार्यत्वात् कार्य-कारणयोः अवैलक्षण्यमपि स्याद् इति आशङ्क्य आह. तत्प्रधानत्वाद् ब्रह्मस्वरूप-

प्रतिपादकवाक्येषु ब्रह्मणः प्रधानत्वाद् मुख्यत्वात् तस्यैव निरूपणम् उचितं, नतु जगतोऽपि. अतो ब्रह्मणो जगद्विलक्षणत्वात् तद्धर्माणां निषेधः उचितः. सर्वकर्मादयस्तु जगद्धर्माः उपचाराद् उच्यन्ते. अत्र अरूपम् इति वक्तव्ये अरूपवद् इति भिन्नवत् कथनं सर्वकर्मादीनां जगद्धर्माणामेव एवं निर्णयो, नतु प्रशासनाद्यसाधारणधर्माणाम्. तेषां भगवद्धर्मत्वे विरोधाभावात्. अतः प्रपञ्चवत् तद्धर्माणामपि कार्यत्वाद् भगवत्त्वं, न भगवद्धर्मत्वम् इति. एवं ब्रह्मस्वरूप-निरूपकवाक्यानां मुख्यतया तन्निरूपकत्वं धर्मप्रतिपादकानान्तु उपचारेण तन्निरूपकत्वम् इति एकदेशिमतेन विरोधपरिहारः ॥१४॥

ननु एवं निर्द्धर्मके ब्रह्मणि सर्वव्यवहाराभावे शास्त्रवैफल्यं, “तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि” (बृहदा.उप.३।१२।६), “यतो वाचो निवर्तन्ते” (तैत्ति.उप.२।४) इति वाक्यानां विरोधश्च इति आशङ्क्य आह.

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥१५॥

यथा सौरः प्रकाशो व्यवहार्यो अव्यवहार्यश्च स्वतः स्थापयितुं सम्पादयितुञ्च न शक्यते. सूर्योदये मेघाद्यभावे च व्यवहर्तुं शक्यते. तथा ब्रह्मापि लौकिकेन्द्रियैः व्यवहर्तुं न शक्यते. भगवत्कृपया तत्सन्निधानेतु व्यवहर्तुं शक्यते. उभयथा श्रुतिः निरूपयति इति अर्थः. कथम् एतज्ज्ञायते, तत्र आह. अवैयर्थ्याद्, अन्यथा ब्रह्मप्रतिपादकं शास्त्रं व्यर्थं स्यात्. चकारेण, “आसीनो दूरं व्रजति” (कठोप.१।२।२१), “अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोति अकर्णः” (श्वेता.उप.३।१९) इत्यादीनाम् अलौकिकभगवद्धर्माणाम् अकार्याणां स्वतःसिद्धानां विरोधो न अस्ति इति उच्यते. तस्माद् अव्यवहार्येऽपि ब्रह्मणि न शास्त्रवैफल्यम् ॥१५॥

ननु श्रुत्युक्तानां दर्शनश्रवणादिधर्माणाम् अकार्यत्वकल्पनापेक्षायाम्*
*अलौकिकेन्द्रियाण्येव कल्पनीयानि. तथा सति अकारणकार्यत्वपरिहारेऽपि “पश्यत्यचक्षुः” (श्वेता.उप.३।१९) इति श्रुतिविरोधः इति आशङ्क्य परिहरति.

आह च तन्मात्रम् ॥१६॥

“यथा सैन्धवघनो अनन्तरो अबाह्यः” (बृहदा.उप.४।५।१३) इत्यादिना श्रुतिः तन्मात्रं प्रज्ञानघनमात्रम् आह. अतः स्वरूपातिरिक्तेन्द्रियाणाम् अभावाद्

* ‘पेक्षया’. +मुद्रितपाठस्तु “अलौकिकानि कल्पनीयानि”.

वेदात्मकनिःश्वाससमुत्थानादिक्रियाणामपि ततएव सम्भवात् सर्वाकारस्वरूपात्म-
कत्वस्य अङ्गीकाराद् न इन्द्रियादिकल्पनया श्रुतिविरोधः शङ्क्यः. चकारेण,
“सर्वेन्द्रियविवर्जितम्” (श्वेता.उप.३।१७) इति स्मृतिरपि सङ्गृहीता ॥१६॥

ननु ब्रह्मणः समवायनिमित्तरूपेण जगत्कारणत्वात् कारणधर्माणामेव कार्ये
दर्शनात् कामादिधर्माणाञ्च श्रुत्या उक्तत्वाद् ब्रह्मणि सत्त्वम् अङ्गीकर्तव्यम्. तथाच
निषेधकश्रुतिविरोधः इति प्रकारान्तरेण आशङ्क्य परिहरति.

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॥१७॥

दर्शयति श्रुतिरेव, “अथात आदेशो नेति नेति” (बृहदा.उप.२।३।६)
इत्यादिना ब्रह्मणि जडजीवधर्माणाम् अभावः इति. अग्रे, “अन्यत्परमस्ति”
(बृहदा.उप.२।३।६) इत्यनेन ब्रह्मणः प्रपञ्चातिरिक्तत्वकथनात् प्रपञ्चधर्माणां
तत्र कथनम् औपचारिकमेव युक्तम्. श्रुतेः अन्यार्थत्वनिराकरणाय स्मृतिसम्मतिम्
आह. “अनादिमत्परं ब्रह्म” (भग.गीता १३।१२) इत्यादि स्मर्यतेऽपि इति
अर्थः. अतः प्रपञ्चधर्माणाम् उपचाराद् ब्रह्मणि कथनं युक्तम् ॥१७॥

अत्रैव निदर्शनम् आह.

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥१८॥

अतएव इमं निर्णयम् आश्रित्य, “समः प्लुषिणा समो नागेन समो
मशकेन सम एभिस्त्रिभिः लोकैः” (बृहदा.उप.१।३।२२) इत्यादिना निरुपमस्य
भगवतः उपमाकथनम्. नहि एतत् तत्तद्धर्मसम्बन्धं विना उपपद्यते.
स्वतन्त्रतादृशधर्मवत्वस्य ब्रह्मणि वक्तुम् अयुक्तत्वात्. ननु इदमपि विरुद्धम् इति
आशङ्क्य दृष्टान्तेन समाधत्ते. सूर्यकादिवत्. सूर्येण सहितं कं जलं सूर्यकम्.
“यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैको अनुगच्छन्”
(.....), “एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवद्” (ब्रह्मविन्दू.१२)
इत्यत्र प्रतिबिम्बसहितस्य जलस्य उपमानत्वम्. तथा, “समः प्लुषिणा” (बृहदा.
उप.१।३।२२) इत्याद्यपि भगवतः सर्वकारणत्वेन तत्तद्धर्मसम्बन्धाद् बोध्यं, नतु
स्वातन्त्र्येण भगवति ते धर्माः सम्भवन्ति. चकारस्तु एवं विरोधाभावो वाच्यो
अधिकरणं च एकदेशिनः सम्पूर्णम् इति बोधनार्थः ॥१८॥

*अतो जडजीवधर्माणां भगवति उपचारात् कथनं, निषेधस्तु मुख्यः इति

*“अथ मुख्यसिद्धान्तनिरूपणार्थम् एकदेशिमतं दूषयति”.

एकदेशितं दूषयति.

अम्बुवदग्रहणात् न तथात्वम् ॥१९॥

तुः पूर्वमतव्यावृत्त्यर्थः. न तथात्वं, ब्रह्मणः उपचारेण जडजीवधर्म-
सम्बन्धात् सर्वकामत्वादिकं न सम्भवति. कुतः? अम्बुवदग्रहणात्. यथा
स्वच्छम् अम्बु प्रतिबिम्बं गृह्णाति, तथा धर्माः सर्वकामत्वादयो धर्मिणी भगवन्तं
न गृह्णन्ति, स्वातन्त्र्यापत्या धर्मव्याघातात्. सर्वाधारत्वेन ब्रह्मणः तद्धर्मवत्त्वन्तु
स्वाभ्युपगमविरुद्धम्. नच वेदे भ्रमाद् धर्मकल्पनं सम्भवति. अप्रतारकत्वात्
सर्वज्ञत्वाच्च. अतः सर्वकामादयो ब्रह्मधर्माः स्वाभाविकाएव, नतु उपाधि-
सम्बन्धाद् औपचारिकाः ॥१९॥

सिद्धान्तेन विरोधं परिहरति.

वृद्धिहासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥२०॥

यथा एकस्यैव आकाशस्य करकादिषु अन्तर्भावाद् वृद्धि-हास-
भाक्त्वम् एवमेव उभयसामञ्जस्याद् एवं तत्तदनुप्रवेशाद् ब्रह्मणोऽपि
सर्वकामादयः सम्भवन्ति. नच एवं धर्माणाम् औपाधिकत्वप्रसङ्गः. जपाकुसुम-
लौहित्यवद् अन्यधर्मत्वाभावाद् ब्रह्मधर्माणामेव अन्यत्र प्रतिभानात् ॥२०॥

अत्र हेत्वन्तरम् आह.

दर्शनाच्च ॥२१॥

भगवति सर्वे विरुद्धाः धर्माः दृश्यन्ते, अल्पपरिमाणं, महत्परिमाणम्. एवं
बाल्यकिशोरावस्थास्वपि ज्ञेयम्. “नहि दृष्टे अनुपपन्नं नाम”, व्याघातात्.
चकारेण उलूखलबन्धनादौ प्रत्यक्षेणैव उभयधर्मवत्त्वेन दर्शनं सङ्गृह्यते. अतः
तद्वस्तु एतादृशम् इति मन्तव्यम्. *तस्मात् श्रुति-स्मृति-प्रत्यक्षैः सर्वविरुद्ध-
धर्माश्रयत्वेन ब्रह्मप्रतीतेः न कश्चिद् विरोधः शङ्क्यः ॥२१॥

एवं वस्तुस्वरूपविचारेण परमार्थतो विरोधं परिहृत्य युक्त्या परिहरति.

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥२२॥

प्रकृतं यद् एतावत्त्वं प्राकृतधर्मवत्त्वं तदेव प्रतिषेधति श्रुतिः, नतु
अलौकिकसर्वकामवत्त्वादिकम्. प्रतीतस्यैव प्रतिषेध्यत्वाद् अप्रतीतस्य च
अलौकिकधर्मवत्त्वस्य प्रतिषेधयोगात्. अतो “अस्थूला” दिवाक्यैः ब्रह्मणो

*‘ततः’ इति मुद्रितपाठः.

जगद्वैलक्षण्यमेव उच्यते नतु वेदोक्तधर्माः निषिध्यन्ते. अत्र प्रमाणम् आह. ततो ब्रवीति इत्यादि. यत्र वाक्ये धर्मान् निषेधति, पुनः तत्रैव तान् विधत्ते, “यतो वाचो निर्वतन्ते अप्राप्य मनसा सह आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्” (तैत्ति.उप.२।४) इत्यादौ. तस्माद् लौकिकधर्माणामेव प्रतिषेधो, नतु अलौकिकानामपि इति ज्ञेयम् ॥२२॥

एवं शब्दबलविचारेण विरोधं परिहृत्य अर्थबलविचारेण तत्परिहाराय अधिकरणान्तरम् आरचयति. तत्र, “न चक्षुषा गृह्यते” (मुण्डकोप.३।१।८), “कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्” (कठोप.२।१।१) “नापि वाचा” (मुण्डकोप. ३।१।८), “सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति” (कठोप.१।२।१५), ‘अस्पर्शम्’ ‘अगन्धम्’ ‘अरसं’ ‘सर्वरूपः’ ‘सर्वगन्धः’ ‘सर्वरसः’ इत्यादिविरुद्धवाक्यानां दर्शनाद् वस्तुनो द्वैरूप्यासम्भवात् स्वतः प्रमाणभूतवाक्यद्वये एकस्य प्रामाण्यम् अन्यस्य उपचरितार्थत्वं कल्प्यम्. तत्र कस्य उपचरितार्थत्वम् इति जिज्ञासायां प्रत्यक्षानुरोधेन पूर्वपक्षम् आह.

तदव्यक्तमाह हि ॥२३॥

तद् ब्रह्म अव्यक्तमेव भवितुम् अर्हति. यतः, आह हि श्रुतिप्रत्यक्षाभ्याम्. “नेति नेतीत्यात्मा अग्राह्यो न हि गृह्यते” (बृहदा.उप. ३।१।२६) इति. ‘न हि गृह्यते’ इत्यनुभवं श्रुतिः आह. नहि चक्षुषा वा मनसा वा कस्यापि दर्शनम् अस्ति. सर्वरूपत्वेतु ब्रह्मणः सर्वेषां दर्शनं स्यात्. अतो धर्मप्रतिपादकानि वाक्यानि उपचरितार्थान्येव इति प्राप्ते ॥२३॥

उच्यते.

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥२४॥

अपिः पूर्वपक्षिगर्हणे, यतो असौ मूर्खः. संराधने सम्यक्प्रकारकसेवायां भगवत्तोषे जाते द्रष्टुं शक्यते. “श्रद्धा-भक्ति-ध्यानयोगादवै हि” (कैव.उप. २), “भक्त्या त्वनन्यया” (भग.गीता ११।५४) इत्यादि, “ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन” (भग.गीता ११।५४) इति उक्तेः. किञ्च, “ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः” (मुण्डकोप.३।१।८), “अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि” (भग. गीता११।१६) इत्यादिना सगुणनिर्गुणञ्च रूपं दृश्यत्वेन उच्यते. अतः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां संराधकस्य स्वानुभवो, ध्रुवादीनाम् अनुमापकत्वात्

तज्जनितम् अनुमानं ताभ्यां, श्रुति-स्मृतिभ्यां वा ब्रह्म साकारम् अनन्तगुण-
परिपूर्णञ्च इति, न अव्यक्तम् इति ज्ञेयम् ॥२४॥

इममेव सिद्धान्तं प्रकारान्तरेण स्थिरीकर्तुम् अधिकरणान्तरम् आरचयति.
तत्र सूत्रद्वयेन पूर्वपक्षद्वयम् आह.

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥२५॥

ननु प्रत्यक्षानुरोधेन ब्रह्मणः उभयरूपत्वं न सम्भवति. अतः
तत्प्रतिपादकवाक्यानां वस्तुशक्त्या निर्णयः उचितः. तत्र यथा प्रकाशजलसुवर्णानां
सूर्यचन्द्रमणिप्रकाशादिषु हिमतप्तकुण्डादिजलेषु सुवर्णे च अनेकविधरूपस्य
दृश्यभवनेऽपि न अनेकविधत्वम् अङ्गीक्रियते, एकरूपत्वेनैव तेषां निर्णयात्. तथा
ब्रह्मणोऽपि अवैशेष्यम् अङ्गीकर्तव्यम्. ननु साक्षात्कारानुरोधेन ब्रह्मणि तावन्तो
धर्माः अङ्गीक्रियन्ते इति आशङ्क्य आह. **प्रकाशः च कर्मणि.** भगवतः
प्रकाशस्तु तपः प्रणिधानादिकर्मणि भवति. तत्रतु भक्तेच्छानुरोधाद् यथाकामं
प्रकटीभवति इति सः **प्रकाशो** वस्तुनिर्णायको न भवति इति अर्थः. **चकारेण**
अप्रकाशो अन्यथा प्रकाशः च भवति, तदपि **अभ्यासात्.** बहुवारम् अनेकरूपेण
प्रकटीभवति. अतो अनेकरूपदर्शनं न वस्तुनिर्णायकं भवति इति भावः ॥२५॥

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥२६॥

अतो अभ्यासाद् अनन्तेन रूपेण आविर्भावः. नहि एकं वस्तु स्वतो
अनेकविधं भवति. तथा सति लिङ्गं विग्रहएव भवति, न स्वरूपम् हीत्यनेन,
“यद्यद्विद्यात उरुगाय विभावयन्ति” (भाग.पुरा.३।९।११) इति प्रमाणं सूचितम्.
अतः श्रुतेः प्रत्यक्षस्य वा निर्णायकत्वाद् निर्द्धर्मकमेव ब्रह्म इति प्राप्ते ॥२६॥

उच्यते.

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥२७॥

तुः पक्षव्यावर्तकः. नहि ब्रह्मस्वरूपनिर्णयो युक्त्या कर्तुं शक्यः.
शब्दैकगम्यस्य ब्रह्मणः स्वरूपनिर्णयः शब्देनैव भवति. अतः **उभयव्यपदेशाद्**
निर्गुणत्वेन अनन्तगुणत्वेन सर्वविरुद्धधर्माश्रयत्वेन **व्यपदेशाद्** उभयरूपं ब्रह्म
ज्ञेयम्. तद् उभयमपि वास्तविकं नित्यम्. गुणानामपि तदात्मकत्वेन निर्गुणत्वम्.
आश्रयाश्रयिभावरूपेण स्फुरणात् सविशेषमपि. ननु एकस्य कथम् अनेकधा भानं,
तत्र आह. **अहिकुण्डलवत्.** यथा एकएव सर्प ऋजुः अनेकाकारः कुण्डलश्च

भवति, तथा ब्रह्मापि अचिन्त्यशक्त्या सर्वप्रकारं भक्तेच्छया तथा स्फुरति. अतः प्रमाणसिद्धसकलविरुद्धधर्माश्रये भगवति, न कापि श्रुतिः उपचरितार्था इति सिद्धम् ॥२७॥

एवं धर्मिस्वरूपविचारेण ब्रह्मणो निर्द्धर्मकत्वं सधर्मकत्वञ्च स्थापयित्वा धर्मस्वरूपविचारेण इदमेव स्थापयितुम् अधिकरणान्तरम् आह. तत्र धर्माः, किं ब्रह्मणो भिन्नाः तत्कार्यरूपाः उत ब्रह्मैव इति संशये, लोके कार्यस्यैव पटरूपादेः तद्धर्मत्वव्यपदेशात् तन्नित्यतायां प्रमाणाभावात् स्वाभाविकत्वेन नित्यत्वोक्तौ, “एकमेवाद्वितीयम्” (छान्दो.उप.६।२।१) इति श्रुतिविरोधाच्च धर्माः प्रपञ्चवत् कार्याः, तथाच ब्रह्म निर्द्धर्मकमेव इति प्राप्ते, उच्यते.

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥२८॥

वाशब्दः पूर्वपक्षव्यावर्तकः. यथा प्रकाशाश्रयाः सूर्यादयः प्रकाशेन न भिन्नाः पृथक्स्थित्यभावात्. नापि प्रकाशः सूर्यएव. सूर्यस्य प्रकाशभेदेन प्रतीतेः. अतः तद्वस्तु एतादृशम् इति मन्तव्यम्. तत्र हेतुः. तेजस्त्वात् तेजःशब्दवाच्यत्वाद्, “अथ यदतः परो दिवो ज्योतिः” (छान्दो.उप. ३।१३।७) इत्यादिना. अतो ब्रह्मधर्माणामपि चिद्रूपत्वेन स्वरूपानतिरेकाद् न कार्यत्वेन अनित्यत्वम् इति ज्ञेयम्. तस्माद् यथाश्रुतमेव ब्रह्म सधर्मकं निर्द्धर्मकञ्च इति सिद्धम् ॥२८॥

पूर्वोक्तैकदेशिमतेनापि उभयवाक्यसमाधानम् आह.

पूर्ववद्वा ॥२९॥

अथवा, “अरूपवदेव हि” (ब्रह्मसू.३।२।१४) इत्यादिपञ्चसूत्या यः पूर्वम् एकदेशिमतेन सिद्धान्तः उक्तो, निर्द्धर्मकमेव ब्रह्म सर्वकामादिधर्मनिरूपणन्तु उपचाराद् इति तद्वद्वा ब्रह्म ज्ञेयम्. अत्र अयम् आशयः. उपपत्योत्पत्त्या च द्वेधा ब्रह्मस्वरूपविचारः. तत्र सिद्धान्तिमतेन उपपत्त्या विचारे धर्मिग्राहकप्रमाणभूतैः उपनिषद्वाक्यैः यादृशं ब्रह्म बोध्यते सधर्मकं निर्द्धर्मकञ्च तादृशमेव तद्वस्तु उपपद्यते. अन्यथाकल्पनस्य कल्पनामात्रत्वात्. एकदेशिमतेनतु उत्पत्त्या विचारे प्रथमं ब्रह्म निर्द्धर्मकमेव. ततो, “बहु स्याम्” (छान्दो.उप.६।२।३) इति सृष्टीच्छया प्रथमं ब्रह्म स्वधर्मरूपेण भवति. ततः क्रियादिरूपेण प्रपञ्चरूपेण च इति. अनया रीत्यापि ब्रह्मस्वरूपम् उभयात्मकं सिद्ध्यति. अन्यथा एकतर-श्रुतिबाधः स्यात्. धर्माणां नित्यत्वन्तु ब्रह्मात्मकत्वाद् एवं ज्ञेयम्. अयं भावः. निर्गुणमेव ‘ब्रह्म’ अङ्गीकर्तव्यम्.

अत्र न विवदामः. किन्तु केवलनिर्गुणत्वे सृष्टिप्रक्रिया-बन्धमोक्षव्यवस्थादीनाम् अनुपपत्तिः अस्ति. ननु प्रतिबिम्बेनैव समाधेयम् इति चेद् उच्यते. नहि निर्द्धर्मकस्य प्रतिबिम्बं सम्भवति. लोके कुत्रापि तथा अदर्शनात्. तस्माद् अचिन्त्य-तदभिन्नशक्त्या सगुणमपि स्वरूपं वास्तविकमेव अङ्गीकर्तव्यम्. तदेव सृष्टिसमये गुणानाविष्कृत्य सृष्टिं करोति. ननु सधर्मकत्वे, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाभङ्गः स्याद् इति चेद् उच्यते. गुणाः स्वस्वरूपाद् न अत्यन्तं भिन्नाः. तस्मात् तेषामपि तत्स्वरूपत्वेन एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञापि सुस्थैव. अतो न कोऽपि दोषः शङ्क्यः. मतद्वयमपि सूत्रकारसम्मतम् इति उपन्यस्तम् ॥२९॥

एकदेशिमते उपपत्यन्तरम् आह.

प्रतिषेधाच्च ॥३०॥

“एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म” (छान्दो.उप.६।२।१) इति श्रुतौ ‘एकमेव’ इति एवकारेण अन्यनिषेधप्राप्तौ ‘अद्वितीयम्’ इति प्रतिषेधाद् धर्मप्रतिषेधोऽपि गम्यते. ‘ऐक्षत’ इति कथनाद् धर्माणां पुनः अभिव्यक्तिः. चकारेण एकब्रह्म-विज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा सङ्गृहीता. अतो ब्रह्मणि न कोऽपि विरोधो अस्ति इति सिद्धम् ॥३०॥

एवं धर्म-धर्मिविरोधं परिहृत्य ब्रह्मणो धर्म्यन्तरपरिहाराय अधिकरणान्तरम् आरभते. तत्र पूर्वपक्षः.

परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥३१॥

अतो ब्रह्मणोऽपि परम् अन्यद् उत्कृष्टम् अस्ति. तत्र चत्वारो वैदिकहेतवः. “अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः” (छान्दो.उप.८।४।१) इति सेतुव्यपदेशः. तत्र पापाब्धितरणार्थं ‘सेतु’व्यपदेशात् तरणानन्तरं प्राप्यस्यैव फलत्वात् फलात्मकम् अन्यत् किञ्चिद् अस्ति इति ज्ञायते. तथा, “यावान् वा अयमाकाशः तावान् एषो अन्तर्हृदय आकाशः” (छान्दो.उप.८।१।३) इति उन्मानव्यपदेशः. तेन परिच्छेदो निरूपितः. तथा, “उभावस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते” (छान्दो.उप.८।१।३) इति आधाराधेयसम्बन्धो निरूपितः. तथा, “य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते” (छान्दो.उप.१।६।६), “य एषो अन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते” (छान्दो.उप.४।१५।१) इत्यत्र आदित्याक्षि-स्थितयोः पुरुषयोः परस्परं धर्मातिदेशः उक्तो धर्मिभेदएव सम्भवति. धर्म्यैक्येतु

सएव अयम् इति उच्येत. अतो अस्य देश-काल-वस्तुस्वरूप-परिच्छेदात्
चतुर्विधपरिच्छेदरहितं फलरूपम् अन्यत् किञ्चिद् अस्ति इति प्राप्ते ॥३१॥

उच्यते.

सामान्यात् ॥३२॥

तुः पक्षव्यावर्तकः ब्रह्मणि संसारसागरोत्तरणोपायत्वसामान्यात्
सेतुव्यपदेशः. निर्लेपाय आकाशव्यपदेशः. कामादिदोहाय चतुष्पात्वम् उक्तम्.
अमृतत्वाय षोडशकलत्वं निरूपितम्. अदुर्लभत्वाय सम्बन्धकथनम्. दिव्यत्व-
ज्ञापनाय अक्षिस्थिते आदित्यधर्मातिदेशः. अतो गुणार्थमेव सेतुत्वादिवचनं, नतु
तद्गतदोषार्थम्. अतो “नातः परम् अन्यदस्ति” इति मन्तव्यम् ॥३२॥

तर्हि अन्यसमानत्वेन कथनं किमर्थम् इति आशङ्क्य आह.

बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥३३॥

तथा व्यपदेशो बुद्ध्यर्थो ज्ञानार्थः. तथोपासनार्थम् इति अर्थः.
अयुक्तत्वम् आशङ्क्य दृष्टान्तम् आह. पादवद् इति. यथा भूतादीनां पादत्व-
ज्ञानम् उपासनार्थं तथा इदमपि इति अर्थः ॥३३॥

ननु सएव अयम् इति अतिदेशेऽपि अक्षिस्थितस्य दिव्यत्वसिद्धौ
धर्मातिदेशस्य वैयर्थ्यम् इति आशङ्क्य, तथोक्तौ समानधर्मज्ञानं न स्याद् इत्यत्र
हेतुम् आह.

स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् ॥३४॥

यथा, “यदादित्यगतं तेजः” (भग.गीता१५।१२) इति वाक्याद्
आदित्यचन्द्राग्निगततेजसामैक्ये स्थानभेदात् समानधर्मवत्त्वं न अस्ति, तथा प्रकृते
तथा उक्तौ दिव्यसिद्धावपि धर्मभेदः स्याद् अतो धर्मातिदेशः. आदिपदाद् यथा
एकस्यैव कालस्य उपाधिविशेषसम्बन्धाद् उत्तरायणाद्युत्कृष्टधर्मवत्त्वं,
दक्षिणायनाद्यपकृष्टधर्मवत्त्वं, तथा इत्यपि दृष्टान्तः सङ्गृह्यते ॥३४॥

किञ्च.

उपपत्तेश्च ॥३५॥

ब्रह्मणः परस्य निखिलप्रमाणविरोधाद् अनुपपत्त्या ब्रह्मैव परमकाष्ठापन्नं
फलरूपञ्च इति उपपन्नम् इति अर्थः ॥३५॥

तथाऽन्यप्रतिषेधात् ॥३६॥

“न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते” (श्वेता.उप.६।८) इति श्रुत्या
अन्यप्रतिषेधाद् अन्यकल्पना निर्मूलैव सेतुत्वादिकथनन्तु उक्तमेव ॥३६॥

अथ प्रकरणम् उपसंहरन् फलितार्थम् आह.

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥३७॥

अनेन ब्रह्मणो अन्यस्य परत्वनिरासेन, आयामशब्दादिभ्यः,
“आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः” (शत.ब्राह्म.१०।६।३।२१), “ज्यायान् दिवो
ज्यायान् आकाशात्” (छान्दो.उप.३।१४।३) “तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं”
(श्वेता.उप.३।९), “सर्वतःपाणिपादान्तम्” (श्वेता.उप.३।१६) इत्यादि-
व्यापकत्ववाचकश्रुतिस्मृतिवाक्येभ्यः साक्षात् सर्वगतप्रतिपादकेभ्यएव सर्वगतत्वं
सिद्ध्यति, नतु काणादानामिव कर्तृत्वाद्यनुपपत्त्या इति अर्थः. तस्माद् ब्रह्मणि
श्रुतिरेव प्रमाणम् अन्यत्तु अभ्युच्चयमात्रपर्यवसन्नं, सिद्धसाधनत्वाद् इति भावः
॥३७॥

एवं भगवतः सर्वोत्तमत्वनिरूपणेन उत्तमाधिकारिणां भजनीयत्वप्रयोजकं
रूपम् उक्त्वा फलप्रेप्सूनां भजनप्रयोजकं फलदातृरूपं निरूपयति.

फलमत उपपत्तेः ॥३८॥

अतः ईश्वरादेव ऐहिकं पारलौकिकं वा फलं भवति. उपपत्तेः,
“सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः” (बृहदा.उप.४।४।२२) इति श्रुतौ वस्तुमात्रे-
शितृत्वोक्त्या तस्य फलदातृत्वोक्तेः. अन्यस्यतु अन्यदीयपदार्थदाने सामर्थ्या-
सम्भवाद् न दातृत्वं सम्भवति इति भावः ॥३८॥

श्रुतत्वाच्च ॥३९॥

“स वा एष महानज आत्मा अन्नादो वसुदानः” (बृहदा.उप.४।४।२४)
इत्यादिश्रुतौ, चकारेण, “सुखं दुःखं भवो भावः” (भग.गीता १०।४)
इत्यारभ्य, “भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः” (भग.गीता १०।५) इति
स्मृतौ भगवतः सर्वफलदातृत्वं श्रूयतेऽपि इति अर्थः ॥३९॥

अत्र कर्मवादी प्रत्यवतिष्ठते.

धर्मं जैमिनिरत एव ॥४०॥

अतएव, श्रुतेत्यादिहेतोः उपपत्तेश्च जैमिनिः कर्मवादी धर्मं यागादिकं
फलदातृत्वेन मनुते. अयं भावः. कर्मणः फलदातृपक्षेऽपि उपपत्तिश्रुती तुल्ये.

एवञ्च भगवतोऽपि फलादिदाने कर्मसापेक्षत्वे असमर्थत्वम्. नैरपेक्ष्येतु कर्मविधिवैयर्थ्यं, वैषम्यनैर्घृण्यप्रसक्तिश्च. अतः कर्मणैव फलम्. ईश्वरस्य फलदातृत्वबोधकवाक्यानि तु अर्थवादत्वेन नेयानि इति प्राप्ते ॥४०॥

उच्यते.

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥४१॥

तुः पूर्वपक्षनिरासे. बादरायणः आचार्यः इतः पूर्वम् उक्तम् ईश्वरमेव फलदातृत्वेन मनुते. कुतः? हेतुव्यपदेशात्. “एष एव साधु कर्मकारयति” (कौषी.उप.३।८) इति श्रुतौ फलदानेच्छया ईश्वरस्यैव कर्मकारणे हेतुत्वेन कथनात्. वैषम्य-नैर्घृण्यदोषस्तु आत्मसृष्ट्या परिहरणीयः. कर्मद्वारा फलदानाद् न कर्मविधिवैयर्थ्यम्. ननु स्वतः फलदानसमर्थस्य ईश्वरस्य फलार्थं कर्मकारणे को हेतुः, कार्यवैचित्यं च कथम् इत्याद्याशङ्कातु, “कृतप्रयत्नापेक्षस्तु” (ब्रह्मसू. २।३।४२) इति सूत्रे निरस्ता. अतः फलार्थिभिरपि भगवानेव सेव्यो न अन्यः इति सिद्धम् ॥४१॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तौ मरीचिकाख्यायां तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः.

॥ तृतीयः पादः ॥

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥१॥

सर्वैः वेदान्तैः अनेकरूपनिरूपकैः प्रत्ययो ज्ञानं यस्य तादृशं ब्रह्म. कुतः. चोदना विधिवाक्यं, तस्य अविशेषात्. यथा ज्योतिष्टोमे शाखाभेदेन धर्मभेदेऽपि ज्योतिष्टोमविधेः एकरूपत्वात् तदेकत्वं, तथा अत्रापि शाखाभेदेषु अनेकधा एकमेव ब्रह्म निरूप्यते. शाखान्तरोक्तधर्माणाम् असति बाधे उपसंहार्यत्वात् ॥१॥

भेदान्नेति चेदेकस्यामपि ॥२॥

ननु धर्मभेदाद् एकत्वं न अस्ति इति चेत् तत्र आह. एकस्यामपि, यथा एकस्यामपि अतिरात्रव्यक्तौ षोडशिग्रहणाग्रहणरूपधर्मभेदेऽपि अतिरात्रं न भिद्यते, तथा अत्रापि धर्मभेदो धर्मिभेदको न इति अर्थः ॥२॥

ननु एवं सति शाखान्तरीयधर्माः उपसंहर्तव्याः स्युः. तथा अवतारान्तरे अवतारान्तरधर्मा अपि इति आशङ्क्य आह.

स्वाध्यायस्य तथात्वेन समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥३॥

स्वाध्यायस्य वेदस्य सम्बन्धी यः समाचारः सोमयागाद्यात्मकः तस्मिन् तथात्वेन स्वस्य शाखोक्तप्रकारेण नियमो अन्यूनाधिककरणलक्षणो अस्ति इति शेषः. कुतः. तत्तच्छाखिनां स्व-स्वशाखोक्तप्रकारेणैव कर्मकरणे अधिकारात्. न्यूनाधिककरणे, यद् अस्य कर्मणः इति दोषश्रवणाच्च. दृष्टान्तेनापि एतत् साधयति. सववत्. यथा सवा होमविशेषा आथर्वणिकानामेव कार्यत्वेन नियम्यन्ते, न अन्येषां तथा इति अर्थः. उपासनायामपि रामकृष्णादिरूपेषु तत्तद्रूपोपासकस्य तत्तदवतारधर्माएव भावनीयाः, नतु अवतारान्तरधर्मा अपि. ब्रह्मणः सर्वधर्मवत्वेऽपि तदवतारे तेषां विरुद्धधर्मत्वात् ॥३॥

दर्शयति च ॥४॥

अवतारान्तरधर्माणाम् अवतारान्तरभक्तस्य स्वोपास्ये विरोधाद् अनुप-संहर्तव्यत्वेऽपि ब्रह्मणः सर्वधर्मवत्त्वाद् वेद्यैकत्वेन विद्यानाम् एकत्वं, “सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति” (कठोप.१।२।१५) इत्यादिना दर्शयति. चकाराद् भेददर्शन-निन्दां, “यदा ह्येवैषः” (तैत्ति.उप.२।७।) इति श्रुत्युक्तां दर्शयति इति अर्थः ॥४॥

ननु “स्वाध्यायस्य” (ब्रह्मसू.३।३।३) इति सूत्रे अवतारान्तरे अवतारान्तरधर्माणाम् अनुपसंहारः इति उक्तम्. श्रीरामोपनिषत्सु, “यो वै ये मत्स्यकूर्माद्यवताराः” (रामो.ता.५) इति उक्त्या श्रीरामे, तथा श्रीभगवति, “नमस्ते रघुवर्याय” (भाग.पुरा.१०।४०।२०) इत्यादिना श्रीकृष्णे अवतारान्तर-धर्माणाम् उपसंहारः कथं दृश्यते ? इति आशङ्क्य आह.

उपसंहारोऽर्थाभेदात् विधिशेषवत् समाने च ॥५॥

इदं सूत्रं योगविभागेन सामान्यविशेषोपासकपरं योज्यम्. तथाहि. “नमस्ते रघुवर्याय” (भाग.पुरा.१०।४०।२०) इत्यादिषु यः उपसंहारः, सतु अर्थस्य भगवल्लक्षणस्य उभयत्रापि अवतारद्वयेऽपि धर्मैः अभेदात् शुद्धब्रह्मोपासकानां, “तदभिन्नस्य तदभिन्नत्वम्” इति न्यायेन धर्माणां भेदाभावेन विरोधभानासम्भवात् सर्वधर्माणाम् उपसंहारः इति अर्थः. च पुनः एकान्तिभक्तानान्तु समानधर्मविषये विधिशेषवत् तत्तदवतारोपासनविध्युक्त-प्रकारवद् अविरुद्धधर्माणाम् उपसंहारः इति अर्थः. नतु विरुद्धधर्माणां, तेषु समानत्वाभावात् ॥५॥

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥६॥

ननु उपसंहारो धर्माणां भेदे सति भवति. तथाच भिन्नानां तेषां ब्रह्मणाऽभेदे स्वीकृते अनेकरसानां तेषाम् एकरसब्रह्मत्वस्वरूपत्वे ब्रह्मणो अन्यथात्वं स्यात्. शब्दाद् एकत्वैकरसत्वनिरूपकश्रुतेः ब्रह्मणः एकरसत्वनिरूपकश्रुतेः ब्रह्मणः एकरसत्वेन निरूपणात्. तद्विरुद्धम् अन्यथात्वम् अनेकरसत्वं स्यात्. ब्रह्मणः एकरसत्वे च अङ्गीक्रियमाणे अनेकरसधर्मैः अभेदो न स्याद् इति सूत्रार्द्धेन आशङ्क्य परिहरति, न अविशेषात्. यथा एकरसत्वं ब्रह्मणः श्रुतितो निर्णीयते, तथा श्रुतितएव विरुद्धधर्मवत्त्वेन निर्णयविशेषाद् न दोषः इत्यर्थः ॥६॥

प्रकारान्तरेण समाधत्ते.

न वा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिवत् ॥७॥

ज्ञानप्रकरणे ज्ञानिनं प्रत्येकरसम् “अदृश्यमग्राह्यम्” (मुण्डकोप. १।१।६) इति निरूपयति श्रुतिः. भक्तिप्रकरणेन भक्तियोगस्य बहुविधत्वाद् भक्तानुभवभेदेन भिन्नभिन्नप्रकारेण आथर्वणोपनिषदि निरूपयति. एवं प्रकरणभेदात् स्वरूपस्य अन्यथात्वं न अस्ति इति अर्थः. तथाच ज्ञानिनः सर्वत्र एकरसत्वेन भानात् सर्वधर्माणाम् उपसंहारः. उत्तरतापिन्यां ज्ञानिप्रकरणे उपसंहारोक्तेः. भक्तस्य तु अनेकरसत्वेन भानात् तदसाधारणधर्माणामेव उपसंहारः इति व्यवस्थित-विकल्पाश्रयेण वा समाधानम्. अत्र दृष्टान्तः. परोवरीयस्त्वादिवत्. यथा ‘परोवरीयस्त्व’ नामकव्रतविशेषस्य दीक्षाप्रकरणे पठितत्वाद् दीक्षासहितस्यैव परोवरीयस्त्वम्. तां विना उक्तरीत्या व्रतेतु न परोवरीयस्त्वम्. तथा अत्रापि इति अर्थः ॥७॥

ननु ज्ञानि-भक्तयोरपि ब्रह्मोपासकत्वरूपसंज्ञायाः एकत्वात् तयोः प्रकरणभेदएव न अस्ति इति संज्ञैकत्वात् पूर्वसूत्रोक्तव्यवस्था अनुपपन्ना इति आशङ्क्य परिहरति.

संज्ञातश्चेत् तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥८॥

उपास्यब्रह्मणः एकत्वाद् उपासकस्यापि ब्रह्मोपासकत्वसंज्ञा अविशिष्टा इति सर्वधर्मोपसंहारः स्याद् इति चेद्, एतच्छङ्कोत्तरं पूर्वमेव उक्तं, “न वा प्रकरणभेदाद्” (ब्रह्मसू. ३।३।८) इति. एकान्तभक्तस्य तत्स्वरूपैकनिष्ठत्वेन तत्र

भक्त्यतिशयेन अन्यधर्माणाम् अनुपसंहारः. अनेकान्तभक्तस्यतु साधारणप्रकारेण श्रीरामादिस्वरूपेषु ब्रह्मत्वेन ज्ञानात् सर्वधर्मोपसंहारे बाधकाभावः इति उक्तम् इति अर्थः. सञ्ज्ञैकत्वेऽपि आन्तरनिष्ठाभेदाद् न एकरूपोपासना इति अर्थः. सञ्ज्ञैकत्वस्य अप्रयोजकत्वम् आह. अस्तितु तदपि. परोवरीयस्त्वाद्युपासनेषु भिन्नेषु उद्गीथोपासनेति संज्ञैकत्वेऽपि यथा धर्मभेदः तथा अत्रापि इति अर्थः ॥८॥

ननु उपास्यरूपेषु बाल्य-पौगण्डादिरूपाः अवस्थाः उच्यन्ते. एवञ्च विग्रहे न्यूनाधिकभावाद् मध्यमपरिमाणप्रसक्त्या सच्चिदानन्दत्वम् अनुपपन्नम् इति आशङ्क्य आह.

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥९॥

“सर्वतः पाणिपादान्तम्” (श्वेता.उप.३।१६) इत्यादिश्रुतेः साकारमेव व्यापकं ब्रह्म, “सर्वरसः” (छान्दो.उप.३।१४।४) इति श्रुत्या रसात्मकं च यादृग्रूपेण भक्तानां सम्यग्लीलारसानुभवो भवति तादृग्रूपं प्रकटीकृत्य विहरति न उक्तदोषः. तद्वस्त्वेव प्रमाणसिद्धं तादृशम् इति मन्तव्यम् ॥९॥

ननु लीलायाः नित्यत्वेन तत्सम्बन्धिभक्तानामपि नित्यत्वाद् एकस्य भक्तस्य अनेकलीलासम्बन्धो अनुपपन्नः. तथात्वेतु लीलायाः अनित्यत्वं स्याद् भक्तस्य वा अनेकत्वम्. तद् उभयमपि प्रमाणविरुद्धम् इति आशङ्क्य आह.

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥१०॥

लीलासम्बन्धिसर्वपदार्थानां भगवता सह अभेदाद् अन्यत्र अग्रिम-लीलायामपि इम एव भक्ताः, नतु अन्ये. एवं लीलासम्बन्धिनां भगवद्रूपत्वाद् भगवतः इव व्यापकत्वेन एकस्यैव सर्वलीलासम्बन्धित्वं न विरुद्धम् इति भावः. एतेन सच्चिदानन्दात्मक-सर्गादिलीलाया अपि भगवल्लीलात्वेन नित्यत्वात् तत्सम्बन्धिजीवानां विसर्गलीलासम्बन्धित्वं न स्यात्. तत्सम्बन्धित्वेतु लीलायाः अनित्यत्वं स्याद् इति आशङ्का परिहृता. तत्रापि सर्वाभेदात् सर्गादिलीला-मध्यपातीनां सर्वेषां जीवानां पदार्थानाञ्च ब्रह्मणा सह अभेदाद् ब्रह्मणः च एकत्वाद् व्यापकत्वाच्च पूर्वलीलातो अन्यत्र उत्तरलीलायामपि इमे पूर्वलीला-सम्बन्धिन एव पदार्थाः जीवाश्च इत्यर्थकथनात्. तद् उक्तं निबन्धे, “व्यापकत्वश्रुतिस्त्वस्य भगवत्त्वेन युज्यते” (शास्त्रार्थप्र.का.५३) इति ॥१०॥

ननु यथा लीलास्थितजीवानां भगवदभिन्नत्वेन व्यापकत्वम् उक्तं, तथा साधकजीवानामपि ब्रह्मांशत्वेन भगवदभिन्नत्वात् पूर्णानन्दादिधर्मवत्त्वं स्यात्. नच तेषां तद्वत्त्वं वक्तुं शक्यम्. दुःखनाशार्थं भगवत्प्रार्थनदर्शनाद् इति आशङ्क्य आह

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥११॥

पूर्णानन्दादयः प्रधानस्य भगवतएव धर्माः, नतु जीवस्य. भगवदभेदादेव ते धर्माः जीवे आविर्भवन्ति. साधकजीवानान्तु भगवदभेदास्फूर्त्या पूर्णानन्दादिभगवद्धर्माविर्भावाभावाद् दुःखस्फूर्तिः. अतः तन्नाशार्थं भगवत्प्रार्थनं तेषां युक्तमेव. श्रीभगवता सार्द्धं जीवानाम् अभेदप्रकारस्तु श्रीकृष्णचैतन्यमतेपि एवम्. तथाहि चैतन्यगुणोद्देशदीपिकायां धामपरिकरपरिच्छदभक्तशक्तिस्वरूपैः कृष्णस्य पञ्चतत्त्वात्मकत्वं निरूपितम्. सन्दर्भेऽपि, एकमेव तत्त्वं चतुर्धा विराजते स्वरूपतद्वैभवजीवप्रधानरूपेण इति उक्तम्. अत्र वैभवशब्देन धामपरिकर-परिच्छदभक्त-शक्त्यादीनां ग्रहणं ज्ञेयम्. तेषामपि तत्त्वतो व्यतिरिक्तत्वाभावात्. अतो अनादितएव तत्तत्परिकररूपेण विराजता भगवता सार्द्धं भक्तानाम् अभेदः. अतो यावत्पर्यन्तं साधकभक्तस्य सिद्धदेहात्मकेन भगवता सार्द्धम् अभेदो न स्फुरति, तावत् पूर्णानन्दस्फूर्तिः स्वस्मिन् न भवति. पूर्णानन्दादिधर्माणां भगवद्धर्मत्वात्. पूर्वोक्तप्रकारेण भगवदभेदस्फूर्तौ तु ते धर्माः जीवे स्वतः आविर्भवन्ति. जीवस्य च अक्षरांशत्वाद् अक्षरस्य गणितानन्दत्वाद् भगवदभेद-स्फूर्तिं विना जीवे पूर्णानन्दास्फूर्तिः युक्तैव इति ज्ञेयम्. सच्चिदानन्ददेहानां पूर्वसिद्धत्वन्तु, “अव्यक्तमूलं भुवनाङ्घ्रिपेन्द्र...” (भाग.पुरा.३।८।२९) इति श्लोकसुबोधिन्याम् उक्तम्. सन्दर्भेऽपि, वैकुण्ठे अनादिभूताएव सच्चिदानन्दमयाः देहाः वर्तन्ते इति उक्तम् ॥११॥

ननु प्रियशिरस्त्वादिधर्माणामपि प्रधानधर्मत्वाविशेषात् तेषामपि उपसंहारः कर्तव्यः इति आशङ्क्य आह.

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥१२॥

प्रियशिरस्त्वादीनाम् अप्राप्तिः. कुतः. प्रियमोदाद्युपचयापचयौ हि भेदे सम्भवतः. अन्तःकरणशुद्धितारतम्येन हि आनन्दे प्रियत्व-मोदत्वादयो धर्माः उपचयापचयभेदेन* भासन्ते. यस्यतु अन्तःकरणशुद्धिः जाता, तस्यतु निर्भेदम्

* ‘...पचयरूपभेदेन’.

एकरसम् अखण्डम् आनन्दात्मकमेव ब्रह्म भासते. अतो न शुद्धाभेदज्ञानिनां प्रियशिरस्त्वादिधर्माणाम् उपसंहारः ॥१२॥

ननु निर्गुणे ब्रह्मणि सगुणधर्माणाम् अनुपसंहारे तद्धर्माणां त्यागः स्याद् इत्यतः आह.

इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥१३॥

इतरे विरुद्धधर्माः ब्रजनाथत्व-मत्स्यत्व-रघुवर्यत्वादयः, अर्थस्य ब्रह्मणः सामान्याद् धर्मिरूपेण उपसंहार्या, नतु धर्मरूपेण. यथा रघुवर्यत्वादि-धर्माणां धर्मिरूपत्वेन अर्थस्य सामान्याद् मत्स्यादिषु उपसंहारः. तथा निराकारे ब्रह्मणि साकारत्वादयः पुरुषे शृङ्गपुच्छत्वादयो धर्माः न उपसंहार्याः, किन्तु धर्मिरूपाएव ते इति बोध्याः ॥१३॥

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥१४॥

आध्यानाय हि गुणानाम् उपसंहारो यावता ध्यानसिद्धिः तावतामेव गुणानाम् उपसंहारः. अन्येषान्तु प्रयोजनाभावाद् न उपसंहारः. तथा भक्तिमार्गीयाणां शुद्धान्तःकरणानाम् अन्तःकरणशुद्धिरूपप्रयोजनस्य अभावाद् न पक्षपुच्छादीनाम् उपसंहारः. तावता परोक्षवादेन उक्तप्रियत्वादिनैव ध्यानसिद्धेः. एकान्तश्रीरामभक्तस्यापि श्रीरामोपासनोक्तधर्मैरेव चारितार्थ्येन न मत्स्योपासनोक्तधर्माणाम् उपसंहारः. कुतः. प्रयोजनाभावात्. यथा निर्गुणोपासकस्यापि स्वरूपेणैव चारितार्थ्ये न सर्वेषां गुणानाम् उपसंहारः ॥१४॥

आनन्दादीनां धर्मिरूपेण उपसंहारे पक्षादीनाम् अनुपसंहारे हेत्वन्तरमपि आह.

आत्मशब्दाच्च ॥१५॥

“आनन्दः आत्मा” (तैत्ति.उप.२।५) इत्यनेन आनन्दस्य आत्मत्वेन कथनात् तेषामपि आनन्दरूपत्वाद् आत्मस्वरूपेणैव मोदप्रमोदादीनाम् उपसंहारः कर्तव्यो, नतु पक्षपुच्छादिरूपेण, न वा उपचयापचयरूपेण न वा भेदेन. किन्तु आत्मरूपेणैव उपसंहर्तव्याः. अनेन निर्गुणोपासकैः आनन्दादीनां धर्मत्वेन उपसंहारे अनुपपत्तिः परास्ता. आनन्दस्य आत्मरूपत्वेन कथनाद् धर्मरूपत्वाभावात् ॥१५॥

ननु तैत्तिरीये अन्नमयादिषु इव आनन्दमयेऽपि, “तस्यैष एव शारीर

आत्मा” (तैत्ति.उप.२।५।१) इति उक्तम्. शरीराभिमानी शारीरो जीवएव. अग्रे,
“आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानाद्” (तैत्ति.उप.३।६) इति ब्रह्मत्वकथनाद्
आनन्दमयस्य जीवत्वमपि न वक्तुं शक्यम् अतः आनन्दादयोऽपि धर्मरूपाएव इति
पूर्वसूत्रोक्तम् आनन्दस्य धर्मिरूपत्वम् अनुपपन्नम् इति आशङ्क्य आह.

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥१६॥

“तस्यैष एव शारीर आत्मा” (तैत्ति.उप.२।४) इति यद् इतरवद्
आत्मगृहीतिः अन्नमयादिषु आत्मग्रहणं, तद् उत्तरात् सर्वेभ्यः उत्तरः आनन्दमयः
तस्माद् हेतोः. तथाच अन्नमयादिष्वपि आनन्दमयस्य आत्मत्वेन कथनात्
तत्प्रकारेण आनन्दमयेऽपि, “तस्यैष एव शारीर आत्मा” (तैत्ति.उप.२।४) इति
कथनाद् आनन्दमयस्य परमकाष्ठापन्नत्वेन ततो अतिरिक्तब्रह्मणो अभावाद् न
जीवत्वम् इति अर्थः ॥१६॥

अन्वयादिति चेत् स्यादवधारणात् ॥१७॥

ननु अन्नमयादिषु “अन्यो अन्तर आत्मा” (तैत्ति.उप.२।४) इति
कथनात् प्रत्येकं भिन्नेषु अन्नमयादिषु शारीरः आत्मा जीवः शरीराभिमानी भिन्नो
भिन्नः उच्यते. आनन्दमयेतु या तथा उक्तिः सातु तस्य अन्वयाद् व्यापकत्वेन
सर्वत्र अन्वयात् सम्बन्धाद् नतु जीवत्वेन इति सूत्रार्द्धेन आशङ्क्य परिहरति.
स्यात्. आनन्दमयएव अन्नमयादिशरीराभिमानी स्याद् नतु भिन्नो जीवः. कुतः.
“एष ह्येव” (तैत्ति.उप.२।७) इति ‘एव’कारेण तस्यैव आत्मत्वेन अवधारणाद्
निर्द्धारणाद् इति अर्थः ॥१७॥

ननु तैत्तिरीयोपनिषत्सु, “तस्माद्वा एतस्माद्” (तैत्ति.उप.२।१) इति
आकाशादिमहाभूतसृष्टिम् उक्त्वा अग्रे, “ओषधीभ्यो अन्नम् अन्नात् पुरुषः स
वा एष पुरुषो अन्नरसमयः” (तैत्ति.उप.२।१) इति उक्तम्. भार्गव्यां विद्यायामपि,
“अन्नं ब्रह्मेति व्यजानाद्” (तैत्ति.उप.३।२) इति उक्तम्. तत्र “स वा एष
पुरुषः” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यत्र, ‘सएव’ इति प्रत्यभिज्ञानाद् अन्नकार्यात्मकएव
पुरुषः प्रतीयते. अग्रे तस्य ब्रह्मत्वेन ज्ञानकथनन्तु उपासनार्थम् इति आशङ्क्य
आह.

कार्याख्यानादपूर्वम् ॥१८॥

अन्नकार्यभौतिकपुरुषस्य आख्यानात्. कथनाद् ब्रह्मत्वेन ज्ञानविषयं,

“स वा एषः” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यनेन प्रतिपाद्यम् अपूर्वं तस्यैव आध्यात्मिक-
रूपं वदति श्रुतिः इति अर्थः. आध्यात्मिकपुरुषरूपनिरूपणात्, “स वा एषः”
(तैत्ति.उप.२।१) इति न प्रत्यभिज्ञानम्. आधिभौतिकाध्यात्मिकभेदस्य स्पष्टत्वाद्
इति अर्थः.

अथवा बृहदारण्यके, “आत्मेत्येव उपासीत” (बृहदा.उप.१।४।७) इति
उपक्रम्य तस्य सर्वेभ्यः प्रियत्वम् उक्त्वा अग्रे अन्यस्य प्रियत्वं निराकृत्य, ईश्वरो
हि तथा स्याद् आत्मानमेव प्रियम् उपासीत इति पठितम्. अत्र आत्मपदेन
जीवात्मनः प्रियत्वेन उपासनं विधीयते, उत ब्रह्मणः, ईश्वरपदाद् इति संशये, यथा
श्रुत्युन्तरे पुत्रादीनाम् आत्मौपाधिकप्रियत्वकथनाद् जीवात्मनएव प्रियत्वम् उच्यते
तथा इहापि प्रतीतेः जीवात्मनएव प्रियत्वेन उपासनोक्ता इति प्राप्ते, उच्यते.
कार्याख्यानाद् इति. “प्राणन्नेव प्राणो भवति” (बृहदा.उप.१।४।७) इत्यादि-
पूर्वश्रुतौ एकस्यैव आत्मनः सर्वेन्द्रियकार्यैः कृत्वा आख्यानाद् अपूर्वं जीवभिन्नम्
ईश्वरमेव श्रुतिः वदति इति अर्थः. अतएव अत्र ईश्वरो हि इत्यत्र ईश्वरपदं
सर्वस्माद् अन्तरम् इति च उक्तम् ॥१८॥

ननु भगवद्विग्रहे चक्षुश्रोत्रादीनां वैलक्षण्येन प्रतीतेः आत्मनः च
एकरसत्वात् सर्वेन्द्रिकार्यकर्तृत्वं ब्रह्मणि न सम्भवति इति आशङ्क्य आह.

समान एवञ्चाभेदात् ॥१९॥

अप्यर्थे चः. एवमपि सति चक्षुःश्रोत्रादीनां वैलक्षण्येन भानेऽपि समान
एकरूपएव भगवान्. कुतः. चक्षुरादीनां ब्रह्मत्वेन परस्परम् अभेदाद् इति अर्थः.
तथाच आनन्दएव ब्रह्मण्याकारसमर्पकः तथा तथा भाति इति न वैजात्यशङ्का इति
भावः ॥१९॥

अथ यत्र कार्यार्थं जीवविशेषे भगवदावेशः तद्भगवदाविष्टजीवोपासकेन
सकलभगवद्धर्माणां तत्र उपसंहारः कर्तव्यो न वा इति आशङ्क्य सूत्रद्वयेन
विकल्पमेव स्थापयति.

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ॥२०॥

अन्यत्रापि भगवदाविष्टजीवेऽपि, एवं सकलब्रह्मधर्मोपसंहारेण उपासनं
कार्यम्. कुतः अयोगोलके वह्नेरिव तस्मिन् भगवदावेशलक्षणसम्बन्धाद् इति
अर्थः ॥२०॥

निषेधपक्षम् उपादयति.

न वाऽविशेषात् ॥२१॥

यस्तु भगवदाविष्टं भक्तं ज्ञात्वा एतद् भजनेनैव अहं कृतार्थः स्याम् इति ज्ञात्वा तं भक्तं भजते, तस्य तद् भक्तभजनमेव परमपुरुषार्थसाधकम् इति तत्र भगवद्धर्मोपसंहारे विशेषाभावात् सः न कार्यः ॥२१॥

दर्शयति च ॥२२॥

उपसंहारो नाम तत्र अनुपलभ्यमानानां धर्माणां तत्र भावनम्. तादृशभक्तेषु तु भगवान् सर्वधर्मान् प्रत्यक्षतो दर्शयति इति तद्भक्तानां न उपसंहारापेक्षा इति अर्थः ॥२२॥

ननु तादृशभक्ते अलौकिकभगवद्धर्मान् ऐश्वर्यादीन् दृष्ट्वा तद्भक्तैः स्वसेव्ये द्युलोकव्याप्त्यादयो धर्माः उपसंहर्तव्याः स्युः इति आशङ्क्य, न इति आह.

सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥२३॥

सकलवीर्यसम्भृतिद्युव्याप्त्यादयोऽपि धर्माः न उपसंहर्तव्याः. अतः पूर्वोक्तविशेषाभावरूपहेतोः इति अर्थः ॥२३॥

ननु तैत्तिरीयोपनिषत्सु, “सहस्रशीर्षा पुरुषः” (शुक्ल.यजु.३१।१) इत्यादिना पुरुषविद्या निरूप्यते. ब्रह्मप्रपाठकेऽपि, “स वा एष पुरुषो अन्न-रसमयः” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यारभ्य, प्राणमयादय आनन्दमयान्ताः निरूप्यन्ते. तेषु पुरुषविधत्वञ्च उच्यते. एवञ्च अन्नमयादिषु पुरुषविधत्वश्रवणात् तेष्वपि ‘सहस्रशीर्ष’वत्वाद्युपसंहारः कर्तव्येव इति आशङ्क्य आह.

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ॥२४॥

पुरुषविद्यायां “सहस्रशीर्षा पुरुषः” (शुक्ल.यजु.३१।१) इत्यत्र यथा अनेकोपलक्षक‘सहस्र’पदेन साकार-व्यापकाधिदैविकब्रह्मस्वरूपं निरूप्यते, न तथा इतरेषाम् अन्नमयादीनां भौतिकानां पुरुषविधस्य आध्यात्मिकस्य च आम्नानं निरूपणम्. तस्मात् तेषु ‘सहस्रशीर्ष’वत्वाद्युपसंहारो न कर्तव्यः इति अर्थः ॥२४॥

अतः परं भगवतो निर्दोषत्वं ज्ञात्वा भजनं कर्तव्यम् इति ज्ञापनार्थम् अधिकरणान्तरम् आरभते.

बृहदारण्यके छान्दोग्ये च देवानां दैत्यपराजयार्थं यज्ञे वागादिषु उद्गानसमये दैत्यैः कृतः पापवेधः उक्तः. आसन्ये दैत्यैः क्रियमाणोऽपि पापवेधो न अभूद् इति उक्तम्. तत्र को हेतुः इति आकाङ्क्षायाम् उच्यते. वागादिषु यः पाप=वेधः, आदिपदाद् दैत्यैः पराजयः च उक्तः, सो अर्थस्य भगवत्लक्षणस्य भेदात् सम्बन्धाभावाद् इति अर्थः. आसन्यस्यतु नित्यं भगवत्सम्बन्धत्वाद् न दोषसम्बन्धः. एवञ्च यत्सम्बन्धाद् दोषसम्बन्धाभावो अन्यस्य तस्य निर्दोषत्वे किं वाच्यम् इति अर्थः ॥२५॥

भगवत्सम्बन्धाभावे गुणहानिमपि आह.

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानवत् तदुक्तम् ॥२६॥

हानौ जीवस्य भगवत्सकाशाद् विभागे ये जीवनिष्ठाः धर्माः तिरोहिताः भगवदिच्छया आनन्दांशैश्वर्यादयः ते भगवत्सम्बन्धे सति पुनः आविर्भूताः भवन्ति इति, “परमं साम्यम् उपैति” (मुण्डकोप.३।१।३) इति श्रुतेः अर्थः. ननु सर्वथा सर्वभगवद्धर्मवत्वम्. ननु तैरेव धर्मैः साम्यं, न अन्यैः अत्र किं नियामकम् इति आशङ्क्य आह .उपायनशब्दशेषत्वात्. उपायनं प्राप्तिः सा स्वधर्माणामेव न अन्येषाम्. तथाच उपायनशब्देन कथनात् तैरेव धर्मैः साम्यम् इति अर्थः. ननु आनन्दादिभिः साम्ये ब्रह्माभेदएव स्याद् इति आशङ्क्य आह. कुशेत्यादि. कुशा औदुम्बर्यः समिधः तत्सम्बन्धि यच्छन्दःस्तुत्युपगानं तद्वत्. तद्गान-सम्बन्धिन्य“भि त्वा शूर नोनुमः” (ऋग्वेद सं.७।३२।२२) इत्यृचि, अचएव उपसंहृत्य भकारेण गानं क्रियते. न एतावता भकाराणाम् ऋगात्मकत्वं सम्भवति, तथा अत्रापि इति अर्थः. ननु ‘तत्त्वमस्या’दिवाक्यैः जीवे अभेदबोधनाद् अत्र अभेदो अस्तु इति आशङ्क्य आह. तद् उक्तम्. अभेदबोधनतात्पर्यं पूर्वम् उक्तम् इति अर्थः ॥२६॥

सम्पराये तर्तव्याभावात् तथा ह्यन्ये ॥२७॥

सम्यक् परस्य पुरुषोत्तमस्य अयो ज्ञानं येन सः सम्परायो भक्तिमार्गः तस्मिन् प्राप्तव्ये सति तर्तव्यस्य पापस्य अभावाद् ज्ञानेनेव भक्त्या न पापनाशः, “नराणां क्षीणपापानाम्” (.....) इति वाक्यात् पूर्वमेव पापानां नष्टत्वात्. ननु “सर्वे पाप्मानं तरन्ति” (बृहदा.उप.४।४।२३) इति श्रुत्या भक्त्या

पापनाशः कुतो न अङ्गीक्रियते, तत्र आह. तथा हि अन्ये. तस्याः श्रुतेः ज्ञानमार्गीयविषयत्वाद् ज्ञानानन्तरं पापवन्तो भक्तिमार्गीयेभ्यो अन्ये इति अर्थः. ननु भक्तेः पापनाशकत्वबोधकानां, “केचित् केवलया भक्त्याऽघं धुन्वन्ति” (भाग.पुरा.६।१।१५) इत्यादिवचनानां का गतिः इति चेत्. तत्र, “यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषाम्” (भाग.पुरा.११।२८।३४) इति उक्तरीत्या यथा सूर्येण स्वोदयात् पूर्वमेव तमो नाश्यते तथा भक्त्यापि स्वोदयात् पूर्वमेव पापादिकं नाश्यते नतु स्वोत्पत्त्यनन्तरम् इति सूचनाद् न दोषः॥२७॥

ननु तर्हि भरतस्य भक्त्युत्तरं मृगदेहारम्भकपापस्थित्यसम्भवः इति आशङ्क्य आह.

छन्दत उभयाविरोधात् ॥२८॥

छन्दतो भक्तिमार्गे भगवतो विशिष्टफलदानेच्छातो वा भक्तेः अनन्तरमपि पापनाशो भवति. “नराणां क्षीणपापानाम्” (.....) इत्यादीनां, भरतस्य मृगदेहारम्भक-प्रारब्धकर्मसत्त्वबोधकवचनानां च अविरोधाद् एवं ज्ञातव्यम् इति अर्थः ॥२८॥

गतेरर्थवत्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ॥२९॥

गतेः ज्ञानस्य अर्थवत्त्वं फलजनकत्वम् उभयथा मर्यादापुष्टिभेदेन. अन्यथा एवम् अनङ्गीकारे, “ज्ञानेनैव हि कैवल्यं” (.....), “यमेवैष वृणुते” (मुण्डकोप.३।२।३) इति वाक्ययोः विरोधः स्यात् ॥२९॥

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेलोकवत् ॥३०॥

मुमुक्षोः सकाशाद् रहस्यभजनकर्तैव उपपन्नः उपपत्तियुक्तः. कुतः. भगवल्लक्षणस्य अर्थस्य पुरुषार्थस्य स्वाधीनत्वेन उपलब्धेः. अत्र दृष्टान्तः. लोकवत्. लोके यथा स्वाधीनपतिका भर्तारं स्वाधीनं फलत्वेन मनुते, नतु गृहवित्तादिकं तथा इति अर्थः ॥३०॥

अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥३१॥

भगवतो धारण-रसन-भजन-ध्यानादीनां समुदितानामेव फलसाधकत्वम् इति अनियमः. यतः सर्वासां धारणादिभक्तीनां फलं प्रति अविरोधः, समुदितानामेव फलसाधकत्वं, न प्रत्येकम् एवं लक्षणो विरोधो न अस्ति. कुतः. शब्दानुमानाभ्याम्. “चिन्तयंश्चेतसा कृष्णम्” (गोपा.पू.उप.१।२) इति

श्रुतेः, “केवलेन हि भावेन” (भाग.पुरा.११।१२।८) इति स्मृतेश्च इति अर्थः
॥३१॥

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥३२॥

यस्मिन् जीवे कार्यविशेषसाधनार्थं भगवता ये स्वकीयधर्माः स्थापिताः ते
आधिकारिकाः उच्यन्ते. तेषां स्थितिः यावदधिकारं यावत्कार्यम्. तस्मिन् कार्ये
सम्पन्ने तान् धर्मान् भगवान् आकर्षति इति अर्थः. नतु यावत् तेषां जीवनं तावत्
स्थापयति. तेषां कृतार्थतातु भक्त्यैव इति भावः ॥३२॥

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत् तदुक्तम् ॥३३॥

अक्षरविषयकज्ञानानां मोक्षसाधनेषु यो अवरोधो गणना सा
सामान्यतद्भावाभ्यां भवति. अत्र मुख्या मुक्तिः पुरुषोत्तमप्राप्तिरेव. ज्ञानिनान्तु
साक्षात् पुरुषोत्तमसम्बन्धाभावात् तत्सम्बन्ध्यक्षरसम्बन्धरूपा सामान्यमुक्तिः
भवति. सम्बन्धो अत्र अभेदसम्बन्धो बोध्यः. अत्र अक्षरज्ञानस्य साक्षात्
साधनत्वम्. भक्तानान्तु ब्रह्मभावोत्तरं भगवद्भावेन पुरुषोत्तमप्राप्तिरूपा मुख्या
मुक्तिः. अत्र अक्षरज्ञानस्य परम्परासाधनत्वम्. अक्षरज्ञानेन ब्रह्मभावोत्तरं
भगवद्भावात्. एवं मोक्षद्वयेऽपि अक्षरविषयकधियां सामान्यतद्भावाभ्यां
साधनत्वम् इति अर्थः. अक्षरब्रह्म-पुरुषोत्तमयोः ब्रह्मस्वरूपेण सामान्यम्. ननु
अक्षरज्ञानवतामपि केषाञ्चित् तत्रैव लयः, केषाञ्चिद् भक्तिभावो भवति इत्यत्र
किं नियामकं तत्र आह दृष्टान्तेन. औपसदवत्. उपसदाख्ये कर्मणि यजमानः
सर्वेषु ऋत्विक्षु यं कामयेत, यज्ञयशसम् ऋच्छेत् तं प्रथमं तानूनप्राख्यम् आज्यं
स्पर्शयेत्. तत्र यथा यजमानेच्छा नियामिका तथा अत्र भगवदिच्छा इति अर्थः. ननु
भगवत्सम्बन्धिश्रवणादीनां यथा भगवत्प्रापकत्वं, तथा अक्षरज्ञानस्य कुतो न इति
आशङ्क्य आह. तद् उक्तम्. गीतासु, “यदक्षरं वेदविदो वदन्ति” (भग.गीता
८।११) इति उपक्रम्य, “स याति परमां गतिम्” (भग.गीता ८।१३) इत्यन्तेन
अक्षरज्ञानेन तस्यैव प्राप्तिः नतु भगवतः इति उक्तम् ॥३३॥

इयदामननात् ॥३४॥

तैत्तिरीयोपनिषत्सु, आनन्दगणने अक्षरानन्द इयद् गणितत्वाद् अल्प इति
आमननात् कथनात्. अत्र आनन्दतारतम्यकथनम् आनन्दानुभवयोग्यलय-
पूर्वदशापेक्षया. अग्रे ब्रह्मणि लयेतु भोक्तुः अभावात् तत्र निर्द्धर्मके ब्रह्मणि

सङ्ख्याद्यभावाच्च न आनन्दतारतम्यं सम्भवति. पूर्णपुरुषोत्तमस्य अगणिता-
नन्दत्वेन तदपेक्षया उत्कर्षनिरूपणन्तु अचिन्त्यशक्त्या अवसेयम् ॥३४॥

अथ ज्ञानमार्गीयाणां यथा स्वात्मत्वेन निर्विशेषब्रह्मज्ञानं भवति, तथा
भक्तिमार्गीयस्यापि ज्ञानिवत् स्वात्मत्वेन पुरुषोत्तमज्ञानं भविष्यति इति आशङ्क्य
निषेधति.

अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनः ॥३५॥

भगवता भक्तिमार्गे स्वीयत्वेन अङ्गीकृतो यः आत्मा सः स्वात्मा, तस्य
स्वात्मत्वेन पुरुषोत्तमज्ञानम् अन्तरा भजने अन्तरायरूपम् इति भगवान् तद् न
सम्पादयति इति अर्थः. एतद् दृष्टान्तेन साधयति. भूतग्रामवत्.
तादृशभक्तविग्रहस्य अलौकिकत्वाद् यथा तेषु लौकिको भूतग्रामो न सम्भवति
तथा इदं ज्ञानमपि ॥३५॥

अन्यथाऽभेदाऽनुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥३६॥

अन्यथा तादृशज्ञानस्य बाधकत्वे, एकादशस्कन्धे भक्तेषु उद्धवादिषु
अभेदज्ञानेन उपदेशानुपपत्तिः इति चेद् न. उपदेशान्तरवत्. यथा गायत्युपदेशेन
संस्कृतं ब्राह्मणशरीरं वैदिककर्मोपयोगि भवति तथा ज्ञानोपदेशसंस्कृतो भक्तो
भक्तिरसानुभवयोग्यो भवति. तदर्थम् उपदेशो, नतु अभेदज्ञानार्थम् इति अर्थः.
ज्ञानिनां भक्तानाञ्च लौकिकभावः सर्वथा निवर्तनीयः. तन्निवृत्तिं विना उभयोरपि
फलप्राप्त्यसम्भवात्. तन्निवृत्तिस्तु ज्ञानेनैव भवति. यथा केवलसुवर्णार्थिनः
सुवर्णेन कटककुण्डलार्थिनश्च सुवर्णपिण्डे धात्वन्तरभ्रमो निवर्तनीयः तथा अक्षरे
लयप्रेप्सूनां ज्ञानिनां भगवल्लीलानुभवयोग्यानां भक्तानाञ्च लौकिकभावो
निवर्तनीयः. तन्निवृत्तिश्च ज्ञानेनैव भवति इति ज्ञानोपदेशोपयोगः ॥३६॥

व्यतिहारो विशिषन्ति हीतरवत् ॥३७॥

भक्ता, अहं कृष्णः कृष्णो अहम् इति यद् विशिषन्ति सः व्यतिहारः.
सोऽपि इतरवद् ज्ञेयः. विप्रयोगोद्रेके यथाश्रुप्रलापादयो व्यभिचारिभावाः तथा
व्यतिहारोऽपि. न एतावता अभेदज्ञानस्य भक्तिफलत्वम् इति अर्थः ॥३७॥

सैव हि सत्यादयः ॥३८॥

भक्तानां सत्य-शमदमादिरूपा भक्तिरेव इति तस्य ज्ञानमार्गीयसत्यादि-
साधनानि स्वतएव भवन्ति इति न तदर्थं पृथक्प्रयत्नापेक्षा इति अर्थः ॥३८॥

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥३९॥

इतरत्र विहितभक्तेः अन्यत्र कामाद्यौपाधिकभगवद्भावे कामाद्येव मुक्तिसाधनम्. किञ्च अन्यमार्गे हेयत्वेन उक्तेभ्यः आयतनादिभ्यो गेहादिभ्यः तत्र मुक्तिः भवति. भगवत्सेवासाधनत्वात् ॥३९॥

आदरादलोपः ॥४०॥

वर्णाश्रमधर्माणां भगवद्धर्माणाञ्च युगपत् करणे प्रसक्ते भगवद्धर्मेषु आदरश्रवणात् कर्मभिः तेषाम् अलोपः ॥४०॥

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥४१॥

कर्म-भगवद्धर्मयोः युगपत्करणे उपस्थिते, अतः आदराद् हेतोः तद्वचनाद् भगवद्धर्माणाम् अलोपवचनाद् भगवद्धर्माणां कर्माङ्गत्वेन इति अर्थः ॥४१॥

तन्निर्धारणानियमस्तद्वृष्टेः पृथग्यप्रतिबन्धः फलम् ॥४२॥

मम कर्मकरणे अकरणे वा भगवदिच्छा अस्ति इति निर्धारणाऽनियमः आधुनिकानाम् अतः तैः निष्कामतया कर्तव्यमेव. तद्वृष्टेः तस्याः भगवदिच्छया दृष्टिः ज्ञानं यस्य अम्बरीषोद्धव-युधिष्ठिरादेः तस्य पृथग् जीवकृतकर्मफलाद् भिन्नम् ईश्वरकृतकर्मणो यत्फलं सन्मार्गरक्षालोकसंग्रहादिकं तदेव फलं, नतु स्वर्गादिकम्. पूर्वोक्तनिष्कामकर्मकर्तुस्तु अप्रतिबन्धः कर्मजप्रतिबन्धाभावः फलम् इति अर्थः ॥४२॥

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥४३॥

“तस्मात् त्वमुद्धवोत्सृज्य” (भाग.पुरा.११।१२।१४) इत्यनेन भगवता उद्धवं प्रति सर्वात्मभावोपदेशः कृतः, सः प्रदानवत् प्रकर्षेण दानमेव कृतम्. नतु साधनसाध्यः सः. तद् उक्तं, “नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः” (मुण्डकोप. ३।२।३) इति श्रुत्या ॥४३॥

लिङ्गभूयस्त्वात् तद्धि बलीयस्तदपि ॥४४॥

वरणस्य लिङ्गं सर्वात्मभावः तस्य भूयस्त्वात् सर्वतो अधिकत्वात् तद् वरणमेव सर्वतः कालकर्मादिभ्योपि बलीयः. तस्य प्रतिबन्धकं किमपि न भवति इति अर्थः. ननु ज्ञानमार्गीयज्ञानेन प्रतिबन्धः स्याद् इति आशङ्क्य आह. तदपि. उक्तम् इति शेषः, “अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनः” (ब्रह्मसू.३।३।३६) इति

सूत्रेण ॥४४॥

अथ सूत्रद्वयेन पूर्वपक्षम् आह.

पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात् क्रियामानसवत् ॥४५॥

छान्दोग्ये सनत्कुमारनारदसंवादे, “यत्र नान्यत् पश्यति” (छान्दो.उप. ७।२४।१) इत्यादिना वरणलिङ्गभूयस्त्वं न उच्यते, किन्तु पूर्वविकल्पः स्यात्. पूर्वप्रपाठकोक्तश्वेतकेतूपाख्यानज्ञानस्यैव प्रकारभेदो निरूप्यते. आत्मप्रकरणाद् उभयोः प्रपाठकयोः. अत्र दृष्टान्तः. क्रियामानसवत्. बाह्या पूजा क्रिया इति उच्यते. आन्तरी मानसम् इति उच्यते. परन्तु प्रकरणभेदात् पूजात्वाविशेषः. एवं प्रकारभेदेऽपि ज्ञानत्वाविशेषः इति अर्थः ॥४५॥

अतिदेशाच्च ॥४६॥

“नामैवैतन्नामोपास्व” (छान्दो.उप.७।१।४) इति ऋगादिविद्या अनूद्य नामब्रह्मातिदेशादपि ज्ञानप्रकारविशेषएव अयम् इति प्राप्ते ॥४६॥

सिद्धान्तम् आह.

विद्यैव तु निर्द्धारणात् ॥४७॥

तुः पूर्वपक्षव्यावर्तकः. अत्र विद्यैव सर्वात्मभावएव निरूप्यते. “भूमैव सुखं, भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः” (छान्दो.उप.२३।१) इति आनन्दात्मक-पुरुषोत्तमस्यैव. जिज्ञास्यत्वेन निर्द्धारणाद् इति अर्थः ॥४७॥

दर्शनाच्च ॥४८॥

दृश्यते च सर्वात्मभाववतां ब्रजभक्तानां पूर्वं सर्वविस्मृतिः भगवत्स्पर्शादिना अग्रे सर्वसामर्थ्यम्. तद् उक्तं ताभिरेव, “चित्तं सुखेन भवतापहतं गृहेषु” (भाग.पुरा.१०।२९।३४) इत्यादि. अत्रापि, “तस्य ह वा एतस्य एवं पश्यत एवं मन्वानस्य एवं विजानत आत्मनः प्राणा” (छान्दो. उप.७।२६।१) इति श्रुतिदर्शनात् सर्वात्मभावएव उक्तः इति भावः ॥४८॥

ननु “तरति शोकम् आत्मविद्” (छान्दो.उप.७।१।३) इति उपक्रमाद् ज्ञानमेव अत्र प्रतिपाद्यं, न सर्वात्मभावः इति आशङ्क्य आह.

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधा ॥४९॥

एवम् *उपक्रमगतात्मवाक्यानुरोधात् सर्वात्मभावलिङ्गभूयस्त्वस्य न
*“एतादृशवाक्यानुरोधात्’.

बाधा, वाक्यापेक्षया श्रुतिलिङ्गयोः बलीयस्त्वात्. अतः श्रुतिलिङ्गानुरोधेन
सर्वात्मभावएव अत्र प्रतिपाद्यो, न ज्ञानम् ॥४९॥

ननु “स्वे महिम्नि प्रतिष्ठिते” (छान्दो.उप.७।२४।१) इति श्रुत्या न
सर्वात्मभावः उच्यते, किन्तु ब्रह्मणः स्वाधारत्वमेव युक्तम् इति प्रतिपाद्यते इति
आशङ्क्य आह.

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तम् ॥५०॥

“भूमा कुत्र प्रतिष्ठिते” इति प्रश्ने, “स्वे महिम्नि” इति उत्तरम् उक्त्वा,
“स वा एष एवं पश्यन्” (छान्दो.उप.७।१५।४) इत्यनेन तच्छब्दस्य पूर्वपराम-
र्शित्वाद् भूमाधिकरणसर्वात्मभावादिभ्यो⁺ हेतुभ्यः सर्वात्मभावएव अत्र प्रतिपाद्यो,
न ब्रह्मणः स्वाधारत्वम् इति अर्थः. अन्यथा कुत्र प्रतिष्ठिते इति प्रश्ने, न क्वापि
इत्येव वदेत्. ननु सर्वात्मभावस्यापि फलं मुक्तिरेव इति आशङ्क्य आह.
प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत्. सर्वात्मभाववद् भक्तप्रज्ञातो भिन्ना प्रज्ञान्तरं मुमुक्षुभक्तस्य
स्वकृतार्थताविषयकं ज्ञानम्. तस्य यथा पृथक्त्वं पृथक् फलसाधकत्वं
कर्मज्ञानादि-फलेभ्यः पार्थक्येन मोक्षसाधकत्वं, तथा सर्वात्मभाववद्
भक्तप्रज्ञायाः भगवल्लीलासाधकत्वं, नतु स्वकामनासाधकत्वम्. अतः
सर्वात्मभावस्य भगवल्लीलासाधकत्वं, नतु मोक्षसाधकत्वम्. अत्र व्यासः
स्वानुभवमेव प्रमाणयति, **दृष्टश्च.** एतादृशभक्तस्य स्वरूपानुभवातिरिक्त-
फलाभावो अस्माभिरेव ब्रजभक्तादौ दृष्टः. अत्र शब्दोऽपि प्रमाणम् इति आह. तद्
उक्तम्. “अहं भक्तपराधीनः” (भाग.पुरा.९।४।६३) इत्यारभ्य, “वशी कुर्वन्ति
मां भक्त्या” (भाग.पुरा.९।४।६६) इति भगवता उक्तम् इति अर्थः ॥५०॥

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ॥५१॥

ननु सर्वात्मभावनिरूपक-सनत्कुमारनारदसंवादप्रपाठके “तस्य सर्वेषु
लोकेषु कामचारो भवति” (छान्दो.उप.७।२५।२) इति उक्त्या सर्वात्मभाववद्
भक्तस्यापि अन्यकामना दृश्यते इति आशङ्क्य आह. न. तर्हि कथम् एवम् उक्तं
तत्र आह. **सामान्यादपि उपलब्धेः.** तत्समानधर्मसम्बन्धादपि श्रुतौ तत्प्रयोगः
उपलभ्यते बहुशः. प्रकृतेऽपि विविधसुखप्रधानत्वाद् लोकानां भगवत्सम्बन्धि-
सर्वसुखेषु कामचारो भवति इत्यभिप्रायेण तथा उच्यते. ननु यथाश्रुतार्थः किमर्थं

⁺ “...त्मभावानुबन्धादिभ्या”.

त्यज्यते इति आशङ्क्य आह. मृत्युवद् न हि लोकापत्तिः. यथा, “न पश्यो मृत्युं पश्यति” (छान्दो.उप.७।२६।२) इति तादृशभाववतो मृत्युनिषेधः क्रियते तथा भगवत्स्वरूपातिरिक्त-लोकान्तरसम्बन्धोऽपि न सम्भवति इति अर्थः ॥५१॥

अत्र हेत्वन्तरम् आह.

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्वनुबन्धः ॥५२॥

शब्दस्य “आत्मनएव इदं सर्वम्” (छान्दो.उप.७।२६।१) इति पूर्वोक्तश्रुतिवाक्यस्य, परेण, “सर्वमाप्नोति सर्वशः” (तत्रैव ७।२६।२) इति वाक्येन ताद्विध्यम् एकरूपत्वम् अस्ति इति, न लोकान्तरसम्बन्धो वक्तुं शक्यः इति अर्थः. ननु “आत्मनएव इदं सर्वम्” (तत्रैव ७।२६।१) इति उक्तमेव, पुनः “सर्वमाप्नोति” इति किमर्थम् उक्तं, तत्र हेतुम् आह. तुःशङ्कानिरासे. हेतूनां बाहुल्ये दाढ्यं भवति इति पुनः अनुबन्धः कृतः इति अर्थः ॥५२॥

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥५३॥

अतएव एके शाखिनः आत्मनो भगवतो भक्तशरीरे भावादाविर्भावात् तेन सह कामोपभोगनिरूपिकां, “सोऽश्नुते सर्वान् कामान्” (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुतिं पठन्ति इति अर्थः ॥५३॥

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥५४॥

ज्ञानिनां हृदये परमव्योमाविर्भावस्य व्यतिरेकः. कुतः? तद्भावाभावित्वात्. वरणाभावेन भगवद्भावस्य अभावात्. ननु भगवतो ज्ञानविषयत्ववद् आविर्भावोऽपि अस्तु तत्र आह. नतु उपलब्धिवत्. उपलब्धिः ज्ञानं यथा साधनसाध्यं तद्वद् भगवद्वरणं विना हृदये परमव्योमाविर्भावाभावेन भगवदाविर्भावो न भवति इति अर्थः. तस्य साधनान्तरासाध्यत्वात् ॥५४॥

तत्र निदर्शनम् आह.

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥५५॥

हि यतः प्रतिवेदम्. अङ्गावबद्धा ऋत्विजो यागे हौत्रौद्गात्रादि-प्रतिवेदनियत-कर्मकरणार्थम् अवबद्धा वृता यजमानेन ते यथा सर्वशाखीयकर्मकरणसमर्था अपि तत्र अधिकाराभावात् सर्वशाखासु न प्रभवन्ति, तथा अत्र भगवतः तादृशवरणाभावाद् ज्ञानिनां हृदि परमव्योमाविर्भावो न भवति इति अर्थः ॥५५॥

ननु केषांचित् कर्मज्ञाननिष्ठानामपि कृपया भक्तिमार्गे वरणं दृश्यते इति ऋत्विगृष्टान्तवैषम्यम् इति आशङ्क्य आह.

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥५६॥

यथा एकएव कश्चिद् मन्त्रो अनेककर्मसु विनियुज्यते, कश्चिद् द्वयोः, कश्चिद् एकत्रैव, तथा शास्त्रे विधानात्. एवं भगवदिच्छया जीवोऽपि कश्चित् *कर्मनिष्ठां प्राप्य वरणेन भक्तिनिष्ठां प्राप्नोति, कश्चित्तु ज्ञाननिष्ठामेव प्राप्य, कश्चित्तु प्रथमतएव भक्तौ व्रियते इति विरोधो न इति अर्थः ॥५६॥

ननु “लिङ्गभूयस्त्वाद्” (ब्रह्मसू.३।३।४४) इति सूत्रे सर्वात्मभावस्य सर्वतो अधिकत्वं यन्निरूपितं, तद् न उपपद्यते. सर्वात्मभाववद्भक्ते यथा सर्वत्र भगवद्भावः उक्तः तथा लौकिकनायकस्यापि, सा सा सा सा जगति सकले इत्यादिषु सर्वत्र नायिकाभानदर्शनाद् अतो लौकिकरसतुल्यत्वाद् न अस्य सर्वोत्कृष्टत्वम् इति आशङ्क्य आह.

भूमनः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ॥५७॥

भूमनः सर्वात्मभावस्य ज्यायस्त्वं सर्वोत्कृष्टत्वं ज्ञेयम्. नच उक्तं लौकिकरसतुल्यत्वं दोषः. क्रतुवद् इति. यथा दर्शपूर्णमासादियागेषु दोहनाधि-श्रयणादिकर्मणां लौकिककर्मतौल्येऽपि न लौकिकत्वम्. अलौकिक-प्रमाणैक-समधिगम्यत्वात्. तथा अस्यापि भावस्य तथात्वं ज्ञेयम्. तत्र उपपत्तिम् आह. तथाहि इत्यादि. तथाहि, “आत्मनः प्राणाः” (बृहदा.उप.२।१) इत्यादिश्रुतिः सर्वात्मभाववतः सर्वं भगवतएव इति दर्शयति. लौकिक-नायकादिप्राणानान्तु तत्त्वजन्यत्वाद् न सर्वात्मभाववद् भक्तप्राणादि-तौल्यम्. अतो अस्य सर्वतो ज्यायस्त्वे कोऽपि दोषो न शङ्क्यः. इदं भक्त्यादीनामपि उपलक्षणम्. तेषामपि प्रतीत्या लौकिकक्रियारूपत्वेऽपि भगवद्विषयत्वाद् अलौकिकप्रामाण-बोधितत्वाच्च अलौकिकत्वमेव इति ज्ञेयम् ॥५७॥

एवं सर्वात्मभावस्वरूपं विचार्य प्रक्रान्तम् उपासनानिर्णयम् उपसंहारे निरूपयति.

नाना शब्दादिभेदात् ॥५८॥

सर्वेषु श्रीरामाद्यवतारेषु नानैव उपासना कार्या, नतु सर्वावतारविशिष्टस्य

*‘ज्ञान’.

एकस्य ब्रह्मणः. तत्तत्स्वरूपसम्बन्धिशब्दानां मन्त्राणां विधायकशब्दानाम्
आदिपदाद् आकारचरित्राणाञ्च भेदाद् इति अर्थः ॥५८॥

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥५९॥

पार्थक्येन कर्तव्यानाम् उपासनानां विकल्पो, नतु अग्निहोत्रदर्शपूर्ण-
मासादिवत् समुच्चयः. कुतः. अविशिष्टफलत्वात्. एकोपासनेनैव
मोक्षात्मकफलसिद्धौ अन्योपासनस्य अविशिष्टफलत्वात्. तेनापि मोक्षस्यैव
सिद्धेः ॥५९॥

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन् वा पूर्वहेत्वभावात् ॥६०॥

यास्तु काम्योपासनाः भिन्नभिन्नफलिकाः ताः यथाकामं समुच्चीयेरन्.
यस्य यावत्फलकामना तेन तावत्युपासना कर्तव्या. पूर्वहेतोः अविशिष्टफलत्वस्य
अभावात् फलगतविशेषस्य विद्यमानत्वात्. यत्र पुनः एकोपासनस्यैव
स्वकामितानेकफलसाधकत्वं तत्र तेनैव कार्यसिद्धौ, न वा उपासनानां समुच्चयो न
अस्ति इति अर्थः ॥६०॥

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥६१॥

एकफलसाधकानाम् उपासनानां भिन्नभिन्नस्थलेषु आम्नातानां
भिन्नाङ्गयुक्तानाम् अङ्गेषु यथाश्रयभावः, यद् अङ्गं यत्र आम्नातं तद्
अङ्गविशिष्टं तदेव उपासनं कार्यं, नतु अन्यत्र आम्नातानाम् अन्यत्र उपसंहारः
कार्यः ॥६१॥

कुतः ?

शिष्टेश्च ॥६२॥

तदङ्गानां तत्रैव शासनाद् अन्यत्र उपसंहारे प्रमाणाभावात् ॥६२॥

समाहारात् ॥६३॥

ज्ञानमार्गे सर्वावतारधर्माणां ब्रह्मणि समाहारात् सर्वधर्मविशिष्ट-
ब्रह्मोपासनं कार्यम्. तद्ब्रह्मैव अवताररूपम् इति एकस्मिन् अवतारे
अवतारान्तरधर्माणामपि उपसंहारे बाधकं न अस्ति इति अर्थः ॥६३॥

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥६४॥

ऐश्वर्य-वीर्यादिगुणानां सर्वावतारेषु साधारण्यं श्रूयते इति एकस्मिन्
अवतारे सर्वावतारधर्मोपसंहारो युक्तः इति अर्थः ॥६४॥

ननु एवम् उपासनं किं नित्यं ? न, किन्तु ऐच्छिकम् इति आह.

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥६५॥

एकस्मिन् अवतारे सर्वावतारधर्मयुक्तोपासनं न वा, तथा रुचिः च एतत्कर्तव्यं, नतु नियमतः. तेषां रूपाणां नियततया तत्सहभावश्रवणाभावात् ॥६५॥

दर्शनाच्च ॥६६॥

उपासनस्य फलं दर्शनम्. तत्तु स्वधर्मविशिष्टैकावतारस्य भवति, नतु सर्वावतारधर्मविशिष्टस्य. अतो दर्शनाद् हेतोः भक्तिमार्गीयस्य स्वधर्मविशिष्टैकावतारोपासनं युक्तम् इति अर्थः. सर्वोपासनानां फलं दर्शनम् इति सूत्रकृता अन्ते तदेव उक्तम् ॥६६॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तौ मरीचिकाख्यायां तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः.

॥ चतुर्थः पादः ॥

पुरुषार्थोऽतःशब्दादिति बादरायणः॥१॥

पुरुषार्थो भगवानेव. अतः शब्दाद्, “अतः परं नान्यदणीयसं हि” (महाना.उप.१।५) इति ‘अतः’पदघटितश्रुतिवाक्याद् इति अर्थः ॥१॥

अत्र कर्मवादी प्रत्यवतिष्ठते.

शेषत्वात् पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ॥२॥

विष्णोः इज्यत्वेन कर्मशेषत्वात् कर्माङ्गदेवतास्वरूपज्ञानं यागे फलातिशयहेतुः इति पुरुषसम्बन्ध्यर्थवादरूपं वेदान्तेषु आत्मनिरूपणम्. यथा अन्येषु द्रव्यगुणकर्मसु अर्थवादः. “यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति” (तैत्ति.संहि. ३।५।७।२) इत्यादिद्रव्यनिरूपणार्थम् अर्थवादः. “यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते” (तत्रैव ६।१।१) इति संस्कारे अर्थवादः. “यत् प्रयाजाऽनुयाजा इज्यन्ते” (तत्रैव २।६।१) इत्यादि कर्मनिरूपणे अर्थवादः. तद्वत्. अतो विष्णुस्तुतेः अर्थवादरूपत्वेन अङ्गप्रशंसाद्वारेण कर्मणएव प्रशंसारूपत्वात् कर्मणएव फलसाधकत्वं न भगवज्ज्ञानस्य इति अर्थः ॥२॥

ननु “तमेव विदित्वा मुनिर्भवति” (बृहदा.उप.४।४।२२) इत्यादिश्रुतौ ज्ञानवतः सर्वत्यागकथनात् पूर्वोक्तं न युक्तम् इति आशङ्क्य आह.

आचारदर्शनात् ॥३॥

वशिष्ठप्रभृतीनां ब्रह्मज्ञानिनाम् अग्निहोत्राद्याचरणदर्शनाद् न ज्ञानस्य कर्मबाधकत्वं सम्भवति इति अर्थः ॥३॥

तच्छ्रुतेः ॥४॥

जनकादीनां ब्रह्मविदां “जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे” (बृहदा. उप.३।१।१) इत्यादिकर्मकरणनिरूपकश्रुतेः हेतोः न ज्ञानस्य कर्मबाधकत्वम् ॥४॥

समन्वारम्भणात् ॥५॥

“तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते” (बृहदा.उप.४।४।२) इति श्रुतौ ज्ञान-कर्मणोः साहित्येन फलारम्भकत्वदर्शनाद् न पूर्वोक्तम् ॥५॥

तद्वतो विधानात् ॥६॥

‘वशिष्ठो ब्रह्मे’त्यनेन ज्ञानवतो ब्रह्मत्वेन वरणकथनाद् ज्ञानस्य कर्माधिकारसम्पादकत्वमेव. बाधकत्वन्तु सुदूरनिरस्तम् ॥६॥

ननु “यदहरेव” (जाबालोप.४) इत्यादिश्रुत्या त्यागस्यापि विधानात् कर्म-तत्यागयोः ऐच्छिको विकल्पो अङ्गीकार्यो न अङ्गाङ्गिभावः इति आशङ्क्य आह.

नियमाच्च ॥७॥

यावज्जीवाग्निहोत्रविधाननियमाद्, “आश्विनं धूम्रललामम्” (तैत्ति. संहि.२।१०।१) इत्यादिश्रुतौ कर्माकरणे प्रायश्चित्तविधानाच्च कर्मकरणनियमएव श्रुतेः अभिमतो, नतु तत्यागः इति अर्थः. त्यागविधेः कर्माशक्तविषयकत्वं व्यवस्थापनीयम् इति भावः. अतो ब्रह्मज्ञानस्य कर्मशेषत्वेन निरूपणात् कर्मैव फलसाधकत्वात् कर्तव्यं, नतु तत्यागे केवलज्ञानात् फलं सिद्ध्यति इति जैमिनिमते प्राप्ते ॥७॥

उच्यते.

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥८॥

तुः पक्षव्यावर्तनार्थः. “स वा अयमात्मा” (बृहदा.उप.२।५।१५) “सर्वस्य वशी” (बृहदा.उप.४।४।२२) इत्यादिश्रुत्या भगवान् सर्वापेक्षया अधिक उपदिश्यते अतः कर्मसाम्यमपि न वक्तुं शक्यम्. तदङ्गत्वन्तु दूरपरास्तम्. अत्र

विश्वासार्थम् आचार्यः स्वानुभवं प्रमाणयति. बादरायणस्य एवं तद्दर्शनात्. एवं कर्मादिभ्यः आधिक्येनैव तस्य भगवतो भक्तिमार्गस्य च तत्सम्बन्धिसर्वात्मभावस्य च दर्शनाद् अनुभवाद् इति अर्थः ॥८॥

आचारदर्शनाद् इत्यस्य उत्तरम् आह.

तुल्यं तु दर्शनम् ॥९॥

यथा जनकादीनां कर्मकरणाचारः तथा शुक-भरतादीनां कर्मत्यागाचारः. तथाच आचारदर्शनस्य तुल्यत्वाद् न ज्ञानं कर्माङ्गम् इति अर्थः ॥९॥

ननु “जनको ह वैदेहः” (बृहदा.उप.४।२।१) इति जनकस्य कर्मकरण-निरूपकश्रुतिसाहाय्यात् कर्मकरणाचारदर्शनं त्यागाचारदर्शनाद् अधिकबलम् इति आशङ्क्य आह.

असार्वत्रिकी ॥१०॥

ब्रह्मविदां सर्वेषामेव कर्मकरणनिरूपणाभावात् कुत्र चिज्जनकादौ कर्मकरणनिरूपिका श्रुतिः असार्वत्रिकी. “य एतद्ध स्म वै” (बृहदा.उप.६।४।४) इति कर्मत्यागनिरूपिका श्रुतिः दृश्यते. अतो न सर्वेषां कर्मकरणनियमः इति अर्थः ॥१०॥

ननु तेषां ब्रह्मवित्वेऽपि एकेषां कर्मत्यागः एकेषां कर्मकृतिः इति विभागे किं नियामकम् इति आशङ्क्य आह.

विभागः शतवत् ॥११॥

तत्र “एतस्य आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति” (बृहदा.उप.४।३।३२) इति श्रुतेः भगवदानन्दस्य सर्वत्र विद्यमानत्वेऽपि मानुषाद्य-धिकारभेदेन तत्तदानन्ददानाद् यथा मानुषानन्दाद् आरभ्य अक्षरानन्दपर्यन्तं शतोत्तरम् आनन्दोत्कर्षरूपो विभागः उक्तः तथा प्रकृतेऽपि येषु भगवदनुग्रहोत्कर्षेण अन्यभावराहित्यं सर्वथा लौकिकभावराहित्यं व्यसनावस्था इति यावत्, तेषु सर्वथा कर्मत्यागः. येषु भगवदनुग्रहस्य न्यूनत्वं, तेषु लौकिक-भावसद्भावाद् व्यसनावस्थायाः असम्भवेन कर्मत्यागोऽपि न अस्ति इति विभागः उपपद्यते इति भावः. व्यसनावस्थायामेव कर्मपरित्यागः इतितु भक्तिवर्द्धिन्यादि-ग्रन्थे निर्णीतम्. अत्र निर्गुणब्रह्मणो यद्गणितानन्दत्वम् उक्तं, तत्तु लयात् पूर्वानुभवम् आदाय. यतः पुरुषाधिकारतारतम्येन आनन्दभोगे तारतम्यं

शतसङ्ख्यया सूचितम्. ब्रह्मणि लयेतु भोक्तुरेव अभावाद् न आनन्दतारतम्यम्. अग्रेतु आनन्दमात्रावशेषात् सङ्ख्या न अस्ति. तर्हि पूर्णत्वं स्याद् इति चेत्, पूर्णत्वस्यापि धर्मत्वेन निर्द्धर्मके तदसम्भवात्. पूर्णत्वन्तु सधर्मकत्वात् पुरुषोत्तमएव. तस्य ब्रह्मानन्दापेक्षया आधिक्यन्तु अचिन्त्यशक्त्या अवसेयम्॥११॥

तद्वतो विधानाद् इत्यस्य उत्तरम् आह.

अध्ययनमात्रवतः ॥१२॥

वेदाध्ययनमात्रवतः कर्मणि अधिकारो, नतु ब्रह्मविदोऽपि इति अर्थः ॥१२॥

यच्च उक्तम् अग्निहोत्रादिविधायकश्रुतिषु कर्मकरणनियमदर्शनं तत्यागे बाधकम् इति, “नियमाच्च” (ब्रह्मसू.३।४।७) इति सूत्रेण, तत्र आह.

नाविशेषात् ॥१३॥

“न कर्मणा न प्रजया” (महाना.उप.१०।५) इत्यादिश्रुतिषु मोक्षप्राप्तौ त्यागदर्शननियमाविशेषाद् न कर्मनियमो बाधकः इति अर्थः ॥१३॥

अथ आग्रहेण, “ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मा भवति” (आप.श्रौत.३।१८।१) इत्यत्र ‘ब्रह्मिष्ठ’पदेन ब्रह्मज्ञानवानेव उच्यते, न वेदाध्ययनमात्रवान् इति उच्येत, तत्रापि ब्रूमः

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥१४॥

दर्शपूर्णमासौ एतादृशौ यत्र ब्रह्मविदपि ब्रह्मत्वरूपात्विज्याधिकारीति दर्शपूर्णमासस्तुतये, नतु तत्र तस्य अधिकारो अभिप्रेतः. ब्रह्मज्ञाने कर्मापेक्षया उत्कर्षस्य पूर्वम् उपपादितत्वात् ॥१४॥

ननु “एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयान्” (बृहदा.उप.४।४।२३) इति श्रुत्या ब्रह्मविदः कर्मकरणे प्राप्तगुणदोषयोः निषेधः क्रियते. तथाच तस्य कर्मकरणम् आवश्यकम् इति आशङ्क्य आह.

कामकारेण चैके ॥१५॥

कामकारेण परानुग्रहार्थम् इच्छामात्रेण यत्करणं तेन प्राप्तयोः गुण-दोषयोः निषेधार्थम् इदं वाक्यम् एके शाखिनः पठन्ति. नतु एतत्कथनेन करणनियमप्रसक्तिः इति अर्थः. परानुग्रहार्थम् इच्छामात्रेण यत्कर्मकरणं, न तस्माद्

गुण-दोषयोः प्रसक्तिः. इदन्तु, “पृथग्यप्रतिबन्धः फलम्” (ब्रह्मसू.३।३।४२) इत्यनेन पूर्वम् उक्तम्. तादृशकर्मणो भक्तित्वमेव, न कर्मत्वम् इति अग्रे, “स्तुतिमात्रम्” (ब्रह्मसू.३।४।२१) इति सूत्रे व्युत्पादयिष्यते. ब्रह्मविदो हि यज्ञाङ्गदेवानां भगवद्भक्तत्वं ज्ञात्वा यजनं कुर्वन्ति इति, न तत् कर्मरूपं भवति. “भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः” (भग.गीता ८।३) इति सन्दर्भोक्त-कर्मलक्षणव्याप्तेः. अतएव सन्दर्भेऽपि उक्तं, तदीयाराधनेतु गुणएव इति. तस्मात् कर्मत्वाभावादेव कर्मसम्बन्धिगुणदोषयोः अप्राप्तिः. किन्तु भगवदीयाराधनरूपा भक्तिरेव सा इति ज्ञेयम् ॥१५॥

उपमर्दं च ॥१६॥

एके शाखिनः “तत् केन कं पश्येद्” (बृहदा.उप.४।५।१५) इत्यादिना अखण्डब्रह्मभाने कर्मतदधिकारादीनाम् उपमर्दं च पठन्ति इति ज्ञानस्य कर्माङ्गत्वं सुदूरनिरस्तं वेदितव्यम्. अखण्डब्रह्मभानन्तु ब्रह्मेत्येव, नतु इदं ब्रह्म इति सखण्डम्. तत्र उद्देश्यत्वेन प्रपञ्चस्यापि भानात् सखण्डत्वम् ॥१६॥

ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि ॥१७॥

“यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्” (जाबालोप.४) इति श्रुत्या प्रव्रजनविधानाद् ऊर्ध्वरेतःसु सन्यासिषु कर्माभावो अङ्गीकार्यः इति कर्मशेषत्वं ज्ञाने न सम्भवति. ननु एवम् अग्निहोत्रादिकर्मशेषत्वाभावेऽपि ज्ञाने सन्यासा-श्रमीणकर्मशेषत्वम् अस्तु इति आशङ्क्य आह. शब्दे हि. ज्ञानस्वरूपं च शब्दैकगम्यं, न युक्तिगम्यम्. श्रुतौतु “तमेवं विद्वानमृतो भवति” (नृसिं.पू. उप.१।६) इति ज्ञानस्य मोक्षएव फलं श्रूयते. अतो न सन्यासाश्रमीण-कर्मशेषत्वमपि इति अर्थः. ननु ज्ञानेनैव मोक्षे सन्यासवैयर्थ्यम् इति चेद्, ब्रह्मविद्व्यतिरिक्तसङ्गस्य भगवद्भावविस्मारकत्वेन त्यागस्य भगवद्भाव-पोषकत्वेन उपयोगात् फलोपकार्यन्तरङ्गान्तःकरणशुद्धिसम्पादकत्वाच्च ॥१७॥

अत्र पूर्वपक्षम् आह.

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॥१८॥

“किं प्रजया करिष्यामः” (बृहदा.उप.४।४।२२) इत्यादिश्रुतौ ब्रह्मप्राप्तिं विना प्रजादिसर्वपदार्थानां वैयर्थ्यकथनात् सकलश्रुतिभिः मोक्षएव फलत्वेन परामृश्यते. तं परामर्शं कर्मस्वातन्त्यवादी जैमिनिः अपवदति बाधते इति अर्थः.

यतो, “वीरहा वा एष देवानाम्” (तैत्ति.सं.१।१।५।२) इति श्रुत्या कर्मत्यागस्य निन्दितत्वेन प्रव्रजननिरूपकश्रुतेः अन्धपङ्गवादिविषयकत्वं मनुते. तथा सिद्धस्वरूप-ब्रह्मनिरूपणश्रुतिषु ब्रह्मज्ञानस्य अविधेयत्वेन तद् अचोदनापि फलत्वेन मोक्षपरामर्शम् अपवदति इति अर्थः. अतो जैमिनिसम्मत्या विधि-सम्बन्धेन च कर्मैव अनुष्ठेयं, नतु मोक्षसाधनत्वेन तत्यागादिकम् इति प्राप्ते ॥१८॥

उच्यते.

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥१९॥

जैमिनेः गुरुः बादरायणो अनुष्ठेयं कर्मापवदति इति सम्बन्धः. कुतः. साम्यश्रुतेः. यथा, “वीरहे” (तैत्ति.सं.१।१।५।२)ति श्रुत्या कर्मत्यागकर्तुः निन्दा श्रूयते, एवं भगवज्ज्ञानरहितस्यापि निन्दा, “आसुर्या नाम” (ईशा.उप.३) इति श्रुत्या उच्यते. वस्तुतस्तु, “तमेतं वेदानुवचनेन” (बृहदा.उप.४।४।२२) इति श्रुत्या कर्मणां ज्ञानसापेक्षतोक्तेः तेषां ज्ञानसाम्यं तच्छेषित्वञ्च दूरापास्तम् इति मन्तव्यम् ॥१९॥

एवं सति पूर्वकाण्डवैयर्थ्यम् आयाति इति आशङ्क्य आह.

विधिर्वा धारणवत् ॥२०॥

कर्मणां विधिः भक्तिसाधनत्वेनैव कर्मानुष्ठेयम् इति तात्पर्येण उच्यते. धारणवत्. यथा योगशास्त्रे समाधिसिद्ध्यर्थं मानस्याः मूर्तेः धारणं साधनत्वेन विधीयते तद्वत्. समाधिसिद्धौतु, “ततः किञ्चन न स्मरेद्” (भाग.पुरा.२।१।१९) इत्यादिवाक्येभ्यो यथा धारणात्यागः तथा भक्तिसिद्धौतु कर्मणामपि त्यागः इति भावः ॥२०॥

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥२१॥

ननु “एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयान्” (बृहदा.उप.४।४।२३) इति श्रुत्या ज्ञानिनि विहित-निषिद्धकर्मणोः फलाजनकत्वेन साम्यम् उक्तम् इति ज्ञानस्य कर्मशेषत्वं न अस्ति इति यद् उक्तं, तद् न उपपद्यते. यतः इयं श्रुतिः ज्ञानस्य स्तुतिमात्रम्. किञ्च अनया श्रुत्या ज्ञानिनोऽपि कर्मोपादानात् कर्मकृतिस्वीकारात्. यदि ज्ञानिनां कर्मकरणं न स्यात् तदा तत्कृतगुणदोषाप्राप्त्या निषेधो अनुपपन्नः स्यात्. प्राप्तिपूर्वकत्वाद् निषेधस्य. मात्रपदेन यत्किञ्चिद् गुणदोषसम्बन्धः तेषाम् अस्त्येव इति सूचितम्. तथाच

ज्ञानिनोऽपि कर्मकरणप्रसक्त्या कर्मशेषत्वं ज्ञानस्य आयाति इति चेद् न एषः दोषः. ज्ञानिनः कर्मफलासम्बन्धस्य अपूर्वत्वाद् अन्यतः प्राप्त्यभावाद् विधेयत्वमेव, नतु स्तुत्यर्थं तत्कीर्तनम्. नच निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वनियमः. 'सूर्ये तमःकार्याभाव' इति उक्त्या तमःकार्याप्राप्तिबोधासम्भवात्. ननु लोकसंग्रहार्थं तेषामपि कर्मकरणं, "तन्निर्धारणानियमः" (ब्रह्मसू.३।३।४२) इत्यत्र उक्तं, तत्कथम् उक्तं ज्ञानिनां कर्मकरणाप्रसक्तिः इति. उच्यते. तादृशरीत्या यत् कर्मकरणं, तद् भक्तिरूपमेव. अतएव तत्र उक्तम्, 'अप्रतिबन्धः फलम्' इति, तस्माद् भगवदिच्छया ज्ञानिना कृतस्य कर्मणो भगवदभिप्रेतार्थकरणेन भक्तिरूपत्वेन विध्यधीनतया कृतत्वेन कर्मत्वाभावाद् देवानां भगवदीत्वेन भजनात् सम्यगेव उक्तं ज्ञानिनः कर्मकरणाप्रसक्तिः इति ॥२१॥

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥२२॥

ननु ब्रह्मविद्यानिरूपकाणां, "भृगुर्वै वारुणिः" (तैत्ति.उप.३।१) इति उपाख्यानानां, "पारिप्लवे शंसति" (आप.श्रौत.) इति श्रुत्या कर्माङ्गशंसन-शेषत्वम् उच्यते. शंसने च शब्दमात्रप्राधान्येन तदर्थस्य मन्त्रार्थवद् अप्रयोज-कत्वात् कथं ज्ञानस्य कर्मतः प्राधान्यम् इति चेद् न. कर्मापेक्षया ज्ञानस्य विशेषितत्वाद् विशिष्टतया कथनाद् न ज्ञानस्य कर्मशेषत्वम् इति अर्थः. नच ज्ञानस्य विशिष्टत्वेन कथनम् आख्यानेष्वेव इति शङ्क्यम्. आख्यानातिरिक्त-श्रुतौ, "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तैत्ति.उप.२।१।) इत्यादौ ज्ञानोत्कर्षकथनात् ॥२२॥

ननु एवम् आख्यानश्रुतीनां विद्याप्रतिपादकत्वं न स्याद् इति आशङ्क्य आह.

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥२३॥

यथा केवलश्रुतीनां विद्याप्रतिपादकत्वं, तथैव आख्यानश्रुतीनामपि इति अर्थः. तर्हि आख्याननिरूपणस्य क्व उपयोगः तत्र आह. एकवाक्यतोपबन्धात्. "आचार्यवान् पुरुषो वेद" (छान्दो.उप.६।१।४।२) इति श्रुत्या एकवाक्यता-ज्ञानार्थम् उपाख्यानरीत्या गुरुशिष्यकथोपबन्धात्. तथाच विद्यायाः माहात्म्य-निरूपणार्थम् आख्यानपूर्वकं निरूपणम् इति अर्थः ॥२३॥

एवं "पुरुषार्थो अतः शब्दाद्" (ब्रह्म.सू.३।४।१) इत्यारभ्य ज्ञानस्य

कर्मानपेक्षत्वं फलसाधने उक्तम् इति तत्रैव उपपत्त्यन्तरम् आह.

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥२४॥

यतो ज्ञानी ज्ञानेन स्वयं यज्ञात्मको जातो अतएव जरामर्याग्निहोत्रे अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा उक्ता, “तस्यैवं विदुषो यजमानस्य” (तैत्ति.उप.२।७।१; महाना.उप.२५।१) इत्यादि-तैत्तिरीयकश्रुतौ ॥२४॥

ननु एवं कर्मकाण्डवैयर्थ्यम् आयादि इति आशङ्क्य कर्मणां ज्ञाने फलोपकारित्वाभावेऽपि स्वरूपोपकारित्वम् अस्त्येव इति आह.

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥२५॥

सर्वेषां कर्मज्ञानभक्तीनां पुरुषोत्तमज्ञाने अपेक्षा अस्ति. अन्यथा यज्ञादिनिरूपकश्रुतिवैयर्थ्यं स्यात्. अतः एतन्निर्णये सैव श्रुतिः प्रमाणम् इति अर्थः. ननु यज्ञादिविधायकश्रुतिबलात् कर्मणामेव ज्ञानद्वारा फलसाधकत्वम् अस्तु इति आशङ्कां दृष्टान्तेन निरस्यति. अश्ववत्. यथा स्वेष्टफलसाधक-देशव्यवधायकदेशातिक्रमे अश्वस्य साधनत्वं, नतु तद्देशस्थितफलाप्तावपि. तथा कर्मणां ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकान्तः करणदोषनिरासः उपयोगो, नतु ज्ञानफलसिद्धावपि इति अर्थः ॥२५॥

ननु “तस्मादेवं विच्छान्तो दान्तः” (बृहदा.उप.४।४।२३) इत्यादिना शमादीनामेव ज्ञानसाधनत्वम् उच्यते, नतु यज्ञादेः इति आशङ्क्य आह.

शमदमाद्युपेतः स्यात् तथापि तु

तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥२६॥

“आत्मन्येव आत्मानं पश्येद्” (बृहदा.उप.४।४।२३) इति ज्ञानमार्गीय-ज्ञानाङ्गतया शमदमादिविधेः हेतोः ज्ञानी शमदमाद्युपेतः स्यात्. ज्ञानमार्गे तेषाम् अवश्यानुष्ठेयत्वात्. अन्यथा ज्ञानम् अवकीर्येत. अतः “तस्माद् एवंविद्” (बृहदा.उप.४।४।२३) इति श्रुतौ शमदमादीनाम् उक्तिः. कर्मणान्तु बहिरङ्गत्वाद् अनुक्तिः इति ज्ञेयम्. भक्तिमार्गेतु स्वतएव शमदमादयो भवन्ति, तथापि ज्ञानमार्गे तेषाम् आवश्यकत्वाद् ज्ञानी तद्युक्तः स्यादेव इति अर्थः ॥२६॥

ननु शमादीनां सत्त्वशुद्ध्यर्थम् अपेक्षणात् तत्रच “आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः” (छान्दो.उप.७।२६।२) इति श्रुत्या आहारशुद्धेः अन्तरङ्ग-साधनत्वात् तद्विरुद्धसर्वान्नभक्षणस्य, चाक्रायणे छान्दोग्योपनिषत्सु श्रवणाद् न

सत्त्वशुद्धेः ज्ञानस्य अन्तरङ्गसाधनत्वम् इति आशङ्क्य सर्वान्नानुमति-
श्रुतिव्यवस्थाम् आह.

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥२७॥

आहारदौर्लभ्येन प्राणात्यये प्राप्ते सर्वान्नानुमतिः श्रूयते, नतु आहार-
सुलभत्वे. यतः छान्दोग्योपनिषत्सु चाक्रायणे तथा दर्शनाद् इति अर्थः. एवञ्च
ज्ञानिनोऽपि अनापदि विहितत्यागः चित्तमालिन्यं जनयति इति सत्त्वशोधक-
शमादिकम् अवश्यम् अनुष्ठातव्यम् इति अर्थः ॥२७॥

अबाधाच्च ॥२८॥

आपदि सर्वान्नभक्षणेन चित्तदोषासम्भवाद् ज्ञाने बाधाभावाच्च न दोषः
इति अर्थः ॥२८॥

अपि स्मर्यते ॥२९॥

आपदि अविदुषोऽपि दुष्टान्नभक्षणे पापाभावो, “जीवितात्ययमापन्न”
(मनुस्मृ.१०।१०४) इत्यादिना स्मर्यते यत्र तत्र विदुषः तथान्नभक्षणे दोषाभावे किं
वक्तव्यम् इति अर्थः. यतः तस्य ज्ञानाग्निरेव दोषसत्त्वेऽपि नाशको अस्ति इति
भावः ॥२९॥

शब्दश्चातोऽकामकारे ॥३०॥

यतो ज्ञानिनो ज्ञानाग्निरेव सर्वकर्मदहनसमर्थो अतः तस्य पूर्णदशायां
यथेष्टाचरणेऽपि न दोषः. परन्तु साधनदशायां कामकारनिवर्तकः शब्दः,
“एवंवित् शान्तो दान्तः”(बृहदा.उप.४।४।२३) इत्यादिरूपः श्रूयते. अतः
साधनदशायां शमदमाद्यनापदि शिष्टान्नभक्षणं सर्वथा तेन अनुष्ठेयम् इति
भावः ॥३०॥

ननु “ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि” (भग.गीता ४।३७) इति स्मृत्या ज्ञानस्य
सर्वकर्मनाशकत्वकथनाद् जातज्ञानस्य आश्रमकर्माणि न कर्तव्यानि इति आशङ्क्य
आह.

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥३१॥

यथा अनापदि शिष्टान्नभक्षणमेव कर्तव्यं, तथा विहितत्वाद् आश्रम-
कर्मापि कर्तव्यम् इति अर्थः. अन्यथा विहितत्यागजनितदोषेण चित्तमालिन्यं
स्याद् इति भावः ॥३१॥

ननु कृतस्यापि कर्मणो ज्ञानेन नाशात् किमर्थम् अपार्थकर्म* ज्ञानिना कर्तव्यम् इति आशङ्क्य आह.

सहकारित्वेन च ॥३२॥

शमदमादीनां ज्ञानान्तरङ्गसाधनानां सहकारीणि आश्रमकर्माणि. अतः आश्रमकर्मरहितैः शमदमादिभिः ज्ञानं स्थिरीकर्तुम् अशक्यम् अतः तान्यपि कर्तव्यानि इति अर्थः ॥३२॥

एवं ज्ञानमार्गीयाणां ज्ञानस्थैर्यसाधनानि उक्त्वा भक्तिमार्गीयाणां भक्तिसाधनानि श्रवणादीनि अवश्यकर्तव्यानि इति आह.

सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् ॥३३॥

यद्यपि भक्तानां श्रवणकीर्तनादीनि कर्तव्यान्येव, तथापि वर्णाश्रमधर्मादिसाधनानां श्रवणादीनाञ्च युगपद् उपस्थितौ सर्वथापि तएव श्रवणादयएव कर्तव्याः. “नानुध्यायेद् बहून् शब्दान्” (बृहदा.उप.४।४।२१), “अन्या वाचो विमुञ्चथ” (मुण्डकोप.२।२।५) इति लिङ्गात्. “शृण्वन्ति गायन्ति” (भाग.पुरा.१।५।११) इत्यादिस्मृतिलिङ्गाच्च इति अर्थः ॥३३॥

अनभिभवं च दर्शयति ॥३४॥

युगपद् उपस्थितौ प्राधान्येन भगवद्धर्माएव कर्तव्याः इत्यत्र गमकान्तरम् उच्यते. यतः, “सर्वं पाप्मानं तरति” (बृहदा.उप.४।४।२३) इत्यादिश्रुतिः कर्माकरणजदोषैः भक्तस्य अनभिभवं दर्शयति इति अर्थः ॥३४॥

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥३५॥

भगवद्धर्मेभ्यः आश्रमधर्माः न्यूनाः इत्यल्पम् उच्यते. अपितु तद्दृष्टेः, तस्मिन् भगवति दृष्टिः अन्यभावरहित्यपूर्वकं भगवद्भावो व्यसनावस्था इति यावत् सा विद्यते यस्य तस्य वर्णाश्रमधर्मा अन्तरा फलप्राप्तौ *बाधका इति अर्थः. व्यसनावस्थापन्नस्य भक्तस्य निरन्तरं भगवद्भावनायुक्तत्वेन भगवद्धर्म-कर्मकरणयोः *युगपत्स्थित्यसम्भवाद् यौगपद्ये कर्मणां त्यागः आवश्यकः. अतएव तादृशव्यसनावस्थापन्नाः भक्ताः निरपेक्षाः इति उच्यन्ते. तान् उद्दिश्यैव, “मद्भक्तो वानपक्षेकः सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा” (भाग.पुरा.११।१८।२८) इति भगवता उक्तम्. सापेक्षाअपि भक्ताः द्विविधाः, स्वार्थं फलापेक्षाः

*‘अपार्थकम्’. + ‘व्यवधायका’.

लोकसंग्रहापेक्षाश्च. व्यसनदशापन्नानां स्वार्थापेक्षा न अस्त्येव. लोके विषमदृष्टेः
अभावाद् लोकसंग्रहापेक्षापि न अस्ति. अतः तेषां सर्वथा निरपेक्षत्वम् ॥३५॥

अपि स्मर्यते ॥३६॥

अपिशब्देन आश्रमधर्माणाम् अन्तरायत्वे किं वाच्यं, यतो
ज्ञानान्तरङ्गसाधनानां वैराग्यादिनामपि अन्तरायत्वं न ज्ञानं नच वैराग्यम् इत्यादिना
स्मर्यते ॥३६॥

ज्ञानादिभ्यो भक्तेः साधनतः उत्कर्षम् उक्त्वा फलतोऽपि उत्कर्षम् आह.

विशेषानुग्रहश्च ॥३७॥

ज्ञान्यपेक्षया भक्ते विशेषानुग्रहः, “अहं भक्तपराधीनः”
(भाग.पुरा.९।४।६३) इत्यादिना स्मर्यते ॥३७॥

भक्त्युत्कर्षकथने⁺⁺ फलितार्थम् आह.

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ॥३८॥

अतः पूर्वोदाहृतश्रुतिभ्यः इतरद् मुक्तेरपि भक्तिमार्गतदीयत्वमेव
ज्यायः. हेत्वन्तरमपि आह. लिङ्गाच्च इति. मुक्तानां देहेन्द्रियाद्यभावेन केवलम्
आत्मस्वरूपेणैव ब्रह्मानन्दानुभवः. भक्तानान्तु अलौकिकदेहेन्द्रियादिभिः
सर्वोत्कृष्टभजनानन्दानुभवः इति तदीयत्वमेव सर्वोत्कृष्टम् इति अर्थः ॥३८॥

ननु भक्तिमार्गस्यापि मोक्षसाधनत्वेन तत्र तदीयत्वस्य साधनोत्कृष्टा-
वस्थारूपत्वेन मोक्षान्तरङ्गसाधनत्वमेव. एवञ्च तदीयत्वं न सर्वोत्कृष्टम् इति
आशङ्क्य आह.

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः ॥३९॥

तद्भूतस्य पुष्टिमार्गे तदीयत्वं प्राप्तस्य जैमिनेरपि अतद्भावः
तद्भावराहित्यं न कदाचिदपि. दृढतया कर्ममार्गनिरूपकत्वेन भक्तिसम्बन्धा-
भावसूचनार्थं जैमिनेः ग्रहणम्. एवञ्च अन्यस्य भक्तिलेशवतः का वार्ता, यदि
भगवत्कृपया जैमिनेरपि तदीयत्वं स्यात् तदा तद्भावतिरोधानं कदापि न
भवतीति, न तदीयत्वस्य मोक्षसाधनत्वशङ्कालेशोऽपि इति अर्थः. तत्र नियमादयो
हेतवः. “सदा पश्यन्ति सूरयः” (सुबालोप.६।१) इति ‘सदा’पदोक्त्या भक्तानां
भगवद्दर्शनं नित्यमेव इति नियमः उक्तः. “सोऽश्नुते” (तैत्ति.उप.२।१) इति

+ ‘युगपदुपस्थिति सम्भवात्’. ++ ‘कथनेन’.

श्रुत्या मुक्तस्य ब्रह्मस्वरूपानुभवः उच्यते. सच वरणैकसाध्यः इति तदीयत्वस्य फलरूपत्वात् साधनरूपाभावः उक्तः. फलं हि साधनाद् उत्तमं भवति. तदीयत्वापेक्षया अन्यस्य उत्कृष्टस्य अभावादपि न तदीयत्वस्य निर्विशेष-
मोक्षफलकत्वम् इति अर्थः ॥३९॥

ननु ध्रुवादिभक्तानां ध्रुवादिलोकसम्बन्धिभोगस्य भगवता दत्तत्वात् भगवदीयत्वस्य फलं ब्रह्मादिलोकाधिकारएव इति आशङ्क्य आह.

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ॥४०॥

भगवदीयस्य भगवान् आधिकारिकफलं न ददाति. कुतः. “आब्रह्म-
भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन” (भग.गीता ८।१६) इति स्मृतिवाक्येन तत्र पतननिरूपणात्. किञ्च तादृशभक्तस्य निरन्तरं भक्तिरसानुभवेन आकाङ्क्षाया अपि अभावेन तादृशफलस्य अयोगाद् असम्बन्धादपि न ददाति इति अर्थः. ध्रुवादीनान्तु कार्यविशेषार्थं तदिच्छानुरोधेन च दानं, न एतावता सर्वभक्तेभ्यः तद्दानम् इति नियमः ॥४०॥

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥४१॥

एके भक्ताः आधिकारिकफले पतनमात्रं न दोषः, किन्तु उपपूर्वं पतनं भक्तिसम्बन्धाभावाद् इति वदन्ति. परम् अत्र अधिकारसमाप्तौ भगवदनुग्रहाशापि सम्भवति. मुक्तौ तु तदसम्भवाद् महापतनमेव सा इति भावः. एवं मुक्तिस्वरूपं निरूप्य भक्तिमार्गोत्कर्षार्थम् आह. भावम् अशनवत्. भक्तिमार्गे तु साक्षात् प्रभुसम्बन्धाभावेऽपि भगवदानन्दभोगवद् मन्यते. ननु साक्षाद्भगवत्स्वरूपानुभवो जीवस्य न सम्भवति इति आशङ्क्य आह. तदुक्तम्. “सो अश्नुते सर्वान् कामान्,” (तैत्ति.उप.२।१) अत्र ब्रह्म ‘समश्नुते’ (तैत्ति.उप.२।५) इत्यादिश्रुतिषु तथा उक्तम् इति अर्थः ॥४१॥

ननु उत्कृष्ट* भगवद्भावे भगवत्स्वरूपानुभवे वा सम्पन्ने गृहत्यागः कर्तव्यो न वा इति संशये फलस्य सिद्धत्वाद् न कर्तव्यो गृहत्यागः इति प्राप्ते, उच्यते.

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॥४२॥

उभयथापि भगवद्भावमात्रे स्वरूपानुभवे वा गृहाद् बहिर्गमनं त्यागः

*‘उत्कृष्ट’.

कर्तव्यः. “त्वं तु सर्वं परित्यज्य” (भाग.पुरा.११।७।६) इति स्मृतेः उद्धव-
विदुरादीनां तथैव आचाराच्च इति अर्थः ॥४२॥

ननु एवं पुष्टिमार्गीयफलस्य त्यागात्मकसाधनजन्यत्वम् आयाति इति
आशङ्क्य आह.

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥४३॥

पुष्टिभक्तस्य स्वामिनो भगवतएव फलश्रुतेः न साधनत्वेन विहितत्वेन
च त्यागः कर्तव्यः. *साधनदशायां गृहादीनां भगवद्भावबाधकत्वभानेन अर्थात्
तेषां त्यागो भवति इति ज्ञेयम्. अत्रेः विष्णोः अवतारत्वेन भक्तिमार्ग-
सिद्धान्तज्ञत्वात् तन्नाम उक्तम् ॥४३॥

आर्त्विज्यम् इत्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ॥४४॥

औडुलोमिः आचार्यस्तु जीवानां भगवल्लीलार्थमेव प्रकटितत्वेन
लीलोपयोगस्य तेषां त्यागं विना असम्भवाद् भक्तस्य सर्वत्यागपूर्वकं
यद्भगवन्निकटगमनं तद् आर्त्विज्यम् ऋत्विक्कर्मैव मनुते. यथा ऋत्विजां कर्मणि
प्रयासो यजमानकार्यार्थं तथा अत्रापि भगवल्लीलासम्पादनार्थमेव तेषां त्यागादि-
कम् इति अर्थः. भक्तानाम् ऋत्विक्त्वनिरूपणस्य तात्पर्यान्तरम् आह. तस्मै हि
परिक्रीयते. तस्मै यजमानाय स्वकार्यकारणार्थम् ऋत्विक् परिक्रीयते वरणेन
स्वीक्रीयते इति अर्थः. एवं प्रकृते स्वीय-तल्लीलासम्पादनार्थं वृताः भक्ताः
तल्लीलानुभवविरोधिगृहादिकं त्यक्त्वा भगवन्निकटे गच्छन्ति इति अर्थः ॥४४॥

श्रुतेश्च ॥४५॥

“भक्तिरस्य भजनम्” (भक्ति.सू.१।३) इत्यादिश्रुतिरूपप्रमाणादपि
अयं सिद्धान्तो ज्ञेयः ॥४५॥

ननु वरणश्रुतिः भगवत्प्राप्तौ वरणातिरिक्तसाधनान्तरं निषेधति. “तस्माद्
एवंविद्” (बृहदा.उप.४।४।२३) इत्यादिश्रुतिस्तु साधनान्तराणि निरूपयति. एवं
श्रुतिविप्रतिषेधे प्राप्ते मर्यादापुष्टिभेदेन तयोः व्यवस्थाम् आह.

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वृत्तौ विध्यादिवत् ॥४६॥

जीवानां भगवदङ्गीकारो मर्यादा-पुष्टिभेदेन द्विधा. तत्र श्रुतौ
शमदमादिसहकार्यन्तरविधिः मर्यादापक्षेण उच्यते. पुष्टिमार्गे तु वरणातिरिक्त-

+‘किन्तु व्यसनदशायाम्’.

साधनानपेक्षणात् तद्वतो भगवद्विषयकपरमस्नेहवतः तृतीयं साधनं मानसिकम्. कायिक-वाचनिक-मानसिकभेदेन त्रिविधसाधनेषु मानसिकस्य अभ्यर्हितत्वात् तद्ग्रहणम्. तथाच तादृशस्य भक्तस्य मानसिकसाधनमपि विध्यादिवद् ज्ञेयम्. यथा स्नेहवतो भक्तस्य भगवत्कार्ये प्रवृत्तौ विधिः अर्थवादो वा अप्रयोजकः. तस्य स्वतएव प्रवृत्तिसम्भवात्. तथा “मनसैव आप्तव्यम्” (कठोप.२।१) इति श्रुतिबोधितं मानसिकं साधनं भगवद्भावाप्रयोजकम् इति अर्थः. भगवदङ्गीकारबलेन तस्य स्वतएव भगवत्प्राप्तिसम्भवात्. भगवति मनोनिवेशस्तु भावस्वाभाव्यादेव, नतु विधिबलेन. एवं मानसिकसाधनस्य पुष्टौ अप्रयोजकत्व-कथनेन कायिक-वाचनिकयोः अप्रयोजकत्वम् अर्थादेव सिद्धम् ॥४६॥

ननु “बहिस्तूभयथा” (ब्रह्मसू.३।४।४२) इत्यादिना पूर्णभावयुक्तस्य गृहत्यागावश्यकत्वम् उक्तम्. तच्छान्दोग्योपनिषदुक्तोपसंहारविरुद्धम्. तत्र अन्ते, “कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानः” (छान्दो.उप.८।१५।१) इति गृहस्थाश्रमस्यैव कथनाद् इति आशङ्क्य तत्तात्पर्यम् आह.

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥४७॥

त्यागे वाङ्मनसयोरेव भगवति विनियोगः. गृहस्थाश्रमेतु कुटुम्बसाहित्येन सेवाकरणात् सर्वेन्द्रियाणां भगवद्विनियोगः, परिजनकृतार्थता च अधिका सम्पद्यते इति गृहिणोपसंहारः कृतः इति अर्थः. मर्यादामार्गीय-गृहिव्यवच्छेदार्थं तुः. पूर्वोक्तत्यागावश्यकत्वन्तु व्यसनदशायामेव. तादृशाधिकारस्य दुर्लभत्वेन पूर्वं गृहएव स्थित्वा भजनं कर्तव्यम् इत्यत्र उक्तम्. पूर्णाधिकाराभावे. त्यागधर्माणाम् अनिर्वाहात् कर्मत्यागेन विकर्मजदोषप्रसक्तेश्च ॥४७॥

किञ्च.

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥४८॥

सन्न्यासिनो यथा मौनानीहादयो धर्माः उपदिष्टाः तथा अत्र गृहिणः इतरेषामपि उपदेशः कृतः. “आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्य” (छान्दो.उप.८।१५।१) इत्यादिना. अतः सन्न्यासिधर्मापेक्षया अत्र अधिकधर्माणाम् उपदेशाद् गृहिणोपसंहारो युक्तः ॥४८॥

ननु तत्र “शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानः” (छान्दो.उप.८।१५।१) इति कथनात्. कथं सर्वेन्द्रियाणां भगवत्सेवापरत्वं सम्भवति इति आशङ्क्य आह.

यतो भगवता सह अन्वयं सम्बन्धं प्राप्य वर्तते. अतो गृहस्थाश्रमधर्मैः वेदाध्ययनादिभिः भगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भगवद्भजनं कुर्याद् इति आशयेन श्रुतौ ते धर्माः उक्ताः इति अर्थः ॥४९॥

वैदिककर्मकरणे तात्पर्यम् उक्त्वा लौकिकतत्करणसमयम् आह

ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥५०॥

यथा भगवद्भावगोपनार्थं वैदिककर्मकरणं, तथा लौकिकस्यापि अनावश्यकत्वात् करणं, परन्तु भगवत्कार्याप्रतिबन्धेन इति आह “ऐहिकम् अप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्”. प्रस्तुतं प्रभोः भजनं तस्याः प्रतिबन्धेन ऐहिकम् अपत्योत्पादन-तत्संस्कारादिकं कार्यम्. ननु तेषां बाधएव अस्तु इति आशङ्क्य आह. तद्दर्शनात्. “धार्मिकान् विदधद्” (छान्दो.उप.८।१५।१) इति श्रुतौ धार्मिकपुत्रविधानदर्शनाद् गृहस्थाश्रमतद्धर्माणां बाधाभावेऽपि भगवत्सेवा-समयाप्रतिबन्धेन तेषां करणम् इति अर्थः ॥५०॥

ननु एवंप्रकारेण भजनं कुर्वतो भक्तिमार्गीयस्य भगवद्रसानुभवात्मकं फलं भवति, न वा इति आशङ्क्य आह.

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ॥५१॥

एवम्भूतस्य गृहिणो जीवन्मुक्तस्य मुक्तेः यत्फलं भगवद्रसानुभवः तस्य अनियमएव. अत्र हेतुम् आह. तदवस्थेत्यादि. “न स पुनरावर्तते” (निरा. उप.३३) इति श्रुत्या मोक्षावस्थायाएव नियमः क्रियते. नतु पुष्टिमार्गीयफलस्य. जीवन्मुक्तिदशातु तस्य औत्सर्गिक्येव इति भावः. अतः तथा इति अर्थः. अत्र भक्तस्य भगवद्रसानुभवानियमः उक्तः, सतु भक्तिमार्गीयसर्वाभिप्रायेण. तत्र शुद्धपुष्टिभक्तस्य परमानुग्रहभाजनत्वाद् मुक्तेः यत्फलं भगवद्रसानुभवः तदेव तादृशसाधनसम्पत्तौ नियमेन भवति. येषां भक्तानां शुद्धपुष्टिमार्गीयसाधनं न सम्पन्नम्, तेषान्तु साधनाभावादेव न विलक्षणभगवत्सम्बन्धात्मकं फलं भवति, मोक्षस्तु भवत्येव सर्वेषाम् इत्यभिप्रायेण मुक्तिफलानियमः उक्तो, नतु शुद्धपुष्टिसाधनसम्पत्तावपि न मुख्यं फलं भवति इत्यभिप्रायेण इति ज्ञेयम् इति.

यद्वा, ननु एवंरीत्या भक्तिमार्गीयगृहिणो भगवद्रसानुभवात्मकं फलम् एतज्जन्माव्यवधानेन भवति न वा इति आशङ्क्य आह. “एवं मुक्तिफलानियमः

तदवस्थावधृतेः तदवस्थावधृतेः”. एवम्भूतस्य गृहिणो जीवन्मुक्तस्य मुक्तेः यत्फलं भगवद्रसानुभवः तस्य अनियमएव. एतज्जन्मोत्तरं जन्मान्तरव्यवधानेन वा इति अनियमः इति अर्थः. जन्मान्तरव्यवधानन्तु तेषां तदिच्छानुरोधिभगवदिच्छातो भवति. तादृशभक्तानामेव तादृशी इच्छा भवति, यद् अस्माकं जन्मान्तरं भवतु. तेन अस्माकं भगवद्भजनरसानुभवो भवतु. लोकानां शिक्षणेन अस्माभिः कृतार्थता सम्पादनीया तदुपरि अनुग्रहोऽपि सम्पद्यताम् इत्याकारक-तदिच्छानुरोधेन भगवदिच्छया तेषां जन्मान्तरं भवति. परं तज्जन्म मुक्तिरूपं दुःखाऽस्पृष्टं, नतु बन्धरूपम्. “न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानां च विद्यते. विष्णोरनुचरत्वं च मोक्षमाहुर्मनीषिणः” (.....). यथा सौमित्रिभरतौ इति पादमुक्तेः. आर्तभक्तानान्तु एतादृशी इच्छा न भवति, तेषां भगवद्विप्रयोगस्य सोढुम् अशक्यत्वाद् इति ज्ञेयम्. अनियमे हेतुम् आह. तदवस्थावधृतेः तदवस्थावधृतेः. “न स पुनरावर्तते” (निरा.उप.३३) इति श्रुत्या मोक्षावस्थायाएव नियमः क्रियते, नतु पुष्टिमार्गीयफलस्य. जीवन्मुक्तदशातु तस्य औत्सर्गिक्येव इति भावः. अतः तथा इति अर्थः. आवृत्तिः अध्यायसमाप्तिसूचिका ॥५१॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तौ मरीचिकाख्यायां तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः.

॥समाप्तः च अयं तृतीयो अध्यायः॥

॥ चतुर्थो अध्यायः ॥

प्रथमः पादः

तुरीये अध्याये फलं विचारयन् तस्य अन्तरङ्गसाधनरूपश्रवणादिषु विचारयति. तत्र, “आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः” (बृहदा.उप.२।४।५) इत्यनेन विहितं श्रवणादिकं सकृत् कर्तव्यम् असकृद् वा इति संशये सकृत्करणेऽपि शास्त्रार्थसम्पादनसम्भवात् सकृदेव कर्तव्यं, न असकृद् गौरवाद् इति प्राप्ते, उच्यते.

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥१॥

श्रवणादीनाम् आवृत्तिरेव श्रुतितात्पर्यविषयः. कुतः. असकृद् उपदेशात्. छान्दोग्ये श्वेतकेतूपाख्याने, “ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्” (छान्दो.उप.

६।८।७) इत्यारभ्य “तत्त्वमसि” (छान्दो.उप.६।८।७) इत्यन्तोपदेशवाक्यस्य नवकृत्वः उपदेशात् ॥१॥

अत्रैव प्रमाणान्तरम् आह.

लिङ्गाच्च ॥२॥

श्रुतेः अनुमापकत्वात् स्मृतिः लिङ्गम् इति उच्यते. तथाच, “यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः, तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम्” (भाग.पुरा.११।१४।२६) इति स्मृतेरपि श्रवणादीनाम् आवृत्तिरेव फलसाधिका इति ज्ञेयम्. अत्र चक्षुः यथैव इति दृष्टान्तेनापि श्रवणादीनाम् आवृत्तेः दृष्टद्वारैव फलसाधकत्वं सूचितम्. अतः श्रवणादिकम् असकृत् कर्तव्यम् इति सिद्धम् ॥२॥

एवं श्रवणादीनाम् आवृत्तौ ज्ञानिनां फलं विचारयति.

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥३॥

ज्ञानिनो हि भगवन्तम् आत्मरूपेण उपासते. एवं निरन्तरम् उपासने क्रियमाणे अनेकजन्मभिः तेषां हृदये तथैव भगवान् स्फुरति. तदा स्वानन्दांशस्यापि आविर्भावात् स्वाभेदेनैव तम् अनुभवन्ति. एवं स्थितौ किञ्चित्कालविलम्बेन प्रारब्धक्षये तत्रैव प्रविशन्ति. एतदेव आह आत्मा इतितु उपगच्छन्ति. आत्मेति उपासनात् तमेव उपगच्छन्ति प्राप्नुवन्ति इति अर्थः. एतादृशाः सर्वोपकारिणः इति परार्थमपि ज्ञानं भगवता तेषु दत्तमिति उत्तमाधिकारिण्युपस्थिते ज्ञानम् उपदिशन्त्यपि इत्युपदेशोऽपि तेषां फलानुभवमध्यपातीति उपदिशन्ति च इति उक्तम् ॥३॥

ननु ब्रह्मणः आत्मत्वेन ज्ञानम् उपासनार्थं, गुरौ भगवत्वेन ज्ञानमपि इति तस्य फलत्वम् अनुपपन्नम् इति आशङ्क्य आह.

न प्रतीकेन हि सः ॥४॥

प्रतीकेन अन्यस्य अन्यरूपेण उपासनेन सः मोक्षो न भवति. अतस्मिन् तद्बुद्धिरूपे प्रतीके भेदज्ञानस्य विद्यमानत्वात्. ‘भेददृष्ट्याभिमानेन’ इति वाक्ये भेददर्शनस्य संसारप्राप्तिफलकत्वनिरूपणात् ॥४॥

ननु “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” (छान्दो.उप.३।१४।१), “आत्मैवेदं सर्वम्” (छान्दो.उप.७।२५।२) इत्यादौ सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिः प्रतीकात्मिका मोक्षसाधनत्वेन उक्ता. अतः प्रतीकोपासनस्य निर्विशेषब्रह्मप्राप्तिलक्षणमोक्षस्य साक्षाद्

असाधनत्वकथनम् अनुपपन्नम् इति आशङ्क्य आह.

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥५॥

सर्वस्य वस्तुतो ब्रह्मात्मकत्वेन तत्र ब्रह्मदृष्टेः प्रतीकत्वाभावेन ज्ञानाधिकारोत्कर्षात् सा स्वतएव भवति इति अर्थः. पूर्वोक्तवाक्येषुतु अनुवादमात्रं, न विधानम्. अतः प्रतीकोपासनस्य न साक्षान्मुक्तिसाधनत्वम् इति सम्यगेव ॥५॥

ननु छान्दोग्ये, प्राचीनयोग्यकं “त्वमात्मानम् उपास्से” (छान्दो. उप.५।१३।१) इति “आदित्यमेव भगवो राजन्निति होवाच” (तत्रैव) इति, पुनः इन्द्रद्युम्नप्रश्ने, “वायुमेव भगवो राजन्” (तत्रैव ५।१४।१) इत्यादौ आकाशाप-प्रभृतयः आत्मत्वेन उपासनाविषयाः उक्ताः. तत्रैव “असौ वा आदित्यो देवमधु” (तत्रैव ३।१।१) इति उक्त्वा अग्रे उच्यते, “य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेति उपास्ते” (तत्रैव ३।१९।४) इति. यद्यपि, “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” (तत्रैव ३।१४।१) इति श्रुतौ सर्वानुवादेन ब्रह्मत्वबोधनाद् न प्रतीकत्वं, तथापि अत्रतु प्रत्येकम् आदित्यादौ ब्रह्मत्वोक्तेः प्रतीकत्वमेव. तथोपासनेन फलकथनात् प्रतीकोपासनाया अपि फलसाधकत्वं सूचितम्. एवञ्च पूर्वत्र “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” (तत्रैव ३।१४।१) इति वाक्ये वस्तुतः सर्वस्य ब्रह्मत्वं न अभिप्रेतं, किन्तु तथा प्रतीकोपासनम्. एवं तस्यापि फलदर्शनात् प्रतीकोपासनस्य फलासाधकत्वकथनम् अनुपपन्नम् इति आशङ्क्य आह.

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥६॥

भगवतः स्वरूपभूतशक्त्यात्मकादित्यादौ या ब्रह्मत्वमतयः उक्ताः ताः साकारव्यापकस्य ब्रह्मणः प्रत्येकम् अङ्गमपि तथोपासितं फलदम् इति ज्ञापनार्थम्. युक्तञ्च एतत्. “ब्रह्मण आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादेः” (नारदपञ्चरात्रे.) अङ्गमपि तादृशम् इति न अत्र प्रतीकोपासनम् इति अर्थः ॥६॥

एवं सूत्रषट्केन श्रवणाद्यावृत्तौ ज्ञानिनां सर्वत्र जगति प्रत्येकपदार्थेषु च भगवद्रूपत्वेन भानलक्षणं फलम् उपपाद्य अग्रिमसूत्रषट्केन पुष्टिभक्तानां भगवत्-स्वरूपाविर्भावात्मकं फलं तत्प्राप्तौ साहजिकम् उत्कटस्नेहात्मकं साधनञ्च आह.

आसीनः सम्भवात् ॥७॥

उत्कटस्नेहात्मकसाधनसम्भवाद् भगवान् तदधीनः सन् तद् अग्रे आसीनो भवति ॥७॥

एवं बहिःप्राकट्यम् उक्त्वा आन्तरपि तद् आह.

ध्यानाच्च ॥८॥

उत्कटभावेन निरन्तरस्मृतिरूपध्यानादपि हृदि प्रकटः सन् आसीनो भवति इति अर्थः ॥८॥

एवम् एतादृशभक्तेच्छयैव बहिः अन्तश्च भगवत्प्राकट्यम् इति उक्त्वा लीलाविष्करणमपि भक्तभावाधीनम् इति आह.

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥९॥

भक्तेच्छाम् अपेक्ष्य अचलत्वं, चकारात् चलत्वमपि इति अर्थः ॥९॥

स्मरन्ति च ॥१०॥

केचन भक्ताः स्वरूपदर्शननिरपेक्षाः तत्स्मरणानन्दम् अनुभवन्तः तेनैव विस्मारितापवर्गान्तफलाः तिष्ठन्ति. चकारात् श्रवणकीर्तनादिपराणां ग्रहणम्. तद् उक्तम्. “अथ ह वाव तव महिमामृतसमुद्रविपुषाऽसकृल्लीढया स्वमनसि निष्यन्दमानानवरतसुखेन विस्मारितदृष्टश्रुतसुखलेशाभासाः परमभागवता एकान्तिनः” (भाग.पुरा.६।९।३९) इति. अनेन श्रवणजन्यभगवत्परत्वम् उक्तम्. अथवा “अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज, साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर् भक्तजनप्रियः” (भाग.पुरा.९।४।६३) इत्यादिस्मृतयः पूर्वोक्ते भगवतो भक्तवश्यत्वे प्रमाणत्वेन उक्ता एतेन सूत्रेण ॥१०॥

ननु बहिर्भगवदाविर्भाववतो भक्तस्य अन्तःसदाविर्भाववतश्च न्यूनाधिकभावो अस्ति, न वा इति विषये अन्तर्भगवदाविर्भावस्य उत्कृष्टत्वात् तद्वतो भक्तस्य आधिक्यम् इति प्राप्ते, उच्यते.

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥११॥

यत्र भक्तेषु एकाग्रता एकस्मिन् प्रकटे भगवत्स्वरूपे ग्राहकचित्तधारा, नतु अन्तर्बहिर्विज्ञानं तत्र भक्तेषु बहिः भगवदाविर्भावयुतस्य(क्तस्य) अन्तस्तदाविर्भावयुतस्य च भावे तद्विषये स्वरूपे च विशेषाभावाद् न्यूनाधिकभावो न अस्ति इति अर्थः. तथाच भक्तेषु एकाग्रतैव आधिक्यसम्पादिका, नतु बहिराविर्भावो अन्तराविर्भावो वा इति भावः ॥११॥

ननु पूर्वम् अन्तःप्रकटस्य भगवतः उत्कटभावाद् यदा बहिः आविर्भावः तदा भक्तस्य पूर्वम् इदं स्वरूपम् अन्तः अन्वभूवम् अधुना बहिः अनुभवामि इति

ज्ञानं भवति, न वा इति संशये अन्तरनुभव-बहिरनुभवयोः अत्यन्तवैलक्षण्यात् तादृशज्ञानं भवत्येव इति प्राप्ते, उच्यते.

आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम् ॥१२॥

“प्रायणं हि सतामहम्” (भाग.पुरा.११।११।४८) इति वाक्यात् प्रायणं नाम परमपुरुषार्थरूपं पारलौकिकं फलम् उच्यते. एवं सति प्रायणं मर्यादीकृत्य तेषां सैव अवस्था नित्या. भगवत्स्वरूपे आन्तरत्व-बाह्यत्वानुसन्धानरहिताः केवलस्वरूपैकनिष्ठाः तिष्ठन्ति इति अर्थः. ननु प्रायणानन्तरं भगवति सायुज्यं भविष्यति इति आशङ्क्य आह. तत्रापि हि दृष्टम् इति. तत्रापि प्रायणेऽपि पूर्ववद्भगवता समम् आलापाऽवलोकन-श्रीमच्चरणकमल-स्पर्शादिकं दृष्टमेव तस्य फलं भवति, नतु अपूर्वं सायुज्यादिकम्. यतो अयं कृपाविषयो अतो युक्तमेव तथा इति हि शब्दार्थः ॥१२॥

“आवृत्तिरसकृदुपदेशाद्” (ब्रह्मसू.४।१।१) इति सूत्रषट्केन पूर्वं ज्ञानिनां ज्ञानमिश्रभक्तानाञ्च श्रवणाद्यावृत्त्या सर्वत्र जगति भगवद्रूपत्वेन ज्ञानम् उक्तम्. जातज्ञानानां तेषामेव अधुना सूत्रत्रयेण जीवन्मुक्तिदशा निरूप्यते. तत्र मर्यादाभक्तेः ज्ञानपूर्वकत्वनियमाद् ज्ञानात् पूर्वं सञ्चितकर्मणां सत्त्वात् तदुत्तरमपि कर्मकरणदर्शनाच्च तेषां कर्मणां भोगैकनाशयत्वनियमाद् मुक्तिः अनवसरपराहता इति आशङ्कायाम् आह.

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥१३॥

तस्य ब्रह्मज्ञानस्य अधिगमे प्राप्तौ सत्यम्. उत्तराघस्य अश्लेषः पूर्वाघस्य विनाशः च भवति इति अर्थः. कुतः. तद्व्यपदेशात्. “यथेषीका-तूलम् अग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते” (छान्दो.उप.५।२।४।३) इति श्रुतेः. “यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा” (भग.गीता ४।३७) इति स्मृतेश्च इति अर्थः ॥१३॥

ननु पापस्य शास्त्रे निन्दितत्वात् तन्निवृत्तिः ज्ञानेन भवतु, सुकृतस्यतु शास्त्रोक्तसाधनजन्यत्वात् तन्नाशो भोगेनैव इति तथैव मुक्तिः अनवसरपराहता इति विशेषाशङ्कायां पूर्वोक्तन्यायमेव अतिदिशति.

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥१४॥

इतरस्य पुण्यस्यापि एवं पूर्वस्य अश्लेषः उत्तरस्य विनाशः इति अर्थः.

“उभे हैवैष तरति” (बृहदा.उप.४।४।२२) इति श्रुतेः, “ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि” (भग.गीता ४।३७) इति स्मृतेश्च तद्व्यपदेशाद् इति अर्थः. ननु तादृशज्ञानिनो मर्यादामार्गीयत्वात् कदाचिद् भरत-जयादिवत् सङ्गदोषेण भगवद्भावात् पाते सति विहित-निषिद्धकर्मसम्बन्धे पूर्वोक्तदोषतादवस्थ्यम् इति आशङ्क्य सूत्रैकदेशेन परिहरति. पातेतु इति. एवम् असंश्लेषः इति अनुषज्ज्यते. मर्यादाभक्तौ भगवद्भावात् च्युतिः पात इति उच्यते. अप्यर्थे तुः. तथाच, “न कर्हिचिन् मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति” (भाग.पुरा.३।२५।३८) इति वाक्यात् तेषां पातो न सम्भवति. तथापि भगवदिच्छया मर्यादामार्गीयत्वाद् भगवान् चेत् तथा करोति, तथापि उत्तरसुकृत-दुष्कृतकर्मणोः असंश्लेष एव इति अर्थः ॥१४॥

ननु देहस्य कर्मजत्वाद् भक्तिमिश्रज्ञानेन कर्मनाशाद् देहनाशे सति ज्ञानिनः प्रवचनानुपपत्तिः जिज्ञासोश्च तादृशगुरोः अभावेन गुरुरूपसत्याद्यसम्भवेन मार्गोच्छेदापत्तिश्च इति आशङ्क्य परिहरति.

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥१५॥

पूर्वे पूर्वसूत्राभ्यां ज्ञाननाशयत्वेन प्रोक्ते सुकृत-दुष्कृतकर्मणी ते अनारब्धं भोगायतानाख्यं कार्यं याभ्यां तादृश एव नश्येते, न अशेषो ननु ज्ञानं सर्वकर्मदहने असहायशूरम् इति पूर्वम् उक्तं, तत् कथम् उच्यते अनारब्धकार्य-कर्मनाशकम् इति. तत्र आह. तदवधेः. तत् ज्ञानेन आरब्धकार्यकर्मादहनम् अवधेः कार्यमात्रस्य पूर्वावधिरूपभगवदिच्छातः इति अर्थः. तथाच अखिलकर्म-दहनसर्वसमर्थस्यापि ज्ञानस्य भगवदिच्छया प्रतिबन्धात् प्रारब्धकार्यविषये सङ्कोचः इति अर्थः ॥१५॥

ननु जीवन्मुक्तानां प्रारब्धकर्मभोग एव कर्तव्यो, नतु अन्यदपि अग्निहोत्रादि. दृश्यते च जनकादीनां तत्करणाम्. अतः कृतस्य कर्मणः फलावश्यम्भावः इति आशङ्क्य तेषां कर्मकरणप्रयोजनम् आह.

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥१६॥

तुशब्दः पक्षव्यावर्तकः. तेषाम् अग्निहोत्रादिकरणं तत्कार्यायैव प्रारब्धकर्मनाशायैव. तेषाम् अग्निहोत्रादिकारकं प्रारब्धम् अस्ति इति तद्भोगार्थं कर्म क्रियते, नतु अपूर्वफलार्थम्. कुतः. तद्दर्शनात्. “यथाकारी यथाचारी तथा भवति, साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा

भवति, पापः ‘पापेन’ (बृहदा.उप.४।४।५) इति श्रुतिदर्शनात्. एतच्छ्रुत्या पूर्वपुण्यस्य कर्मणो अग्रिमपुण्यकर्मजनकत्वम् उक्तम् इति तद्भोगार्थमेव अग्रिम-कर्मकरणम् इति अर्थः. एवं मर्यादाभक्तस्य मर्यादयैव मोक्षप्रतिबन्धो मर्यादयैव ज्ञानेन तद् नाशः इति निरूपितम् ॥१६॥

पूर्वम्, ‘‘आसीनः सम्भवाद्’’ (ब्रह्मसू.४।१।७) इति सूत्रषट्केन पुष्टिभक्तानां भगवदाविर्भावात्मकं फलम् उक्तम्. अधुना तेषामेव ज्ञानिवैलक्ष्येन भगवत्कृपया भोगं विनैव प्रारब्धाप्रारब्धकर्मनाशपूर्वकं सद्यएव भगवद्भोगात्मकं फलम् उच्यते सूत्रत्रयेण.

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ॥१७॥

एकेषां पुष्टिभक्तानाम् उभयोः प्रारब्धाप्रारब्धयोः भोगं विनैव नाशो भवति. कुतः. अतः श्रुतेः इति अर्थः. यतः कर्मणो ज्ञाननाशयत्वनिरूपिकायाः ज्ञानिनः प्रवचनादिनिरूपणेन ज्ञानानाशयप्रारब्धाख्यकर्माक्षेपकश्रुतेः ‘‘भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यते’’ (ब्रह्मसू.४।१।१९) इत्यादिरूपायाः अन्यापि श्रुतिः पठ्यते. ‘‘तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्’’ (.....) इति ॥१७॥

ननु ब्रह्मज्ञानानाशयस्य प्रारब्धस्य भोगैकनाशयस्य पुष्टिमार्गीये भक्ते कथं कृपया नाशः इत्यसम्भावनां निराकर्तुं कैमुतिकन्यायेन आह.

यदेव विद्ययेति हि ॥१८॥

भगवज्ज्ञानशक्तेः अंशभूता जीवनिष्ठा विद्या. एवञ्च ‘‘यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वा तदेव वीर्यवत्तरं भवति’’ (छान्दो.उप.१।१।१०) इति श्रुत्या भगवच्छक्त्यात्मकविद्यासम्बन्धाद् जीवकृतकर्मणो वीर्यवत्तरत्वं यत्र तत्र साक्षाद् भगवत्कृपया प्रारब्धनाशे किमु वक्तव्यम् इति अर्थः ॥१८॥

एवं पुष्टिमार्गे प्रतिबन्धाभावम् उपपाद्य फलप्राप्तिं निरूपयति.

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यते ॥१९॥

इतरे स्थूललिङ्गशरीरे क्षपयित्वा त्यक्त्वा. अथ भगवल्लीलानुभव-योग्यालौकिकदेहसम्पत्त्यनन्तरं भोगेन सम्पद्यते. ‘‘सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता’’ (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुतेः इति अर्थः ॥१९॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तौ मरीचिकाख्यायां चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः.

॥ द्वितीयः पादः ॥

पूर्वपादान्ते, “इतरे क्षपयित्वा” (ब्रह्मसू.४।१।१९) इत्यनेन पुष्टिभक्तः स्थूललिङ्गशरीरे क्षपयित्वा भगवदानन्दं प्राप्नोति इति उक्तम्. तत्र सर्वेन्द्रियाणां युगपदेव भगवति लयः, प्रणाइया वा इति संशये प्रणाइयैव इति वक्तुं प्रणाडीम् आह.

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥१॥

भक्तस्य उत्कटभावेन भगवदिच्छया भगवदाविर्भावेन तद्दर्शने जाते, “दृग्भ्यां प्रपश्यन् प्रपिबन्निवार्भकश्चुम्बन्निवास्येन भुजैरिवाश्लिषन्” (भाग.पुरा.४।९।३) इति रीत्या सर्वेन्द्रियैः स्वरूपानुभवेच्छायां प्रथमं तेन सह आलापेच्छा भवति. ततो मानसिकभावेन भगवदाविर्भावो जातः इति मनसि प्रभुनैकद्रव्यम् अस्ति इति तेन सम्बन्धे तत्प्राप्तिः भविष्यति इति पूर्वं वाग् मनसि सम्पद्यते लीयते इति अर्थः. कुतः. तद्दर्शनात्. पूर्वोक्तरीत्या तद्दर्शनानन्तरम् एवम्भावजननाद् दर्शनस्य हेतुत्वम्. अतएव छान्दोग्ये “वाङ् मनसि सम्पद्यते” (छान्दो.उप.६।८।६) इति श्रुतिः. दर्शनाभावे वेण्वादिशब्दश्रवणेनापि सर्वेन्द्रियैः स्वरूपानुभवेच्छा जन्यते इति शब्दाच्च इति उक्तम् ॥१॥

अत एव सर्वाण्यनु ॥२॥

अतएव दर्शनात् शब्दाच्च हेतोः सर्वाणि इन्द्रियाणि, अनुवाग्लयानन्तरं मनसि सङ्गतानि भगवदानन्देन सम्पद्यन्ते इति अर्थः ॥२॥

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥३॥

सर्वेन्द्रिययुक्तं मनः प्राणे सम्पद्यते. कुतः. उत्तरात्. श्रुतिवाक्याद् इति अर्थः. “स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वा अन्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयते, एवमेव खलु सौम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वा अन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते” (छान्दो.उप.६।८।२) इति उक्त्वा अग्रे हेतुम् आह, “प्राणबन्धनं हि सौम्य मनः” (छान्दो.उप.६।८।२) इति. अतः तथा इति अर्थः ॥३॥

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥४॥

सः सर्वेन्द्रिययुक्तमनःसहितः प्राणो अध्यक्षे प्रकटे भगवति सम्पद्यते इति अर्थः. कुतः. तदुपगमादिभ्यः. तस्य भगवतः उपगमो अभ्युपगमः पुष्टिमार्गे

अङ्गीकारः. आदिपदाद् भगवद्वशीकरणसमर्थः स्नेहो भगवत्प्राप्ति-
प्रतिबन्धकपदार्थत्यागः तत्प्रसादानुकूलं भजनञ्च सङ्गृह्यते ॥४॥

एवं पुष्टिभक्ते सर्वेन्द्रियलयप्रकारो निरूपितः. ज्ञानिनः, “तदधिगमे”
(ब्रह्मसू.४।१।१३)त्यादिसूत्रत्रयेण जीवन्मुक्तिदशा निरूपिता. अधुना तस्य
इन्द्रियाणां लयो अपेक्षितः इति तल्लये प्रकारान्तरम् आह एकेन सूत्रेण.

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥५॥

मर्यादाभक्तानाम् इन्द्रियाणि भूतेषु लीयन्ते. कुतः. तच्छ्रुतेः. “यत्रास्य
पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं
पृथिवीं शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च
निधीयते” (बृहदा.उप.३।२।१३) इति श्रुतेः ॥५॥

ननु मर्यादामार्गीयौ भक्तो ज्ञानी च भवतः. पूर्वोक्तनिर्णयस्तु
ज्ञानिविषयएव. मर्यादाभक्तन्तु कदाचिद् भगवान् पुष्टौ अङ्गीकरोति इति
आशङ्क्य आह.

नैकस्मिन् दर्शयतो हि ॥६॥

एकस्मिन् ज्ञानिनि नियमेन मर्यादायाम् अङ्गीकारः इति नियमो न, किन्तु
मर्यादाभक्ते ज्ञानिनि च उभयोरेव मर्यादायाम् अङ्गीकारः इति नियमः इति अर्थः.
नतु कदाचिद् मर्यादाभक्तं पुष्टावपि प्रवेशयति इति अर्थः. कुतः. दर्शयतो हि.
यतो याज्ञवल्क्यार्तभागौ तथैव दर्शयतः. तथाहि. “यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्
प्राणा उत्क्रामन्त्याहो न” (बृहदा.उप.३।२।११) इति आर्तभागप्रश्ने
“याज्ञवल्क्यो अत्रैव समवलीयन्ते” (तत्रैव) इति उक्त्वा अग्रे, “यत्रास्य
पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति” (तत्रैव३।२।१३) इत्यारभ्य “रेतश्च निधीयते”
(तत्रैव) इत्यन्तम् उक्तवान्. ततः क्व अयं पुरुषो भवति इति प्रश्ने, उभाभ्यां
विचारितम् उत्तरम् उच्यते “तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुः” (तत्रैव) इत्यादिना.
अत्र प्राणानाम् अत्रैव लयोक्त्या मुक्तविषया इयं श्रुतिः इति युक्तम्. अमुक्तस्य
प्राणलयासम्भवात्. तथाच मुक्तस्य कर्मणि स्थितेः असम्भवात् कर्मशब्देन मर्यादैव
ग्राह्या. तथाच मुक्तिविषयौ ज्ञानिमर्यादाभक्तौ कर्मणि मर्यादायामेव तिष्ठतो, नतु
कदाचित् पुष्टापि इति तयोः अभिप्रायो ज्ञायते. तथाच ज्ञानि-मर्यादाभक्तयोः
उभयोः मर्यादायाम् अङ्गीकारनियमो, नतु एकस्मिन् इति भावः ॥६॥

ननु एवं मर्यादा-पुष्टयोः नियतविषयत्वे किं नियामकम् इति आकाङ्क्षायां तयोः स्वरूपमेव तादृशम् इति आह.

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥७॥

मर्यादामार्गे हि साधनक्रमेणैव मुक्तिः पुष्टिमार्गे तु श्रवणाद्यतिरिक्त-ज्ञानकर्मादिसाधनं विनैव मुक्तिप्राप्तिः इति नियतम्. तद् आह. आसृत्युपक्रमात् समाना. सृतिः जीवानां भगवतः पृथग्भूय संसरणम्. तस्याः उपक्रमम् आरम्भं मर्यादीकृत्य मोक्षपर्यन्तं साधनेनैव मुक्तिः एवरूपा मर्यादा समाना मध्ये न अन्यथा भवति इति अर्थः. एवं पुष्टिमार्गे अमृतत्वं च अनुपोष्य. अत्र उपोषणपदं साधनमात्रोपलक्षकम्. तथाच साधनमात्रम् अकृत्वा केवलकृपया अमृतत्वमपि तन्मार्गे नियतम् इति अर्थः ॥७॥

ननु एवमपि मर्यादामार्गीयशुद्धजीवस्य मोक्षसम्भवाद् याज्ञवल्क्यार्त-भागाभ्यां “कर्म हैव तत्प्रशंसतुः” (बृहदा.उप.३।२।१३) इत्यनेन तन्मुक्तेः कर्मत्वेन कथनं कुतः इति आशङ्क्य आह.

तदाऽपीतेः संसारव्यपदेशात् ॥८॥

तदा पुष्टिफलदशायाम् अपीतेः मर्यादामार्गीयमोक्षस्य संसार-व्यपदेशात् तन्मुक्तौ भगवत्स्वरूपानन्दानुभवाभावात् संसारतुल्यतैव इति ताभ्यां तथा निरूपितम् इति अर्थः ॥८॥

ननु पुष्टिमार्गीयं तत्त्वम् एतादृशं यत्र मुक्त्यात्मकफलस्यापि संसारत्वेन गणना, तर्हि तस्यैव अभ्यर्हितत्वात् स्तुतेः युक्ततया मुक्तिस्तावकवाक्यानां प्रतारकत्वापत्तिः इति आशङ्क्य आह.

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥९॥

पुष्टिमार्गीयं तत्त्वं सूक्ष्मं दुर्ज्ञेयम् इति अर्थः. तस्य अनुभवैकवेद्यत्वाद् अनुभवस्य च दुर्लभाधिकारिविषयत्वाद् अन्यावेद्यमेव तत्. मोक्षस्य च शुद्धाधिकारिमात्रविषयत्वात्. स्तुतेः अबाधितविषयत्वात् तदावेदकप्रमाणस्य न प्रतारकत्वम् इति भावः. ननु एवम् अतिनिगूढपुष्टितत्त्वसद्भावे किं मानम् इति आशङ्क्य आह. प्रमाणतः च तथा उपलब्धेः. “यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन” (तैत्ति.उप.२।४) इति श्रुतौ पूर्वाद्धेन मनोवागगम्यत्वेन दुर्ज्ञेयत्वम् उक्त्वा उत्तराद्धेन ‘विद्वान्’ इति तत्सत्ता

बोध्यते. अतः तद् दुर्ज्ञेयत्वेनैव श्रुतिबोधितम् इति तत्सद्भावे न विवदितव्यम्.
चकारात् तादृशभक्तानुभवोऽपि मानम् इति सूच्यते ॥९॥

ननु एतादृशपुष्टितत्त्वसत्त्वे यथा ब्रह्मविदः स्वमार्गीयं तत्त्वम् उपदिशन्ति,
तथा एतेऽपि कुतो न उपदिशन्ति इति आशङ्क्य तत्र निदानम् आह.

नोपमदर्देनातः ॥१०॥

ऐश्वर्यभावे हि उपदेशनम्. तेषान्तु विरहदशा भगवत्सङ्गमदशा वा इति
दशाद्वयम्. तत्र विरहे तद्भावेन अन्यभावानाम् ऐश्वर्यभावादीनाम् उपमदर्देन
उपदेशो न सम्भवति. सङ्गमेतु अतः पुरःप्रकटानन्दात्मकप्रभुस्वरूपाद् हेतोः
तदानन्दानुभवनिमग्नचित्तत्वेन अन्येभ्यः सख्यादिभ्योऽपि उपदेशो न सम्भवति इति
अर्थः ॥१०॥

ननु “रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति” (तैत्ति.उप.२।७)
इति श्रुतेः रसात्मकभगवत्स्वरूपानुभवेन आनन्दितानां तेषाम् आनन्द-
तिरोधानात्मकविरहदुःखं न सम्भवति इति आशङ्क्य आह.

अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा ॥११॥

अस्यैव आनन्दात्मकभगवतएव धर्मः ऊष्मा विरहतापः इति अर्थः. ननु
आनन्दात्मकस्य दुःखरूपो धर्मः कथम् इति आशङ्क्य आह. उपपत्तेः इति.
शृङ्गारस्थायिभावात्मकप्रभुस्वरूपस्य आन्तरनुभावकत्वात् सोऽपि सुखस्वरूपएव
उपपद्यते, नतु दुःखात्मकः. निर्वेद-ग्लान्यादिरूप-व्यभिचारिभावात् तथा
भानमात्रम् इति अर्थः ॥११॥

ननु “न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नो तद्दुःखम्” (छान्दो.उप.
७।२६।२) इत्यादिश्रुतेः निर्वेदग्लान्यात्मकदुःखस्यापि असम्भवः इति आशङ्क्य
श्रुतेः तात्पर्यम् आह.

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥१२॥

अत्र श्रुतौ शारीरमेव दुःखं प्रतिषिद्ध्यते, नतु शृङ्गार-व्यभिचारि-
भावात्मकं, रोगसहपाठाद् इति भावः ॥१२॥

स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥१३॥

एकेषां शाखिनां प्रभुस्वरूपप्राप्त्यनन्तरं दुःखनिवृत्तिरूपो अर्थः स्पष्टः
पठ्यते, “रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति” (तैत्ति.उप.२।७)

स्मर्यते च ॥१४॥

भगवद्भावस्य मरणहेतुत्वं, तेनैव जीवनं, तद्भावस्य अखिल-
दुर्लभत्वञ्च श्रीभागवते स्मर्यते. “ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः,
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्” (भाग.पुरा.१०।४६।४) इत्यारभ्य
“धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन” (तत्रैव १०।४६।६) इत्यादि-
भगवद्वचनेन. “एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि
रूढभावाः, वाञ्छन्ति यं भवभियो मुनयो वयं च किं ब्रह्मजन्मभिः
अनन्तकथारसस्य” (भाग.पुरा.१०।४७।५८) इति श्रीमदुद्धववचनेन च ॥१४॥

ननु एवं भगवदाविर्भावः तद्दर्शनेन विरहौत्कण्ठ्यं, ततः प्रभुप्राकट्येन
पूर्णानन्ददानम् इत्यादिकं वैकुण्ठेऽपि दुर्लभं कुत्र दृष्टम् इति आकाङ्क्षायाम् आह.

तानि परे तथा ह्याह ॥१५॥

तानि उक्तानि वस्तूनि परे वैकुण्ठादपि उत्कृष्टे श्रीगोकुले श्रीगोवर्द्धने च
सन्ति इति शेषः. तथाहि, “ता वां वास्तून्युष्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा
अयास” (ऋक्.सं.अ.२ व.२४ मं.) इत्यादिका श्रुतिः आह ॥१५॥

ननु परमकृपया कमपि भक्तं नित्यलीलायां प्रवेशयति चेत् तदा
कश्चित्कालं तत्र स्थापयित्वा ततः तं वियोजयति, उत तत्रैव स्थापयति नित्यम्
इति आशङ्कायां सिद्धान्तम् आह.

अविभागो वचनात् ॥१६॥

तत्र प्राप्तस्य अविभागएव ततः. कुतः. वचनात्. “तद्विष्णोः परमं पदं
सदा पश्यन्ति सूरयः” (सुबालोप.६।१) इति श्रुतेः इति अर्थः. एवं पुष्टिभक्त-
फलानुभवप्रकारो निरूपितः ॥१६॥

“भूतेषु तच्छ्रुतेः” (ब्रह्मसू.४।२।५) इत्यनेन ज्ञानिनः इन्द्रियाणां भूतेषु
लयो निरूपितः. अधुना निरिन्द्रियस्य तस्य उत्क्रमणप्रकारं पञ्चसूत्रैः आह.

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्

तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दाऽनुगृहीतः शताधिकया ॥१७॥

“स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति”
(बृहदा.उप.४।४।१) इति श्रुतेः तस्य आत्मनः ओकः स्थानं हृदयं तदग्रं प्रथमं

ज्वलति. पूर्वम् अप्रकाशमानमपि तदा प्रकाशते. तेन प्रकाशितं द्वारं गमनमार्गो यस्य तादृशः उत्क्रामति. “तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते” (बृहदा.उप. ४।४।२) इत्यादिश्रुत्यापि अयमेव अर्थः उक्तः. इदं सर्वं जीवसाधारणं निष्क्रमणम्. विदुषस्तु मार्गे विशेषम् आह. शताधिकया. एकशततम्या, “शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका, तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वगत्या उत्क्रमणे भवन्ति” (कठोप.२।३।१६) इति श्रुत्युक्तया निष्क्रामति. यतः सः हार्दानुगृहीतो हृदयस्थितेन भगवता अनुगृहीतः. तदनुग्रहे हेतुः. विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च इति. ब्रह्मविद्यासामर्थ्यात्. तस्याः विद्यायाः शेषभूता अङ्गभूता या गतिः प्रव्रजनरूपा तत्र या भगवतो अनुस्मृतिः स्मरणं तत्सम्बन्धाद् यो भगवदनुग्रहः तेन तथा निष्क्रामति इति अर्थः ॥१७॥

ननु ओकोग्रज्वलनादेः सर्वसाधारण्येऽपि यथा हार्दानुग्रहाद् विदुषएव सुषुम्णयोत्क्रमणम् उक्तं, तथा “अथ एतैरेव रश्मिभिः ऊर्ध्वम् आक्रामति” (छान्दो.उप.८।६।५) इति श्रुत्युक्तं रश्मिद्वारम् आक्रमणं सर्वसाधारणं, विदुषएव वा इति संशये सिद्धान्तम् आह.

रश्म्यनुसारी ॥१८॥

विद्वानेव रश्मिद्वारा गच्छति इति अर्थः ॥१८॥

ननु विदुषः उत्क्रमणे यथा हार्दानुग्रहकृतो विशेषः तथा दिनायनात्मक-कालविशेषकृतोऽपि भविष्यति इति शङ्कां निराकुर्वन् अहोरात्रकृतविशेषम् आशङ्क्य निराकरोति.

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ॥१९॥

निशि विदुषः उत्क्रमणं न इति चेद् न. कुतः. सम्बन्धस्य यावद्देह-भावित्वात्. अनुग्रहहेतुभूतो यो गत्यनुस्मृतिसम्बन्धः तस्य यावद्देह-भावित्वात् तज्जन्यानुग्रहस्य सत्त्वात् तद्बलेन कालस्य अप्रयोजकत्वम् इति अर्थः. यतः श्रुतिरेव दर्शयति. “एतमेव प्रव्राजिनो लोकमभीप्सन्तः प्रव्रजन्ति” (बृहदा.उप.४।४।२२) इति ॥१९॥

अतो अयनकृतोऽपि विशेषो न अस्ति इति आह.

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥२०॥

उत्क्रमणनियमो विदुषो न अस्ति इति अर्थः ॥२०॥

ननु श्रीभगवद्गीतासु अनावृत्तिमार्गम् उपक्रम्य “अग्निर्ज्योतिरहःशुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्, तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः” (भग.गीता ८।२४) इति उक्त्या विदुषोऽपि कालविशेषापेक्षा अस्ति इति आशङ्क्य आह.

योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥२१॥

अयं कालनियमो योगिनं प्रति स्मर्यते, न ब्रह्मविदं प्रति. यतः एते योगसाङ्ख्ये स्मार्ते. श्रौतस्यतु ज्ञानमार्गस्य असहायशूरत्वाद् न अन्यसापेक्षत्वम् इति भावः ॥२१॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तौ मरीचिकाख्यायां चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः.

॥ तृतीयः पादः ॥

पूर्वपादे ब्रह्मविदः उत्क्रमणप्रकारम् उक्त्वा मोक्षमार्गम् अस्मिन् पादे विचारयति. तत्र श्रुतौ अर्चिरादिमार्गेण गमनम् उक्तम्. तज्ज्ञानमार्गीय-मर्यादाभक्तयोः उभयोः उत ज्ञानिनएव इति संशये निर्णयम् आह.

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥१॥

अर्चिरादिमार्गेण प्रायशो ज्ञानमार्गीयएव गच्छति कश्चिद् नतु मर्यादाभक्तोऽपि. तस्य प्रायः सद्यो मुक्तेरेव सम्भवाद् इति भावः. कुतः. तत्प्रथितेः. “तद्य इत्थं विदुः ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते ते अर्चिषम् अभिसम्भवन्ति” (छान्दो.उप.५।१०।१) इत्यादिना ज्ञानमार्गीयस्यैव तत्र उत्कर्षकथनात् ॥१॥

ननु अर्चिरादिमार्गनिरूपकच्छान्दोग्यश्रुतौ वायुलोको न पठ्यते कौषीतकिश्रुतौतु अग्निलोकानन्तरं सः पठ्यते इति उभयश्रुतौ एकएव अर्चिरादिमार्गः प्रतिपाद्यते इति वायुलोकोपसंहारावश्यकत्वे छान्दोग्ये कुत्र तस्य उपसंहारः इति आकाङ्क्षायाम् आह.

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥२॥

छान्दोग्ये “मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सराद् आदित्यम्” (छान्दो.उप.५।१०।२) इत्यत्र संवत्सराद् उत्तरं वायुलोको निवेशयितव्यः. कुतः. अविशेषविशेषाभ्याम्. अर्चिरारभ्य संवत्सरान्तानां भूसम्बन्धित्वेन अविशेषात् तन्मध्ये वायुः न निवेशनीयः. भूलोकाद् उपरि अन्तरिक्षलोकः तदुत्तरं द्युलोकः.

एवञ्च, “वायुः अन्तरिक्षस्याधिपतिः” (तैत्ति.सं.३।४।५) इति श्रुतेः, “सूर्यो दिवो अधिपतिः” (तैत्ति.सं.३।४।५) इति श्रुतेः एतयोः पौर्वापर्ये विशेषो हेतुः अस्ति इति सूर्यलोकात् पूर्वं वायुलोको निवेशनीयः इति अर्थः ॥२॥

तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात् ॥३॥

“चन्द्रमसो विद्युतम्” (छान्दो.उप.४।१५।५) इत्यत्र उक्तविद्युद्-लोकात् परतो वरुणलोको निवेशनीयः. कुतः. सम्बन्धात्. तडितो जलसम्बन्धित्वाद् वरुणस्य अप्पतित्वात् सम्बन्धः ॥३॥

वरुणाच्चाधीन्द्रप्रजापती ॥४॥

वरुणलोकात् परम् इन्द्रलोकः प्रजापतिलोकश्च निवेशनीयः. अत्र ‘सम्बन्धाद्’ इति अनुवर्तते. एवञ्च इन्द्रस्य सर्वदिक्पालेषु मुख्यत्वात् प्रजापतेः सर्वदेवाधिपतित्वात् सम्बन्धो अस्ति इति भावः ॥४॥

ननु श्रुतौ विद्युल्लोकानन्तरं “तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति” (छान्दो.उप.४।१५।५) इति उक्त्या, यावद्वचनं वाचनिकम् इति न्यायेन येषां विद्युदनन्तरमेव ब्रह्मप्राप्तिः तेषाम् आतिवाहिकसम्बन्धो, येषान्तु तदनन्तरं वरुणेन्द्रप्रजापतिलोकप्राप्तिः तेषां तत्सम्बन्धो न भविष्यति इति आशङ्क्य आह.

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥५॥

एकस्मिन्नेव मार्गे अन्यत्र उक्तानाम् उपसंहाराद् मार्गभेदे प्रमाणाभावात्. प्रजापतिलोकोत्तरम् आतिवाहिकाः उपसंहर्तव्याः. कुतः तल्लिङ्गात्. “तत्पुरुषो अमानवः” (छान्दो.उप.४।१५।५) इत्यत्र पुरुषस्य ब्रह्मसम्बन्धित्वं लिङ्गम् उच्यते. एवञ्च यथा अन्यलोकप्राप्तिः विद्याबलाद् न तथा ब्रह्मप्राप्तिः, किन्तु तदीयपुरुषसम्बन्धेनैव इति ज्ञाप्यते ॥५॥

ननु देवयानमार्गं प्राप्तानां तेषाम् इह न पुनरावृत्तिः अस्ति इत्यादिश्रुतिभ्यो अवश्यं ब्रह्मवित्त्वेन सद्यो मुक्तिं परित्यज्य तत्तल्लोककामना कुतः. अथच, “यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्, सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभते अञ्जसा, स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति” (भाग.पुरा. ११।२०।३२-३३) इति भगवद्वाक्याद् भक्तस्यापि एतद्विषयिणी वाञ्छा फलञ्च सम्भवति. तद्भक्तिरसं हित्वा कुतः इति आकाङ्क्षायाम् आह.

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥६॥

देवयानमार्गस्यापि भगवतैव सृष्टत्वाद् हीनाधिकारिणां तदयोग्यत्वाद् उत्तमाधिकारिणां चेत् तत्कामना न स्यात् तदा मार्गसृष्टिः व्यर्था स्यात्. एवञ्च स्वकृतमार्गसाफल्याय भगवानेव कांश्चन ज्ञानिनो मर्यादाभक्तांश्च व्यामोहयति इति तत्कामनातः तेषां तत्फलभोगः इति अर्थः ॥६॥

ननु विद्युल्लोकाद् वरुणादिलोकप्राप्तिः यस्य भवति तस्य वैद्युतः पुरुषएव ब्रह्मप्रापकः, उत सः स्वतएव ब्रह्म प्राप्नोति इति संशये निर्णयम् आह.

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥७॥

नहि ब्रह्मप्राप्तिः स्वतो भवति, किन्तु ब्रह्मसम्बन्धिपुरुषसामर्थ्येन. एवञ्च यतो ब्रह्मप्राप्तिः ततः तत्सम्बन्धिपुरुषेणैव. कुतः. तच्छ्रुतेः. “तान् वैद्युतान् पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति” (बृहदा.उप.६।२।१५) इति श्रुतेः. अत्र वैद्युतलोकम् आगच्छति इति वैद्युतः उक्तो, नतु तल्लोकवासित्वेन. ‘एत्य’ इति कथनात्. अतएव भगवन्मनो अभिलषितं, भक्तं प्रापयति इति मानस उक्तः ॥७॥

अत्र “स एतान् ब्रह्म गमयति” (छान्दो.उप.४।१५।१) इत्यत्र ‘ब्रह्म’पदेन कार्यब्रह्मलोक, उत परब्रह्मैव इति संशये परब्रह्मणो व्यापकत्वाद् गन्तव्यत्वानुपपत्तेः ब्रह्मपदं कार्यब्रह्मलोकपरम् इति बादरिमतम् उपन्यस्यति.

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥८॥

“स एतान् ब्रह्म गमयति” (छान्दो.उप.४।१५।१) इत्यत्र कार्यं ब्रह्म उच्यते. कुतः. अस्य गन्तुः तत्रैव गमनम् उपपद्यते, नतु परब्रह्मणि व्यापकत्वाद् इति भावः ॥८॥

विशेषितत्वाच्च ॥९॥

“ब्रह्मलोकान् गमयति” (बृहदा.उप.६।२।१५) इति श्रुतौ बहुत्वेन लोकाः विशेषिताः. “तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति” (बृहदा.उप.६।२।१५) इति श्रुतौ वासकर्तृत्वेन गन्तारो विशेषिताः इति कार्यं ब्रह्मैव ग्राह्यं, न परं ब्रह्म तस्य एकत्वात् ॥९॥

तर्हि तत्र ब्रह्मपदप्रयोगे को हेतुः इति आशङ्क्य आह.

सामीप्यात् तद्व्यपदेशः ॥१०॥

तल्लोकप्राप्तौ लोकान्तरप्राप्तिं विनैव परब्रह्मप्राप्तिः इति ब्रह्मसामीप्याद् ब्रह्मत्वेन व्यपदेशः कृतः ॥१०॥

ननु “आब्रह्मभुवन्नालोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन” (भग.गीता ८।१६)
इति वाक्यात् ततः पुनरावृत्तिः श्रूयते. श्रुतौतु, तेषाम् इह न पुनरावृत्तिः अस्ति इति
उच्यते. अतः परब्रह्मैव अत्र ग्राह्यम् इति आशङ्क्य आह.

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥११॥

कल्पावसाने कार्यब्रह्मलोकस्य अत्यये नाशे तदध्यक्षेण चतुर्मुखब्रह्मणा
सह अतो ब्रह्मणः परम् ईश्वरं प्राप्नोति इत्यतो अपुनरावृत्तिश्रुतेः न विरोधः. कुतः.
अभिधानात्. “वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः,
ते ब्रह्मलोकेतु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे” (मुण्डकोप.३।२।६) इति
श्रुतौ तथाभिधानाद् इति अर्थः ॥११॥

स्मृतेश्च ॥१२॥

“ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिवत्सरे, परस्यान्ते कृतात्मानः
प्रविशन्ति परं पदम्” (कूर्म.पुरा.ख.९२।२६९) इति स्मृतेः पूर्वोक्तएव अर्थः
॥१२॥

एवं प्राप्ते सिद्धान्तम् आह.

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥१३॥

“स एतान् ब्रह्म गमयति” (छान्दो.उप.४।१५।५) इति ब्रह्मपदेन परं
ब्रह्मैव इति जैमिनिः आचार्यो मन्यते. कुतः. मुख्यत्वात्. ब्रह्मपदस्य मुख्या
वृत्तिः परब्रह्मण्येव, गौणीतु अन्यत्र. तथाच मुख्यसम्भवे गौणार्थस्य अयुक्तत्वात्
॥१३॥

दर्शनाच्च ॥१४॥

“स एतं देवयानं पन्थानमापद्य” (कौषी.उप.१।३) इत्यादिश्रुतौ, “स
प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्” (कौषी.उप.१।३) इति प्रजापतिलोकात्
पार्थक्येन ब्रह्मलोककथनदर्शनाद् इति अर्थः ॥१४॥

न च कार्ये प्रतिपत्यभिसन्धिः ॥१५॥

“ब्रह्मविदाप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१) इत्युक्ता तद्विवरणवाक्ये,
“सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यनेन
भगवता सह सर्वकामोपभोगलक्षणा प्रतिपत्तिः उच्यते. सा कार्यब्रह्मलोके न
सम्भवति इति अर्थः. अतो अत्र परमेव ब्रह्म ग्राह्यम् इति भावः ॥१५॥

क्रममुक्त्यधिकारिणः प्रारब्धभोगानन्तरम् अमानवपुरुषप्रापिताः परं ब्रह्म प्राप्नुवन्ति इति उक्तम्. अत्र अर्चिरादिलोकप्राप्तान् सर्वानेव अमानवः पुरुषो ब्रह्म गमयति उत कांश्चिदेव इति विषये, ब्रह्मप्रापणार्थमेव तस्य नियुक्तत्वाद् अर्चिरादेः ब्रह्मलोकमार्गत्वात् तत्र गतान् सर्वानेव ब्रह्म प्रापयति इति प्राप्ते, उच्यते.

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा दोषात् तत्क्रतुश्च ॥१६॥

उपास्यरूपाणि वस्तुतो अब्रह्मरूपाणि, तेषु ब्रह्मत्वेन उपासनं वेदबोधितत्वात् सफलम् इति ज्ञात्वा ये उपासते ते प्रतीकालम्बनाः. एवमपि वेदबोधितत्वेन उपासनायाः कृतत्वात् तेषाम् अर्चिरादिलोकप्राप्तावपि तान् अमानवः पुरुषो ब्रह्म न नयति, किन्तु तद्भिन्नान्. ये वस्तुतः ‘सर्वं ब्रह्म’ इति ज्ञात्वा तत्त्वेन उपासते तानेव नयति इति बादरायणः आचार्यो मनुते. कुतः. उभयथा दोषात्. वस्तुतो ब्रह्मरूपे अब्रह्मत्वनिश्चयः उपासनार्थं, तत्र ब्रह्मत्वज्ञानं च इति उभयथा दोषात् तेषां न ब्रह्मप्राप्तौ अधिकारः इति, न तान् प्रापयति इति अर्थः. “योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते, किं तेन न कृतं पापं चौरेण आत्मापहारिणा” (म.भा.३।१८।७५२) इति तादृशभावनायाः निषिद्धफल-कथनात्. एवं ज्ञानमार्गीये भेदद्वयं निरूप्य भक्तिमार्गीयव्यवस्थाम् आह. तत्क्रतुश्च. सः भगवद्भजनलक्षणः क्रतुः यस्य सः तत्क्रतुः. सतु भक्तिबलात् स्वयमेव परं ब्रह्म गच्छति इति अर्थः ॥१६॥

पूर्वम्, “अविभागो वचनाद्” (ब्रह्मसू.४।२।१६) इत्यनेन पुष्टिभक्तस्य लीलापरिकराद् अविभागो भवति इति फलम् उक्तम्. तस्यैव ज्ञानिफलाद् विशेषं वक्तुम् अधिकरणारम्भः. तत्र सर्वाणि उपास्यरूपाणि शुद्धब्रह्मरूपाण्येव इति तदुपासकानां परप्राप्तिरेव इति उक्तम्. तत्र ज्ञानमार्गीयाणाम् उपासकानां भक्तिमार्गीयाणाञ्च अविशेषेणैव परप्राप्तिः भवति उत कश्चन विशेषो अस्ति इति संशये, उभयोरपि ब्रह्मोपासकत्वा (“विशेषाद्” इति जू.पाठः) विशेषेणैव भवति इति प्राप्ते, उच्यते.

विशेषं च दर्शयति ॥१७॥

श्रुतिः इति शेषः. साच “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१) इति, “नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः” (मुण्डकोप.३।२।३) इति च. एवञ्च यस्य वरणविशिष्टब्रह्मज्ञानं तस्य

परब्रह्मप्राप्तिः यस्यतु केवलब्रह्मज्ञानं तस्य अक्षरब्रह्मप्राप्तिः इति विशेषो बोध्यः
॥१७॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तौ मरीचिकाख्यायां चतुर्थाध्यायस्य तृतीयपादः.

॥ चतुर्थः पादः ॥

पूर्वपादान्ते वरणयुक्तब्रह्मविदः पुष्टिमार्गीयस्य परप्राप्तिः उक्ता. तत्र सः सायुज्यं प्राप्य भगवदानन्दम् अनुभवति उत देहेन्द्रियादिसङ्घातं प्राप्य भेदेन अनुभवति इति संशये, “न स पुनरावर्तते” (निरा.उप.३३) इति, तेषाम् इह न पुनरावृत्तिः अस्ति इति च श्रुतेः ततो जन्माभावात् सायुज्यं प्राप्यैव अनुभवति इति प्राप्ते, उच्यते.

सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥१॥

सम्पद्य ब्रह्म प्राप्य स्थितस्य जीवस्य भगवदत्यन्तानुग्रहवशात् तस्य स्वरूपानन्ददित्सायाम् आविर्भावो नतु जन्म. सोऽपि स्वेन भगवत्सामर्थ्येन, नतु कर्मादिना. तथाच उक्तश्रुत्योः प्राकृतजन्माभावनिषेधकत्वं, नतु स्वरूपात्म-कालौकिकदेहेन्द्रियादिना प्राकट्यनिषेधकत्वम्. कुतः. शब्दात्. “सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता” (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुतेः इति अर्थः. भगवता सह अनेकविधकामाशनं देहेन्द्रियादिकं विना न सम्भवति इति भगवद्दत्तालौकिकदेहेन्द्रियादिकं प्राप्य तत्स्वरूपानुभवं करोति इति अर्थः ॥१॥

ननु कामभोगानाम् अमुक्तकर्तृकत्वात् तत्प्रतिपादिका श्रुतिः अमुक्तविषया इति आशङ्क्य आह.

मुक्तप्रतिज्ञानात् ॥२॥

“ब्रह्मविदाप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यनेन मुक्तं प्रतिज्ञाय तद्विवरणं “सोऽश्नुते सर्वान् कामान्” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यनेन क्रियते. अतो मुक्तप्रतिज्ञानाद् हेतोः पुष्टिमार्गीयमोक्षरूपत्वं कामाशनस्य, नतु लौकिकत्वम् इति अर्थः ॥२॥

ननु कामभोगस्य गुणाधीनत्वात् परब्रह्मणो गुणातीतत्वात् ‘सह ब्रह्मणा’ इत्यत्र ‘ब्रह्म’पदं कार्यब्रह्मपरम् इति न तत्प्राप्तेः मोक्षरूपत्वम् इति आशङ्क्य आह.

“सह ब्रह्मणा” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यत्र ‘ब्रह्म’पदेन आत्मा व्यापको मायागुणसम्बन्धरहितएव उच्यते. कुतः. प्रकरणात्. “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” (तत्रैव) इत्यस्य गुणातीतप्रतिपादकत्वात् तत्प्रकरणएव ‘सो अश्नुते’ इत्यस्य पाठात् परं ब्रह्मैव अत्र प्रतिपाद्यं, न कार्यं ब्रह्म इति अर्थः ॥३॥

ननु “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” (तत्रैव) इति. भिन्नं वाक्यं, “सो अश्नुते” (तत्रैव) इयम् ऋग् भिन्ना. अतो न एकं प्रकरणम् इति ब्रह्मपदेन प्राकृतगुणसहितमेव अत्र उच्यते इति आशङ्क्य परिहरति.

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥४॥

पूर्ववाक्येन सह अविभागेनैव इयम् ऋक् पठिता. कुतः दृष्टत्वात्. “तदेषाभ्युक्ता” (तत्रैव) इत्यनेन, ‘ब्रह्मविदि’ति वाक्योक्तार्थ-प्रतिपादकत्वेन इयम् ऋग् उक्ता इति दृष्टत्वाद् इति अर्थः. अतः पूर्वोत्तरवाक्ययोः एकार्थ-प्रतिपादकत्वात् परब्रह्मैव अत्र प्रतिपाद्यते इति ॥४॥

मुक्तो जीवो भगवदनुग्रहाद् बहिः आविर्भूय गुणातीतेन पुरुषोत्तमेन सह सर्वकामोपभोगं करोति इति पूर्वम् उक्तम्. तत्र बहिः आविर्भूय प्राकृतेन शरीरेण भुङ्क्ते, किं वा अप्राकृतेन इति संशये भोगायतनस्य प्राकृतस्यैव दृष्टत्वात् प्राकृतेनैव भुङ्क्ते इति प्राप्ते, उच्यते.

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥५॥

ब्राह्मेण ब्रह्मसम्बन्धिना सच्चिदानन्दात्मकेन शरीरेण, “ब्रह्मणा सर्वान् कामान् अश्नुते” (तत्रैव) इति जैमिनिः आचार्यो मन्यते. कुतः. उपन्यासादिभ्यः. “ब्रह्मविदाप्नोति परम्”(तत्रैव) इति उपन्यस्य “सो अश्नुते” (तत्रैव) इति कथनात्. किञ्च, परप्राप्तेः पुष्टिमार्गीय-मोक्षरूपत्वेन लौकिकशरीरेण तद्भोगासम्भवाद् अक्षरब्रह्मणः पुरुषोत्तमा-धिष्ठानत्वात् तदात्मकशरीरेण भगवदानन्दं भुङ्क्ते इति युक्तम्. कर्मवादिनो जैमिनेरपि अत्र सम्मतिः तत्र अन्येषां किमुत इति सूचनार्थं जैमिनिग्रहणम् ॥५॥

औडुलोमिस्तु मुक्तो जीवः चिन्मात्ररूपेण अलक-कर-चरणादिभावं भगवद्विग्रहे प्राप्य भगवदानन्दम् अनुभवति, नतु पृथग् अलौकिकविग्रहेण इति आह.

चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥६॥

चिति, “स यथा सैन्धवघनः” (बृहदा.उप.४।५।१३) इति श्रुत्युक्तचिद्रूपे ब्रह्मणि तन्मात्रेण चिन्मात्रेण रूपेण कामान् भुङ्क्ते, नतु अलौकिकदेहेन्द्रियादिना. कुतः. तदात्मकत्वात्. जीवस्य तदात्मकत्वाद् इति औडुलोमिः आचार्यो मन्यते. इत्थञ्च औडुलोमिमते अलौकिकदेहादिकं विनैव चिन्मात्ररूपेण अलकादिवद् भगवत्प्राप्तिरेव मोक्षः इति सिद्धम् ॥६॥

परमाचार्यो बादरायणस्तु औडुलोम्युक्तं चिन्मात्रेणैव जीवस्य भगवत्प्राप्तिः मोक्षः इत्यत्र चिन्मात्रेणैव इति नियमांशं खण्डयित्वा अलौकिक-देहेन्द्रियादिभिः भक्तानां भगवता सह कामाशनं मोक्षो, ज्ञानमिश्रभक्तानान्तु चिन्मात्रेणैव रूपेण भगवद्विग्रहे अलकादिरूपप्राप्तिरेव मोक्षः इति ज्ञानिभक्त-शुद्धभक्त-व्यवस्थया सिद्धान्तम् आह.

एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥७॥

परमाचार्यो बादरायणो अलौकिकविग्रहेणापि भोगे अविरोधं मनुते. कुतः. एवमपि उपन्यासात्. “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१।) इत्यस्य एवमपि विग्रहवत्त्वेनापि उपन्यासात्. तथाहि “ब्रह्मविदाप्नोति” (तत्रैव) इति उक्त्या परप्राप्तौ ब्रह्मविदः स्वातन्त्र्यं बोध्यते. तदेव, “ब्रह्मणा सह” (तत्रैव) इति ऋचोपन्यस्तम्. एवञ्च कामभोगेषु ब्रह्मणः साहित्यं भक्तस्य मुख्यत्वम् इति उक्तं भवति. तच्च अलौकिकविग्रहेणैव समञ्जसं भवति, न अन्यथा इति युक्तम् अलौकिकदेहेन्द्रियादिवत्त्वम्. अत्र एवमपि उपन्यासाद् इति अपिशब्दोक्त्या चिन्मात्रेण रूपेण भगवद्विग्रहे अलकादिभावप्राप्तिः इति औडुलोमिमतं ज्ञानमिश्र-भक्तविषयम् इति सूचितम्. ‘अपि’शब्देन तन्मतस्यापि अङ्गीकारसूचनात्. किञ्च, भक्तविविधभावद्रष्टा विविधभोगचतुरेण च इत्यर्थक‘विपश्चिते’ति उक्त्या अलौकिकदेहेन्द्रियादिवत्त्वं प्राप्यते. ननु विग्रहस्य जन्यत्वेन लौकिकत्वाद् ब्रह्मणा सह भोगो न सम्भवति इति आशङ्क्य आह. पूर्वभावाद् इति. भक्तस्य भगवत्प्राप्तेः पूर्वमेव भगवद्भोगा-नुकूलविग्रहाणां भावाद् न कृत्रिमत्वम् इति अर्थः. एवञ्च भगवत्स्वरूपा-नन्दानुभवयोग्यशरीराणि नित्यानि सन्ति. येषु अनुगृह्य स्वरूपानन्ददानेच्छा तान् जीवान् तत्र योजयति इति भावः ॥७॥

ननु भक्तिमार्गीयेष्वपि कतिपयेषु स्वरूपानन्ददानं, न सर्वेषु इत्यत्र किं

नियामकम् इति आशङ्क्य तद् आह.

सङ्कल्पादेव च तच्छ्रुतेः ॥८॥

भजनानन्ददानार्थं सङ्कल्पादेव हेतोः तद्विषयएव तदानन्दम् अनुभवति. कुतः एतज्ज्ञातं, तद् आह. तच्छ्रुतेः. “नायमात्मा” (मुण्डकोप.३।२।३) इत्यारभ्य, “यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः” (तत्रैव) इति श्रुतेः. अत्र भगवत्प्राप्तिं प्रति वरणातिरिक्तस्य असाधनत्वोक्त्या वरणमात्रलभ्यत्वोक्त्या च वरणात्मक-सङ्कल्पप्राप्यत्वं वदति श्रुतिः. सूत्रे एवकारेण सङ्कल्पातिरिक्त-साधनाप्राप्यत्वं ज्ञाप्यते चकारात् कृपाजनितफलप्राप्त्यनुकूलपरमार्तिः सङ्गृह्यते ॥८॥

उक्तम् अर्थं सूत्रान्तरेण द्रढयति.

अतएव चानन्याधिपतिः ॥९॥

येषां साधनं फलञ्च प्रभुस्वरूपातिरिक्तं न अस्ति, ते अनन्याः. तेषाम् अधिपतिः यतः. येषां साधनात्मना फलात्मना च हृदि भगवानेव स्फुरति, न अन्यः तेषाम् आधिपत्यमपि स्वयमेव करोति. अन्यत्रतु विभूतिरूपैः आधिपत्यं करोति, न स्वयम् ॥९॥

पूर्वम् “अप्रतीकालम्बनान्नयति...” (ब्रह्मसू.४।३।१५) इति सूत्रेण अप्रतीकालम्बनानां ज्ञानिनाम् अक्षरप्राप्तिः उक्ता. तत्र अक्षरस्य साकार-निराकारभेदेन द्वैरूप्याद् ज्ञानिनां साकाराक्षरप्राप्तिः निराकाराक्षरप्राप्तिः वा इति संशये निराकाराक्षरप्राप्तिः इति बादरिमतेन आह.

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥१०॥

बादरिः आचार्यो मुक्त्यवस्थायां देहाद्यभावं मनुते. कुतः. आह ह्येवम्. यतो ब्रह्मविदो मुक्तिनिरूपिका श्रुतिः “यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति” (बृहदा.उप.२।४।१४) इति उपक्रम्य, “यत्र त्वस्य सर्वम् आत्मैव अभूत् तत् केन कं पश्येद्” (बृहदा.उप.२।५।१५) इत्यादिरूपा तस्य द्वितीयज्ञाननिषेधम् आह. एवञ्च तस्य कामभोगवार्तातु दूरे, कामभोगाक्षेप्यदेहस्तु सुतरामेव न सम्भवति इति बादरिमतम् ॥१०॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥११॥

जैमिनिः आचार्यो मुक्तस्य पुंसो देहादेः भावं सत्तां मनुते. ननु पूर्वोक्तबाधकवाक्यानां का गतिः इति आशङ्क्य आह. विकल्पामननात्.

“ब्रह्मविदाप्नोति परम्” (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुत्या ब्रह्मज्ञानस्य परप्राप्ति-हेतुत्वम् उक्तम्. “नायमात्मा” (मुण्डकोप.३।२।३) इति श्रुत्या वरणैक-लभ्यत्वम् उक्तम्. “सोऽश्नुते सर्वान् कामान्” (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुत्या परप्राप्तिः विवृता. “इहैव समवलीयन्ते” (.....), “ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति” (बृहदा.उप.४।४।६) इत्यपि श्रुत्यन्तरम्. एवञ्च मिथो अविरोधाय पुष्टिमार्गे अङ्गीकृतो भगवता सह अलौकिक-देहेन्द्रियादिकं प्राप्य ‘कामान् अश्नुते’. ज्ञानमार्गीयस्तु, “ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति” (तत्रैव) इति उक्त्या अक्षरे लयं प्राप्नोति इति व्यवस्थितविकल्पाश्रयणाद् मुक्तस्यापि अलौकिकदेहेन्द्रियादिसत्त्वे बाधकं न अस्ति इति अर्थः. “तत्केन कं पश्येद्” (तत्रैव २।५।१५) इत्यपि ब्रह्मज्ञानदशानिरूपणम् इति ज्ञेयम् ॥११॥

जैमिनिमते साकाराक्षरात्मकविग्रहप्राप्तिः भक्तानां, निराकाराक्षरे लयस्तु ज्ञानिनां मोक्षः इति उक्तेः साकार-निराकारभेदेन अक्षरे भेदशङ्का स्यात्. तन्निवारणाय आचार्यः एकमेव अक्षरं जीवानाम् अधिकारभेदेन द्वादशाहवद् द्विरूपेण अस्ति इति आह.

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोतः ॥१२॥

भगवता सह, “सोऽश्नुते” (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुत्युक्तकाम-भोगसाधनस्य अक्षरस्य भक्तान् प्रति भगवद्रसभोगार्थं शरीररूपेण आविर्भावेन भोगायतनत्वात् शरीरत्वम्. भक्तदेहेन्द्रियादीनाम् अक्षरात्मकत्वात्. ज्ञानिनान्तु भौतिकत्वाभावमात्रेण निराकारत्वेन स्वस्मिन् लयसम्पादकत्वाद् अशरीरत्वमपि इति बादरायणः आचार्यो मन्यते. अतः श्रुतेः इति अर्थः. सातु “तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत” (छान्दो.उप.७।२६।१) इत्यारभ्य, “आत्मन एवेदं सर्वम्” (तत्रैव ७।२६।१) इत्यन्ता. तेन प्राकृतशरीराहित्यं सिद्ध्यति. ननु एकस्यैव विरुद्धम् अशरीरत्वं शरीरत्वञ्च कथम् इति आशङ्क्य वैदिकदृष्टान्तेन समाधत्ते. द्वादशाहवत्. “यः कामयेत प्रजायेयेति, स द्वादशरात्रेण यजेत” (तैत्ति.सं.७।३।९) इति विधानाद् यागत्वम्, “द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयुः, य एवं विद्वांसः सत्रमुपयन्ति” (तैत्ति.सं.७।५।१) इति च विधानात् सत्रत्वं यथा द्वादशाहस्य तथा प्रकृतेऽपि ज्ञेयम्. प्रमाणसिद्धत्वाद् इति भावः ॥१२॥

ननु श्रीकृष्णाद्यवतारस्वरूपम् आनन्दमयमेव इति तत्र प्रमाणेषु

प्रतिपादितम्. परन्तु तत्राऽपि अवतारसमकालैः पुरुषैः प्राकृतेष्विव अवस्थाविशेषाः दृश्यन्ते. तत् कुतः इति आशङ्क्य परिहरति.

तत्त्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥१३॥

तद्दर्शनस्य वास्तवत्वनिरासकः तुशब्दः. तत् प्राकृततुल्या अवस्थादर्शनम् **अभावे** प्राकृतत्वस्य अभावएव भवति, नतु प्राकृत्यो अवस्थाः तत्र सन्ति. ननु अविद्यमानविषयस्य कथं दर्शनं स्याद् अतः आह. **सन्ध्यवद्** इति. “**सन्ध्यं तृतीयस्थानम्**” (बृहदा.उप.४।३।९) इति श्रुतेः सन्ध्ये स्वप्ने यथा अविद्यमानानेव मायिकान् पदार्थान् पश्यति निद्रामोहितः एवं येषु आसुरेषु भगवतः स्वरूपाज्ञापनेच्छा तेषु मायया स्वरूपे अविद्यमानानेव धर्मान् भासयति इति न अनुपपन्नं किञ्चित्. तेतु, “**प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः**” (भग.गीता १६।७) इत्यारभ्य, “**मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्**” (भग.गीता १६।२०) इत्यन्तेन गीतायाम् उक्ताः ॥१३॥

भावे जाग्रद्वत् ॥१४॥

अप्राकृतलीलापदार्थस्य यत् तत्त्वेन दर्शनं तद् **भावे** विषयसद्भावे भवति. तद्दर्शनं सविषयकमेव, नतु मायिकविषयकम्. तत्र दृष्टान्तः. **जाग्रद्वत्**. जाग्रद्दशासामयिकं ज्ञानं सत्यविषयकमेव भवति, निद्रामोहितस्यतु विपरीतं, तद्वद् इति अर्थः ॥१४॥

ननु “**सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा**” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यत्र भक्तस्य भगवता सह कामभोगः उपपादितः. परन्तु भगवतः पूर्णज्ञानक्रिया-शक्तिमत्त्वेन भक्तस्य ततो न्यूनत्वे न सम्भवति. तत्रापि प्राधान्यं सुतरामेव न सम्भवति इति आशङ्क्य आह.

प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति ॥१५॥

नहि तदा भक्तस्य स्वसामर्थ्येन प्राधान्येन भगवता सह भोगः, किन्तु भगवदावेशेन. **प्रदीपवत्**. यथा प्रदीपः स्नेहयुक्तवर्त्यन्तरे सम्बद्धः सन् तामपि स्वसमानां करोति, तथा भगवानपि फलदानार्थं भक्ते सम्बद्धस्तमपि स्वसमानसामर्थ्यं करोति इति अर्थः. अत्र प्रमाणम् आह. **तथाहि दर्शयति**. श्रुतिः इति शेषः. सातु “**भर्ता सन् भ्रियमाणो बिभर्ति, एको देवो बहुधा निविष्टः**” (तैत्ति.आर.मं.१ अनु.१४) इति च ॥१५॥

ननु “न तदश्नोति कञ्चन न तदश्नोति कश्चन” (बृहदा.उप.३।८।८) इति श्रूयते. ब्रह्मणा सह कामभोगोऽपि, “सो अश्नुते” (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रूयते. एवञ्च श्रुतिविप्रतिषेधनिराकरणाय निर्गुणं ब्रह्म, “न तदश्नोति” (बृहदा.उप.३।८।८) इति श्रुतेः विषयः. “सो अश्नुते” इति श्रुतेस्तु प्राकृत-गुणसहितं ब्रह्म विषय इति व्यवस्थायां सर्वसामञ्जस्यम् इति प्राप्ते, उच्यते.

स्वाप्ययसम्पत्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥१६॥

स्वाप्ययः “स्वमपीतो भवति” (छान्दो.उप.६।८।१) इति श्रुत्युक्ता सुषुप्तिः. सम्पत्तिः ब्रह्मसम्पत्तिः उक्तरीत्या पुष्टिमार्गीयो मोक्षः. तयोः अन्यतरापेक्षम् उभयश्रुत्याविष्कृतम् उक्तम् इति अर्थः. एवञ्च प्रस्वापदशायां ब्रह्मस्वरूपस्य सम्यग् अनुभवाभावात् तद्विषयिणी न “तदश्नोति” (बृहदा.उप.३।८।८) इति निषेधिका श्रुतिः. सम्पत्त्यात्मक-पुष्टिमार्गीयमोक्षेतु स्वरूपस्था अनेकधा अनुभवात् तन्निरूपिका, “सोऽश्नुते” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यादिश्रुतिः इति न प्राकृतगुणयुक्तत्व-निर्गुणत्वभेदेन व्यवस्थाकल्पनम् उचितम् इति अर्थः. “परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते” (श्वेता.उप.६।८) इत्यादिश्रुत्या अचिन्त्या-नन्तशक्तिमति स्वतः सर्वभवनसमर्थे ब्रह्मणि गुणानां प्रयोजनाभावात् ॥१६॥

ननु ब्रह्मणा सह कामभोगे लौकिकव्यापारसाहित्यम् अस्ति न वा इति संशये भोगस्य लौकिकव्यापारसाहित्यदर्शनाद् अस्ति इति प्राप्ते, उच्यते.

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॥१७॥

भगवता सह भोगो जगद्व्यापारवर्जं भवति. जगत्सम्बन्धी लौकिको यो व्यापारः तद्रहितः इति अर्थः. कुतः. प्रकरणाद् असन्निहितत्वाच्च. “ब्रह्मविदाप्नोति” (तैत्ति.उप.२।१) इत्यस्य मुक्तिप्रकरणस्थत्वात् तत्र लौकिकव्यापारो न सम्भवति. लीलायाः प्रकृतिकालाद्यतीतत्वाच्च लौकिकं जगत् ततो दूरतरम् इति न तत्र लौकिकव्यापारसम्भावना सन्निधानाभावात् ॥१७॥

ननु मुक्तिप्रकरणेव छान्दोग्ये, “सर्वं ह पश्यति” (छान्दो.उप.७।२६।२) इति सर्वविषयज्ञानकथनात् पूर्वोक्तं लौकिकव्यापारसाहित्यं न उपपद्यते इति सूत्रार्द्धेन आशङ्क्य समाधत्ते.

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥१८॥

देश-कालभेदेन अनेकविधायां लीलायाम् अधिकृतो यो भक्तः तस्य

यानि तत्तल्लीलानुभवार्थं नानारूपाणि तानि आधिकारिकाणि. तेषां मण्डलं समूहः. तत्र स्थितं वस्तुमात्रम् आधिकारिकमण्डलस्थम्. तस्यैव “सर्वं ह पश्यति” (छान्दो.उप.७।२६।२) इत्यनेन दर्शनोक्तिः नतु लौकिकवस्तुनः. अतएव अग्रे, “सर्वमाप्नोति सर्वशः, स एकधा भवति” (तत्रैव ७।२६।२) इत्यादि च पठ्यते. अतः “सर्वं ह पश्यति” (तत्रैव) इति श्रुत्याऽपि अलौकिकलीलाविषयकसर्वज्ञानकथनाद् मुक्तिदशायां न लौकिकव्यापार-सम्भावनापि इति भावः ॥१८॥

ननु तत्तद्देशकालविशिष्टलीलायाः नित्यत्वात्, “श्वस्त्वद्गेह-मायास्य” (.....) इति भगवतोक्ते भक्तानां तदाकाङ्क्षया स्थितिः अनुपपन्ना. तत्तद्देशकालभगवदागमनस्य नित्यत्वेन तदापि सत्वाद् भगवतोऽपि एवं कथनासम्भवाच्च इति आशङ्क्य आह.

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥१९॥

अस्मिन् शास्त्रे. भगवल्लीलायाः प्रकृतित्वेन कथनात्. तद्विरुद्धो अर्थो विकारशब्दवाच्यो भवति. यथा आम्रादिफलेषु विकारेण रसनाशो भवति इति लोके दृष्टं, तद्वद् अत्रापि भगवतः “श्वस्त्वद्गेहमायास्य” (तत्रैव) इति भक्तविशेषं प्रति कथनसमयेऽपि तद्गृहागमनलीलायाः नित्यत्वेन तस्मिन् काले सत्वेऽपि तदा तस्याः अनुभवे भगवदागमनप्रतीक्षाहेतुविप्रयोगरसस्य नाशो भवति इति तस्मिन् काले स्वगेहे भगवत्स्थित्यनुभवो विकारो भवति. एवञ्च भक्तानां पूर्वोक्तरीत्या भगवदुक्त्यनन्तरं यत्तदागमनप्रतीक्षात्मकं ज्ञानं तद् विकारावर्ति भवति. “मद्गेहे पूर्वं भगवान् आगतो अभूद्, अधुना पुनरपि आयास्यति” इति भूतभविष्यत्स्वगेहस्थित्यनुभवविषयकमपि ज्ञानं न भवति. विरहौत्कण्ठ्यानापत्तेः. किन्तु कदा आयास्यति इति केवलं प्रतीक्षैव तदा भवति. इदं सङ्क्षेपतः उक्तम्. यद्यद्रसनाशकं भवति तादृशं ज्ञानं तस्य न भवति, पोषकमेव भवति इति लौकिकभिन्नं लीलानुभवात्मकमेव तज्ज्ञानम्. एवञ्च तल्लीलाविशिष्टप्रभोः सर्वदा तद्गेहे सत्वेऽपि तदा तस्य ज्ञानं न भवति इति अर्थः. भक्तानामपि सर्वज्ञत्वेऽपि यादृशं रसाभासजनकं तादृशम् आच्छाद्य रसपोषकं ज्ञानं प्रकटयति. अत्र प्रमाणं प्रदर्शयति. तथाहि स्थितिम् आह. “सर्वमाप्नोति सर्वशः” (छान्दो.उप.७।२६।२) इति श्रुतिः एकस्यैव भक्तस्य सर्वशः सर्वैः प्रकारैः सर्व

लीलारसम् आप्नोति इति कथयन्ती पूर्वोक्तरीत्यैव तस्य लीलायां स्थितिम् आह.
अतो लीला स्वरूपमेव इदम् अलौकिकं तादृशम् इति वैदिकैः तथैव मन्तव्यम् इति
भावः. अलौकिके अर्थे प्रमाणमेव अनुसर्तव्यं, न लौकिकी युक्तिः ॥१९॥

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥२०॥

प्रत्यक्षानुमाने श्रुतिस्मृती भगवत्सम्बन्धिनि लीलापदार्थे युक्त्यगम्यत्वं
दर्शयतः. “परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च”
(श्वेता.उप.६।८) “नैषा तर्केण मतिरापनेया” (कठोप.१।२।९),
“अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेद्” (.....) इति च.
अतो लीलायां लौकिकयुक्तिविरोधो न दूषणं, प्रत्युत भूषणमेव. तद् उक्तं, “न
हि विरोध उभयं भगवति अपरिगणितगुणगणे ईश्वरे अनवगाह्यमाहात्म्ये
अर्वाचीनविकल्पवितर्क-विचारप्रमाणाभास-कुतर्कशास्त्र-कलिलान्तः-
करणाश्रय-दुरवग्रहवादिनां विवादानवसर” (भाग.पुरा.६।९।३६) इत्यादि॥२०॥

एतादृशलीलाविशिष्टप्रभुस्वरूपमेव परमफलत्वेन वेदान्तश्रुतितात्पर्य-
विषय इति सूचयति.

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥२१॥

“सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा” (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुतौ
भोगे भगवतो भक्तसाम्यम् उच्यते. एतच्च पुरुषोत्तमएव सम्भवति. यतो भक्ते
सख्यं दत्वा तत्कृतात्मनिवेदनम् अङ्गीकुर्वन् कृपया तं प्राधान्येन स्वरूपानन्दम्
अनुभावयति. अन्यथा भक्तस्य स्वरूपानन्दानुभवो न भवेत्. एतादृशपरमकृपालुः
पुरुषोत्तमएव परमं फलम् इति सिद्धम्. मात्रपदेन “न तत्समश्चाभ्यधिकश्च
दृश्यते” (श्वेता.उप.६।८) इति श्रुतेः भगवतः सर्वात्मना न भक्तसाम्यम् इति
ज्ञापितम् ॥२१॥

एवं भगवत्स्वरूपानुभवस्य पुष्टिमार्गीयपरमफलत्वं निरूप्य अक्षरप्राप्तेः
ज्ञानिनः फलत्वं निरूप्य तदनुभवानन्तरं कर्ममार्गवत् पुनरावृत्तिः स्याद् इति
आशङ्क्य उभयोरपि अपुनरावृत्तिं सूत्रावृत्या निरूपयन् उपसंहरति.

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥२२॥

अत्र सूत्रावृत्या ज्ञानिनां भक्तानाञ्च अनावृत्तिः उच्यते. ब्रह्मलोकम्
अभिसम्पद्यते, “न स पुनरावर्तते” (निरा.उप.३३) इत्यादिशब्दस्तु ज्ञानिनाम्

अनावृत्तिम् आह. भक्तिमार्गेतु “यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः” (मुण्डकोप. ३।२।३) इति श्रुतेः वरणस्य नित्यत्वेन अनावृत्तिरपि नित्या बोध्या. किञ्च, कालेन हि पुनरावृत्तिः. “न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः”(भाग.पुरा.२।२। १७) इति वाक्याद् भगवल्लीलायां कालप्रभावाभावादपि न पुनरावृत्तिः इति॥२२॥

सम्राट्श्रीजयसिंहाज्ञां प्राप्य ब्रजनाथभट्टेन ।
अणुभाष्यभास्करस्य मरीचिकेयं कृता जयतात् ॥१॥

इति श्रीब्रह्मसूत्राणाम् अणुभाष्यानुसारिवृत्तौ मरीचिकाख्यायां
चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः.

॥ समाप्तो अयं चतुर्थो अध्यायः ॥

॥ सम्पूर्णश्च अयं ग्रन्थः ॥

उद्धृतवचनानाम् आकरस्थलनिर्देशः पृष्ठाङ्कसूची च.

ॐ इति एतद् अक्षरम्	(छान्दो.उप.१।१।१)	३५४
ॐ इति प्रतिपद्यते	(तैत्ति.आर.२।११।१)	४२३
ॐ इत्येतदक्षरं ब्रह्म	(कठोप.२।१५,१६)	३३१
अंशो नानाव्यपदेशाद्	(ब्रह्मसू. २।३।४३)	१४७, ४८१
अक्षपादप्रणीते च काणादे	(पराष.उपपुरा.)	४९३
अक्षरात् परतः परः	(मुण्ड.उप.२।१।२)	३०९, ३९३
अक्षरादपि चोत्तमः	(भग.गीता१८।५५)	४०७
अग्निं वागप्येति	(बृहदा.उप.३।२।१३)	२०८
अग्निः वाग् भूत्वा	(ऐत.उप.१।२।४)	७, १८१-१८२, १९२
अग्निष्टोमने स्वर्गकामो यजेत	(आप.श्रौ.सू.१०।२।१)	३२२-३२९
अग्निहोत्रं जुहुयात्	(मैत्रा.उप.६।३६)	२२६, ३४८, ४६७
अग्निहोत्रं जुहोति प्रजाकामः	(तैत्ति.संहि.१।५।८।१।१८)	३२२
अग्नेरापः	(तैत्ति.उप.२।१)	१०२
अग्न्यादिभिः न हन्येत	(भाग.पुरा.११।१५।२९)	४१६
अग्राह्यो न हि गृह्यते	(बृह.उप.३।९। २६)	२९८, ५०२
अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष	(महाभा.३।२९।१७)	१२०, २००
अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः	(श्वेता.उप.५।८)	१२०
अचक्षुर्विश्वतश्चक्षुः	(.....)	३०
अचिन्त्या खलु ये भावा	(महाभा.भीष्म.५।२।१२)	२६-२७, २९, ४७
अचोदना च	(ब्रह्मसू.३।४।१८)	४९७
अजाम् एकाम्	(श्वेता.उप.४।५)	४५१
अजायमानो बहुधा विजायते	(मुद्गलोप.३।१)	८४
अजो नित्यः शाश्वतो अयम्	(भग.गीता२।२०)	११५
अजोऽपि सन् अव्ययात्मा	(भग.गीता ४।६)	३७३
अज्ञत्वं पारवश्यं च	(ब्रह्माण्डपुरा.)	३८३
अणुदूर्वो परमाणू स्यात्	(भाग. पुरा.३।११।५)	५२
अणोरणीयान्	(कठोप.२।२०)	२७४, ४८१
अतः परं न अन्यद्	(महाना. उप.१।१)	४७५
अतः पापमकरवम् अतः	(तत्रैव ४।४।२२)	३८७
अतःपरं नान्यदणीयसं	(महाना.उप.१।५)	३३७

अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व (पद्म.पुरा.उ.खं.७१।१०७)	६८
अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति (ताण्ड्यब्राह्म.१६।१।८)	३३०
अतो ज्यायांश्च पूरुषः (तैत्ति.संहि.३।१२।१)	३७९
अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम् (छान्दो.उप.५।१०।६)	२३९
अतोऽस्मि लोके वेदे (भग.गीता१५।१८)	४२४
अतो नन्तेन (ब्रह्मसू.३।२।२६)	२९८
अत्र ब्रह्म समश्नुते (बृहदा.उप.४।४।७)	५२६
अत्रेः अपत्यम् अभिकाङ्क्षतः (भाग.पुरा.२।७।४)	५२९
अथ अहङ्कारादेशः (छान्दो.उप.७।२५।१)	४३५, ४६३
अथ आत्मा अन्नेन आद्यम् (बृह.१।३।१७)	१९३
अथ आत्मादेशः (छान्दो.उप.७।२५।१)	४६३
अथ इतरे दुःखमेव (बृहदा.उप.४।४।१४)	४९९-५०१, ५११
अथ केनाक्रमेण यजमानः (बृहदा.उप.३।१।६)	१८६
अथ तस्य भयं भवति (तैत्ति.उप.२।७)	३४७
अथ परा यया (मुण्ड.उप.१।१।५)	४०७
अथ पृष्ठानि रथन्तरम् (ऋग्वेद ५।३।२१)	३८५
अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति (बृहदा.उप.४।४।२२)	५३४
अथ य आत्मा स (छान्दो.उप.८।४।१)	३११
अथ य इहा आत्मानम् (छान्दो.उप.८।१।६)	३१२
अथ य एतान् (छान्दो.उप.७।१०।१०)	३२५
अथ य एतान् एवं (बृहदा.उप.५।१०।१०)	३२५
अथ यत्र एनं घ्नन्तीव (बृहदा.उप.४।३।२०)	२५१
अथ यत्र सुप्तो ने (बृहदा.उप.४।३।१९)	१२९
अथ यदतः परो दिवो (छान्दो.उप.३।१३।७)	३०३
अथ यो अन्यां देवताम् (बृहदा.उप.१।४।१०)	२१५
अथ ह इमम् आसन्यं (बृहदा.उप.१।३।७)	१८७
अथ ह प्राणा अहं (छान्दो.उप.५।१।६)	१६७
अथ ह वाव तव (भाग.पुरा.६।९।३९)	५२६
अथ हैनं जारत्कारव (बृहदा.उप.३।२।१)	२०९
अथात आत्मादेशः (छान्दो.उप.७।२५।२)	४३५
अथात आदेशो नेति नेति (बृहदा.उप.२।३।६)	२८४-२८५
अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (ब्रह्मसू.१।१।१)	१३१

अथारूपज्ञो भवतीत्येकीभवति (बृहदा.उप. ४।४।२)	१७०
अथैतयोः पथोर्न कतरेण (छान्दो.उप.५।१०।८)	२३२
अथैनम् आसन्यं प्राणमूचस्त्वं (बृहदा.उप. १।३।३)	३८०
अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य (भाग.पुरा.१०।८।४०)	२९३
अदृश्यम् अग्राह्यम् (मुण्ड.उप.१।१।६)	३५१
अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्याः (तैत्ति.उप.२।१)	१०३-१०६
अद्यते अत्ति च भूतानि (तैत्ति.उप.२।२)	१०५
अद्वितीयम् (छान्दो.उप.६।२।१)	३०८
अधिकन्तु भेदनिर्देशाद् (ब्रह्मसू.२।१।२२)	११७, १३१
अधिष्ठानं तथा कर्ता (भग.गीता १८।१४)	१३८
अधीहि भगव इति (छान्दो.उप.७।१।१)	५०६, ५०८-५०९
अनन्तरो अबाह्यः (बृ.उप.४।५।१३)	२८
अनन्यचेताः सततम् (भाग.गीता ८।१४)	४१०
अनन्याः चिन्तयन्तो (भाग.गीता ९।२२)	५१५
अनर्थोपशमं साक्षाद् (भाग.पुरा.१।७।६)	५३१
अनादिमत्परं ब्रह्म न (भग.गीता १३।१२)	२८६
अनाधृष्टमसि (तैत्ति.संहि.१।२।१०)	४०९
अनिच्छतो मे गतिम् (भाग.पुरा. ३।२५।३६)	३९५
अनित्ये जननं नित्ये (भाग.सुबो.कारि.२।६।१)	९०, ११२
अनु मे दीक्षाम् (तैत्ति.संहि.१।२।१०)	४०९
अनुच्छित्तिधर्मा (बृहदा.उप.४।५।१५)	३०८, ३५६
अनुदिते जुहोति (तैत्ति.ब्राह्म. ३।८।१६।४)	३३३
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि (भग.गीता.११।१६)	२९७, ३५१
अनेन जीवेन आत्मना (छान्दो.उप.६।३।२)	२३, ३३, १११, ११६, ११९-२०, १८४
अन्तरा भूतग्रामवत् (ब्रह्मसू.३।३।३५)	४३७
अन्ते नारायणस्मृतिः (भाग.पुरा.२।१।६)	४०२
अन्नं ब्रह्मेति व्यजानाद् (तैत्ति.उप.३।२)	३६६, ३६८, ३६९
अन्नमयं हि सोम्य मन (छान्दो.उप.६।५।४)	१०५
अन्नम् अशितं त्रेधा (छान्दो.उप.६।५।१)	१९१
अन्नाद् रेतो भवति (.....)	२४०
अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते (तैत्ति.उप.२।२)	३६८

अन्यथात्वं शब्दाद्	(ब्रह्मसू.३।३।६)	३५१
अन्योन्तरात्मा	(तैत्ति.उप.२।४)	३६६-३६७
अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां च	(भाग.पुरा.१।७।४)	२५०
अपहतपाप्मा ह्येषः	(छान्दो.उप.८।४।१)	३८२
अपाणिपादो जवनो ग्रहीता	(श्वेता.उप.३।१९)	३०, १५३, २८१, २९५, ३२५
अपि वा तमादेशम् अप्राक्षो	(छान्दो.उप.६।१।३)	१६
अपि स्मर्यते	(ब्रह्मसू.३।४।२९)	५१४
अप्राप्य मनसा सह	(तैत्ति.उप.२।९)	२९५
अभि त्वा शूर नोनुमा	(ऋग्वेद ५। ३।२१)	३८५
अमुं पञ्चपदं	(गोपा.पू.ता.उप.२।१३)	३९८
अम्भस्य पारे भुवनस्य	(महाना.उप.१।१।१)	३७९, ४५७
अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेन	(बृहदा.उप.४।३।३५)	११५-११६
अयञ्जनो नाम चलन्	(भाग.पुरा. ५।१२।५)	६८
अयमात्मा अनन्तरो अबाह्यः	(बृहदा.उप.३।९।२८)	११५
अयमात्मापहतपाप्मा	(छान्दो.उप.८।१।५)	११७
अयमेव स यो अयम्	(बृहदा.उप.२।५।१)	२७६
अयम् आत्मा अजरो अमरः	(बृहदा.उप.४।४।२५)	११४
अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्	(ब्रह्मसू.३।२।१४)	३०४, ३०९
अर्थार्थी समर्थो विद्वानधिकारी	(.....)	२६७-२६८
अर्वाब्जिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः	(.....)	२११, २२८
अर्वाचीन-विकल्प-वितर्क	(भाग.पुरा.६।९।३६)	२७
अवाङ्मनोऽमुखम्	(बृहदा.उप. ३।८।८)	२९४
अविद्यया मन्यते	(बृहदा.उप.६।३।२०)	२५१
अविनाशी अरे अयम् आत्मा	(बृहदा.उप.४।५।१४)	३०७-३०८
अव्यक्तो अक्षर इत्युक्तः	(भग.गीता८।२१)	३९३, ४११
अशब्दम् अस्पर्शम्	(कठोप.१।३।१५)	१४
अष्टौ ग्रहाः अष्टावतिग्रहाः	(बृहदा.उप.३।२।१)	१७१
असद् वा इदम् अग्र आसीद्	(तैत्ति.उप.२।७)	८, १९-२१, १६९
असुर्या नाम ते लोका	(ईशोप.३)	४९५, ४९८
असौ वाव लोको	(छान्दो.उप.५।४।१)	२०३-२१०
अस्थि चैव तेन मांसं च	(तैत्ति.ब्राह्म.१।५।९।७)	२०५

अस्थूलमनणु (बृहदा.उप.३।८।८) १४, २७१, २७२, २९४,
३२७

अस्पर्शमगन्धमरसं	(कठोप.१।३।१५)	२९५
अस्मदादिमुखेनैव क्रीडार्थं	(तत्त्वदी.नि.सर्वनि.प्र.१७०)	१७०
अस्मिन् मे लोके	(तैत्ति.संहि. ६।२।३)	३५१
अस्य महतो भूतस्य	(बृहदा.उप.२।४।१०)	३०३
अस्यैव आनन्दस्य अन्यानि	(बृहदा. उप.४।३।३२)	५०८
अस्यैव एतानि निश्वसितानि	(बृहदा.उप.२।४।१०)	१७०
अहं पुरा भरतो नाम राजा	(भाग.पुरा.५।१२।१४)	२३३
अहं भक्तपराधीनः	(भाग.पुरा.९।४।६३)	४४१, ४५०, ५२०
अहं मनुरभवम्	(बृहदा. उप.१।४।१०)	१३५
अहं सर्वस्य जगतः	(भग.गीता ६।७)	४
अहं सर्वस्य प्रभवो	(भग.गीता १०।८)	४८०
अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि	(महाना.उप. ५।१०)	४१९
अहमेव एतत्पञ्चधा	(प्रश्नोप.२।३)	१७९

आ

आकाश आत्मा	(तैत्ति.उप.१।७)	९८, २९१
आकाश ओतश्च प्रोतश्च	(बृहदा.उप. ३।८।११)	२९४
आकाश-शरीरं ब्रह्म	(तैत्ति.उप.१।६।२) ९७	
आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः	(शत.ब्राह्मण १०।६।३।२१)	८८, ९७, ३१९
आकाशात् चन्द्रमसम्	(छान्दो. उप. ५।१०।४)	२३७
आकाशाद् वायुः वायोरग्निः	(तैत्ति.उप.२।१)	१०६, १०९
आकाशे ओतः प्रोतश्च	(बृहदा.उप.३।८।४)	३००
आकाशे तिष्ठन् आकाशं	(उप.३।७।१२)	९८
आकाशे तिष्ठन् आकाशमन्तरो	(बृहदा.उप.३।७।१२)	९८
आकाशो ब्रह्म	(छान्दो.उप.३।१८।१)	२९१
आकाशो ह्यवैभ्यो ज्यायान्	(छान्दो.उप.६।१।९)	३५३-३५४
आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः	(वसि.स्मृ.६।३)	२१६
आचार्यकुलाद्	(छान्दो.उप.८।१५।१)	५३३-५३८
आचार्यवान् पुरुषो वेद	(छान्दो.उप.६।१४। २)	५०८-५११
आत्मत एवेदं सर्वम्	(छान्दो.उप.७।२६।१)	४३६-४३८
आत्मतः प्राणाः	(छान्दो.उप.७।२६।१)	४६४

आत्मतएव इदं सर्वम्	(छान्दो.उप. ७।२६।२)	४५२-४५३
आत्मन आकाशः सम्भूतः	(तैत्ति.उप.२।१)	९४, ३१३
आत्मनस्तु कामाय	(बृहदा.उप.२।४।५)	३७०
आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि	(छान्दो. उप.८।१५।१)	५३६
आत्मने अन्नाद्यम् अगायद्	(बृहदा.उप.१।३।१७)	१९३
आत्मन्येव आत्मानं पश्येद्	(बृहदा.उप.६।४।२३)	५१३
आत्मरतिः आत्मक्रीड	(छान्दो.उप. ७।२५।२)	४६६
आत्मानं प्रियम् उपासीत	(बृहदा.उप.१।४।८)	३७१
आत्मानं स्वयमकुरुत	(तैत्ति.उप.२।७)	३२, २५०, ३६४
आत्मावा अरे द्रष्टव्यः	(बृहदा.उप.२।४।५)	१५९
आत्मेत्येवोपासीत	(बृहदा.उप.१।४।७)	३७०
आत्मैव तदिदं सर्वम्	(छान्दो.उप. ७।२५।२)	४६४
आत्मैवेदं सर्वम्	(छान्दो.उप.७।२४।१)	४४७-४४८
आनन्त्येऽपि हि कार्याणाम्	(तत्त्वदी.निब.२।११८)	१८३
आनन्द आत्मा	(तैत्ति.उप.२।५)	३६४, ३६५
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्	(तैत्ति.उप.२।४)	४२८, ४३०, ४३२, ५०५
आनन्दाद्ध्येव खलु	(तैत्ति.उप. ३।२)	५५
आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानाद्	(तैत्ति.उप.२।६)	३६६
आनाधृष्टम् असि	(तैत्ति.संहि.१।२।१०)	४०९
आनीदवातं स्वधया तदेकम्	(तत्रैव १०।१२९)	१७४, १७५
आपः पुरुषवचसो भवन्ति	(छान्दो.उप.५।९।१)	२४४-२४५
आप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवम्	(बृहदा.उप.६।२। १६)	२१४
आब्रह्मभुवनाद् लोकाः	(भग.गीता ८।१६)	५२५
आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः	(श्वेता.उप.५।८)	१२२, ११७, ११८
आराग्रा अवान्तरदीक्षाम्	(तैत्ति.संहि. ६।२।३)	३५१
आर्षं धर्मोपदेशं च	(मनुस्मृ.१२। १०६)	१२
आलोमभ्यः आनखाग्रेभ्यः	(कौषी.उप.४।१९)	१२७
आश्रमाद् आश्रमं गच्छेद्	(भाग.पुरा.११।१७।३८)	५२७
आश्विनं धूम्रललामम्	(तैत्ति.संहि.२।१।१०)	४७७
आश्विनम्	(तैत्ति.संहि.२।१।१०)	४८७
आसीनो दूरं व्रजति	(कठोप.१।२।२१)	८४, ११८, २८१, २८२, २०९, २९३, २९७, ३२५

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः	(छान्दो.उप.७।२६।२)	४३६, ५१४
आहुश्च ते नलिननाभ	(भाग.पुरा.१०।८२।४९)	४१७

इ-ई

इति प्राचीनयोग्योपास्व	(तैत्ति.उप.१।६।२)	९८
इति होपससाद	(छान्दो.उप.९।१।१)	५०६
इदं सर्वं यदयमात्मा	(बृहदा.उप.२।४।६)	९८
इदमासीत्	(तैत्ति.उप.२।७)	२०
इदम् अग्रे सदेव आसीद्	(छान्दो.उप.६।२।१)	१६९
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि	(भग.गीता १०।२२)	१७३
इन्द्रियाणि दशैकञ्च	(भग.गीता १३।५)	१७३
इन्द्रियेभ्यः परं मनः	(भग.गीता.३।४२)	१७३
इन्द्रो वैवस्वत	(आप. श्रौ.सू.१०।६)	५१०
इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते	(छान्दो.उप.४।१५।६)	५४०
इयं पृथिवी सर्वेषां	(बृहदा.उप.२।५।१)	२७६
इयं वै मनः	(.....)	२१०
इयदामननाद्	(ब्रह्मसू.३।३।३५)	४१४
इह आगतो अहं	(भाग.पुरा.३।४।२०)	४१७
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे	(भग.गीता १८।१६)	५३४
ईश्वरग्रासस्तुरीयः	(नृसिंहोत्त.१)	१३४
ईश्वरो हि तथा स्याद्	(बृहदा.उप. १।४।८)	३७०-३७१

उ-ऊ-ऋ

उच्छिष्टभोजिनो दासाः	(भाग.पुरा.११।६।४६)	५२१
उत्क्रमिष्यत एवम्भावाद्	(ब्रह्मसू.१।४।२१)	१३५
उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्	(ब्रह्मसू.२।३।१९)	१६७
उदिते जुहोति	(तैत्ति.ब्राह्म.३।८।१६)	३३३
उद्गात्रत्विजा वायुना प्राणेन	(बृहदा.उप. ३।१।५)	
उन्निनीषति, अधो निनीषति	(कौषी.उप.३।१९)	१५०
उपसंहारोर्थाभेदाद्	(ब्रह्मसू.३।३।५)	३५३
उपासीनस्तत्पदवीं लेभे	(भाग.पुरा.११।२।१८)	२३३
उभावस्मिन्	(छान्दो.उप.८।१।३)	३१३
ऊर्णनाभिः यथा तन्तून्	(बृहदा.उप.२।१।२०)	११९
ऊर्ध्वरेतः	(बृह्मसू. ३।४। १६)	५२७

ऋणत्रयम् अपाकृत्य मनो	(.....)	४९७
ऋतौ भार्याम् उपेयात्	(आश्व.श्रौ.सू.२।१६)	१५७
ऋषयोऽपि देव युष्मत्प्र	(भाग.पुरा.३।९।१)	४२४

ए-ऐ

एकं वा संयोगरूपचोदनाख्या	(जैमि.सू.२।४।९)	३२९
एकएव यजेत	(तैत्ति.संहि.७।२।१०।३)	२६६
एकदेशस्थितस्य इन्दोः	(विष्णुपरा.१।२२।५६-७)	३०४
एकधा बहुधा चैव	(ब्रह्म.बि.उप.१२)	१६१
एकमेव	(छान्दो.उप.६।२।१)	३०८, ३२८
एकमेव अद्वितीयं ब्रह्म	(त्रिपा.महाना.उप.३।३; छान्दो.उप.६।२।१)२७५, ३०२, ३०४-३०५, ३१०, ३२७	
एकमेवाद्वयम्	(अध्यात्मो.६३)	४५७
एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा	(छान्दो.उप.६।१।३)	९५
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न	(कठोप.२।५।११)	१५७
एकाकी न रमते	(महोप.१।१)	३३
एकादशामी मनसो	(भाग.पुरा.५।११।९)	१७८
एकादशेन्द्रियचमूः	(भाग.पुरा. ४।२७।२०)	१७३
एकेन मृत्पिण्डेन	(छान्दो.उप.६।१।४)	९६
एकोऽहं बहु स्याम्	(छान्दो.उप.६।२।३)	८४, २८३
एतं वै तम् आत्मानं	(बृहदा.उप.३।५।१)	४८४
एतं ह वाव न	(तैत्ति.उप.२।९)	४२८, ५०७
एतद् विदित्वा	(बृहदा.उप. ३।८।१०)	२९४
एतद् विदुः अमृतास्ते भवन्ति	(तैत्ति.उप.२।१)	५११
एतद् वै तदक्षरं	(बृहदा.उप.३।८।८)	४०७
एतद्ध स्म वै	(ऐत.आर.३।२।६; कौषी.उप.२।४)४८३, ४८४	
एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे	(बृहदा.उप.४।४।२२)	५२०, ५३४
एतद्वा अक्षरं गार्गि अदृष्टं	(बृहदा.उप.३।८।११)	१२८
एतद्वै तदक्षरम्	(बृहदा.उप.३।८।८)	२७९
एतम् आनन्दमयम् आत्मानम्	(तैत्ति.उप.३।५)	३१२
एतल्लोकाय कर्मणः	(.....)	२००
एतस्माज् जायते प्राणो	(मुण्ड.उप.२।१।३)	१०१, १६६, १७५, १८१, १८३, १८८-१९१, १९२-१९३, २८३

एतस्माद् आत्मनोऽणवो	(.....)	१४७
एतस्यैव अक्षरस्य प्रशासने	(बृहदा.उप. ३।८।९)	४०, २९४
एतस्यैव आनन्दस्य	(बृहदा. उप.४।३।३२)	४८४
एतावद् अरे खलु	(बृहदा.उप.४।५।१५)	४८४
एतावान् अस्य महिमा	(तैत्ति.संहि. ३।१२।१)	३७९
एतावान् साङ्ख्य	(भाग.पुरा.२।१।६)	४०२
एते चांशकलाः पुंसः	(भाग.पुरा.१।३।२८)	३४२
एतैः उपायैः यतते	(मुण्ड.उप.३।२।४)	४४२, ४४५-४४६
एवं गुरुपासनयाशितेन	(भाग.पुरा.११।१२।२४)	३७४
एवं त्रयीधर्मम् अनुप्रपन्ना	(भग.गीता ९।२१) १९९	
एवं निरुक्तं क्षितिशब्दवृत्तम्	(भाग.पुरा.५।१२।९)	६९
एवं पश्यन् एवं	(छान्दो.उप.७।२५।२)	४४९, ४६४
एवं सेतुं तीर्त्वान्धः सन्	(छान्दो.उप.४।२)	३१२
एवंविदि	(छान्दो. उप.५।२।१)	५१४
एवमेव अयं शारीर आत्मा	(बृहदा. उप.४।३।२१)	१३०
एष उ एव साधुकर्म	(कौषी.उप.३।९)	१४८, १६३-६४, २२४, ३२३, ३९४
एष नित्यो महिमा	(बृहदा.उप.४।४।२३)	४८९-४९०, १९९, ५०१
एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य	(तैत्ति.ब्राह्म. ३।१२।९।७)	३८७
एष हि द्रष्टा श्रोता	(प्रश्नोप.४।९)	११५
एष ह्येव साधु कर्म कारयति	(कौषी.उप.३।८)	३२
एषः नित्यो महिमा	(बृहदा.उप.४।४।२३)	३८७
ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्	(छान्दो.उप.६।८।७)	९७, १२८, २५०, २८३, ३४३, ४३८-४३९
ऐन्द्राग्नं पुनरुत्सृष्टम्	(तैत्ति.संहि.२।१।१५)	४७८
ओ-औ		
ओषधीः लोमानि	(बृहदा.उप.३।२।१३)	२०८
ओषधीभ्यो अन्नम्	(तैत्ति.उप. २।१।१)	१०९
औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या	(.....)	२
औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्गायेद्	(लाट्या.श्रौ.सू.२।६।२)	२
क		
क उ नु ते महिमनः	(ऋग्वेद १०।५४।३)	१३५

कतमः आत्मा यो अयं	(बृहदा.उप.४।३।७)	१२३, २४८
कथम् असतः सज्जायेत	(छान्दो.उप.६।२।२)	८, २५०
कदाचित् सुकृतं कर्म	(.....)	२१८
कपूयचरणाः कपूयां योनिम्	(छान्दो.उप.५।१०।७)	१५२, २२५
कर्ता शास्त्रार्थवत्वाद्	(ब्रह्मसू.२।३।३३)	१५७
कर्ता स्वतन्त्रएव स्यात्	(तत्त्वदी.निब.शास्त्रा.प्र.७७)	१३९
कर्मात्मा त्वपरो	(महाभा.शान्तिप. ३५१।१५)	१५७
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मनम्	(कठोप.४।१)	२९५, ३०४, ४५७
कषाये पक्वे ततो	(महाभा.शान्तिप.२७६।३९)	५१२
कस्मिन् प्रतिष्ठित	(छान्दो.उप.७।२४।१)	४४६-४४७
कस्याश्चित् पूतनायन्त्या	(भाग.पुरा.१०।३०।१५)	४४८
कामं क्रोधं भयं स्नेहम्	(भाग.पुरा.१०।२९।१५)	४२१
कामः सङ्कल्पः	(बृहदा.उप.१।५।३)	१३९
कामरूपी अनुसञ्चरन्	(बृहदा.उप.४।४।६; तैत्ति.उप.३।१०)	११९, १२०
कार्यकारण-कर्तृत्वे हेतुः	(भग.गीता. १३।२०)	१३७
किं तदासीत् तस्मै स	(सुबा.उप.१।१)	१०८
किं तद्रूपम्? किं रसनम्	(गोपा.पू.उप.१)	३९८
किं प्रजया करिष्यामो	(बृहदा.उप.४।४।२२)	४९३, ५३६
किं वर्णितेन बहुना	(भाग.पुरा.११।१९।४५)	१४९
किरातहूणान्ध्र...	(भाग.पुरा.२।४।१८)	३९७
कीटः पतंगाः यदि	(बृहदा.उप.६।२।१६)	२३२-२३३
कुतस्तु खलु सौम्यैवं स्यात्	(छान्दो.उप. ६।२।२)	८
कुत्र अयं पुरुषः तिष्ठति	(.....)	२०९
कृतप्रयत्नापेक्षस्तु	(ब्रह्मसू.२।३।४२)	४५८
कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहित	(ब्रह्मसू.२।३।४२)	३२३
कृष्णएव परो देवः	(गोपा.पू.ता.उप.२।१३)	३९८
कृष्णो अहम् अहं कृष्णः	(भाग.पुरा.१०।१९।२७)	४१९
के ते देवा	(बृहदा.उप. १।३।२)	१८५
केचित् षड्विंशतिं प्राहुरितरे	(भाग.पुरा. ११।२२। २,३)	४७
केनाक्रमेण यजमानः स्वर्गं	(बृहदा.उप. ३।१।६)	१८६
केवलाघो भवति	(.....)	२२१
केवलेन हि भावेन	(भाग.पुरा.११।१२।८)	४०२, ४७४

क्रतुं कुर्वीत	(छान्दो.उप.३।१४।१)	१३७
क्वच्चित् कल्याण्यो दक्षिणा	(आप.श्रौत.)	५३०
क्वैष तदाभूत्	(बृहदा.उप.२।१।१६)	२६५
क्षुद्राः विस्मु लिंगाः	(बृहदा.उप.२।१।२०)	२९२

ख-ग-च

खं वायुर्ज्योतिरापः	(प्रश्नोप.६।४)	९१
गुहां प्रविष्टौ	(कठोप.१।३।१)	१२३
गृहस्थस्य क्रियात्यागो	(भाग.पुरा.७।१५।३८)	५३१
गृह्यो न हि गृह्यते	(बृहदा.उप.३।९।२६)	३८७
गोप्यः कामाद् भयात् कंसः	(भाग.पुरा. ७।१।३०)	४२१
चक्षुषश्चक्षुः	(केनोप.१।२)	१६८
चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रम्	(बृहदा.उप.४।४।१८)	३०४
चन्द्रमा मनसो जातः	(ऋग्वेद १०।९०।१३)	२११-२१२
चरमः सन् विशेषाणाम्	(भाग.पुरा.३।११।१)	५२
चाक्रायणः किल	(छान्दो.उप.१।१०।१)	५१४
चित्तं सुखेन भवता	(भाग.पुरा.१०।२९।३४)	४४४
चित्रया यजेत पशुकामः	(तैत्ति.सं.२।४।६।१)	४९६
चिन्तयंश्चेतसा	(गोपा.पू.उप.२)	४०२
चेरतुः प्राकृतो यथा	(भाग.पुरा. १०।११।४३)	१४७

ज

जनको ह वैदेह	(बृहदा.उप.३।१।१)	१८६, ४७७, ४८३, ४९९
जन्माद्यस्य यतः	(ब्रह्मसू.१।१।२)	३१८
जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यान	(पाण्ड.गीता ४०)	३८९
जन्मान्तरसहस्रेषु समाराध्य	(वारा.पुरा.२०९।८६)	३९०
जातोऽहं खलानां ननु	(.....)	४४८
जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः	(गौत्त.न्यायसू.२।२। ६८)	२३८
जायमानः शरीरम्	(बृहदा.उप.४।३।८)	११२
जायस्व	(छान्दो.उप.५।१०।८)	२३४
जालान्तरगते भानौ यत्	(मनुस्मृ.८।१३२)	५०
जितेन्द्रियस्य मुख्यस्य	(भाग.पुरा.११।१५।१)	१७७
जीवितात्ययम् आपन्नो	(मनुस्मृ.१०।१०४)	५१६
जुगुप्सेत	(छान्दो.उप.५।१०। ८)	२३२

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः	(श्वेता.उप.१।११)	२५८
ज्ञात्वाज्ञात्वा च कर्माणि	(भाग.पुरा.१०।२१।६)	३८१
ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता	(भग.गीता१८।१८)	२२२
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं	(भाग.पुरा.१।१६।२६-२९)	३०
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि	(भग.गीता ४।३७)	५१६, ५१७
ज्ञानादेव तु कैवल्यम्	(ग.पु.सा.१६।८७)	४०६
ज्ञानिनामपि चेतांसि	(माकण्डे.पुरा.१।५४)	५१५
ज्ञोत एव	(ब्रह्मसू.२।३।१८)	१५१
ज्यायानाकाशाद्	(छान्दो.उप.१।९।१)	२७४
ज्यायान् दिवो ज्यायान्	(छान्दो.उप.३।१४।३)	३१९
ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो	(आप.श्रौ. सू. १०।२।१)	१३७, ४९५

ट

टुओश्वि गतिवृद्धयोः	(धातुपा.भ्वादि.१०८२)	९९
---------------------	----------------------	----

त

तं तु औपनिषदं पुरुषं	(बृहदा.उप.३।९।२६)	१३२, २८१
तं ध्यायेत्तं रसेत्तं भजेद्	(गोपा.पू.ता.उप. २।१३)	३३१
तं यथा यथोपासते	(मुद्गल.उप.९।३)	३७४, ३९९
तं यदा पाप्मना अविध्यन्	(बृहदा.उप.)	१८७
तं विदित्वा	(बृहदा.उप.४।४।२४)	५०२-५०५
तं विद्या-कर्मणी	(बृहदा.उप.४।४।२)	२०२, २०७, ४७७, ४८६
तं ह उवाच अजातशत्रुयः	(कौषी.उप.४।१८)	१२७
तच्चापि चित्तबडिशं	(भाग.पुरा.३।२८।३४)	५००
ततः किञ्चन न स्मरेत्	(भाग.पुरा.११।१४।४४)	५००
ततः परमा वश्यता इन्द्रियाणाम्	(योगसू.२।५५)	१४६
ततस्तु तं पश्यते	(मुण्ड.उप.३।१।८)	२९७
ततो मां तत्त्वतो	(भग.गीता१८।५५)	३९२-३९३
तत्तद्वपुः प्रणयसे	(भाग.पुरा.३।९।११)	३०१
तत्तेज ऐक्षत	(छान्दो.उप.६।२।३)	६, १०६
तत्तेजोऽसृजद्	(छान्दो. उप.६।२।३)	१०१-१०२
तत्त्वमसि	(छान्दो.उप.६।८।७)	१२८, १२९, ३८६, ४३९
तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्	(योगसू.३।२)	१४६
तत्र यः परमात्मा	(महाभा.शान्तिप.३५१।१४)	१५७

तत्रवृत्तेः द्वासुपेर्णाश्रुतेरपि	(तत्त्वदी.नि.शा. प्र.५८)	१६१
तत्रैव यावान् वा अयम्	(छान्दो.उप. ८।१।३)	३१२
तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशद्	(तैत्ति.उप.२।६)	२३
तत् केन कं पश्येद्	(बृहदा. उप.२।४।१४)	१४७
तत् तेज ऐक्षत	(छान्दो.उप.८।२।२)	२३५
तत् प्रसंगानुभावेन	(भाग.पुरा.९।२१।१८)	३७५
तत् सत्यम् इत्याचक्षते	(तैत्ति.उप.२।६)	२५०
तत् समवमृशन् यम्	(आप.श्रौतसू.११।१।४)	४०९
तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशद्	(तैत्ति.उप.२।६)	१५४
तथा प्राणः	(ब्रह्मसू. २।४।१)	१६६
तदधिगम उत्तरपूर्वाघ	(ब्रह्मसू.४।१।१३)	२२८
तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवद्	(तैत्ति.उप.२।६)	१८४
तदपो असृजत	(छान्दो.उप.६।२।३)	२३५
तदपोसृजत	(छान्दो.उप.६।२।३)	१०२
तदा ते असुरा विदुरनेन वै न	(बृहदा.उप. १।३।३)	१८६
तदा विद्वान् पुण्यपापे	(मुण्ड.उप.३।१।३)	३८३-३८६
तदात्मानम्	(तैत्ति.उप.२।७)	२६
तदेतत् प्रेयः पुत्रात्	(बृहदा.उप.१।४।८)	३७०-३७२
तदेतद् अक्षयं नित्यं	(विष्णुपुरा.१।२२।६०)	१९, ३०७
तदेतद् ब्रह्मचर्येण	(कामसू.)	४६५
तदेव अर्थमात्रनिर्भासं	(योगसू.३।३)	१४६
तदेव ज्योतिषां ज्योतिः	(बृहदा.उप.४।४।१६)	३०३
तदेव भूतं तदु	(तैत्ति.आर. १०।१०।१)	४५७
तदेषां प्राणानां विज्ञानेन	(बृहदा.उप.२।१।१७)	१३९
तदैक्षत तत् तेजो असृजत	(छान्दो.६।२।३)	९०
तदैक्षत बहुस्यां	(छान्दो.उप. ८।२।१)	३०८
तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत	(तैत्ति.उप.२।७)	१९-२१
तद् आत्मानमेव अवैद्	(बृहदा.उप.१।४।१०)	३६६
तद् एषा अभ्युक्ता	(तैत्ति.उप. २।१)	४५४, ४५५
तद् य इत्थं विदुः	(छान्दो.उप.५।१०।१)	१९८
तद् य इह रमणीयचरणा	(छान्दो.उप.५।१०।७)	२१९
तद् यथा प्रियया स्त्रिया	(बृहदा.उप.४।३।२१)	१२९, १३०

तद् यो अहं सो	(ऐत.आर.२।१२।२)	४१९
तद् वा अस्यैतद्	(बृहदा.उप.४।३।२१)	२६२
तद् विष्णोः परमं पदम्	(तैत्ति.संहि.१।३।६)	५२३
तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः	(ब्रह्मसू.२।३।२९)	३८६
तद्देवानाम् अन्नं	(छान्दो.उप.५।१०।४)	२१४
तद्भाम परमं मम	(भाग.गीता ८।२१)	४१०
तद्वैक आहुः असदेवेदम्	(छान्दो.उप. ६।२।१)	८
तद्य इत्थं विदुः	(छान्दो.उप.५।१०।१)	२३१
तद्य इह रमणीयचरणाः...	(छान्दो.उप.५।१०।७)	२२६
तद्यथापि हिरण्यनिधिं	(छान्दो.उप. ८।३।२)	३१२
तद्वतो विधानाद्	(ब्रह्मसू.३।४।६)	४८५
तद्वा अस्य एतदात्मकामम्	(बृहदा.उप.४।३।२१)	२६१
तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दो	(बृहदा. उप.४।३।२१)	१३०
तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत्	(मुण्डकोप.१।२।१२)	१५२
तद्वै तत् पश्यन्	(बृहदा. उप.१।४।१०)	२१४
तन्तु औपनिषदम्	(बृहदा.उप.३।९।२६)	३०६, ३७२
तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व	(तैत्ति.उप.३।२)	९४, १५२, ३७०
तपसैव यथा पूर्वं स्रष्टा	(भाग.पुरा.३।१२।१८)	३३
तमु स्तोतारः पूर्व्यं	(ऋग्वेद १।१६४।३९)	४२५
तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति	(बृहदा.उप. ४।४।२)	१७०, १८९, २०७
तमेतं वेदानुवचनेन	(बृहदा. उप.४।४।२)	४७९, ४९३, ४९५, ५०२, ५१३
तमेव एकं जानथ	(मुण्ड.उप.२।२।५)	५१८
तमेव धीरो विज्ञाय	(बृहदा.उप.४।४।२१)	५१८
तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति	(श्वेता.उप.३।८)	१३१, २७३, २७४, २८१, ३९३, ४०६, ४७६
तमेव विदित्वा मुनिर्भवति	(बृहदा.उप.४।४।२२)	४८०, ५०२-५०३
तमेव सर्वगेहेषु सन्तमेकं	(भाग.पुरा.१०।६९।२)	३४
तमेवं विद्वानमृत	(तैत्ति.आर.३।१२।७)	१३१, ३९१, ४७३, ४९२
तमो वा इदम् एकमेव अग्र	(मैत्रा.उप.५।२)	४७
तम् उत्क्रामन्तं प्राणो	(बृहदा.उप.४।४।२)	१८३
तयैव परया निर्वृत्या	(भाग.पुरा.५।६।१७)	५२४

तयोरन्यः पिप्पलं	(श्वेता.उप.४।६)	१५७
तरति ब्रह्महत्याम्	(तैत्ति.संहि.५।३।१२)	२२७
तरति शोकम् आत्मवित्	(छान्दो.उप. ७।१।३)	४०६
तर्काप्रतिष्ठानाद्	(ब्रह्मसूत्र)	१७
तस्मात् तत् सुकृतम् उच्यते	(तैत्ति.उप.२।७)	९
तस्मात् तमः सञ्जायते	(सुबा.उप. १।१)	१०८
तस्मात् त्वम् उद्धव	(भाग.पुरा.११।१२।१४)	४३१
तस्मात् सर्वौषधम् उच्यत	(तैत्ति.उप. २।१।१)	१०९
तस्माद् एकाकी न रमते	(बृहदा.उप.१।४।३)	५२९
तस्माद् एवंवित् शान्तो	(बृहदा.उप.४।४।२३)	३८७, ४९७, ५१३, ५१६, ५३२
तस्माद् बर्हिषि न देयम्	(तैत्ति.ब्राह्म.१।५।...)	२३६
तस्माद् मदभक्तियुक्तस्य	(भाग.पुरा.११।२२।३९)	५२०
तस्माद् यत्र क्व च वर्षति	(छान्दो.उप.६।२।४)	१०३, २३६
तस्माद् यत्र क्व च शोचति	(छान्दो.उप.८।२।३)	२३५
तस्माद् लोकात् पुनः	(बृहदा. उप.४।४।६)	११८, ५१२
तस्माद् वा एतस्माद्	(तैत्ति.उप.२।१)	१७, ५५, ८४, ८८, ९१, ९२, १०४-१०९, ३६८
तस्माद् वै वेदबाह्यानां	(कूर्मपुरा.पूर्वार्ध१६।११७-१९)	८५
तस्मान्न भिन्ना एतास्तु	(कृष्णोप.२५)	३५७
तस्मान् मदभक्तियुक्तस्य	(भाग.पुरा.११।२०।३१)	३९२
तस्मिन् उत्क्रामत्यथेतरे	(प्रश्नोप.२।४)	१७९
तस्मिन् यावत् सम्पातम्	(छान्दो. उप.५।१०।५)	२३७
तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने	(यथापूर्वम्)	२५२
तस्मै स्वलोकं भगवान्	(भाग.पुरा.२।९।९)	४५८
तस्य अग्निरेव अग्निः	(बृहदा.उप.६।२। १४)	३२५
तस्य एतस्य तदेव रूपं	(छान्दो.उप.१।७।५)	३१४
तस्य एवं विदुषो यज्ञस्य	(महाना.उप.२५।१)	१५९
तस्य तावदेव चिरं यावद्	(छान्दो. उप.६।१४।२)	५३८-५३९-५४०
तस्य प्राणएव शिरः	(तैत्ति.उप. २।१।१)	१०९
तस्य प्रियमेव शिरः	(तैत्ति.उप.२।५)	३६४
तस्य भासा सर्वम् इदं विभाति	(मुण्ड.उप.२।२।१०)	३०३-३०४

तस्य यजुरेव शिरः	(तैत्ति.उप.२।३)	१११, १६९
तस्य वा एतस्य पुरुषस्य	(बृहदा. उप.४।३।९)	१२१, २४७, २५१
तस्य सर्वेषु लोकेषु	(छान्दो.उप.७।२५।२)	४६२
तस्य ह वा एतस्य	(कौषी.उप.१।१, २, ३/छान्दो.उप. ८।३।४)	४३५
तस्य ह वा एतस्यैवं	(छान्दो.उप. ७।२६।१)	४४४, ४६६
तस्या आहुतेः गर्भः सम्भवति	(छान्दो.उप.७।८।२)	२४४
तस्याभिध्यानात्	(श्वेता.उप.१।११)	२५८
तस्यैव आत्मा पदवित्त	(बृहदा.उप.४।४।२४)	५०१
तस्यैव पदवित् स्यात्	(बृहदा.उप.४।४।२३)	५०१
तस्यैव हृदयायतनस्य अणोः	(कौषी.उप.४। १९)	१२७
तस्यैवं विदुषः	(तैत्ति.उप.२।७)	५१०
तस्यैवं विदुषो यज्ञस्य	(महाना. उप.२५)	५१०
तस्यैष आत्मा वृणुते	(मुण्डकोप.३।२।३)	४४०
तस्यैष एव शारीर आत्मा	(तैत्ति.उप. २।३)	३६५, ३६६, ३६८
ता अन्नमसृजन्त	(छान्दो.उप.६।२।४)	१०३, १०४
ता आप ऐक्षन्त	(छान्दो.उप.६।२।४)	१०२, १०४
ता आपः	(बृहदा.उप. ५।५।१)	१०२
ता नाविदन् मय्यनुषंग	(भाग.पुरा.११।१२।१२)	४४७
ता वा अस्यैता हिता	(बृहदा.उप.४।३।२०)	२६२
तानि मृत्युः श्रमो भूत्वा	(बृहदा.उप.१।५।२१)	१८३
तावत् कर्माणि कुर्वीत	(भाग.पुरा.११।२०।९)	४८८, ४९९
तासां त्रिवृतं त्रिवृतम्	(छान्दो.उप. ६।३।३)	१९१
तासु तदा भवति	(कौषी. उप.४।१९)	२५९
तिलमाषा	(छान्दो. उप. ५।१०।६)	२३७
ते ते धामान्युष्मसि	(तैत्ति.संहि.१।३।६)	५२३
ते नाधीतश्रुतिगणा	(भाग.पुरा.११।१२।७)	१५१
ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः	(तैत्ति.उप. २।८)	४१३
ते ह देवा ऊचुः हन्तासुरान्	(बृहदा.उप. १।३।१)	१८५, ३८०
ते ह वाचमूचुः त्वं	(बृहदा.उप. १।३।२)	६, १८६
ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैष	(बृहदा.उप.४।४।२२)	४७६
तेजस्वी भूयासम्	(तैत्ति.आर.....)	४६०
तेजोमयी वाक्	(छान्दो.उप.६।५।४)	१९२

तेभ्य एष प्राण उदगायत्	(बृहदा.उप. ३।३।३)	३८२
तौ ह यदूचतुः	(बृहदा.उप. ३।२।१३)	२०९
त्रिभिः ऋणवा जायते	(तैत्ति.सं. ६।३।१०)	४९७
त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीर	(श्वेता.उप. २।८)	४-५
त्रैविद्या मां सोमपाः	(भग.गीता ९।२०)	२२२
त्वं च रुद्र महाबाहो	(वरा. पुरा. ७०।३६)	६७
त्वं तु सर्वं परित्यज्य	(भाग.पुरा. ११।७।६)	५२७
त्वं न उदगाय	(बृहदा.उप. ३।३।१)	३८२
त्वयोपभुक्तस्रगन्ध	(भाग.पुरा. ११।६।४६)	४३६

द

दर्शपूर्णमासाभ्यां	(तैत्ति.सं. २।२।५)	४६७
दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो	(तैत्ति.ब्राह्म. ५।२०।८०, ८१)	३२२
दर्शयामास लोकं स्वं	(भाग.पुरा. १०।२५।१४/१५)	४५८
दश वै पशोः	(तैत्ति.संहि. ६।३।१०।३)	१७२
दहर उत्तरेभ्यः	(ब्रह्मसू. १।३।१४)	३११
दान-व्रत-तपो-होम	(भाग.पुरा. १०।४७।२४)	५०१
दिक्कालावाकाशादिभ्यः	(सांख्यसू. २।१२)	४६
दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः	(मुण्डकोप. २।१।२)	४४२
दीयमानं न गृह्णन्ति	(भाग.पुरा. ३।२९।१३)	३९९, ४५१
दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुता	(भाग.पुरा. १०।२९।१०)	३९०
दृश्यते तु	(ब्रह्मसू. २।१।६)	१३
दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या	(कठोप. ३।१२)	५
देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे	(तैत्ति.सं. १।१।६।१)	४६०
देवा अन्नं जुह्वति तस्या	(छान्दो. उप. ५।७।२)	२४२
देवाः पितरः	(तैत्ति.ब्राह्म. ३।७।५।४)	४६०
देवाः श्रद्धां जुह्वति	(छान्दो.उप. ५।४।२)	२१०
देवासुराः संयता आसन्	(तैत्ति.ब्राह्म. १।५।...)	२३६
देवेभ्य आगायत्	(बृहदा.उप. ३।३।१)	३८२
देशबन्धश्चित्तस्य धारणा	(योगसू. ३।१)	१४६
देहयोगाद्	(ब्रह्मसू. ३।२।६)	२५८
देहेन्द्रियासुहीनानां	(भाग.पुरा. ७।१।३४)	५२२
द्व्यचश्छन्दसि	(पणि.सू. ४।३।१५०)	१४१-१४२

द्रव्यं कर्म च	(भाग.पुरा.२।५।१४)	२२४
द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वाद्	(जैमि.सू.४।३।१)	४७६
द्वया ह प्राजापत्याः	(बृहदा.उप. १।३।१)	१८५, ३८०
द्वा सुपर्णा	(मुण्ड.उप.३।१।१)	२५३
द्वादश रात्रीर्दीक्षितः स्याद्	(तैत्ति.संहि.७।२।१०।३)	२६६
द्विजन्मना जैमिनिना	(पाद्मपुरा.उत्त.खं.)	४९३
द्विधा समभवद् बृहद्	(भाग.पुरा.११। २४।३)	१५
द्वे वा व ब्रह्मणो रूपे	(बृहदा.उप.२।३।१)	२८४

ध

धन्वन्निव प्रपा असि	(ऋग्वेद १०।४।१)	३८
धर्म वा एतद्यज्ञस्य	(.....)	३४९
धर्मः सत्यादयोपेतो	(भाग.पुरा.११। १४।२२)	५२८
धारयति रसति भजति	(गोपालपू.ता.उप.१)	४०५
धार्मिकान् विदधद्	(छान्दो.उप.८।१५।१)	५३८
ध्यायतीव लेलायतीव	(बृहदा. उप.४।३।७)	१४६

न

न अन्यो अतो अस्ति	(कौषी.ब्राह्म.३।९)	१४९
न अपुत्रस्य लोको अस्ति	(ऐत.ब्राह्म.७।१३।१२)	४९७
न अयम् आत्मा	(कठोप.२।२३)	२६६
न असदासीद्	(ऋग्वेद १०।१२९)	१७४-१७५
न कञ्चन कामं कामयते	(बृहदा.उप.४।३।१९)	१३२
न कर्मणा	(महाना.उप.१०।५)	४१३, ४८१, ४८२, ४८७, ४९७
न कलज्जं भक्षयेद्	(.....)	४९३
न चक्षुषा गृह्यते	(मुण्ड.उप.३।१।८)	२९५
न जायते न म्रियते वा	(कठोप.१।२।१८)	८४, ११४
न ज्ञानं न च वैराग्यं	(भाग.पुरा.११।२०।३१)	४२९, ४९२
न तत्र रथा न रथयोगा न	(बृहदा.उप. ४।३।१०)	२८, २४७, २४८, २४९, २५०
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च	(श्वेता.उप.६।८)	२८६, २९४, ३१७, ३८४
न तस्मात् प्राणा	(सुबालोप.३।३)	१६९
न तस्य कार्यं करणं च विद्यते	(श्वेता.उप.६।८)	३०

न तृतीये तथोपलब्धेः	(ब्रह्मसू.३।१।१८)	२५८
न ददाति न पचति	(आप.श्रौ.सू.१०।१४।६।७)	५३०
न पश्यो मृत्युं पश्यति	(छान्दो.उप. ७।२६।२)	४३६, ४५२, ४५३
न बाह्यं किञ्चन	(बृहदा.उप.४।३।२१)	२६०
न बिभेति कुतश्चन	(तैत्ति.उप.२।९)	४३२
न ब्राह्मणं हिंस्याद्	(तैत्ति.सं.२।६।१०)	१६०
न यत्र माया	(भाग.पुरा. २।९।१०)	४१२
न यत्र माया किमुत	(भाग. पुरा.२।९।१०)	५२१
न वा अरे पत्युः कामाय	(बृहदा.उप. २।४।५)	१२९, ३७१
न वा प्रकरणभेदाद्	(ब्रह्मसू.३।३।८)	३५४, ३८८
न वाविशेषाद्	(ब्रह्मसू.३।३।२१)	३७७
न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति	(छान्दो.उप.३।६।१)	२१५
न व्यथते	(बृहदा.उप.३। ९।२६)	३८७
न शूद्राय मतिं दद्यात्	(मनुस्मृ.४।८०)	१५७
न स पुनरावर्तते	(छान्दो.उप.८।३।१)	१३१, १३२,
न ह वा अस्य	(बृहदा.उप.६।१।१४)	५१४
न ह वा एवंविदि	(छान्दो.उप.५।२।१)	५१४
न ह वै देवान् पापं गच्छति	(बृहदा.उप. १।५।२०)	१८६, १८७
न हि अस्माद् अन्यत्परम्	(बृहदा.उप.२।३।६)	२८४
न हि कश्चित् क्षणमपि जातु	(भग.गीता ३।५)	२२९
न हिंस्याद् भूतजातानि	(भाग.पुरा.६।१८।४७)	२२६
न ह्यस्मात्परमस्ति	(बृहदा.उप.२।३।६)	२८६
नच प्रमादात् तपसो	(मुण्ड.उप.३।२।४)	४४१
नन्द्यादित्वात् कर्तरि ल्युः	(पाणि.सू.३।१।१३४)	१८१
नभस्तदनुलीयत	(भाग.पुरा.१२।४। १७)	९८
नमस्ते रघुवर्याय	(भाग.पुरा.१०।४०।२०)	३४७, ४६९
नराणां क्षीणपापानां	(पाण्ड.गीता४०)	३८९, ३९०
नव वै पुरुषे प्राणा	(तैत्ति.संहि. ५।३।२।३)	१७१
नाग्नेर्हि तापो न	(भाग.पुरा.११।२३।५६)	१५६
नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति	(ताण्ड्यब्राह्म.१६।१।८)	३३०
नात्मवित् श्रुतं	(छान्दो.उप. ७।१।३)	४३४
नात्मवित्...तरति	(छान्दो.उप.७।१। ३)	४४६

नानात्मानो व्यवस्थात	(वै.सू.२।२।२०)	१६२
नान्यत् पश्यति	(छान्दो.उप.७।२४।१)	४५१
नान्योतोस्ति द्रष्टा	(बृह.उप.२।७।२३)	१४९
नापि वाचा	(मुण्ड.उप.३।१।८)	२९५
नामरूपे व्याकरवाणि	(छान्दो.उप.६।३।२)	३४
नामैव एतन्नामोपास्व	(छान्दो.उप.७।१।४)	४३९
नामैव न जहाति	(बृहदा.उप. ३।२।११)	२०९
नायं हन्ति न हन्यते	(भग.गीता २।१९)	१३७
नायमात्मा	(कठोप.२।२२)	४४०, ४४१, ४३२, ४४० ४७३, ५१३, ५०२, ५३२
नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः	(मुण्ड. उप.३।२।४)	४४१, ४४५, ४५५, ५२८
नारायणपरा लोके न	(भाग.पुरा.६।१८।२८)	३९९, ५२६
नाहं प्रकाशः सर्वस्य	(भग.गीता ७।२५)	३५५
नियतस्यतु सन्न्यासः	(भग.गीता १८।७)	४७८
नियमाच्च	(ब्रह्मसू.३।४।७)	४८७
निर्गुणश्च	(श्वेता.उप.६।११)	२९५
निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्	(श्वेता.उप.६।१९)	२६, २७९, ३०६, ३४२
निष्क्रामति चक्षुष्टो वा	(बृहदा.उप.६।४।२)	२१०
नृत्यतो गायतः पश्यन्	(भाग.पुरा.११।२२।)	१४६
नेतरोऽनुपपत्तेः	(ब्रह्मसू.१।१।१५)	२७१
नेति नेत्यात्मा अग्राह्यो	(बृहदा.उप.३।९।२६)	२९६
नेह नानास्ति	(कठोप.४।११)	३०४
नैच्छन् मुक्तिपतेः मुक्तिं	(भाग.पुरा. ४।९।२९)	५२५
नैतद-चीर्णव्रतोऽधीते	(मुण्ड.उप.३।२।११)	३४०
नैषा तर्केण मतिरापनेया	(कठोप.१।२।९)	३०६, ५१५
नोत दुःखम्	(छान्दो.उप. ७।२६।२)	४५२
न्यग्रोधबीजमाहर	(छान्दो.उप.६।१२।१)	१५२

प

पङ्गोः विष्णोः क्रमोसीति न	(.....)	४९६
पञ्चदशाहानि माशीः	(छान्दो.उप.६।७।१)	१९३
पञ्चधा आत्मानं विभज्य	(प्रश्नोप. २।३)	१८०
पञ्चम्याम् आहुतावापः	(छान्दो.उप. ५।९।१)	१९७, २२१

पञ्चविंशः आत्मा भवति	(तैत्ति.ब्राह्म.१।३।)	४७
पञ्चषड्ढायनार्भाभा	(भाग.पुरा. ७।१।३६)	१६०
पदवित् स्यात्	(बृहदा. उप.४।४।२३)	५०५
परं ब्रह्म एतद् यो धारयति	(गोपा.पू.उप.१)	३८८, ३९८, ४०१, ४०२
परः तस्मात् तु	(भाग.गीता ८।२०)	४१०
परमेष्ठिनो वा एष	(तैत्ति.संहि.१।६।९)	३२२, ४६३
परस्तस्मात्तु भावो अन्यो	(भग.गीता ८।२०-२१)	४५८
पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो	(ब्रह्मसू.३।२।५)	२५७, २५८, ३८६
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते	(श्वेता.उप.६।८)	२९, ३३९
परेण नाकं	(महाना.उप.१०।५)	४८२
परोवरीयसीमवान्तरदीक्षाम्	(तैत्ति. संहि.६।२।३)	३५२
पश्यत्यचक्षुः	(श्वेता.उप.३।१९)	२८२
पाञ्चरात्रं भागवतं तन्त्रं	(.....)	८५
पादो अस्य विश्वा भूतानि	(ऋग्वेद मं.१०।९०।३)	२६, १५४
पारिप्लवम् आचक्षीत	(आप. श्रौ.सू.१०।६)	५१०
पुण्यः पुण्येन कर्मणा	(बृहदा.उप.४।४।५)	१४८, २२०, २६५
पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा	(बृहदा.उप.३।२।१३)	३२
पुराणं वेदसम्मतम्	(बृहदा.उप.२।१।८)	१८२
पुरुष एवेदं सर्वम्	(ऋग्वेद १०।९०।२; तैत्ति.संहि.३।१२।१)	१५४, ३७९
पुरुषः स परः पार्थ	(भाग.गीता ८। २२)	४११
पुरुषविधः	(तैत्ति.उप.२।५)	३४६
पुरुषश्चक्रे द्विपदः	(बृहदा.उप.२।५।१८)	३६१-३६२
पुरुषाग्नौ अन्नं जुह्वति	(.....)	२४०
पुरुषाद् न परं किञ्चित्	(कठोप.३।११)	३०९
पुरुषार्थो अतःशब्दाद्	(ब्रह्मसू.३।२।१)	५१०
पुरुषो वाव गौतमाग्न	(छान्दो.उप.५।७।१)	२४२-२४३
पृथिवी अप्सु प्रलीयते	(सुबालो.२।२)	१०७
पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा	(तैत्ति.उप. २।१।१)	१०९
पृथिव्यप्-तेजोनिलखे	(श्वेता.उप.२।१२)	५
पृथिव्या ओषधय	(तैत्ति.उप.२।१)	३६८
पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिवीम्	(बृहदा.उप. ३।७।३)	२९०
पोषणं तदनुग्रहः	(भाग.पुरा.२।१०।४)	५२१

प्रकाशाश्रयवद् वा तेजस्त्वाद्	(ब्रह्मसू.३।२।२८)	३०३, ३४४
प्रकृतिभ्यः परं यच्च तद्	(मत्स्यपुरा.११३।६)	२६-२७
प्रकृतेः क्रियमाणानि	(भग.गीता. ३।२७)	१३७, १३८
प्रजामनु प्रजायन्ते	(भाग.पुरा.३।३२।२०)	२२२
प्रजायेय	(छान्दो.उप.६।२।३)	१५३
प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा	(कौषी.उप.३।६)	१२८
प्रज्ञया शरीरं समारुह्य	(कौषी.उप.३।६)	१२७
प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता	(श्वेता.उप.४।१८)	१२८
प्रणवस्य चत्वारः पादा. विश्वो	(नृसिंहोत्त.१)	१३०
प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिः	(कौषी.उप.३।१)	५०६
प्रतितिष्ठन्ती ह वा	(.....)	२२१
प्रतिषेधमात्रत्वाद्	(ब्रह्मसू.२।१।७)	१३
प्रतीयोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव	(बृहदा.उप.४।३।१५)	२६२
प्रथमां पिबते वह्निः	(.....)	२१५
प्रभवत्यहरागमे	(भाग.गीता ८। १८)	४१०
प्राज्ञः तृतीयपाद एष सर्वेश्वर	(रामोप.२।४)	१३४
प्राज्ञेन आत्मना सम्परिष्वक्तः	(बृहदा. उप.४।३।२१)	२६०, ३१४
प्राणन्नेव प्राणो नाम	(बृहदा.उप. १।४।७)	३७१
प्राणा वै सत्यं तेषाम्	(बृहदा.उप.२।३।६)	२८५
प्राणा वै सत्यम्	(बृहदा.उप.२।१।२०)	१६७-१६८
प्राणानां विज्ञानेन	(बृहदा.उप.२।१।१७)	१७१
प्राणान् प्रपीड्येह	(श्वेता.उप.२।९)	१७७
प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्	(छान्दो.उप.७।१५।१)	१८०
प्राणेषु तिष्ठन्	(बृहदा.उप.३।७।१६)	१२१
प्राणो वै ब्रह्म	(बृहदा.उप.४।१।३)	१६८
प्राणोपानो व्यान	(बृहदा.उप.१।५।३)	१७५
प्रारब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत्	(.....)	२१८
प्रियमेव	(तैत्ति.उप.२।५)	३६४
प्रीत्यप्रीतिविषादात्मका	(कापि.सांख्यसू.१।१२७)	४५
प्रेयो अन्यस्मात् सर्वस्माद्	(बृहदा.उप. १।४।८)	३७१-३७२

फ

फलमत उपपत्तेः	(ब्रह्मसू.३।२।३८)	४७३
---------------	-------------------	-----

ब

बलीवर्दप्रतोदनं लोहमारं	(तैत्ति. संहि. ६।२।३)	३५२
बहिस्तूभयथा	(ब्रह्मसू. ३।४।४३)	५३३
बहु स्यां प्रजायेय	(छान्दो. उप. ८।२।३)	२३५
बहु स्यां प्रजायेय	(तैत्ति. उप. २।६)	१५, ३३, १०६-७, १५२, २७७-२७८
बालाग्रशतभागस्यु	(श्वेता. उप. ५।९)	१२१
ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा	(तैत्ति. उप. २।५)	३१२
ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति	(मुण्ड. उप. ३।२।९)	१३५, ४०६
ब्रह्म सम्पद्यते	(गोपा. पू. उप. १)	४०२
ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्	(जाबालोप. ४)	४९१-४९४
ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्	(जाबा. उप. ४)	४९१
ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या सम्भृतानि	(तैत्ति. ब्राह्म. २।४।६)	३७६
ब्रह्मणा सह ते	(कूर्म. पूरा. १२।२६९।)	४०५
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा	(भग. गीता १८।५४)	४०७-४०८
ब्रह्मविदाप्नोति परम्	(तैत्ति. उप. २।१)	९१, १०९, १३१, ३०९, ३११, ३७८, ३९३, ४०७, ४०८, ४१२, ४४१, ४४२, ४४७, ४५४, ४७३, ४८१-८२, ४९२, ५०७, ५०९, ५११
ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति	(मुण्डकोप. ३।२।९)	१३३
ब्रह्माप्येति	(बृहदा. उप. ४।४।६)	११९
ब्रह्मिष्ठो ब्रह्म	(आप. श्रौ. सू. ३।१८।१)	४७७, ४८५-४८९
ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति	(बृहदा. उप. ४।४।६)	१३७

भ

भक्तिः अस्य भजनं	(गोपा. पू. ता. उप. १।३)	३३१
भक्तिमार्गो बहुविधः	(भाग. पुरा. ३।२९।७)	५३५
भक्तिरस्य भजनम्	(गोपा. पू. उप. १)	५३१
भक्तिरहस्यभजनं तद्	(गोपा. पू. उप. १)	३९८
भक्त्या त्वनन्यया	(भग. गीता ११।५४)	२९७, ४२१, ४७३
भक्त्या मामभिजानाति	(भग. गीता १८।५५)	२७४, ३११, ३८९, ३९२, ४०६, ४०७, ४१४, ४१७, ४२४, ४५५
भक्त्याहमेकया ग्राह्य	(भाग. पुरा. ११।२४।२१)	४४२, ४५५

भजति सो अमृतो	(गोपा.पू.उप.१)	३८८
भरतोऽहम्	(भाग.पुरा.५।१२।१४)	२३३
भर्तुः स्वमात्राधीनीकरणं	(.....)	४००
भवत्यात्मना परास्य	(बृहदा.उप.१।३।७)	३८३
भवन्ति भावा भूतानां	(तत्रैव १०।५)	३२१
भीषा अस्माद्	(तैत्ति.उप.२।१)	५०७
भूमिर्भूम्ना द्यौर्वारिणा इति	(००।००।००)	१४४
भृगुर्वै वारुणिः वरुणं	(तैत्ति.उप.३।१)	५०६

म

मत्कामा रमणं जारं	(भाग.पुरा.११।१२।१३)	३९३
मत्सेवया प्रतीतं च	(भाग.पुरा.९।४।६८-६९)	४५०
मद्भक्तो वा अनपेक्षकः	(भाग.पुरा.११।१८।२८)	५३१
मद्वातार्तायातयामानां न	(भाग.पुरा.४।३०।१९)	५२६-५२७
मधुद्विट्सेवानुरक्तमनसाम्	(भाग.पुरा.५।१४।४४)	५३५
मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूपम्	(ऐत.उप.१।१।२)	१६९
मनसा प्रणयति	(.....)	२१०
मनसैव आप्तव्यम्	(कठोप.४।११)	५३२
मनसैव एतद् आप्तव्यम्	(कठोप.२।१।११)	२७७, २९५, २८०, २८१
मनसैवानुद्रष्टव्यम्	(बृहदा.उप.४।४।१९)	३८७
मनुः वैवस्वतो राजा	(शतप.ब्राह्म.१३।४।३।३)	५०९-५१०
मनुष्याणां सहस्रेषु	(भग.गीता७।३)	५०३
मनोमयः प्राणशरीरः	(छान्दो.उप.३।१४।२)	२७९
मनोमयः प्राणशरीरनेता	(मुण्ड.उप.२।२।७)	२८९
मन्त्रविदेव अस्मि नात्मवित्	(छान्दो.उप.७।१।३)	४४५
ममैवांशो जीवलोके	(भग.गीता १५।७)	१४७, १५५
मय्यावेश्य मनो ये माम्	(भग.गीता १२।२)	४१३
मय्येव सकलं जातम्	(कैव.उप.१९)	१३५
मल्लानाम् अशनिः	(भाग.पुरा.१०।४३।१३)	४५८
महात्मानस्तु मां पार्थ	(भग.गीता ९।१३-१४)	५१९
मा मोहम् आपद्यथाः	(प्रश्नोप.२।३)	१७४
मामेकमेव शरणम्	(भाग.पुरा.११।१२।१५)	४३१
मामेव ये प्रपद्यन्ते	(भग.गीता ७।१४)	५१५

मासम् अग्निहोत्रं जुहोति	(ताण्ड्यब्राह्मण २५।४।१)	३१५
मुक्तानामपि सिद्धानां	(भाग.पुरा.६।१४।५)	३८९, ५२४, ५३८
मुक्तिं ददाति कर्हिचित्	(भाग.पुरा.५।६।१८)	३९९, ४००, ५३९
मुक्तो भवति संसृतेः	(गोपा.पू.उप.१)	३८८
मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च	(ब्रह्मसू.१।३।२)	३८९, ४७४, ५२१, ५३८
मूलप्रकृतिः अविकृतिः	(सांख्यका.३)	४, १०
मृत्तिकेत्येव	(छान्दो.उप.६।१।४)	१८
मृत्युम् अतिक्रान्तो दीप्यते	(बृहदा.उप.१।३।१२)	१८७
मृदब्रवीद् आपोब्रुवन्	(शत.ब्राह्म.६।१।३।२।४)	६
मौनानीहानिलायामाः	(भाग.पुरा.११।१८।१७)	५३१
म्लोचन्ति ह्यन्या देवता न	(बृहदा.उप.१।५।२२)	९९

य

य इमेग्नम	(.....)	२३२
य एनं विदुःअमृतास्ते	(बृहदा.उप. ४।४।१४)	४९२-४९४
य एव अयं मुख्यः	(छान्दो.उप.१।२।७)	३८१
य एवं विद्वान् दर्शपूर्णमासौ	(तैत्ति.संहि. १।६।९)	४६३
य एवं वेद	(तैत्ति.उप.२।९)	३८१, ३९०, ३९७
य एवं वेद	(बृहदा.उप. ४।४।२५)	३८८
य एष सुप्तेषु जागर्ति	(कठोप.२।५।८)	२४८, २६०
य एषो अन्तर् अक्षिणि	(छान्दो.उप.४।१५।१)	
य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः	(छान्दो.उप.४।१५।१)	३१४
यं प्रवजन्तम्	(भाग.पुरा.महात्म्ये१।२)	१६०
यं प्राप्य न निवर्तन्ते	(भाग.गीता ८।२१)	४११
यं यं वापि स्मरन्	(भग.गीता ६।८)	२०२
यः आत्मनि तिष्ठन्	(बृहदा.उप.३।५?)	४१८
यः आत्मानम्	(बृहदा.उप.३।७।३)	४४०
यः कामयेत वीरो	(तैत्ति.ब्राह्म.२।२।३।५)	२६६
यः पूर्वस्य	(तैत्ति.उप.२।३)	३६६
यः पृथिव्यां तिष्ठन्	(बृहदा.उप.३।७।७)	१०७, ४१४
यः प्राणः स वायुः	(ऐत.उप.३।३।२)	१७५-१७६
यः सर्वज्ञः	(मुण्ड.उप.१।१।९)	११७
यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः	(छान्दो.उप.३।१४।२)	३०, २९५

यजमानो यम् ऋत्विजं	(आप.श्रौ.सू.११।१।४)	४०९
यज्ञो दानं तपश्चैव	(भग.गीता १८।५)	४७३
यज्ञो यजमानः	(तैत्ति.सं.१।७।५।२)	१४२
यज्ञो वै विष्णुः	(तैत्ति.ब्राह्म.१।२।५।१)	५११
यतो वा इमानि	(तैत्ति.उप. ३।१)	१६, ५५, २७२, २८३
यतो वाचो निवर्तन्ते	(तैत्ति.उप.२।९)	२८१, २९४, ३६४, ३६५, ४३०, ४३२, ५०७
यत्करोषि	(भग.गीता ९।२७)	२२४
यत्किञ्चिद् दूषणं त्वत्र दूष्यं	(सुबो.२।९।३२)	१५१
यत्र अस्य पुरुषस्य	(बृहदा.उप.३।२।१३)	२०८
यत्र अस्य मृतस्य	(बृहदा.उप.३।२।१३)	२०८
यत्र क्वचन वर्षति तदेव	(छान्दो.उप.६।२।४)	१०५
यत्र त्वस्य सर्वम् आत्मैव	(बृहदा.उप.४।५।१५)	४९०
यत्र नान्यत् पश्यति	(छान्दो.उप. ७।२४।१)	४३५, ४३९, ४४४, ४६२, ४७३
यत्र भूरिशृंगा अयासः	(तैत्ति.संहि.१।३।६)	५२३
यत्र यः तिष्ठति तत्र	(.....)	१६१
यत्र सर्वम् आत्मैव	(गोपालो.१।१०)	४१४
यत्र सुप्तो न कञ्चन	(बृहदा.उप.४।३।१९)	२६२
यत्रासौ संस्थितः कृष्णः	(गोपा.उत्त.ता.उप.२)	३४२
यत्रैष एतत्सुप्तो अभूद्	(बृहदा.उप.२।१।१७)	१३९
यत् कर्मभिर्यत् तपसा	(भाग.पुरा.११।२०।३२-३३)	४२१
यत् प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते	(तैत्ति.संहि. २।६।१)	४७६
यथा अग्नेः क्षुद्राः विस्मृ लिंगाः	(बृहदा. उप.२।१।१०)	११४
यथा आयतनं प्रविशते	(ऐत.उप.१।२।३)	१८२
यथा प्रियया स्त्रिया	(बृहदा.उप.४।३।२१)	२६४
यथा वृक्षस्य सम्पुष्पितस्य	(महाना.उप.८।२)	१२६
यथा सुदीप्तात् पावकाद्	(मुण्ड.उप.२।१)	१०७
यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन	(छान्दो.उप. ६।१।४)	१६
यथा हि अयं ज्योतिरात्मा	(ब्रह्मबि.उप.१२)	२८६, २८७
यथाकारी यथाचारी तथा	(बृहदा.उप.६।४।५)	५१२
यथाग्नेः विस्फुलिंगाः	(बृहदा.उप.२।१।२०)	८५

यथावकाशं ग्रहान् यथावकाशं (.....)	२९०
यथावकाशं दश चमसान् (आप.श्रौत.१२।२।१०)	२९०
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति (भाग.गीता ८।११)	४१०
यदक्षरे परमे प्रजा (महाना.उप.१।३)	४१२, ४५८
यदङ्क्ते चक्षुरेव (तैत्ति.संहि.२।६।१।५)	४७५
यदतः परो ज्योतिर्दीप्यते (छान्दो.उप. ३।१३।७)	३०३
यदन्ने रोहितं रूपं तेजसः (छान्दो.उप.६।४।१)	१०६
यदर्वाचीनम् एनो भ्रूणहत्यायाः (तैत्ति.आर.२।८)	२२७
यदश्र्वशीयत तद् रजतं (तैत्ति.संहि.१।५।१)	२३६
यदस्य कर्मणः (आप.श्रौत.सू.३।१२।१)	३३२
यदहरेव (जाबा.उप.४; आप.श्रौत. सू.३।१८।१)	१५९, ४७७, ४८८, ४९१, ४९७, ५२७,
यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं (छान्दो.उप.५।२।९)	२५४
यदा पश्यः पश्यते (मुण्डकोप. ३।१।३)	३८३
यदा पुमान् त्यक्तसमस्तकर्मा (भाग.पुरा. ११।२९। ३४)	५२९
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते (बृहदा.उप. ४।४।७)	५२४
यदा ह्येवैष एतस्मिन् (तैत्ति.उप.२।७)	३४७
यदादित्यगतं तेजः (भग.गीता १५।१२)	३१६
यदादित्यगतं तेजः (भग.गीता १५। १२)	४०४
यदि वा इतरथा (जाबालोप.४)	४९१
यदेकमव्यक्तमनन्तरूपम् (महाना.उप.१।५)	३३५, ३४२, ३४५, ३५५, ३०७, ३७३
यदेव इदम् अप्रतिरूपं वदति (बृहदा.उप.१।३।२, ३, ४, ५)	१८६
यदेव विद्यया करोति (छान्दो.उप.१।१।१०)	३८१, ४७६
यदेव विद्यया श्रद्धया (छान्दो.उप.१।१।१०)	४७९-४८०
यद् तददृश्यम् अग्राह्यम् (मुण्डकोप.१।१।६)	४४२
यद् यद्विया त उरुगाय (भाग.पुरा.३।९।१२)	२९९
यद् वेत्थ तेन मोपसीद (छान्दो.उप.७।१।१)	४३३, ४८६
यद् वैश्वदेवेन यजते (तैत्ति. ब्राह्म.१।४।११)	३४९
यद्यत्र नः स्वर्ग्यसुखावशेषितं (भाग.पुरा.५।२०।२८)	२१८
यद्यत् कामयते तत्तद् भवति (छान्दो.उप. ८।१)	१३८
यद्वै किञ्च अध्यगीष्ठा (छान्दो.उप. ७।१।३)	४३९

यन्न दुःखेन सम्भिन्नम्	(आप.श्रौ.....)	४९५
यन्न योगेन	(भाग.पुरा.११।१२।९)	३६५, ४८२
यमधो निनीषति	(कौषी.उप.३।९)	१४९
यमन्तःसमुद्रे	(तैत्ति.आर. १०।१।१)	४५८
यमवैष वृणुते	(कठोप.२।२२)	२९६, ३९२, ४३३, ४४५, ४६१, ४७३, ४५५, ४५६, ५२४, ५२८, ५२९, ५३२
यमेन पृष्टः तत्राहं	(भाग.पुरा.१०।६१। २२)	२२९
यमेभ्यो लोकेभ्यः	(कौषी.उप.३।९)	३९४
यमो वैवस्वतो राजा	(शतप.ब्राह्म.१३।४।३।६)	५१०
यम् आत्मा न वेदः	(बृहदा.उप.३।७।३)	४४१
यर्ह्यम्बुजाक्ष तव	(भाग.पुरा. १०।२६।३६)	५२८
यस्मात् परं नापरम् अस्ति	(महाना.उप.१०।५)	४८१
यस्मिन् इदं सञ्च	(महाना.उप.१।१, २)	४११
यस्य अनुग्रहम् इच्छामि	(भाग.पुरा.१०।८८।८)	५२०
यस्य देवे परा भक्तिः	(श्वेता.उप.६।२३)	३७३
यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति	(तैत्ति.संहि.३।५।२।७)	४७५
यस्य वेदश्च वेदी च	(कौषी.उप.२१।२७)	२२६
यस्यात्मा	(बृहदा.उप.३।७।२)	४४०
यस्यान्तःस्थानि	(भाग.गीता ८।२२)	४११
यस्यामतं तस्य मतं	(केनोप.२।३)	२७४, २७५
यावज्जीवम् अग्निहोत्रं	(वाराहश्रौ.सू.१।१।१।८६;बह्व.ब्राह्म.)	१५९, २६७ -२६८, ४७८
यावान् वा अयमाकाशः	(छान्दो. उप.१०।१।३)	३१३
यास्यसे ह्यकुतोभयम्	(भाग.पुरा.११।१२।१५)	४३०
याहि सर्वात्मभावेन	(भाग.पुरा.११।१२।१४)	४३२
युक्तयः सन्ति सर्वत्र भाषन्ति	(तत्रैव ११।२२।४, ५)	४७-४८
यू स्र्याख्यौ नदी	(पाणि.सू.१।४।२)	७०
यूनः स्थविरान् वा	(.....)	५२९
ये अन्नं ब्रह्मोपासते	(तैत्ति.उप.२।१)	३६८
ये के चास्माद् लोकात्	(कौषी.उप. १।२)	११८, २३१
ये तद् ब्रह्म इत्थं विदुः	(छान्दो.उप.५।१०।१)	१९८, ४९५, ४९८

ये प्राणं ब्रह्मोपासते	(तैत्ति.उप.२।३)	१६८
ये यथा मां	(भग.गीता४।११)	३९९
ये वै के च अस्मात्	(कौषी.उप.१।२)	२२५
येन अश्रुतं श्रुतं भवति अमतं	(छान्दो.उप. ६।१।३)	९६
यो अप्सु तिष्ठन् यो अपो	(बृहदा.उप.३।७।४)	४०
यो अयं विज्ञानमयः प्राणेषु	(बृहदा.उप.४।४।२२)	११८, १२०
यो ध्यायति रसति	(गोपा.पू.ता.उप.२।१३)	३९८
यो नन्दः परमानन्दः	(कृष्णोप.३)	३५६
यो यच्छ्रद्धः स एव सः	(भग.गीता १७।३)	२१२
यो वाचि तिष्ठन्	(बृहदा.उप.३।७।१७)	१८१
यो वाचि भोगः तं देवेभ्यः	(बृहदा.उप.१।३।२)	१८६
यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य	(बृहदा.उप. १।३।१)	३८२
यो वेद निहितं गुहायां	(तैत्ति.उप.२।१)	४४१, ४५६
यो वै नृसिंहो देवो	(नृसिं.उत्त.उप.४।३)	४६९
यो वै भूमा तत्	(छान्दो.उप. ७।२३।१)	४३४, ४३९, ४४३, ४६२
यो वै ये मत्स्य-कूर्माद्य	(रामो.ताप.उप.५)	३३४, ३४७
यो वै रामचन्द्रः सः	(श्रीरामोत्त.उप.९।९)	४७०
यो वै श्रद्धाम् अनारभ्य	(तैत्ति.संहि.....)	२१२-२१३
योऽध्यात्मिको अयं पुरुषः	(भाग.पुरा.२।१०।८)	१८२
योऽन्यथा सन्तम्	(महाभा.शान्ति.२२१।२७)	३२८, ३३५
योगः चित्तवृत्तिनिरोधः	(योगसू.१।२)	१४६
योगक्षेमं वहाम्यहम्	(भग.गीता ९।२२)	५१५
योगी प्राप्य निवर्तते	(भग.गीता ८।२५।)	१९९
योनिश्च हि गीयते	(ब्रह्मसू.१।४।२७)	१३
योन्यां देवताम् उपास्ते स	(बृहदा.उप.१।४।१०)	२१५
योयं विज्ञानमयः	(बृहदा.उप.४।३।७)	२४८

र

रसो वै सः	(तैत्ति. उप.२।७)	९, ३४६, ३५७, ३६४, ४३२
रात्रिसत्रं कुर्याद्	(.....)	२२१

ल

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्	(ब्रह्मसू.२। १।२७) १५१,	३०१, ३९१, ३९४
लोकैषणायाश्च	(बृहदा. उप.३।५।१)	४७६

वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या	(भाग.पुरा.९।४।६६)	४४१, ४५०
वसन्ते ब्राह्मण आदधीत	(तैत्ति.ब्राह्म.१।१।२।६)	१६०
वाक्येषु अनेकान्तद्योती	(.....)	७६
वाचं धेनुम् उपासीत	(बृहदा.उप. ५।८।१)	२३८
वाचस्पते विधे नामन्	(.....)	२९०
वाचारम्भणं विकारो नामधेय	(छान्दो.उप.६।१।१)	१६
वाजिभ्यो वाजिनम्	(शत.ब्राह्म.२।४।४।२२)	३२६
वातोद्धूतं रजः शुचि	(.....)	१०
वायुः प्राणो भूत्वेति	(ऐत.उप.१।२।४)	१९२
वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिः	(.....)	१८४
वायुर्भूत्वा धूमो भवति	(छान्दो.उप. ५।१०।५)	२३७-२३८
वायुश्चान्तरिक्षं च एतदमृतम्	(बृहदा.उप.२।३।३)	९३
वायोरग्निः	(तैत्ति.उप.२।१)	१००
वासना यदि भवेत् म लदात्री	(.....)	६८
विज्ञातं च अविज्ञातं च	(तैत्ति.उप.२।६)	६-७, १४
विज्ञातारम् अरे केन	(बृह.उप.२।४।१४)	११५
विज्ञानं च अविज्ञानं च	(तैत्ति.उप.२।६)	१४
विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि	(तैत्ति.उप. २।५।१)	१४०-१४१-१४२
विज्ञानमयः	(तैत्ति.उप.२।४)	११५
विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म	(बृहदा.उप.३।९।२८)	११५, १४२
विज्ञानेन विज्ञानम् आदाय	(बृहदा.उप.२।१।१७)	१४१-१४२
विद्युदसि	(.....)	३४८
विद्यैवतु निर्धारणाद्	(ब्रह्मसू.३।३।४७)	४४६
विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते	(बृहदा. उप.४।४।२२)	४९७
विद्वांसो न कामयन्ते	(बृहदा.उप.४।४।२२)	४९७
विधिर्वा धारणवद्	(ब्रह्म.सूत्र ३।४।२०)	४९८, ५०६
विपर्ययेणतु क्रमोत् उत्पद्यते	(ब्रह्मसू.२।३। १४)	११०
विभावानुभावाद् रसनिष्पत्तिः	(भरतसूत्र.....)	५२७
विमानं कामगं क्षत्तः	(भाग.पुरा.३।२३।१२)	२५
विरजः पर आकाशाद्	(बृहदा.उप.४।४।२०)	३८७
विशुद्धं केवलं ज्ञानं	(भाग.पुरा.२।६।३९-४०)	५१५

विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तम्	(भाग.पुरा. १०।२४।४)	३४३
विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रं	(भाग.पुरा. ३।१०।१२)	१९
विश्वतः चक्षुः	(महाना.उप. २।२)	२९५, ३७३
विश्वो वैश्वानरः प्रथमः	(नृसिंहोत्त.उप. १)	१३०
विष्टभ्य अहम्	(भग.गीता. १०।४२)	२६
विष्णोः कर्माणि पश्यत	(तैत्ति.संहि. १।३।६)	५२३
विष्णोर्नु कम्	(ऋग्वेद २।२।२४।१)	३२६
वीरहा वा एष देवानां	(तैत्ति.संहि. १।१।५।२)	४९४-४९६, ४९८
वृक्षइव स्तब्धो दिवि	(तैत्ति.आर. १०।१०।३)	३१९
वृषिरसि	(.....)	३४८
वृष्टिकामः कारीर्या यजेत	(तैत्ति.मैत्रा.सं. २।४।८)	४९६
वृष्टेरन्नं भवति	(छान्दो.उप. ७। ६।२)	२३५
वेत्थ यथा पञ्चम्याम्	(छान्दो.उप. ५।३।३)	२०३
वेद अहम् एतं	(महाना.उप. ४।३)	३९१
वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि	(तत्त्वदी.निब.शा.प्र. ७)	३११
वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः	(महाना.उप. १०।६)	१३२, ३२७, ४९१, ४८१, ४८२, ४८६, ४९२
वैवस्वतं संगमनम्	(.....)	२२८-२३०
वैवस्वते विविच्यन्ते यम	(तैत्ति.आर. ६।५)	२२८
वैश्वदेव्यामिक्षा भवति	(तैत्ति.मैत्रा.सं. १।१०।१)	३२६
व्यापकत्वश्रुतिस्तस्य	(तत्त्वदी.निब.शास्त्रार्थप्र. ५३, ५४)	१३५
व्यासो नारायणः साक्षाद्	(शंक.दिग्वि.)	६८
व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयः	(छान्दो. उप. ७।१०।६)	२४१
श		
शतायुषः पुत्रपौत्रान्	(कठोप. १।१।२३)	२४९
शरीरं समारुह्य	(कौषी.उप. ३।६)	१२७
शाण्डिल्यश्चतुर्षु वेदेषु	(.....)	८६
शान्तो दान्तः	(सुबालोप. ९।१४)	५३२
शिलाबुद्धिर्न कार्या च	(स्कन्दपुरा.)	३७४
शुचौ देशे स्वाध्यायम्	(छान्दो.उप. ८।१५।१)	५३७
शृणु देवि प्रवक्ष्यामि	(पद्मपुरा.उत्तरखं.)	६८
शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति	(भाग.पुरा. १।९।३६)	५०१, ५१९

शेषत्वात् पुरुषार्थवादः	(ब्रह्मसू.३।४।२)	४७८
शोभा कान्तिः द्युतिः छविः	(अम.को.१।३।१७)	१२५
श्यामात् शबलं शबलात्	(छान्दो.उप.८।१३।१)	३९२
श्रद्धा वा आपः	(तैत्ति.ब्राह्म.३।२।४।१)	२००, २११
श्रद्धा-भक्ति-ज्ञानयोगाद्	(कैव.उप.२)	२९६
श्रद्धां जुह्वति	(छान्दो.उप.५।४।२)	२११
श्रद्धावान् भजते यो	(भग.गीता ६।४७)	४४१
श्रद्धैव शिरः	(तैत्ति.उप.२।४)	१४२
श्रुति-लिंग-वाक्य	(जैमि.सू.३।३।१३)	४४५
श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वाद्	(ब्रह्मसू.२।१।२७)	३०, ३०१
श्वोभूते ब्रह्माणं वृणीते	(आप.श्रौ.सू.४।४।१)	२६६
श्वोभूते शेषं समाप्नुयात्	(आप.श्रौ.सू. १५।२।३)	२६६

ष

षोडशानां कलानाम् एक	(छान्दो.उप. ६।७।३)	१११
---------------------	--------------------	-----

स

स आत्मा तत्त्वमसि	(छान्दो.उप.६।८।७)	१२८
स आत्मानं स्वयमकुरुत	(तैत्ति.उप.२।७)	१६४
स इदं सर्वम् असृजत	(तैत्ति.उप.२।६)	९१, १०१
स एवाधस्ताद्	(छान्दो.उप. ७।२५।१)	४३५
स एष आद्यः पुरुषः	(भाग.पुरा.२।६।३८)	२८
स एष जीवो विवरप्रसूतिः	(भाग.पुरा.११।१२।१७)	११३
स एष नेति नेति	(बृहदा.उप.३। ९।२६)	३८७
स एष वायुः पञ्चविधः	(तत्रैव ३।३।३)	१७६
स खलु एवं वर्तयन् यावदायुषे	(छान्दो.उप.८।१५।१)	१३४
स च पुरुषविध एव	(तत्रैव)	३७८
स तपो अतप्यत	(तैत्ति.उप.२।६)	१४, ३६९
स पाप्मा को वा	(बृहदा.उप.)	१८६
स प्राणमसृजत	(प्रश्नोप.६।४)	१६७
स भगवः कस्मिन्	(छान्दो.उप.७। २४।१)	४४७
स भुक्तभोगां त्यक्त्वा इमाम्	(भाग.पुरा.११।२।१८)	२३३
स यत्रायं शारीर आत्मा	(बृहदा. उप.४।४।१)	२०९
स यथा महाराजो जानपदान्	(बृहदा.उप.२।१।१८)	१८८

स यथा अनन्तो अयमाकाश	(.....)	९८
स यथा सैन्धवघनो अनन्तरो	(बृहदा.उप.४।५।१३)	२८२
स यदा अस्मात् शच्छरीराद्	(कौषी.उप.३।३)	११८, १६७
स याति परमां गतिम्	(भाग.गीता ८।१३)	४१०-४११
स वा अयमात्मा	(बृहदा.उप.४।४।२२)	४७८, ५०३
स वा अयम् आत्मा	(बृहदा. उप.६।४।२२)	५१९
स वा एष एतस्मिन् सम्प्रसादे	(बृहदा.उप. ४।३।१५)	२६२
स वा एष एवं पश्यन्	(छान्दो.उप.७।२५।२)	४६२, ४४८, ४६६
स वा एष पुरुषविधएव	(तैत्ति.उप.२।२)	३४६, ३७८
स वा एष पुरुषो अन्नरसमयः	(तैत्ति.उप.२।१)	१०९, ३६८
स वा एष महानज	(बृहदा.उप.४।४।२२)	११७, १२१, ३२१
स विश्वकृद् विश्वविद्	(श्वेता.उप.६।१।६)	१०७
स वै दुर्ब्राह्मणो नाम	(कौषी.उप.२१।२७)	२२६
स वै नैव रेमे	(बृहदा.उप.१।४।३)	४१४-४१५, २५१, २७८
स सर्वं भवति	(बृहदा. उप.३।४।१०)	२१४
स होवाचाब्जयोनिः यो	(गोपा.उत्त.ता.उप.१)	३४२
संसर्गजैः कर्मदोषैः याति	(मनुस्मृ.१२।९)	२४०
संसारस्य लयो मुक्तौ	(तत्त्वदी.नि.१।२४)	३१
सः तत्र पर्येति	(छान्दो.उप.८।१२।३)	१३४
सः वायुरिव आत्मानं	(मैत्रा.उप.२।६)	१७६
सएव अधस्ताद्	(छान्दो.उप.७।२५।१)	४४७-४४८, ४६३
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो	(भग.गीता ३।२५)	४२९
सति सम्पद्य न विदुः	(छान्दो.उप.६।९।२)	२६१, २६६
सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिः	(भाग.पुरा.१०।८६।१५)	३४३
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म	(तैत्ति.उप.२।१)	११५, १२८, ३१७, ३९१, ४१२, ४४१, ४५४
सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः	(भाग.पुरा.१।१६।२६)	२९-३०
सत्यस्य सत्यम्	(बृहदा.उप.२।१।२०)	२८५
सदा पश्यन्ति सूरयः	(तैत्ति.संहि.१।३।६)	५२३
सदेव सोम्य इदम् अग्र आसीद्	(छान्दो.उप.६।२।१)	१७, १८, २१, ३३, ९०, १०१, ११७, १६९, २३५, २७२, ३२६, ४४३, ४४४
सन्ध्यन्तृतीयं स्थानं तस्मिन्	(बृहदा.उप.४।३।९)	१२१

सन्न्यासयोगाद् यतयः	(मुण्ड.उप.३।२।६)	४९२
सप्त इमे लोका	(मुण्ड.उप. २।१।८)	१७२
सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्	(मुण्ड.उप.२।१।८)	१७१
सप्त वै शीर्षण्याः	(तैत्ति.संहि.५।३।२।५)	१७१
सम एभिः त्रिभिः लोकैः	(.....)	१८०
समः प्लुषिणा	(बृहदा.उप.१।३।२२)	२८६, २८७
समन्वारम्भणाद्	(ब्रह्मसू. ३।४।५)	४८६
समो नागेन	(बृहदा.उप. १।३।२२)	९७
समो मशकेन	(बृहदा.उप.१।३।२२)	२८६
समोऽनेन सर्वेण य आकाशे	(बृहदा.उप.३।७।१२)	९८
सम्परिष्वक्तो	(बृहदा.उप.४।३।२१)	२६४
सम्भेदेन अन्यतरवैयर्थ्यम्	(.....)	४०३
सर्वं खलु	(छान्दो.उप.३।१४।१)	२७८, २८९
सर्वं खलु इदं ब्रह्म	(छान्दो.उप. ३।१४।१)	८९
सर्वं पाप्मानं तरति	(बृहदा.उप.४।४।२३)	५१९
सर्वं वै तेन्माप्नुवन्ति	(तैत्ति.उप.३।२)	३६९
सर्वं हि इदं प्राणेन आवृतम्	(बृहदा.उप. १।३।२२)	१८०
सर्वएव आत्मानो व्युचरन्ति	(बृहदा.उप.२।१।२०)	१५२
सर्वकर्ता	(बृहदा.उप.४।४।१३)	१४९
सर्वकर्म	(.....)	१४९
सर्वकर्मा सर्वकामः	(छान्दो.उप.३।१४।४)	२७१
सर्वकामः	(छान्दो.उप.३।१४।४)	२७३
सर्वगतश्च नित्यः	(००।००।००)	९३
सर्वतः पाणिपादान्तं	(भग.गीता १३।१३)	३१९, ३५५, ३७९
सर्वनियन्ता	(तैत्ति.आर.३।११)	१४९
सर्वभोक्ता	(महाना.उप.१६।५)	१४९
सर्वम् आत्मा	(मैत्रा.उप.६।७)	९८
सर्वम् आप्नोति सर्वशः	(छान्दो.उप. ७।२६।२)	४५३
सर्वम् एते वासुदेवा	(.....)	८६
सर्वरसः	(छान्दो.उप.३।१४।२)	३५५-३५७
सर्वरूपः सर्वगन्धः सर्वरसः	(छान्दो.उप.३।१४।२)	२९५
सर्ववेदान्तप्रत्ययम्	(ब्रह्मसू.३।३।१)	३८२

सर्वशक्तिः	(श्वेता.उप.४।१)	११७
सर्वस्य वशी सर्वस्य ईशानः	(बृहदा.उप.४।४।२२)	४९०, ४१४, २५७, ३२०
सर्वाणि आख्यानानि	(आप.श्रौ.सू.)	५०६-५०९
सर्वाणि रूपाणि विचित्य	(चित्युप.१२।७)	१९०
सर्वान्मानुमतिः	(ब्रह्मसू.३।४।२७)	५१७
सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति	(कठोप.२।१५)	१३२, १४२, २९५, ३२७, ३४७
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रिय	(श्वेता.उप.३।१७)	१५३
सर्वेन्द्रियविवर्जितम्	(भग.गीता १३।१४)	२८३
सर्वेन्द्रियैः तथा च	(तत्त्वदी.निब.शा.प्र.५१)	५२१
सर्वेषु लोकेषु कामचारो	(छान्दो.उप.८।१।६)	३१२
सर्वेषु लोकेषु कामचारो	(छान्दो.उप.७।२५।२)	४५१, ४५२, ४५३, ४५४
सहस्रयुगपर्यन्तम्	(भाग.गीता ८।१७)	४१०
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः	(तैत्ति. संहि.३।१२।१)	३७८
सांगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च	(द्र.पात.महाभा.१।१।१)	१५९
साधुकारी साधुः भवति	(बृहदा.उप.६।४।५)	१३८, २१९
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या	(साङ्ख्य.कारि.२९)	१७५
साम्यम् उपैति	(.....)	३८४
सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्	(छान्दो.उप.७।२२।१)	४४३
सुखं दुखं भवो भावः	(भग.गीता १०।४)	३२१
सुदीप्तात् पावकाद्	(मुण्डकोप.२।१।१)	४४२
सुप्तेषु वागादिषु प्राणः एको	(.....)	१७७
सुप्सुपा	(पाणि.सू.२।१।४)	३१
सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः भेदेन	(ब्रह्मसू.१।३।४२)	११५, २४८, २६९
सूर्यश्चक्षुः तथा रूपं	(भाग.पुरा.१२।४।२४)	१५६
सृष्टीः उपदधाति	(.....)	४५१
सेयं देवतैक्षत	(छान्दो.उप.६।३।२)	१९०
सैषा अनस्तमिता देवता	(बृहदा.उप.१।५।२२)	९९
सैषानन्दस्य मीमांसा भवति	(तैत्ति.उप.२।८)	४१३
सो अकामयत	(तैत्ति.उप.२।६)	९, ९१, २९३
सो अमन्यत एतासां	(मैत्रा.उप.२।६)	१७६
सो अमृतो भवति	(गोपा.पू.उप.१)	३९८

सो अयम् अग्निः	(बृहदा.उप.१।३।१२)	१८५
सोऽकामयत	(तैत्ति.उप.२।६)	१४
सोऽमृतो भवति	(गोपा.पू.उप.१)	४०२
सोऽवतीर्णो महीतले	(कृष्णोप.७)	३५६
सोऽश्नुते सर्वान् कामान्	(तैत्ति.उप.२।१)	४५४, ४५६, ४७४, ५२२, ५२६

सोऽहं मन्त्रविदेवास्मि	(छान्दो.उप.७।१।३)	४८६
सोऽन्ते विश्वानरो भूत्वा	(सुबा.उप. २।२)	१०८
सोऽरोदीद् यदरोदीत् तद्	(तैत्ति.ब्राह्म.१।५।...)	२३६
सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि	(छान्दो.उप.७।१।३)	४३४, ४३८
स्थितं ब्रजन्तमासीनं	(भाग.पुरा.३।२८।१९)	३२५
स्मृतेश्च	(ब्रह्मसू.१।२।६)	२
स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विट् भे	(.....)	१२५
स्व-स्वविषयासम्प्रयोगे	(योगसू.२।५४)	१४६
स्वकर्मणा पितृलोकः	(बृहदा.उप.३।५।१६)	२२२
स्वतन्त्रः कर्ता	(पाणि.सू.१।४।५४)	१३९
स्वपादमूलं भजतः	(भाग.पुरा.११।५।४२)	३९६-३९७
स्वप्नं न कञ्चन पश्यति	(कौषी.उप.४।१९)	२६०
स्वयं विहृत्य स्वयं	(बृहदा.उप.४।३।९)	१२१, २४८
स्वयमेव आत्मनात्मानं वेत्थ	(भग.गीता.१०।१५)	२३
स्वरूपेण अवतारेण	(पुष्टिप्र.म.भे.१३)	३५९
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि	(भाग.पुरा.६।१७।२८)	३९९
स्वाध्यायस्य तथात्वेन	(ब्रह्मसू.३।२।३)	३५०
स्वाध्यायो अध्येतव्यः	(तैत्ति.आर.२।१५)	३४१
स्वाप्ययाद्	(ब्रह्मसू.१।१।)	१४७
स्वे महिम्नि	(छान्दो.उप.७।२४।१)	४४७-४४८, ४१२

ह

हन्त अस्यैव सर्वं रूपं भवामः	(.....)	१८८
हन्ताहम् इमाः तिस्रो देवता	(छान्दो.उप.६।३।२)	७
हरामि अघं यत् स्मर्तॄणां	(महाभा.शान्तिप.१२।३५२)	३९६
हस्तौ चादातव्यं च	(प्रश्नोप.४।८)	१७२
हिता नाम नाड्यः	(बृहदा.उप. ४।३।२०)	२६१

हिता नाम पुरुषस्य नाड्यो	(कौषी.उप.४।१८)	१२७
हिरण्यनिधिं निहितम्	(छान्दो. उप.८।३।२)	३१२
हृदि अन्तर्ज्योतिः पुरुषः	(बृहदा.उप.४।३।७)	१२३
हृद्येष आत्मा	(प्रश्नोप.३।६)	१२३
हेमम् आसन्यं प्राणम् ऊचुः	(बृहदा.उप.१।३।७)	१८६
हौत्रम् ऋचा	(आप.परिभा.१।१८-२०)	४५९



उद्धृतवचनानाम् आकरस्थलनिर्देशः पृष्ठाङ्कसूची च.

चतुर्थाध्यायः

ॐइत्येतद् अक्षरम्	(छान्दो.उप. १।१।१)	३९
अंशो नानाव्यपदेशाद्	(ब्रह्मसू.२।३।४३)	९८
अक्षरात्परतः परः	(मुण्ड.उप.२।१।४)	१४६
अगृहो न हि गृह्यते	(बृहदा.उप.४।४। २२)	१६-१८
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः	(भग.गीता८।२५)	६९-७१
अग्निलोकम् आगच्छति	(कौषी.उप.१।३)	८३
अग्निहोत्रं जुहोति यवागूं	(तैत्ति.सं.१।५।९।१)	११
अचिन्त्याः खलु ये	(मत्स्यपुरा.)	१४१
अणोः अणीयान् महतो	(कठोप.१।२।२०)	१७
अतः परं नान्यदणीयसं हि	(महाना.उप.१।५)	९८
अतएव सर्वाण्यनु	(ब्रह्मसू.४।२।२)	४७
अतोऽन्यापि	(ब्रह्मसू.४।१।१७)	३५
अथ एतयोः पथोर्न कतरेण	(छान्दो.उप.५।१०।८)	७३, ७६
अथ मर्त्यो अमृतो	(बृहदा.उप.६।४।७)	४५
अथ यत्र एतद्	(छान्दो.उप.८।६।५)	३
अथ यत्र एतद् अस्मात्	(छान्दो.उप.९।६।१)	७२, ७४, ७५
अथ या एता हृदयस्य	(छान्दो. उप.८।५।१)	३, ६६, ७२, ७४
अथ ह वा व तव	(भाग.पुरा.६।९।३९)	२६, १४३
अथ होवाच सत्ययज्ञं	(छान्दो.उप.५।१३।१)	२२
अथात आदेशो नेति नेति	(बृहदा.उप.२।३।६)	१०७
अधर्मं धर्ममिति या	(भग.गीता १८।२२)	२
अर्चिरादिना तत्प्रथितेः	(ब्रह्मसू.४।३।१)	८८, ९५
अर्चिषोहरहन् आपूर्य	(छान्दो.उप.४।१५।५)	७९-८०
अलौकिकास्तु ये	(महाभा.भीष्मप.५।१२)	१४२
अविभागोवचनाद्	(ब्रह्मसू.४।४।४)	४८
अशरीरं वाव सन्तं	(छान्दो.उप.८।१२।१)	११८-११९
असद्वा इदमग्र आसीद्	(तैत्ति.उप.२।७)	४३
असन्नेव स भवति	(तैत्ति.उप.२।६)	१०२, १०३

असौ वा आदित्यो	(छान्दो.उप. ३।१।१)	२३-२४, ६७
अस्थूलम् अनण्वहस्वम्	(बृहदा.उप.५।८।८)	१३३
अहं भक्तपराधीनः	(भाग.पुरा.९।४। ६३)	२७
आकाशवत् सर्वगतश्च	(शत.ब्राह्म.१०।६।३।२१)	९६
आचार्यवान् पुरुषो वेद	(छान्दो.उप.६।१४।२)	३४
आत्मकामः आप्तकामो	(बृहदा.उप.६।४।६)	४४
आत्मत आविर्भावतिरोभावौ	(छान्दो.उप.७।२६।२)	११४
आत्मन्येव च सन्तुष्टः	(भग.गीता३।१७)	२
आत्मरतिरात्मक्रीड	(छान्दो.उप.७।२५।२)	१२६
आत्मा इत्येव उपासीत	(बृहदा.उप.१।४।७)	१४-१९
आत्मा प्रकरणाद्	(ब्रह्मसू.४।४।३)	८
आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः	(बृहदा. उप.४।५।६)	९-१०-११
आत्मैव इदं सर्वम्	(छान्दो.उप.७।२५।२)	२१, ९६, ९८
आदित्यात् चन्द्रमसं	(छान्दो.उप.६।१५।५)	८४-८७
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्	(तैत्ति.उप.२।४)	१८
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः	(भग.गीता ८।१६)	१३, ९३
आवृत्तिरसकृदुपदेशाद्	(ब्रह्मसू.४।१।१)	४
आहर सौम्य हस्तम्	(बृहदा.उप.५।२।१३)	५५

इ-उ

इति खलु एतस्यैव	(.....)	३९
इमं मानवं नावर्तन्ते	(छान्दो. उप. ४।१५।५)	११४
इहैव समवनीयन्ते	(बृहदा.उप.४।४।२२)	५३, १२४
उपसंहारो अर्थाभेदाद्	(ब्रह्मसू.३।३।५)	७८
उभे उ हैवैष एते तरति	(बृहदा.उप.४।४।२२)	३२

ए

एको देवो बहुधा निविष्टः	(मुद्ग.उप.१)	१३२
एकोऽहं बहु स्याम्	(छान्दो.उप. ६।२।३)	१०७
एतं ह वाव न तपति	(तैत्ति.उप.२।९)	५७
एतद्वै सत्यकाम परं च	(प्रश्नोप.५।२)	९७
एतस्यैव अक्षरस्य प्रशासने	(बृहदा.उप.५।८।९)	१३४
एता हृदयस्य नाड्यः	(छान्दो. उप.८।६१)	३
एताः परं तनुभृतो	(भाग.पुरा १०।४४।५८)	६१

एतेन प्रतिपद्यमाना	(छान्दो.उप. ४।१५।५)	१४५
एवं त्रयीधर्मम् अनुप्रपन्ना	(भग.गीता ९।२१)	१३
एवं पश्यन्	(छान्दो.उप. ७।२६।१)	१३८
एवमेव अयं पुरुष इदं	(बृहदा.उप.४।४।४)	१३
एवमेव अयं शारीर	(बृहदा.उप.४।३।३६)	१२
एष ह्येव आनन्दयाति	(तैत्ति.उप.२। ७)	५८
एषः देवयानः पन्था	(छान्दो.उप. ७।१०। २)	७६
ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं	(छान्दो.उप.६।८।७)	९, १०७
औषधीभ्यो अन्नम्	(तैत्ति.उप.२।१।१)	११७

क-ख-ग

कं त्वम् आत्मानम्	(छान्दो.उप.५।१३।१)	२२
कथञ्चिद् यदि वाञ्छतिमम	(तत्रैव)	१०३
कर्म-मोक्षाय कर्माणी	(भाग.पुरा.११।३।४४)	१८
कर्मनाशाय कर्माणि	(भाग.पुरा.११।३।४४)	१८
कर्मारब्धं व्यपनयन्	(भाग.पुरा. ५।१०।१४)	३५
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानम्	(कठोप.२।१।१)	१८
को ह्येवान्याद्	(तैत्ति.उप.२।७)	६०
क्वायं तदा पुरुषः	(बृहदा.उप.३।२।१३)	५३
क्षीयन्ते च अस्य कर्माणि	(मुण्ड.उप.२।२।८)	३२
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे	(कठोप.३।१)	६६

ज

जगद्व्यापार-वर्जम्	(ब्रह्मसू. ४।४।१७)	८
जायस्व प्रियस्वेति तृतीयं	(छान्दो. उप. ५।१०।८)	७३-७६
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि	(भग.गीता ४।३७)	३२
ज्ञानादेव हि	(.....)	२९
ज्योतिष्टोमेन यजेत	(शतप.ब्राह्म.१०।२।१।६)	१०६

त

तं विद्याकर्मणी	(बृहदा.उप.४।४।२)	१२
ततो यान्ति अधमां गतिम्	(भग.गीता १६।२०)	१२९
तत्त्वभावे सन्ध्यवद्	(ब्रह्मसू.४।४।१३)	८
तत्त्वेव भयं विदुषो	(तैत्ति.उप.२।७)	१,४
तत्पुरुषो अमानवः स	(छान्दो.उप.६।१५।५)	८४-८५-८६-८७

तत् केन कं पश्येद् ?	(बृहदा.उप.४।४।१४)	१२४
तदधिगमः	(ब्रह्मसू.४।१।१३)	३६-३८
तदनन्यत्वम् आरम्भण	(ब्रह्मसू.२।१।१४)	९८
तदेषा अभ्युक्ता	(तैत्ति.उप.२।१)	१०९, ११६
तद् य इत्थं विदुः	(छान्दो.उप.७।१०।१)	७१
तद् यत् प्रथम्	(छान्दो.उप. ३।१०।२)	२५
तद् यथा तृणजलायुका	(बृहदा.उप.४।४। ३)	१३
तद् यथा महापथ	(छान्दो.उप.१०।६।२)	७४
तद् विप्रासो विपन्यवः	(ऋग्वेद १।२२।२१)	१३०
तद् विष्णोः परमं पदं	(तैत्ति.संहि. १।३।६)	६४, १३०
तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः	(ब्रह्मसू.२।३।२९)	९७
तद्भूतस्य तु नातद्भावः	(ब्रह्मसू.३।४।४०)	२८
तद्यथापि हिरण्यनिधिं	(छान्दो.उप.१०।३२)	१३४
तद्यथेषीकातूलमग्नौ	(छान्दो.उप.५।२४।३)	३०
तमभित आसीना आहुः	(छान्दो.उप.८।६।४)	६६
तमुत्क्रामन्तं प्राणो	(बृहदा.उप.६।४।२)	५०-५३
तमेतं वेदानुवचनेन	(बृहदा.उप.४।४।२२)	३७
तमेव विदित्वा मुनिः	(बृहदा.उप.६।४।२२)	६८
तमेवं विद्वानमृत इह	(तैत्ति.आर.३।१।३)	२०
तया ऊर्ध्वम् आयन्	(छान्दो.उप.१०।६।६)	१४५
तरति ब्रह्महत्यां यो	(तैत्ति.संहि. ५।३।१२)	३०
तस्माज् ज्ञानेन सहितं	(भाग.पुरा.११।१९।५)	२९
तस्माद् असक्तः सततं	(भग.गीता३।१९)	२
तस्माद् वा एतस्माद्	(तैत्ति.उप.२।१।१)	११६
तस्मान् मद्व्यक्तियुक्तस्य	(भाग.पुरा. ११।२०।३१)	१४५
तस्य एवं विदुषो यज्ञस्य	(महाना.उप.१८।१)	१२७
तस्य तावदेव चिरम्	(छान्दो.उप. ६।१४।२)	२, ३६
तस्य पुत्रा दायम्	(शाट्या) ३८	
तस्य ह वा एतस्य	(छान्दो.उप.७।२६।१)	११४-१२६
तस्य हैतस्य हृदयस्य	(छान्दो.उप.६।४।२)	६५
ता मन्मनस्का मत्प्राणा	(भाग.पुरा १०।४३।४)	६१
ता वां वास्तूनि	(ऋग्वेद २।२।२४)	६२

ता वां वास्तून्युश्मसि	(ऋग्वेद २।२।२४)	१४३
तान् वैद्युतात् पुरुषो	(बृहदा.उप. ८।२। १५)	९०
ते अर्चिः अभिसम्भवन्ति	(बृहदा.उप.६।२।१५)	९९
ते अर्चिषम् अभिसम्भवन्ति	(छान्दो.उप.५।१०।१)	७२, ८१
ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले	(महाना.उप.१२।३)	९९
ते-ते धामानि उश्मसि	(तैत्ति.संहि.१।३।६।१)	१३०, १३६
तेजसा तदा सम्पन्नो भवति	(छान्दो. उप ८।६।३)	३-४
तेन स ऊर्ध्व आक्रमते	(छान्दो.उप.१०।६।५)	८२
तेनैव प्रद्योतेन एष	(बृहदा.उप.४।४।२)	१२
तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ति	(बृहदा.उप.६।२।१५)	११३
तेषाम् इह न	(बृहदा.उप.८।२।१५)	८८-९३
तौ ह यदूचतुः	(बृहदा.उप.३।२।१३)	५१-५२

द-ध

दिवु क्रीडा-विजिगीषा	(पाणि.धातु.दि.१)	१३३
दिवो दानाद् वा	(निरु. ७।१५)	१३३
देवान् देवयजो यान्ति	(भग.गीता७।२३)	५६
देहेन्द्रियासुहीनानां	(भाग.पुरा.७।१।२४)	४३, १२८
दैवी सम्पद् विमोक्षाय	(भग.गीता १६।५)	७६
द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयुः	(तैत्ति.संहि. ७।५।१)	१२७
द्विरात्रेण यजेत	(तैत्ति.संहि.७।१।४)	१२७
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये	(मैत्रा.उप.६।२२)	९८
धारयन्ति अतिकृच्छ्रेण प्रायः	(भाग.पुरा १०।४३।६)	६१
धूमो रात्रिः	(भग.गीता ८।२५)	६९

न

न कर्हिचिन् मत्परा	(भाग.पुरा.३।२५।३८)	३२
न ज्ञानं नच वैराग्यं प्रायः	(भाग.पुरा.११।२०।३१)	११०
न तत्समश्च अभ्यधिकश्च	(श्वेता. उप.६।८)	१०३, १४४
न तद् अश्नोति कञ्चन	(बृहदा.उप.५।८।९)	१३३
न तस्मात् प्राणा उत्क्रमति	(बृहदा.उप.४।४।६)	४२, ५३, ९७, ९९
न तेषां पुनरावृत्ति	(छान्दो.उप.४।१५।६)	१४५
न त्वादृशीं प्रणयिनीम्	(भाग.पुरा.१०।५७।५५)	१३३
न पश्यो मृत्युं पश्यति	(छान्दो.उप. ९।२६। २)	५९

न पारये अहं	(भाग.पुरा.१०।२९।३७)	१३३
न प्रतीकः	(ब्रह्मसू.४।१।४)	१०१
न बिभेति कुतश्चन	(तैत्ति.उप.२।९)	५५
न यत्र कालो	(भाग.पुरा.३।२।१७)	१४७
न स पुनरावर्तते	(छान्दो.उप.८।१५।१)	१५, ११३-११४
न हि विरोध उभयं	(भाग.परा.६।९।३६)	१४२
नहि द्रष्टुः दृष्टेः विपरिलोपो	(बृहदा.उप.४।३।२३)	३
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय	(चित्यु.१३।११)	२८
नान्यत् पश्यति	(छान्दो.उप.७।२४।१)	१३९-१४१
नाभुक्तं क्षीयते	(ब्रह्मवै.पुरा.प्र. खण्ड.२६।७०)	२९
नायमात्मा	(मुण्ड.उप.३।२।४)	४९
नायमात्मा प्रवचनेन	(कठोप.उप.२।२२)	११०, १२२, १२४
नारायणपराः सर्वे न	(भाग.पुरा.६।७। २८)	५५
नास्य प्राणा उत्क्रामन्ति	(बृहदा.उप.६।४।२२)	१११
निःसाधनम लात्मायं	(सुबो.का.१०।५।२८)	६२
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा	(भाग.पुरा.२।४।१४)	१३६
नैषा तर्केण मतिरः	(कठोप.१।२।९)	१४२

प-ब

परमे व्योमन्	(तैत्ति.उप.३।६)	११०
परास्य शक्तिर्विविधैव	(श्वेता.उप.६।८)	१३४, १४२
परोक्षवादो वेदोऽयं	(भाग.पुरा.११।३।४४)	१८
पुण्यो वा	(बृहदा.उप.३।२।१३)	५२
पृथिवी दीक्षा तया	(तैत्ति. ब्राह्म.३।७।७)	८०
प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति	(ब्रह्मसू.३।२।२२)	९७, १३४
प्राच्यो मधुनाड्यः	(छान्दो.उप.३।१।२)	२४
प्राणन्नेव प्राणो भवति	(बृहदा.उप.१।४।७)	२०
प्राप्यान्तं कर्मणः तस्य	(बृहदा.उप.४।४।६)	१३
प्रायणं हि सताम् अहम्	(भाग.पुरा.११।११।४८)	२८
बहूनां जन्मनाम् अन्ते	(भग.गीता७।१९)	१४
ब्रह्म गमयति	(छान्दो.उप. ५।१०।२)	९२-९५
ब्रह्मणा विपश्चिता	(तैत्ति.उप.२।१।१)	१२०

ब्रह्मणा सह ते सर्वे	(कूर्म.पूरा.९२।२६९)	९३
ब्रह्मभावात्तु भक्तानां	(तत्त्वदी.निब.शा.प्र.५१)	१२७
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा	(भग.गीता १८।५४)	४५
ब्रह्मलोकम् अभिसम्पद्यते	(छान्दो.उप.८।१५।१)	१४५
ब्रह्मलोकान् गमयति	(बृहदा.उप.८।२।१५)	९१-९२
ब्रह्मविदाप्नोति परम्	(तैत्ति.उप.२।१)	१००, १०६, १०९, ११०, ११३, ११५, ११६, ११७, १२०, १२४
ब्रह्मविदो जनाः	(भग.गीता ८।२५)	७२
ब्रह्मविद् आप्नोति परम्	(तैत्ति.उप.२।१)	१३४, १४६-१४८
ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति	(बृहदा.उप.४।४।६)	१४, २०, ४२, ४३, ४५, १४८

भ

भक्त्या माम् अभिजानाति	(भग.गीता १८।५५)	१४८
भक्त्याहम् एकया ग्राह्यः	(भाग.पुरा. ११।१४। २१)	११०, ११२
भगवानेव हि म लं सः	(पुष्टिप्र.म.१७)	१४५
भर्ता सन् श्रियमाणो	(तैत्ति.आर.३।१४)	१३२
भूतेषु तच्छ्रुतेः	(ब्रह्मसू.४।२।५)	५५
भूमैव विजिज्ञासितव्यः	(छान्दो.उप.९।२३।१)	१२५
भूमैव सुखं भूमा	(छान्दो.उप.७।२३।१)	१३६
भोगेन तु इतरे	(ब्रह्मसू.४।१।१९)	३३

म

मदन्यत् ते न जानन्ति	(भाग.पुरा. ९। ६।८)	१२३
मनसैवानुद्रष्टव्यं	(बृहदा.उप.४।४।१९)	१८, ३७
मनो ब्रह्म इति उपासीत	(छान्दो.उप.३।१८।१)	२१
मनो ब्रह्म उपास्ते	(छान्दो.उप.९।३।२)	१०७-१०८
मय्यावेश्य मनो ये मां	(भग.गीता १२।२)	११०, १११
माम् आत्मपरदेहेषु	(भग.गीता १६।१८)	१२९
मायां मदीयाम् आश्रित्य	(भाग.पुरा. ११।२२।४)	४
मासेभ्यो देवलोकं	(बृहदा.उप. ८।२।१५)	८३
मूर्धैव सुतेजा	(छान्दो.उप.५।१८।२)	१०६
मृगदारकाभासेन	(भाग.पुरा. ५।८।२६)	३५

य एतमेवं विद्वान्	(छान्दा.उप.५।१९।४)	२३
य एनं विदुः	(बृहदा.उप.४।४।२२)	१६-२०
यः आत्मनि तिष्ठन्	(बृहदा.उप.३।७।...)	१७
यः कामयेत प्रजायेयेति	(तैत्ति.संहि.७।२।९)	१२७
यतो वा इमानि	(तैत्ति.उप. ३।१)	९८
यतो वाचो निवर्तन्ते	(तैत्ति.उप.२।९)	१६, ५७
यत्र अस्य पुरुषस्य	(बृहदा.उप.५।२।१३)	५०
यत्र एतद् अस्मात्	(छान्दो. उप ८।६।५)	३
यत्र काले तु अनावृत्तिम्	(भग.गीता८।२२)	६९
यत्र तु अस्य सर्वम्	(बृहदा.उप.४।४।१४)	१२३
यत्र नान्यत् पश्यति	(छान्दो.उप. ७।२४।१)	१२५, १३६
यत्र हि द्वैतमिव भवति	(बृहदा.उप.४।४।१४)	१२३
यत् कर्मभिर् यत् तपसा	(भाग.पुरा. ११। २१।३२)	८८
यथा पृथिवी अग्निगर्भः	(आप.कल्प.१।१३।५)	८०
यथा प्रदीप्तात् पावकाद्	(मुण्ड.उप.१।१)	४४
यथा सुवर्णं सुकृतं	(भाग.पुरा.११।२८।१९)	९८
यथायथात्मा परिमृज्यते	(भाग.पुरा.११।१४।२६)	१०
यथाकारी यथाचारी तथा	(बृहदा.उप.४।४।५)	१३, ३६
यथैधांसि समिद्धो	(भग.गीता४।३७)	३०
यदक्षरे परमे प्रजाः	(महाना.उप.१।३)	४४
यदा वै पुरुषो अस्माद्	(बृहदा.उप.५।१०।१)	८२
यदेव विद्यया करोति	(छान्दो.उप.१।१।१०)	३९
यमेव एष वृणुते तेन लभ्यः	(कठोप.१।२।२३)	४९, १२२, १४६
यस्मात् क्षरम् अतीतो	(भग.गीता १५।१८)	१४६
यस्य अवतारकर्माणि	(भाग.पुरा.२।६।३७)	१६
यस्य स्याद् अद्धा	(छान्दो.उप.३।१४।४)	२१
याज्ञवल्क्येति होवाच	(बृहदा.उप.६।२।११)	५०
यावद् आयुषमेवं वर्तयन्	(छान्दो.उप.८।१५।१)	१५
ये अन्नं ब्रह्मोपासते	(छान्दो.उप.७।९।२)	१०८
ये च इमे अरण्ये श्रद्धातप	(छान्दो.उप. ७।१०।१)	९५
ये तु अक्षरम् अनिर्देश्यं	(भग.गीता.१२।३)	११०

ये दारागारपुत्राप्तप्राणान्	(भाग.पुरा.९।४।६५)	१४६
ये प्राणं ब्रह्मोपासते	(तैत्ति.उप.२।३)	१०८
यो वेद निहितं गुहायाम्	(तैत्ति.उप.२।१)	१२०
योन्यथा सन्तमात्मानम्	(महाभा.शान्तिप.२२१।२७)	१०२

र-ल-व-श

रसो वै सः	(तैत्ति.उप.२। ७)	२६,५८,६०१४१
रेतश्च निधीयते	(बृहदा.उप.५।२।३)	५०
लोकवत्तु लीला कैवल्यम्	(ब्रह्मसू.२।१।३३)	१२९,१३५,१३७,१३८
वरुणाच्चाधीन्द्र-प्रजापती	(ब्रह्मसू.४।३।२-४)	९५
वाङ्मनसि दर्शनात् शब्दाच्च	(ब्रह्मसू.४।२।१)	१४८
वाङ्मनसि सम्पद्यते	(छान्दो.उप.८।८।६)	४७
वायुरन्तरिक्षस्य अधिपतिः	(तैत्ति.संहि.३।४।५)	८०
विशाला हि विद्युतां	(.....)	८४
विष्णोः कर्माणि	(तैत्ति.संहि. १।३।६।१२)	६४,१३०,१४३
वेदान्तविज्ञान	(महाना.उप.१२।३)	९३,१००
शतं चैका पुरुषस्य नाड्यः	(छान्दो.उप.८।६।६)	९९
शतं चैका हृदयस्य	(छान्दो.उप. १०।६।६)	६५-७५
शतञ्चैका च हृदयस्य	(कठोप.२।३।१६)	१४५
शाब्दे परे च निष्णातं	(भाग.पुरा.११।३।२१)	१०४
श्रोतव्यो मन्तव्यः	(बृहदा.उप.४।५।६)	१०

स

स एकधा भवति त्रिधा	(छान्दो.उप.९।२६।२)	१३९
स एतं देवयानं पन्थानम्	(कौशी.उप.१।३)	९४
स एताः तेजोमात्राः	(बृहदा.उप.६।४।१)	६५
स एतान् ब्रह्म गमयति	(छान्दो.उप.६।१५।४)	९१
स एनं देवयानं	(कौषी. उप.१।३)	७२,७६-८०
स एनं देवयानं पन्थानम्	(छान्दो.उप.७।१०।१)	८१
स एव अधस्तात्	(छान्दो.उप.७।२५।२)	१२५
स क्रतुं कुर्वीत	(छान्दो.उप.३।१४।१)	२२
स प्रजापतिलोकं स	(कौशि.उप.१।३)	९६
स यथा शकुनिः	(छान्दो.उप.८।८।२)	४८
स यथा सैन्धवघनो	(बृहदा.उप.६।१।१३)	११८

स यदा वै पुरुषो	(बृहदा.उप.५।१)	७२
स यो नाम ब्रह्म इति	(छान्दो.उप.९।१०।१)	१०३
स वा एषः एवं पश्यन्	(छान्दो.उप.७।१५।४)	१३८
स वै नैव रेमे	(बृहदा.उप.१।४।३)	८९
सः एतान् ब्रह्म गमयति	(छान्दो.उप.४।१५।५)	१०५
सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म	(तैत्ति.उप.२।१)	१००, ११६
सदेव सोम्येदमग्र आसीद्	(छान्दो.उप.६।२।१)	९७
सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानं	(बृहदा.उप.६।३।९)	१२९
सर्वं खलु इदं ब्रह्म	(छान्दो.उप.३।१४।१)	२, २१, २२, १०७
सर्वं पाप्मानं तरति	(बृहदा.उप.४।४।२३)	३०
सर्वं मद्भक्तियोगेन	(भाग.पुरा. ११।२१।३२)	८८, १०३
सर्वं ह पश्यति	(छान्दो.उप. ७।२६।२)	१३७-१३८
सर्वः सर्वं पश्यति	(प्रश्नोप.४।५)	१३९
सर्वमाप्नोति सर्वशः	(छान्दो.उप.९।२६।२)	१३९-१४१
सर्वस्य अधिपतिः	(बृहदा.उप.६।४।२२)	१२३
सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः	(बृहदा.उप. ४।४।२२)	१६, १२३
सहयुक्ते अप्रधाने	(पाणि.सू.२।३।१९)	१२०
सहस्रशीर्षं देवं विश्वाक्षं	(महाना.उप.११।१-३)	१३०-१३१
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च	(श्वेता.उप.६।११)	१३१
सूर्यद्वारेण ते विरजाः	(मुण्ड. उप.१।२।११)	७३
सूर्यो दिवो अधिपतिः	(तैत्ति.संहि.३।४।५)	८१-८४
सो अश्नुते सर्वान्	(तैत्ति.उप.२।१)	१९, ४१, ११३-११४, ११५, ११७, १२०, १२४, १३०-१३१, १३२, १३७, १३८, १४४
सोऽध्यक्षः	(ब्रह्मसू. ४। ३।४)	५५
स्वतन्त्रः कर्ता	(पाणि.सू. १।४।५४)	१०२
स्वमपीतो भवति तस्माद् एनं	(छान्दो.उप.८। ८।१)	१३५
स्वयं विहृत्य स्वयं	(बृहदा.उप.६।३।१०)	१२९
स्वरूपेण अवतारेण	(पुष्टिप्र.म.१३)	११८
हिरण्यगर्भं पश्यति जायमानम्	(महाना.उप.१०।३)	९५